अलंकार कोष
ALAMKĀRA-KOṢA

Prot. R. N. DANDEKAR

Bhandarkar Oriental Research Institute,
POONA 411 004 (India)
Phone No. : 56936

17th February 1989

I heartily welcome the **Alamkara-Kosha** edited by Dr. Brahma Mitra Awasthi. In this remarkable work, which truly constitutes a critical, historically organized, encyclopaedia of Sanskrit Rhetoric, Dr Awasthi has expertly dealt with as many as 225 **alamkaras.** His exposition is quite lucid and comprehensive, and is often effectually clinched with felicitous illustrations. Serious students of classical Sanskrit literature can ill afford to ignore this highly precious aid which has been made available by Dr Awasthi.

(R. N. Dandekr)

अलङ्कार कोष

[भरत से वेणीदत्त पर्यन्त छत्तीस आचार्यों द्वारा विवेचित २२५ अलंकारों का ऐतिहासिक एवं समीक्षात्मक स्वरूप विवेचन]

महामहोपाध्याय

डा० ब्रह्ममित्र अवस्थी

इन्दु प्रकाशन, दिल्ली

८/३ रूपनगर, दिल्ली-११०००७
दूरभाष : २६१५३२१

द्वितीय संस्करण : १६८६

मूल्य : ३५०.००

मुद्रक
पंकज प्रिंटर्स
गली नं० ४, विजयपार्क, मौजपुर
दिल्ली-११००५३

ALAMKĀRA-KOSA

(Historical Description of 225 Alamkaras eccepted by 36 Acharyas from Bharata to Venidatta)

by

Mahamahopadhyaya

DR. BRAHMA MITRA AWASTHI

INDU PRAKASHAN-DELHI-7

Second Edition : 1989

Price : 350.00

Printed by
Pt. Rajendra Tiwari at the
Pankaja Printers, Vijaya Park
Maujpur, Delhi-110053 (INDA)

प्रकाशकीय

महामहोपाध्याय डॉ० ब्रह्ममित्र अवस्थी जी की इस रचना **अलंकार कोष** के द्वितीय संस्करण का प्रकाशन करते हुए हमें अत्यन्त प्रसन्नता का अनुभव हो रहा है। इस ग्रन्थ का प्रथम संस्करण इतनी शीघ्रता से समाप्त हो जाएगा, इसकी हमें आशा न थी। इस ग्रन्थ को विश्वविद्यालयों और महाविद्यालयों के संस्कृत और हिन्दी के विद्वान् अध्यापकों ने जिस आदर से अपनाया है, उसे देख कर ही हम इसके द्वितीय संस्करण का इतने कम समय में प्रकाशित करने का साहस कर सके हैं। पाठकों की मांग को शीघ्र पूर्ण करने की कामना से हम इस संस्करण में कोई परिष्कार अथवा परिवर्तन परिवर्द्धन न करा सके हैं। फिर भी हमें विश्वास है कि अपने मूल रूप पें ही यह रचना पाठकों को पसन्द आयेगी।

दिवाकर अवस्थी

किञ्चिन्निवेदनम्

अब से लगभग पच्चीस वर्ष पूर्व मेरे दो मित्र, जो परिचय के प्रारम्भिक काल से ही मेरे शिष्य के रूप में रहे हैं, रूपक अलंकार एवं अर्थान्तरन्यास अलंकार से सम्बद्ध विषयों पर पी० एच० डी० एवं एम० ए० के शोध पत्र सम्बन्धी शोध कार्य में प्रवृत्त हुए। दोनों ही मित्रों को अपने-अपने अलंकार के स्वरूप के सम्बन्ध में सर्वप्रथम विचार करना था। इसके लिए आवश्यक था कि संस्कृत काव्यशास्त्र के यथासम्भव सभी आचार्यों द्वारा दिये गये उस अलंकार के लक्षणों को देखकर ऐतिहासिक विश्लेषण सहित उस अलंकार के एक अथवा अधिक परिभाषाओं का निर्धारण करें। किन्तु पुस्तक विक्रेताओं के पास ही नहीं लखनऊ एवं दिल्ली स्थित विश्वविद्यालयों के पुस्तकालयों में भी दस बारह से अधिक आचार्यों की पुस्तकें न मिल सकी थीं। जबकि काव्य शास्त्र के इतिहास ग्रन्थों में काव्यशास्त्र के महनीय आचार्यों की संख्या पचास से अधिक है। अपने इन मित्रों के अतिशय प्रयत्न के बाद भी अपेक्षित सफलता न मिलने पर मेरे मन में यह संकल्प उठा था कि काव्यशास्त्र और भारतीय दर्शन की विविध शाखाओं में इस प्रकार की असुविधाओं को दूर करने के लिए कुछ प्रयत्न किया जाए। किन्तु यह विचार वर्षों तक साधनों के अभाव में केवल विचार ही बना रहा।

कालान्तर में वर्ष १९७४ में जब मैंने गंगानाथ झा केन्द्रीय संस्कृत विद्यापीठ (शोधसंस्थान) में कार्य आरम्भ किया, तब तब मेरा निजी पुस्तकालय क्रमशः समृद्ध हो रहा था और संस्थान का पुस्तकालय भी प्राचीन पुस्तकों की दृष्टि से अधिक निर्बल नहीं था। साथ ही कुछ अन्य पुस्तकालयों से भी पुस्तकें प्राप्त करने की सुविधा मुझे अपने मित्रों के कारण प्राप्त रही है, अतः मैंने निश्चय किया कि इस दिशा में कुछ कार्य प्रारम्भ किया जाए। फलतः मैंने काव्यशास्त्र और दर्शन शास्त्र दोनों में ही महत्त्वपूर्ण शब्दशक्ति की समस्या को लेकर **वृत्ति समुच्चय** की एक विशाल योजना को एवं काव्यशास्त्र के क्षेत्र में **अलंकार कोश** की योजना को लेकर कार्य प्रारम्भ किया।

वृत्ति समुच्चय की योजना में शब्द शक्ति विषय दस प्रमुख ग्रन्थों का व्याख्या के साथ सम्पादन प्रथम गुच्छक में अभीष्ट था। एवं शेष पांच गुच्छकों में मीमांसा

व्याकरण न्यायशास्त्र वेदान्त और साहित्य शास्त्र में इस समस्या पर हुए चिन्तन को विषय क्रम से संकलित करके सम्पादित करते हुए उस उस शास्त्र के तद् विषयक चिन्तन को हिन्दी भाषा में प्रस्तुत करना था। और अलंकार कोष योजना में प्रमुख आचार्यों द्वारा स्वीकृत सभी अलंकारों के सम्बन्ध में पक्ष विपक्ष में हुए चिन्तन को तत्तत् अलंकार के विकासक्रम के साथ प्रस्तुत करना था। साथ ही उन उन आचार्यों के लक्षणों को मूल रूप में संकलित करने का संकल्प भी लिया गया था।

प्रयाग में मेरे कार्यारम्भ काल में परिवार से दूर रहकर कार्य करने का निश्चय होने के कारण मैं पर्याप्त समय की संभावना कर रहा था। किन्तु ३० जून १९७४ को उक्त संस्थान के प्राचार्य का कार्य भी अस्थायी रूप से आ जाने के कारण, जो लगभग दो वर्षों तक मुझ पर रहा, मुझे अपनी संभावना के अनुसार समय न मिल सका, तथापि दोनों ही कार्य मन्द गति से चलते रहे। इस अवधि में मेरी पुत्री कु० इन्दु अवस्थी जो उस समय प्रयाग विश्वविद्यालय में एम०ए० की छात्रा थी एवं सम्प्रति डॉ० इन्दु 'चन्द्र' के नाम से प्रसिद्ध हैं तथा फीजी में कार्यरत हैं, के सहयोग से बाधाओं के बीच भी आशा से कुछ अधिक प्रगति से कार्य चलता रहा।

वृत्ति समुच्चय योजना के अन्तर्गत प्रथम गुच्छक से सम्बन्धित **'अभिधावृत्त मातृका', शब्दव्यापारविचार, वृत्तिवार्त्तिक, कोविदानन्द त्रिवेणिका वाक्यार्थ तातृका वृत्ति** ग्रन्थों का हिन्दी व्याख्यान के साथ प्रकाशन हुआ तथा इस योजना से सम्वद्ध दो ग्रन्थों पर उत्तर प्रदेश सरकार एवं संस्कृत अकादमी उत्तर प्रदेश से पुरस्कार भी प्राप्त हुए, किन्तु कुछ कारणों, जिनमें अर्थाभाव भी एक है, से आगे का कार्य अवरुद्ध हो गया।

अलंकार कोष का कार्य १९७९ तक सम्पूर्ण रूप से पूर्ण हो गया था। किन्तु ग्रन्थ की विशालता के कारण प्रकाशक मुद्रण कार्य प्रारम्भ करने में हिचकते रहे। इस बीच मैंने उत्तर प्रदेश संस्कृत अकादमी से सम्पर्क किया, किन्तु अकादमी ने उस समय बीस हजार रुपये के प्रकाशन बजट के लिए केवल डेढ हजार रुपयों की सहायता सरकारी शर्तों को आगे रखकर स्वीकृत की। किन्तु केवल ७½% की सरकारी सहायता लेकर मूल्य नियन्त्रण आदि की शर्तें कोई प्रकाशक क्यों स्वीकार करने लगा और अन्ततः इसका मुद्रण कार्य प्रारम्भ न हो सका। इसी बीच मेरा दिल्ली स्थानान्तरण हो गया। जो मेरे लिए सुखद था। वहाँ १९८५ में

मेरी चर्चा केन्द्रीय सरकार के शिक्षा मन्त्रालय में तत्कालीन उपशिक्षा सलाहकार डॉ० कमला कान्त मिश्र जी से हुई। उन्होंने न केवल इसके अतिशीघ्र प्रकाशन की आवश्यकता को स्वीकार किया, बल्कि शिक्षा मन्त्रालय भारत सरकार की प्रकाशन अनुदान योजना के अन्तर्गत प्रकाशन सहायता देने का आश्वासन भी दिया। फलतः नियमानुसार आवेदन करने पर तमाम औपचारिकताओं के बाद स्वीकृति प्राप्त हुई, किन्तु इसमें लगभग एक वर्ष का समय निकल गया।

स्वीकृति मिलने के बाद प्रकाशनार्थ प्रेस आदि का निश्चय और कागज के खरीद हेतु धन का प्रबन्ध अभी हो ही पाया था कि राष्ट्रिय संस्कृत संस्थान दिल्ली के महनीय अधिकारियों की कृपा ने मुझे दिल्ली से हटाकर पुनः प्रयाग पहुंचा दिया एवं मुद्रण कार्य प्रारम्भ होकर भी मन्दगति से ही रेंगता रहा। दिल्ली स्थित प्रेस से दूरी, कार्य की विशालता और धन का अभाव इसमें मुख्य कारण रहे।

मैं इसे प्रभु की कृपा और पंकज प्रिंटर्स के सत्त्वाधिकारी श्री राजेन्द्र तिवारी का स्नेह ही मानूंगा कि यह विशाल ग्रन्थ अन्ततः अनेक बाधाओं के बाद भी अपनी पूर्णता पर पहुंच सका है।

इस विशाल ग्रन्थ की पाण्डुलिपि तैयार करने में मेरी पुत्री कुमारी इन्दु अवस्थी (सम्प्रति डॉ० इन्दु 'चन्द्र'), कु० माला राय चौधरी, कु० शोभारानी घोष, श्रीमती चन्द्रारानी श्रीवास्तव का विशेष श्रमपूर्ण सहयोग प्राप्त हुआ है। इसके लिए मेरे आशीर्वाद इन्हें सदा प्राप्त रहेंगे। गंगानाथ के० संस्कृत विद्यापीठ के पुस्तकालय के अधिकारी विशेषतः श्री रामानन्द थपलियाल एवं श्री ज्ञान चन्द्र श्रीवास्तव का अपेक्षित पुस्तकें खोजकर प्राप्त कराने में विशेष सहयोग रहा है।

प्रकाशन अनुदान एवं मुद्रण अवधि बढ़ाने के प्रसंग में शिक्षा मन्त्रालय के पूर्व उपशिक्षा सलाहकार (संस्कृत) डॉ० कमला कान्त मिश्र, वर्तमान उपशिक्षा सलाहकार संस्कृत एवं मित्र श्री सोमदत्त दीक्षित, सहायक शिक्षा सलाहकार (संस्कृत) डॉ० रामकृष्ण शर्मा एवं संस्कृत शिक्षा अधिकारी श्रीमती स्वदेश महाजन आदिका जो हार्दिक सहयोग प्राप्त हुआ है, तथा सरकारी सहायता के अतिरिक्त २०% लागत राशि की पूर्ति के लिए इन्दु प्रकाशन की सत्त्वाधिकारिणी श्रीमती सुशीला शास्त्री एवं व्यवस्थापक श्री दिवाकर अवस्थी का जो सहयोग प्राप्त हुआ है, उसके लिए मैं इन सभी का हृदय से अभारी हूँ। प्रारम्भ में पूंजी निवेश के प्रसंग

में एवं दिल्ली में प्रेस के साथ निरन्तर सम्बन्ध बनाये रखने के लिए मैं अपने परिवार के सभी सदस्यों का मुख्यतः अपने कनिष्ठ पुत्र चि० प्रभाकर अवस्थी एडवोकेट का आभारी हूं एवं इनके लिए मंगल कामना करता हूं।

दिल्ली में चल रहे मुद्रण कार्य एवं मेरे प्रयाग में रहने कारण तथा बहुत बार अनवधानता के कारण भी मुद्रण में प्रूफ की बहुत भूलें रह गयी हैं। विवेचन के क्रम में भी भूलों का होना संभव है, वाग्भट द्वय में प्रथम और द्वितीय के निर्धारण में भी बड़ी भूल हुई है, प्रथम को द्वितीय एवं द्वितीय को प्रथम होना चाहिए, पाठक कृपया इन भूलों को सुधार लेंगे। कहीं-कहीं छूट गये उद्धरणों के संकेत की पूर्ति पुस्तकों के दुर्लभ होने के कारण न हो सकी है, इस प्रकार की अनेक त्रुटियाँ इस ग्रन्थ में विद्यमान हैं।

किन्तु तदवधीर्यार्यैः गुणलेशे सततमवहितै र्भाव्यम्।
परिपवनवदथवा ते जात्यैव न शिक्षितास्तुषग्रहणम्॥

महिम भट्ट की इस उक्ति के अनुसार मुझे विश्वास है कि विद्वान् पाठक गण त्रुटियों के लिए क्षमा करते हुए भी मुझे उनसे अवगत अवश्य करायेंगे। जिससे अग्रिम संस्करणों में उनका निराकरण हो सके।

विदुषामाश्रवः
ब्रह्ममित्र अवस्थी

आग्रहायण शुक्ल एकादशी, २०४५ वि०

अनुक्रम

भूमिका २३
अक्रमातिशयोक्ति १
अतद्गुण ३
अतिशय ७
अतिशयोक्ति (औपम्य गर्भ) ८
अतिशयोक्ति (कार्यकारण गर्भ) ८
अत्युक्ति १८
अत्यन्तातिशयोक्ति १९
अधिक २०
अनन्वय २४
अनादर २८
अनिष्ट विध्याभास २८
अनुकूल ३०
अनुकृति ३१
अनुगुण ३२
अनुज्ञा ३३
अनुपलब्धि ३३
अपशब्दाभास ३४
अनुप्रास (वृत्यनुप्रास-लाटानुप्रास) ३४
अनुमान ४३
अन्यदेशत्व ४८
अन्योक्ति ४९
अन्योन्य ५०
अपह्नुति ५३
अप्रस्तुतप्रशंसा ५८
अभाव ७०
अभेद ७१
अर्थान्तरन्यास ७२
अर्थापत्ति ८४
अल्प ९०
अवज्ञा ९१
अवरोह ९२
अवसर ९३
अशक्य ९४
असंगति ९४
असम्भव १००
असम १००
असम्बन्धातिशयोक्ति १०१
अहेतु १०२
आक्षेप १०३
आगम ११२,४८०
आदर ११३
आपत्ति ११४
आवृत्ति ११५
[अर्थावृत्ति-पदावृत्ति-उभयावृत्ति]
आशीः ११६
उत्तर ११७
उत्प्रेक्षा १२२
उत्प्रेक्षावयव १४१
उदात्त १४२
उदार सार १४५
उदाहरण १४६
उद्भेद १४७
उद्रेक १४८
उन्मीलित १४८
उपन्यास १४९

उपमा	१५१	तत्कर	२२४
उपमान	१७६	तद्गुण	२२४
उपमारूपक	१७८	तन्त्र	२२६
उपमेयोपमा	१७९	तिरस्कृति	२२६
उभयन्यास	१८२	तुल्य	२३०
उल्लास	१८३	तुल्ययोगिता	२३०
उल्लेख	१८४	दीपक	२३७
ऊर्जस्वी	१८९	दृष्टान्त	२४२
ऊह	१९२	दैवक	२४६
एकावली	१९२	निदर्शन	२४६
ऐतिह्य	१९८	निदर्शना	२४६
कल्पितोपमा	१९८	निन्दास्तुति	२५०
कारक दीपक	१९९	नियम	२५१
कारणमाला	२००	निरुक्ति	२५१
काव्यार्थापत्ति	२०४	निश्चय	२५२
काव्यलिङ्ग	२०५	परभाग	२५५
कैतवापह्नुति	२११	परिकर	२५५
क्रम	२१२, ३६९	परिकरांकुर	२६१
क्रमिका	२१२	परिणाम	२६२
क्रियातिपत्ति	२१२	परिवृत्ति	२६६
गुप्तोत्प्रेक्षा	२१३	परिसंख्या	२७१
गुम्फ	२१३	पर्यस्तापह्नुति	२७८
गूढ	२१३	पर्याय	२७९
गूढोत्तर	२१५	पर्यायोक्त (पर्यायोक्ति)	२८४
चपलातिशयोक्ति	२१५	पिहित	२९२
चित्र	२१६	पुनरुक्तवदाभास	
चित्रोत्तर	२२०	पूर्व	२९४
छेकानुप्रास	२२१	पूर्वरूपता	२९५
छेकापह्नुति	२२१	प्रतिप्रसव	२९५
छेकोक्ति	२२२	प्रतिभा	२९६
जाति	२२३	प्रतिमा	२९७

प्रतिवस्तूपमा	२९७	मीलित	३५४
प्रतिषेध	३०१	मुद्रा	३५८
प्रतीकन्यास	३०२	यथासंख्य	३५९
प्रतीप	३०२	यमक	३६२
प्रतीपोपमा	३०९	युक्ति	३६५
प्रत्यक्ष	३१०	रत्नावली	३६६
प्रत्यनीक	३११	रसवत्	३६७
प्रत्यनीकन्यास	३१२	रूपक	३७१
प्रत्यादेश	३१४	रूपकातिशयोक्ति	३९०
प्रत्यूह	३१४	रोध	३९०
प्रश्नोत्तर	३१५	ललित	३९१
प्रसङ्ग	३१६	लाटानुप्रास	३९२
प्रस्तुतांकुर	३१७	लेश	३९४
प्रहर्षण	३१७	लोकोक्ति	३९६
प्रहेलिका	३१९	वक्रोक्ति	३९७
प्रेयस्	३२०	वर्धमानक	४०२
प्रौढोक्ति	३२३	वाकोवाक्य	४०२
भाव	३२४	विकल्प	४०३
भावशबलता	३३५	विकल्पाभास	४०७
भावसन्धि	३३५	विकस्वर	४०८
भाविक	३२५	विचित्र	४०९
भाविकच्छवि	३३४	वितर्क	४०९
भावोदय	३३५	विदर्शना	४११
भाषासम	३४२	विधि	४११
भेदकातिशयोक्ति	३४३	विध्याभास	४१२
भ्रान्तापह्नुति	३४३	विनोक्ति	४१३
भ्रान्तिमान्	३४४	विनोद	४१६
(भ्रान्ति-भ्रम)		विपर्यय	४१६
मत	३४८	विभावना	४१७
मालादीपक	३४९	विरोध	४२३
मिथ्याध्यवसित	३५३	विरोधाभास	४३५

विवृतोक्ति	४३५	सन्देहाभास	५२३
विवेक	४३६	सम	५२४
विशेष	४३७	समता	४२७
विशेषक	४३७	समाधि	५२८
विशेषोक्ति	४४२	समासोक्ति	५३१
विषम	४४८	समाहित	५५०
विषाद		समुच्चय	५५३
विषादन	४५५	सामान्य-विशेष	५६३
वृत्यनुप्रास	४५६	सम्बन्धातिशयोक्ति	५६४
वैधर्म्य	४५७	सम्भव	५६५
व्यतिरेक	४५८	सम्भावना	५६५
व्यत्यास	४६४	ससन्देह	५६५
व्याघात	४६४	सहोक्ति	५६६
व्यजनिन्दा	४६९	सापह्नवातिशयोक्ति	५७०
व्याजस्तुति	४७०	सामान्य	५७१
व्याजोक्ति	४७६	सार	५७५
व्यासङ्ग	४७९	सूक्ष्म	५७७
शब्द	४८०	स्तवकोपमा	५८२
शृंखला	४८१	स्तुतिनिन्दा	५८२
श्रुत्यनुप्रास	४८२	स्मरण (स्मृति)	५८२
श्लेष	४८३	स्वभाव (स्वभावोक्ति)	५८७
संकर	५०४	हेतु	५९०
संसृष्टि	५१२	हेत्वपह्नुति	५९४
सन्देह (शंसय)	५१६		

सन्दर्भित ग्रन्थ एवं ग्रन्थकार

ना. शा.	नाट्यशास्त्र	भरत	गायकवाड़ ओरिएण्टल सीरीज बड़ौदा
वि. पु.	विष्णु धर्मोत्तर पुराण	व्यास	
अ. पु.	अग्निपुराण	व्यास	मनसुखराय मोर ५ क्लाइव रो कलकत्ता
का. द.	काव्यादर्श	दण्डी	वी. रामाशास्त्रुलु सम्पादित मद्रास संस्करण
काव्या.	काव्यालंकार	भामह	देवेन्द्रनाथ शर्मा सम्पादित राष्ट्रभाषा परिषद पटना
सि. व. ल.	सियवसलकर	शिलामेघसेन	डा. ब्रह्ममित्र अवस्थी अनूदित, संस्कृत विद्यापीठ, दिल्ली
का. सा. सं.	काव्यालंकार सार संग्रह	उद्भट	नारायण दास वनहट्टी भंडारकर ओ. रि. इ. पूना
का. सू. वृ.	काव्यालंकार सूत्र वृत्ति	वामन	आशुबोधनित्यबोध संपादित, कलकत्ता
काव्या.	काव्यालंकार	रुद्रट	नमिसाधु टीका सहित वासुदेव प्रकाशन दिल्ली
स. कं. भ.	सरस्वती कंठाभरण	भोज	पब्लिकेशन बोर्ड आसाम गौहाटी
वक्र. जी.	वक्रोक्ति जीवित	कुन्तक	हिन्दी अनुसन्धान परिषद, दिल्ली
का. प्र.	काव्यप्रकाश	मम्मट	भण्डारकर ओ. रि. इ. पूना
का. प्र.	काव्यप्रकाश	मम्मट	डा. सत्यव्रतसिंह सम्पादित चौखम्बा वाराणसी,
अ. स.	अलंकार सर्वस्व	रुय्यक	निर्णय सागर प्रेस बम्बई

अ. स.	अलंकार सर्वस्व	रुय्यक	मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली
विमर्शिनी	अलंकार सर्वस्व टीका	जयरथ	निर्णय सागर प्रेस बम्बई
संजीवनी	अलंकार सर्वस्व टीका	विद्याचक्रवर्त्ती	मोतीलाल बनारसी दास दिल्ली
काव्यानु.	काव्यानुशासन	वाग्भट (प्रथम)	काव्यमाला सीरीज निर्णय सागर, बम्बई
काव्यानु.	काव्यानुशासन	हेमचन्द्र	श्री महावीर जैन विद्यालय, बम्बई
अलं. र.	अलंकार रत्नाकर	शोभाकर मित्र	ओरिएण्टल बुक एजेन्सी पूना
चन्द्रा.	चन्द्रालोक	जयदेव	बनारस
प्रताप.	प्रतापरुद्रीयम्	विद्यानाथ	निर्णय सागर, बम्बई
एका.	एकावली	विद्याधर	डा० ब्रह्ममित्र अवस्थी संपादित, इन्दुप्रकाशन, दिल्ली
सा. द.	साहित्य दर्पण	विश्वनाथ	निर्णय सागर, बम्बई
सा. द.	साहित्य दर्पण	विश्वनाथ	लक्ष्मी टीका सहित चौखम्बा वाराणसी
सा. द.	साहित्य दर्पण	विश्वनाथ	मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली
सु. बो.	सुबोधालंकार	संघरक्खित	डा० ब्रह्ममित्र अवस्थी अनूदित, सं. वि. दिल्ली
अ. सं.	अलंकार संग्रह	अमृतानन्दयोगी	अडियार लाइब्रेरी, मद्रास
वाग्भटा.	वाग्भटालंकार	वाग्भट (द्वितीय)	निर्णय सागर बम्बई
अलं. म.	अलंकार महोदधि	नरेन्द्रप्रभसूरि	गायकवाड़ ओरिएण्टल सीरीज. बड़ौदा
का. सा. सं.	काव्यालंकार सार संग्रह	भावदेवसूरि	गायकवाड़ ओरिएण्टल सीरीज, बड़ौदा
चित्रमी.	चित्रमीमांसा	अप्पयदीक्षित	वाणीविहार वाराणसी
कुवल.	कुवलयानन्द	अप्पयदीक्षित	चौखम्बा वाराणसी
अलं. का.	अलंकार कारिका	शौद्धोदनि	चौखम्बा संस्कृत सीरीज बनारस

अलं. का.	अलंकार कारिका	शौद्धोदनि	निर्णय सागर, बम्बई
अलं. शे.	अलंकार शेखर	केशवमिश्र	निर्णय सागर, बम्बई
अलं. शे.	अलङ्कार शेखर	केशवमिश्र	चौखम्बा संस्कृत सीरीज बनारस
रसगं.	रसगंगाधर	पंडितराज जगन्नाथ	चौखम्बा विद्याभवन वाराणसी
का. वि.	काव्यविलास	चिरञ्जीव	सरस्वती भवन सीरीज वाराणसी १९२५
नञ्रा.	नञ्राजयशोभूषण	नरसिंह कवि	गायकवाड़ ओरिएण्टल सीरीज बड़ौदा
अलं. म.	अलङ्कार मणिहार	श्रीकृष्णब्रह्मतन्त्र परकालस्वामी	मैसूर
अलं. मंजू.	अलङ्कार मंजूषा	भट्टदेवशंकर पुरोहित	उज्जैन
अलं. मंज.	अलङ्कार मंजरी	वेणीदत्त	मिथिला शोध संस्थान दरभंगा
ध्वन्या.	ध्वन्यालोक	आनन्द वर्धन	निर्णय सागर बम्बई
लोचन	ध्वन्यालोक लोचन	अभिनवगुप्त	निर्णय सागर बम्बई

भूमिका

काव्य भाषा का वह स्वरूप है, जो सुनने मात्र से श्रोता के मानस में एक अद्भुत चमत्कार के साथ प्रवेश करता है, और एक अलौकिक आनन्द की अनुभूति कराता हुआ उस के हृदय में एक अद्भुत प्रभाव छोड़ता है। काव्य और उसके द्वारा पड़ने वाले प्रभाव के बीच सम्बन्ध का, दोनों के मध्य की प्रक्रिया का अनुसन्धान भाषादर्शन के अध्येताओं के अध्ययन में बहुत प्राचीन काल से किया जाता रहा है, और आज भी यह अध्ययन निरन्तर हो रहा है। किन्तु वैशेषिक दर्शन में जिस प्रकार कार्य और कारण के बीच व्यवस्थित रूप से व्याख्यान योग्य कार्य-कारणभाव सम्बन्ध का अनुसन्धान किया जा सका है, तथा कार्य और कारण की विवाद रहित परिभाषाओं की स्थापना की जा सकी है, काव्य भाषा का अध्ययन करने वाले आचार्यों की परम्परा में उसप्रकार की परिभाषा अथवा सम्बन्ध के व्याख्यान की प्रक्रिया प्रतिष्ठापित न हो सकी है। सम्भवतः इसी कारण आचार्य मम्मट ने लगभग डेढ़ हजार वर्ष की काव्यशास्त्रीय परम्परा के चिन्तन के रहस्य के रूप में अपने महनीय ग्रन्थ का प्रारम्भ ही इस कथन से किया है कि "कवि की भारती (वाणी) नियति के सभी नियमों से रहित सम्पूर्णतया आनन्दमयी, परम स्वतन्त्र, नव एवं नवीन रसों के सम्पर्क एवं संश्लेष के कारण रुचिर है, और इसीलिए कवि की यह सृष्टि सर्वश्रेष्ठ है, लोकोत्तर है।[1]

कवि की इस भाषामयी सृष्टि की समीक्षा का प्रारम्भ कब और किसके द्वारा हुआ यह कहना आज सम्भव नहीं है, किन्तु भरत के नाट्यशास्त्र में काव्य और नाट्य का सुव्यवस्थित विवेचन देखकर कोई लिखित प्राचीन अभिलेख न होते हुए भी यह अनुमान करना अस्वाभाविक न होगा कि भरत के नाट्यशास्त्र से कम से कम पांच सौ वर्ष पूर्व इस शास्त्र का उदय हुआ होगा। स्वयं नाट्य-शास्त्र में भी यथावसर अनेक आचार्यों के नामों का उल्लेख प्राप्त होता है। भामह ने भी रामशर्मा और मेधावी आदि कुछ आचार्यों के नामों का उल्लेख किया

---

१. नियतिकृतनियमरहितां ह्लादैकमयीमनन्यपरतन्त्राम्।
नवरसरुचिरामादधती भारती कवेर्जयति ॥

—काव्यप्रकाश मंगल पद्य

है। उद्भट ने तो अलंकारों के क्रम में कम से कम ६ आचार्यों की ओर संकेत किया है, जिन्होंने अलंकारों की यथावसर व्याख्या की थी।

काव्य रचनाओं के सौन्दर्य का विश्लेषण करने वाले आचार्यों की परम्परा में विश्लेषण के प्रसंग में छः अथवा सात दृष्टिकोण देखने को मिलते हैं, जिसे सम्प्रदाय के नाम से स्मरण किया जा रहा है। ये सम्प्रदाय निम्नलिखित हैं—रस सम्प्रदाय, रीति सम्प्रदाय, वक्रोक्ति सम्प्रदाय, अलंकार सम्प्रदाय, ध्वनि सम्प्रदाय, औचित्य सम्प्रदाय एवं काव्यानुमिति सम्प्रदाय। ये सभी सम्प्रदाय अलग-अलग दृष्टि से काव्य के प्रभाव और उसकी प्रक्रिया की व्याख्या करते हैं।

काव्यविश्लेषण के प्रसंग में इन सम्प्रदायों के आचार्यों में से किसी ने कवि की दृष्टि से, किसी ने सहृदय की दृष्टि से, किसी ने भाषा की दृष्टि से और किसी ने काव्य-अर्थ की दृष्टि से काव्य का विश्लेषण किया है। जिन आचार्यों ने काव्य की भाषा की दृष्टि से काव्य का विश्लेषण किया है, उनमें एक परम्परा को अलंकार सम्प्रदाय के नाम से जाना जाता है। इस सम्प्रदाय के अनुसार काव्य में अलंकार तत्त्व को सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण माना गया है, अथवा इस सम्प्रदाय में अलंकार तत्त्व की अधिक गम्भीरता विवेचना की गयी है।

यह अलंकार तत्त्व क्या है? तथा काव्य में इस तत्त्व का क्या महत्त्व है? इस विषय में आचार्यों में परस्पर मत भेद है। कुछ आचार्य काव्य के सौन्दर्य को ही अलंकार मानते हैं, तो दूसरे आचार्य जिससे काव्य अलंकृत होता है, उस तत्त्व को अलंकार मानते हैं। यह तत्त्व काव्य का सहज धर्म है अर्थात् काव्यत्व का आधार है, ऐसा कुछ आचार्यों का मत है, तो दूसरी परम्परा इन्हें काव्य के शरीर पर बाहर आरोपित धर्म के रूप में स्वीकार करती हैं। महिम भट्ट आदि कुछ आचार्य ऐसे भी है, जो अलंकारों को अर्थ प्रतीति का साधन मानकर अभिधा नाम से अभिहित करते हैं।[1] श्रीमती डा० इन्दु 'चन्द्र' त्रिपाठी ने अलंकारों को इसी कारण विचित्र अभिधा के नाम से स्वीकार किया है। उनका कहना है कि—"इस विचित्र अभिधा का प्रयोग होने पर कोई वाक्य काव्य बन जाता है, चाहे उसमें लक्षणा अथवा व्यंजना का प्रयोग हो अथवा न हो।"[2] इस प्रसंग में उन्होंने कालिदास की रचना में उपमा की अर्थ अभिधायकता को उदाहरण के रूप में प्रस्तुत किया है,

---

१. अलंकाराणां चाभिधात्वमुपगतं तस्याः भङ्गीभणितिरूपत्वात्। व्यक्तिविवेक पृ० १०

२. स्वातन्त्र्योत्तर हिन्दी काव्य में शब्द शक्तियों का व्यावहारिक अध्ययन पृ० १०४-१०८

"राजा दिलीप महामुनि वसिष्ठ के निर्देश के अनुसार पुत्र की प्राप्ति के लिए कामधेनु की पुत्री नन्दिनी की सेवा करते हुए उसके साथ जंगल में चलते हैं अनुष्ठान के नियमानुसार परम श्रद्धा और निष्ठा के साथ दिलीप की पत्नी सुदक्षिणा भी उनका अनुगमन करती है।[१] महाकवि कालिदास इस अनुगमन में अपूर्व श्रद्धा, निष्ठा के साथ दिलीप के प्रति सुदक्षिणा के अनुगमन को प्रगट करने के लिए उपमा का सहारा लेते हैं और वे कहते हैं—"श्रुतेरिवार्थं स्मृतिरन्वगच्छत्।" हिन्दू धार्मिक समाज में श्रुति और स्मृति के सम्बन्ध को जो नहीं जानता वह इस उपमा के द्वारा प्रगट होने वाले अर्थ को नहीं समझ सकता और उसके लिए उषा के पीछे दिन या संध्या के पीछे रात्रि अथवा गाय के पीछे बछड़े के चलने की उपमा में और इस उपमा से कोई अन्तर नहीं दिखेगा, किन्तु जिसे श्रुति और स्मृति के संबंध का बोध है, वह कालिदास के अभीष्ट अनुगमन, जिसमें पूर्ण श्रद्धा, और निष्ठा के साथ अनुगम्यमान के प्रयोजन की सिद्धि के लिए स्वयं को समर्पित भाव से लगा देने की भावना निहित है, का बोध होता है। इसी प्रकार कालिदास एक अन्य स्थल पर राम और लक्ष्मण तथा भरत और शत्रुघ्न की अपार प्रीति का बोध सामान्य शब्दों के माध्यम से नहीं करा पाते और इसके लिए वे वायु और अग्नि तथा चन्द्र और समुद्र के सम्बन्ध को दृष्टान्त के रूप में प्रयुक्त करते हैं और यह दृष्टान्त ही उनके हृदयस्थ भाव को प्रगट करा पाता है, सामान्य भाषा नहीं।[२]

प्रतिभा सम्पन्न कवियों को जहां जब जैसे सूक्ष्म सूक्ष्मतर और सूक्ष्मतम भावों को अभिव्यक्त करना हुआ है, उन्होंने उसके लिए उतनी ही सूक्ष्म अभिव्यंजना शक्ति संपन्न विचित्रअभिधा का प्रयोग किया है—उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा, अतिशयोक्ति और समासोक्ति आदि अलंकार इसी विचित्र-अभिधा के रूप में प्रयुक्त हुए हैं और उनमें उत्तरोत्तर को अधिक प्रशस्त माना है।[३] काव्यभाषा की इस विशिष्ट शक्ति को हिन्दी काव्यशास्त्र के आचार्यों ने भी अविकल रूप से स्वीकार किया है, यह दूसरी बात है कि उनकी यह स्वीकृति संस्कृत काव्यशास्त्र के आचार्यों का अनुकरण न होकर स्वयं उनके मानस में स्वतः उद्भूत हुई है।

---

१. तस्याः खुरन्यासपवित्रपांसुमपांसुलानां धुरि कीर्तनीया।
मार्गं मनुष्येश्वरधर्मपत्नी श्रुतेरिवार्थं स्मृतिरन्वगच्छत्॥ रघुवंश २.२

२. तेषां द्वयोर्द्वयोरैक्यं बिभिदे न कदाचन।
यथा वायुविभावस्वो र्यथा चन्द्रसमुद्रयोः॥ रघुवंश १०.८२

३. वाच्यात् प्रतीयमानोऽर्थः तद्विदां स्वदते स्वयम्।
रूपकादिरतः श्रेयान् अलंकारेषु नोपमा॥ व्यक्तिविवेक

हिन्दी काव्यशास्त्र के आचार्य भी इस तथ्य को किसी न किसी रूप में स्वीकार करते हैं, और रूपक या बिम्बविधान को अर्थ प्रतीति का साधन मानते हैं। इस प्रसंग में डा० इन्दुचन्द्र त्रिपाठी का यह कथन स्मरणीय है :—

"भारतीय काव्य परंपरा तथा काव्यशास्त्र में सांगरूपक का दृश्य विधान के लिए प्रयोग कवियों ने प्रभावशाली ढंग से किया है। तुलसी की रचना प्रक्रिया में सांगरूपक का केन्द्रीय महत्त्व है। रामचरित मानस के अनेक श्रेष्ठ प्रसंग इसी माध्यम से निर्मित हुए हैं। अयोध्याकाण्ड में कैकेयी का क्रोध, प्रयाग और चित्र-कूट के वर्णन, जनक की सेना का राम के आश्रम में आना आदि प्रसिद्ध दृश्य अपने पूरे विस्तार और वैविध्य में सांगरूपक के सहारे अंकित हुए हैं। इस दृष्टि से संश्लिष्ट वर्णन के लिए सांगरूपक का विशिष्ट महत्त्व है।[1]

कहने का तात्पर्य यह है कि अलंकार शास्त्र के आचार्यों की अलंकारों के प्रति भिन्न-भिन्न प्रकार की दृष्टि रही है। किन्तु काव्य में अलंकारों के महत्त्व को सभी आचार्यों ने स्वीकार किया है। जिन लोगों ने अलंकारों की काव्य में प्रधानता स्वीकार की है, उन्होंने भी, और जो ध्वनि रस अथवा रीति को काव्य की आत्मा स्वीकार करते हैं, उन्होंने भी, अलंकारों का विस्तृत विवेचन किया है। आनन्दवर्धन महिमभट्ट आदि कुछ आचार्यों ने यद्यपि अलंकारों का विवेचन नहीं किया है, उनके लक्षणों और उदाहरणों का संकलन अपने ग्रन्थों में नहीं किया है, तो भी वे अलंकारों के महत्त्व को अस्वीकार नहीं करते। जैसी कि पहले चर्चा की जा चुकी है, आचार्य महिम भट्ट अलंकारों को **विचित्र अभिधा** के रूप में स्वीकार करते है जबकि आचार्य आनन्दवर्धन कभी अलंकारों को काव्य में प्रधानतया व्यंग्य मानते हैं और कभी व्यंजक। अलंकार जब व्यंजक रूप में निबद्ध होते हैं, तो उनसे वस्तु (कर्त्तव्याकर्त्तव्य आदि) रूप अर्थ प्रकट होता है, और तब एक ओर तो वे अर्थ के बोधक होते हैं, और दूसरी ओर चमत्कार के जनक भी। इसी स्थिति को आचार्य आनन्दवर्धन के आलोचक आचार्य महिमभट्ट संभवतः **विचित्र अभिधा** के रूप में स्वीकार करना चाहते है।

आचार्य आनन्दवर्धन के अनुसार अलंकारों की एक तीसरी स्थिति भी है। जहाँ न वे व्यंजक है, न व्यंग्य। वे शरीर में केयूर आदि के समान काव्य में भाषा के बाह्य सौन्दर्य को बढ़ाने के लिए निबद्ध किये गये होते हैं। आनन्दवर्धन ऐसे प्रयोगों को अभिनन्दनीय नहीं मानते, बल्कि चित्र काव्य नाम देते हुए उसे अधम

---

१. स्वतन्त्र्योत्तर हिन्दीकाव्य के सन्दर्भ में शब्दशक्तियों का व्यावहारिक अध्ययन

काव्य की कोटि में रखना चाहते हैं।

उपर्युक्त प्रसंग को उद्धृत करने का तात्पर्य यह है कि जिन आचार्यों ने अलंकारों का विस्तार पूर्वक विवरण नहीं दिया है, दूसरे शब्दों में अलंकारों के लक्षण उदाहरणों पर विचार नहीं दिया है, वे भी काव्य के एक उपादान तत्त्व के रूप में अलंकारों की सत्ता को अवश्य स्वीकार करते हैं।

अलंकार कितने हो सकते हैं, यह एक सामान्य जिज्ञासा अलंकार शास्त्र के प्रारम्भिक विद्यार्थी के मन में हो सकती है। किन्तु इस जिज्ञासा का समाधान कर सकना सहज नहीं है। कवि के किस कर्म में कहाँ चमत्कार की सृष्टि हो जाए और सहृदय पाठक उस चमत्कार से चमत्कृत भी हों, इसकी इयत्ता नहीं हो सकती। संभवतः यही कारण है कि भरत के नाट्य शास्त्र में उपमा रूपक दीपक और यमक केवल चार अलंकारों को स्वीकार किया गया था, और विष्णु धर्मोत्तर पुराण में चौदह अलंकारों को, जबकि अग्नि पुराण में अलंकारों की संख्या तेइस हो गयी है, जिनमें नौ शब्दालंकार एवं आठ अर्थालंकार हैं। परवर्त्ती आलंकारिकों में शोभाकर मित्र अलंकारों का पूरा एक शतक स्वीकार करते हैं। अतः यह निश्चय कर पाना कि अलंकारों की कुल संख्या कितनी है, असम्भव कार्य है। इसीलिए आचार्य भामह ने स्पष्ट कहा था "ते चाद्यापि विकल्प्यन्ते कस्तान् कात्स्न्र्येन वक्ष्यति।" अर्थात् अलंकारों की संख्या निर्धारित करना संभव ही नहीं है। यही कारण है कि भामह के अनुसार आचार्यों का एक वर्ग भरत स्वीकृत चार अलंकारों में अनुप्रास को जोड़कर केवल पांच अलंकार स्वीकार करता रहा है। उद्भट के अनुसार आलंकारिकों का एक वर्ग आठ अलंकार मानता रहा है। **पुनरुक्तवदाभास, छेकानुप्रास, अनुप्रास, लाटानुप्रास, रूपक, उपमा, दीपक** और **प्रतिवस्तूपमा**। इन अलंकारों में भरत स्वीकृत यमक नहीं है। अनुप्रास के साथ ही छेकानुप्रास लाटानुप्रास की भी गणना है तथा पुनरुक्तवदाभास और प्रतिवस्तूपमा को भी जोड़ा गया है। (का०सा०सं० १.१) इन्हीं के अनुसार कुछ आचार्य इनमें **आक्षेप अर्थान्तरन्यास, व्यतिरेक विभावना** और **समासोक्ति** इन छ अलंकारों को और जोड़ते हैं। (वही २.१) एक तीसरा वर्ग इनमें **यथासंख्य उत्प्रेक्षा** और **स्वभावोक्ति** को भी जोड़ना चाहता है। और इस प्रकार अलंकारों की संख्या उत्तरोत्तर बढ़ती गयी है।

इस प्रसंग में स्मरणीय है कि परवर्त्ती अलंकारिकों ने नये अलंकारों की उद्भावना करके अलंकारों की संख्या को बढ़ाया ही नहीं है, बल्कि पूर्ववर्त्ती आचार्यों द्वारा स्वीकृति अनेक अलंकारों की उपेक्षा भी की है। उद्भट द्वारा संकेतित प्रथम वर्ग में यमक की उपेक्षा होना इसका प्रथम उदाहरण है।

किस आचार्य ने किन-किन अलंकारों को स्वीकार किया है इसका अत्यन्त संक्षिप्त संकेत हम नीचे दे रहे है, इससे अलंकारिकों की प्रवृत्ति का अनुमान किया जा सकता है। हमने जिन थोड़े से आलंकारिकों के द्वारा स्वीकृत अलंकारों का ऐतिहासिक स्वरूप विश्लेषण प्रस्तुत ग्रन्थ में किया है। उन आचार्यों द्वारा स्वीकृत अलंकारों की संख्या दो सौ छब्बीस हो जाती है।

ग्रन्थ विस्तार के भय से हम प्रस्तुत अवसर पर विभिन्न अलंकारिकों का ऐतिहासिक परिचय नहीं दे रहे हैं, वह संस्कृत साहित्य के इतिहास ग्रन्थों में द्रष्टव्य है। यहाँ प्रत्येक आचार्य के नाम के बाद ऐतिहासिकों द्वारा सामान्यतः स्वीकृत स्थिति काल कोष्ठ में दिया जा रहा है, तथा उसके साथ ही उन आचार्यों के अलंकार ग्रन्थ का नाम हम दे रहे हैं, जिनके आधार पर प्रस्तुत ग्रन्थ में ऐतिहासिक विश्लेषण किया गया है।

१. **आचार्य भरत** (ईसापूर्व द्वितीय शताब्दी) नाट्य शास्त्र

उपमा, रूपक, दीपक और यमक। इसमें उपमा के पांच एवं यमक के दस भेदों का वर्णन हुआ है।

२. **विष्णुधर्मोत्तरपुराणकार** (अनिश्चित)

अनुप्रास, यमक, रूपक, व्यतिरेक, श्लेष, उत्प्रेक्षा, अर्थान्तरन्यास, उपन्यास, विभावना, अतिशयोक्ति, वार्ता, यथासंख्य, विशेषोक्ति, विरोध, निन्दास्तुति, निदर्शन एवं अनन्वय।

३. **अग्निपुराणकार** (अनिश्चित)

(१) **शब्दालंकार**—छाया, मुद्रा, उक्ति, युक्ति, गुम्फना, वाकोवाक्य, अनुप्रास, चित्र, दुष्कर।

(२) **अर्थालंकार**—स्वल्प, सादृश्य, उत्प्रेक्षा, अतिशय, विभावना, विरोध, हेतु, सम।

(३) **शब्दार्थालंकार**—प्रशस्ति, कान्ति, औचित्य, संक्षेप, यावदर्थता, अभिव्यक्ति।

४. **दण्डी** (५०० से ६०० ई० के मध्य) काव्यादर्श

स्वभावोक्ति, उपमा, रूपक, दीपक, आवृत्ति, आक्षेप, अर्थान्तरन्यास, व्यतिरेक, विभावना, समासोक्ति, अतिशयोक्ति, उत्प्रेक्षा, हेतु, सूक्ष्म, लेश, लव, यथासंख्य, प्रेय, रसवत्, ऊर्जस्विन्, पर्यायोक्ति, समाहित, उदात्त, अपह्नुति,

श्लेष, **विशेषोक्ति**, तुल्ययोगिता, विरोध, **अप्रस्तुत प्रशंसा**, व्याजोक्ति, निदर्शना, सहोक्ति, परिवृत्ति, आशीः, संकीर्ण और भाविक।

५. **भामह** (५०० से ६०० ई० के मध्य) काव्यालंकार

शब्दालंकार—अनुप्रास, यमक।

अर्थालंकार—रूपक, दीपक, उपमा, आक्षेप, अर्थान्तरन्यास, व्यतिरेक, विभावना, समासोक्ति, अतिशयोक्ति, यथासंख्य, उत्प्रेक्षा, स्वभावोक्ति, प्रेय, रसवत्, ऊर्जस्वी, पर्यायोक्त, समाहित, उदात्त, श्लिष्ट, अपह्नुति, विशेषोक्ति, विरोध, तुल्ययोगिता, अप्रस्तुतप्रशंसा, व्याजस्तुति, निदर्शना, उपमारूपक, उपमेयोपमा, सहोक्ति, परिवृत्ति, ससंदेह, अनन्वय, उत्प्रेक्षावयव, संसृष्टि, भाविक, आशीः।

६. **शिलामेघसेन** (सप्तमशती) सियबसलकर (स्वभाषालंकार)

स्वभाववर्ग—स्वभावोक्ति।

अतिशयोक्ति वर्ग—उपमा, रूपक, दीपक, आवृत्ति, आक्षेप, अर्थान्तरन्यास, व्यतिरेक, विभावना, समासोक्ति, अतिशयोक्ति, उत्प्रेक्षा, हेतु, सूक्ष्म, लेश, रसवत्, प्रेय, ऊर्जस्वी, पर्यायोक्त, समाहित, उदात्त, अपह्नुति, श्लेष, विशेषोक्ति, विरोध, व्याजस्तुति, निदर्शना, सहोक्ति, परिवृत्ति, आशीः, संकीर्ण, भाविक।

चित्रबन्ध—(नामतः परिगणित किन्तु व्याख्यात नहीं) एकाक्षर, द्व्यक्षर, चतुरक्षर, प्रतिलोम सर्वतोभद्र, मुरजबन्ध, गोमूत्रिकाबन्ध, पद्मबन्ध।

७. **उद्भट** (८०० शतक) **काव्यालंकार सार संग्रह**

पुनरुक्तवदाभास, छेकानुप्रास, अनुप्रास, लाटानुप्रास, रूपक, दीपक, उपमा, प्रतिवस्तूपमा, (प्रथम वर्ग में वर्णित), आक्षेप, अर्थान्तरन्यास, व्यतिरेक, विभावना, समासोक्ति, अतिशयोक्ति, (द्वितीय वर्ग में वर्णित), यथासंख्य, उत्प्रेक्षा, स्वभावोक्ति, (तृतीय वर्ग में वर्णित)। प्रेयस्वत्, रसवत्, ऊर्जस्वी, पर्यायोक्ति, समाहित, उदात्त, श्लिष्ट (चतुर्थ वर्ग में वर्णित)। अपह्नुति, विशेषोक्ति, विरोध, तुल्ययोगिता, अप्रस्तुतप्रशंसा, व्याजस्तुति, निदर्शना, संकर, उपमेयोपमा, सहोक्ति, परिवृत्ति। (पंचम वर्ग में वर्णित), ससन्देह, अनन्वय, संसृष्टि, भाविक, काव्यहेतु (काव्यलिंग), काव्य दृष्टान्त (दृष्टान्त) (षष्ठ वर्ग में वर्णित)।

८. **वामन** (८५० ई० से पूर्व) **काव्यालंकार सूत्र**

यमक, अनुप्रास, उपमा, प्रतिवस्तूपमा, समासोक्ति, अप्रस्तुतप्रशंसा, अपह्नुति, रूपक, श्लेष, वक्रोक्ति, उत्प्रेक्षा, अतिशयोक्ति, सन्देह, विरोध,

विभावना, अनन्वय, उपमेयोपमा, परिवृत्ति, क्रम, दीपक, निदर्शना, अर्थान्तर न्यास, व्यतिरेक, विशेषोक्ति, व्याजस्तुति, व्याजोक्ति, तुल्ययोगिता, आक्षेप, सहोक्ति, समाहित, संसृष्टि ।

६. रुद्रट (८००-८५० ई०) **काव्यालंकार**

वास्तव वर्ग—सहोक्ति, समुच्चय, जाति, यथासंख्य, भाव, पर्याय, विषम, अनुमान, दीपक, परिकर, परिवृति, परिसंख्या, हेतु, कारणमाला, व्यतिरेक, अन्योन्य, उत्तर, सार, सूक्ष्म, लेश, अवसर, मीलित, एकावली ।

औपम्यवर्ग—उपमा, उत्प्रेक्षा, रूपक, अपह्नुति, संशय, समासोक्ति, मत, उत्तर, अन्योक्ति, प्रतीप, अर्थान्तरन्यास, उभयन्यास, भ्रान्तिमान्, आक्षेप, प्रत्यनीक, दृष्टान्त, पूर्व, सहोक्ति, समुच्चय, साम्य, स्मरण ।

अतिशयवर्ग—पूर्व, विशेष, उत्प्रेक्षा, विभावना, तद्गुण, अधिक, विरोध, विषम, असंगति, पिहित, व्याघात, अहेतु ।

श्लेषवर्ग—(श्लेष के भेद), अविशेषश्लेष, विरोधश्लेष, अधिकश्लेष, वक्र-श्लेष, व्याजश्लेष, उक्तिश्लेष, असम्भवश्लेष, अवयवश्लेष, तत्त्वश्लेष, विरोधा-भासश्लेष, संकीर्ण ।

स्मरणीय है कि रुद्रट के इस वर्गीकरण में कुछ अलंकार दो वर्गों में आ गये हैं, और संकीर्ण सभी वर्गों से बाहर है, अन्य अलंकारिक संकीर्ण के स्थान पर संकर और संसृष्टि दो अलग-अलग अलंकार मानते हैं। श्लेष वर्ग में परिगणित अलंकार प्रायः अन्य नामों से स्वीकृत हुए हैं जैसे—वक्रोक्ति व्याजोक्ति व्याज-स्तुति व्याजनिन्दा एवं विरोधाभास इत्यादि ।

इसके अतिरिक्त वे यमक शब्दश्लेष एवं चित्र नाम से तीन शब्दालंकार मानते हैं। इनमें प्रत्येक के अनेक भेद हैं तथा वे चित्र में चक्रबन्ध खड्गबन्ध, प्रहे-लिका आदि इक्कीस अन्य अलंकार भी मानते हैं ।

भोज [१०३०-१०५०]

भोज ने शृंगार प्रकाश एवं सरस्वती कंठाभरण में निम्नलिखित अलंकार स्वीकार किये हैं—

शब्दालंकार—जाति, रीति, वृत्ति, छाया, मुद्रा, गुम्फन, शय्या, यमक, उक्ति, युक्ति, वाकोवाक्य, गति, भणिति, पठिति, उत्तर, अध्येय, श्रव्य, प्रेक्ष्या-भिनीति, प्रश्न, प्रहेलिका, गूढ, यमक, श्लेष एवं चित्र ।

अर्थालंकार—जाति, विभावना, हेतु, अहेतु, सूक्ष्म, उत्तर, विरोध, सम्भव,

अन्योन्य, विवृत्ति, निदर्शन, भेद, समाहित, भ्रान्ति, वितर्क, मीलित, स्मृति, भाव, प्रत्यक्ष, अनुभाव, उपमान, आगम, अर्थापत्ति एवं अभाव।

उपमालंकार—(शब्दार्थालंकार), उपमा, रूपक, साम्य, संशय, अपह्नुति, समाधि, समासोक्ति, उत्प्रेक्षा, अप्रस्तुतप्रशंसा, तुल्ययोगिता, लेश, सहोक्ति, समुच्चय, आक्षेप, अर्थान्तरन्यास, विशेषोक्ति, परिकर, दीपक, क्रम, पर्याय, अतिशयोक्ति, श्लेष, भाविक एवं संसृष्टि।

कुन्तक [९२५-१०२५]

आचार्य कुन्तक ने वक्रोक्ति (विचित्र भङ्गीभणिति) को काव्य का प्रधान उपादान तत्त्व मानकर वाक्यवक्रता के अन्तर्गत बीस (२०) अलंकारों का विवरण दिया है, जो निम्नलिखित हैं :—

रसवत्, दीपक, रूपक, अप्रस्तुतप्रशंसा, पर्यायोक्ति, उत्प्रेक्षा, अतिशयोक्ति, उपमा, निदर्शना, श्लेष, व्यतिरेक, समासोक्ति, सहोक्ति, दृष्टान्त, अर्थान्तरन्यास, आक्षेप, विभावना, सन्देह, अपह्नुति एवं संसृष्टि।

मम्मट [११वीं शदी]

आचार्य मम्मट ने छ (६) शब्दालंकारों एवं इकसठ (६१) अर्थालंकारों को स्वीकार किया है। उनके द्वारा वर्णित अलंकार निम्नलिखित हैं :—

शब्दालंकार—वक्रोक्ति (श्लेषवक्रोक्ति-काकुवक्रोक्ति), अनुप्रास (छेकानुप्रास, वृत्त्यनुप्रास एवं लाटानुप्रास), यमक, श्लेष, चित्र एवं पुनरुक्तवदाभास।

अर्थालंकार—उपमा, अनन्वय, उपमेयोपमा, उत्प्रेक्षा, ससन्देह, रूपक, अपह्नुति, श्लेष, समासोक्ति, निदर्शना, अप्रस्तुतप्रशंसा, अतिशयोक्ति, प्रतिवस्तूपमा, दृष्टान्त, दीपक, तुल्ययोगिता, व्यतिरेक, आक्षेप, विभावना, विशेषोक्ति, यथासंख्य, अर्थान्तरन्यास, विरोधाभास, स्वभावोक्ति, व्याजस्तुति, सहोक्ति, विनोक्ति, परिवृत्ति, भाविक, काव्यलिङ्ग, पर्यायोक्ति, उदात्त, समुच्चय, पर्याय, अनुमान, परिकर, व्याजोक्ति, परिसंख्या, कारणमाला, अन्योन्य, उत्तर, सूक्ष्म, सार, असंगति, समाधि, सम, विषम, अधिक, प्रत्यनीक, मीलित, एकावली, स्मृति, भ्रान्तिमान्, प्रतीप, सामान्य, विशेष, तद्गुण अतद्गुण, व्याघात, संसृष्टि, संकर।

रुय्यक (११३५ से ११५५)

आचार्य रुय्यक ने निम्नलिखित ६ शब्दालंकार एवं ७५ अर्थालंकारों को स्वीकार किया है।

शब्दालंकार—पुनरुक्तवदाभास, छेकानुप्रास, वृत्त्यनुप्रास, लाटानुप्रास, यमक एवं चित्र ।

अर्थालंकार—उपमा, अनन्वय, उपमेयोपमा, स्मरण, अपह्नुति, उत्प्रेक्षा, रूपक, परिणाम, सन्देह, भ्रान्तिमान्, उल्लेख, अतिशयोक्ति, तुल्ययोगिता, दीपक, प्रतिवस्तूपमा, दृष्टान्त, निदर्शना, व्यतिरेक, सहोक्ति, विनोक्ति, समासोक्ति, परिकर, श्लेष, अप्रस्तुत प्रशंसा, अर्थान्तरन्यास, पर्यायोक्त, व्याजस्तुति, आक्षेप, विरोध, विभावना, विशेषोक्ति, अतिशयोक्ति, असंगति, विषम, सम, विचित्र, अधिक, अन्योन्य, विशेष, व्याघात, कारणमाला, एकावली, मालादीपक, सार, काव्यलिङ्ग, अनुमान, यथासंख्य, पर्याय, परिवृत्ति, परिसंख्या, अर्थापत्ति, विकल्प, समुच्चय, समाधि, प्रत्यनीक, प्रतीप, मीलित, सामान्य, तद्गुण, अतद्गुण, उत्तर, सूक्ष्म, व्याजोक्ति, वक्रोक्ति, स्वभावोक्ति, भाविक, रसवत्, प्रेयस्, ऊर्जस्वि, समाहित, भावोदय, भावसन्धि, भावशबलता, संसृष्टि, संकर ।

वाग्भट (१५वीं शदी)

काव्यानुशासनकार वाग्भट ने शब्दालंकार और अर्थालंकार के भेद से दो भेद माने हैं । उनके अनुसार चित्र, श्लेष, अनुप्रास, वक्रोक्ति, यमक, पुनरुक्तवदाभास ये छः शब्दालंकार होते है ।

इनके अनुसार अर्थालंकार निम्नलिखित हैं :—

जाति, (स्वभावोक्ति), उपमा, उत्प्रेक्षा, रूपक, अन्योक्ति, समासोक्ति, अप्रस्तुतप्रशंसा, पर्यायोक्ति, अतिशयोक्ति, सहोक्ति, आक्षेप, विरोध, अर्थान्तरन्यास, व्याजस्तुति, व्यतिरेक, ससन्देह, अपह्नुति, परिवृत्ति, अनुमान, स्तुति, भ्रान्ति, विषम, सम, समुच्चय, अन्यपर, परिसंख्या, कारणमाला, निदर्शन, एकावली, यथासंख्य, परिकर, उदात्त, समाहित, विभावना, अन्योन्य, मीलित, विशेष, पूर्वहेतु, सार, सूक्ष्म, लेश, प्रतीप, पिहित, व्याघात, असंगति, हेतु, श्लेष, मत, उत्तर, उभयन्यास, भाव, पर्याय, व्याजोक्ति, अधिक, प्रत्यनीक, अनन्वय, तद्गुण, अतद्गुण, संकर और आशीः ।

हेमचन्द्र [१२वीं शदी]

आचार्य हेमचन्द्र ने निम्नलिखित ७ शब्दालंकार तथा २९ अर्थालंकार स्वीकार किये हैं :—

शब्दालंकार—अनुप्रास, लाटानुप्रास, यमक, चित्र, पुनरुक्तवदाभास, वक्रोक्ति और [शब्द] श्लेष ।

अर्थालंकार—अतिशयोक्ति, अपह्नुति, उत्प्रेक्षा, उपमा, भ्रान्ति, रूपक, ससंदेह, स्मृति, अन्योक्ति, अर्थान्तरन्यास, निदर्शन, दीपक, पर्यायोक्ति, व्यतिरेक, व्याजस्तुति, श्लेष, समासोक्ति, सहोक्ति, अनुमान, कारणमाला, परावृत्ति, परिसंख्या आक्षेप, विषम, सम, समुच्चय, जाति [स्वभावोक्ति] विरोध और संकर।

शोभाकरमित्र (११वीं १३वीं शताब्दी)

आचार्य शोभाकर मित्र ने ६ शब्दालंकार एवं १०० अर्थालंकारों को स्वीकार किया है।

शब्दालंकार—पुनरुक्तवदाभास, यमक, छेकानुप्रास, वृत्त्यनुप्रास, लाटानुप्रास, तथा चित्र।

अर्थालंकार—उपमा, कल्पितोपमा, अनन्वय, असम, उपमेयोपमा, उदाहरण, प्रतिमा, तुल्ययोगिता, दीपक, प्रतिवस्तूपमा, दृष्टान्त, निदर्शना, स्मृति, विनोद, व्यासंग, व्यतिरेक, प्रतीप, वैधर्म्य, रूपक, परिणाम, अपह्नुति, सन्देह, वितर्क, उत्प्रेक्षा, भ्रान्तिमान्, उल्लेख, प्रतिभा, क्रियातिपत्ति, अतिशयोक्ति, अप्रस्तुतप्रशंसा, व्याजस्तुति, प्रत्यनीक, विनोक्ति, सहोक्ति, समासोक्ति, श्लेष, परिकर, पर्यायोक्ति, निश्चय, आक्षेप, विध्याभास, सन्देहभास, विकल्पाभास, विरोध, विभावना, विशेषोक्ति, असंगति, अन्योन्य, विपर्यय, अचिन्त्य, विषम, सम, विचित्र, विशेष, व्याघात, शक्य, व्यत्यास, समता, उद्रेक, तुल्य, अनादर, आदर, अनुकृति, प्रत्यूह, प्रत्यादेश, समाधि, अर्थान्तरन्यास, व्याप्ति, अनुकृति, हेतु, आपत्ति, विधि, नियम, परिसंख्या, तन्त्र, प्रसङ्ग, विकल्प, समुच्चय, परिवृत्ति, पर्याय, क्रम, वर्धमानक, अवरोह, अतिशय, श्रृंखला, तद्गुण, मीलित, विवेक, परभाग, उद्भेद, गूढ, सूक्ष्म, व्याजोक्ति, वक्रोक्ति, स्वभावोक्ति, भाविक, उदात्त, रसवत्, प्रेय, ऊर्जस्वित तथा संकर।

जयदेव (१२०० से १३०)

आचार्य जयदेव ने अलंकारों के दो भेद करते हुए ८ शब्दालंकार एवं ८७ अर्थालंकार स्वीकार किये हैं। जो निम्नलिखित हैं :—

शब्दालंकार—छेकानुप्रास, वृत्त्यनुप्रास, लाटानुप्रास, स्फुटानुप्रास, अर्थानुप्रास, पुनरुक्तप्रतीकाश, यमक और चित्र।

अर्थालंकार—उपमा, अनन्वय, उपमेयोपमेया, रूपक, परिणाम, उल्लेखन, अपह्नुति, उत्प्रेक्षा, स्मृति, भ्रान्ति, सन्देह, मीलित, सामान्य, अनुमान, अर्थापत्ति,

उन्मीलित, काव्यलिङ्ग परिकर, परिकरांकुर, अतिशयोक्ति, प्रौढोक्ति, संभावना, प्रहर्षण, विषादन, तुल्ययोगिता, दीपक, प्रतिवस्तूपमा, दृष्टान्त, निदर्शना, व्यतिरेक, सहोक्ति, विनोक्ति, समासोक्ति, श्लेष, अप्रस्तुतप्रशंसा, अर्थान्तरन्यास, विकस्वर, पर्यायोक्ति, व्याजस्तुति, आक्षेप, विरोध, विरोधाभास, असम्भव, विभावना, विशेषोक्ति, असंगति, विषम, सम, विचित्र, अधिक, अन्योन्य, विशेष, व्याघात, कारणमाला, एकावली, सार, यथासंख्य, पर्याय, परिवृत्ति, परिसंख्या, विकल्प, समुच्चय, समाधि, प्रत्यनीक, प्रतीप, उल्लास, तद्गुण, पूर्वरूप, अतद्-गुण, अनुगुण, अवज्ञा, प्रश्नोत्तर, पिहित, व्याजोक्ति, वक्रोक्ति, स्वभावोक्ति, भाविक, भाविकच्छवि, उदात्त, अत्युक्ति, तथा सात रसवदादि अलंकार।

विद्यानाथ (१२६८ से १३२८)

संस्कृत काव्यशास्त्र के इतिहास में अलंकारों के उदाहरण के रूप में किसी व्यक्ति विशेष (राजा विशेष) को केन्द्र बनाकर लक्ष्यभूत पद्य का निर्माण करके उदाहरण के रूप में प्रस्तुत करने की परम्परा विद्यानाथ के द्वारा आरम्भ होती है इन्होंने प्रतापरुद्रयशोभूषण, जिसे संक्षेप में प्रतापरुद्रीयम् भी कहते हैं, में चार शब्दालंकारों ६९ अर्थालंकारों एवं एक शब्दार्थ अलंकार का विवरण प्रस्तुत किया है। इनके द्वारा स्वीकृत अलंकार निम्नलिखित हैं—

शब्दालंकार—छेकानुप्रास, वृत्त्यनुप्रास, यमक और चित्र।

अर्थालंकार—उपमा, अनन्वय, उपमेयोपमेया, स्मरण, रूपक, परिणाम, सन्देह, भ्रान्तिमान्, अपह्नुति, उल्लेख, उत्प्रेक्षा, अतिशयोक्ति, सहोक्ति, विनोक्ति, समासोक्ति, वक्रोक्ति, स्वभावोक्ति, व्याजोक्ति, मीलन, सामान्य, तद्-गुण, अतद्गुण, विरोध. विशेष, अधिक, विभावना, विशेषोक्ति, असंगति, विचित्र, अन्योन्य, विषम, सम, तुल्ययोगिता, दीपक, प्रतिवस्तूपमा, दृष्टान्त, निदर्शना, व्यतिरेक, श्लेष, परिकर, आक्षेप, व्याजस्तुति, अप्रस्तुतप्रशंसा, पर्यायोक्त, प्रतीप, अनुमान, काव्यलिङ्ग, अर्थान्तरन्यास, यथासंख्य, अर्थापत्ति, परिसंख्या, उत्तर, विकल्प, समुच्चय समाधि, भाविक, प्रत्यनीक, व्याघात, पर्याय, सूक्ष्म, उदात्त, परिवृत्ति, कारणमाला, एकावली, मालादीपक, सार, संसष्टि, संकर, पुनरुक्तवदाभास।

शब्दार्थालंकार—लाटानुप्रास।

संघरक्षित (तेरहवीं शताब्दी)

आचार्य संघरक्षित बौद्धआचार्य हैं। इनका ग्रन्थ 'सुबोधालंकार' पालि भाषा

में उपलब्ध है। इन्होंने केवल ३४ अर्थालंकारों का विवरण प्रस्तुत किया है। यद्यपि क्लिष्ट दोष के प्रसङ्ग में यमक का एवं मधुरतागुण के प्रसङ्ग में अनुप्रास का भी लक्षण एवं उदाहरण इनके ग्रन्थ में प्राप्त होता है। इनके द्वारा स्वीकृत अर्थालंकार निम्नलिखित हैं :—

अतिशय, उपमा, रूपक, दीपक, आवृत्ति, आक्षेप, अर्थान्तरन्यास, व्यतिरेक, विभावना, समासोक्ति, परिकल्पना, (उत्प्रेक्षा) समाहित, हेतु, पर्यायोक्ति, व्याजवर्णन, (व्याजोक्ति) विशेष, रूढाहंकार (ऊर्जस्वी) श्लेष, तुल्ययोगिता, निदर्शन, महन्तर्थ (उदात्त), वञ्चना, (अपह्नुति) वक्रोक्ति, अप्रकृतस्तुति, (अप्रस्तुत प्रशंसा) एकावली, अन्योन्य, सहोक्ति, विरोधिता, (विरोध) परिवृत्ति, भ्रम, (भ्रान्तिमान्) भाव, मिश्र (संकर-संसृष्टि) आशीः, क्रम (यथासंख्य), प्रियतर।

विद्याधर (१३वीं शदी)

आचार्य विद्याधर ने विद्यानाथ की परम्परा में उड़ीसा के राजा नरसिंह" को केन्द्र में रखकर अलंकार शास्त्र के विविध तत्त्वों के उदाहरणों की योजना एकावली नामक ग्रन्थ में की। इन्होंने ३ शब्दालंकार एवं ७५ अर्थालङ्कारों एवं एक शब्दर्थालंकार का विवरण प्रस्तुत किया। जो निम्नलिखित हैं :—

शब्दालंकार—अनुप्रास, (वृत्त्यनुप्रास) यमक, और चित्र।

अर्थालंकार—लाटानुप्रास, उपमा, अनन्वय, उपमेयोपमा, अपह्नुति, उत्प्रेक्षा, रूपक, परिणाम, सन्देह, भ्रान्तिमान्, उल्लेख अतिशयोक्ति, तुल्ययोगिता, दीपक, प्रतिवस्तूपमा, दृष्टान्त, निदर्शना, व्यतिरेक, सहोक्ति, विनोक्ति, समासोक्ति, परिकर, श्लेष, अप्रस्तुत प्रशंसा, अर्थान्तरन्यास, पर्यायोक्ति, व्याजस्तुति, आक्षेप, विरोध, विभावना, विशेषोक्ति, अतिशयोक्ति, असंगति, विषम, विचित्र, अधिक, अन्योन्य, विशेष, व्याघात, कारणमाला, एकावली, मालादीपक, सार, काव्यलिङ्ग, अनुमान, यथासंख्य, पर्याय, परिवृत्ति, परिसंख्या, अर्थापत्ति, विकल्प, समुच्चय, समाधि, प्रत्यनीक, प्रतीप, मीलित, सामान्य, तद्गुण, अतद्गुण, उत्तर, सूक्ष्म, व्याजोक्ति, वक्रोक्ति, स्वभावोक्ति, भाविक, संसृष्टि, संकर।

उभयालंकार—पुनरुक्तवदाभास।

विश्वनाथ (१४वीं शताब्दी)

आचार्य विश्वनाथ के सुविदित ग्रन्थ साहित्यदर्पण में निम्नलिखित सात

शब्दालंकारों एवं ७७ अर्थालंकारों का विवरण उपलब्ध होता है।

शब्दालंकार—अनुप्रास, यमक, वक्रोक्ति, भाषासम, श्लेष, चित्र और पुनरुक्तवदाभास।

अर्थालंकार—उपमा, अनन्वय, उपमेयोपमा, स्मरण, रूपक, प्रेय, परिणाम, सन्देह, भ्रान्तिमान्, उल्लेख, अपह्नुति, निश्चय, उत्प्रेक्षा, उर्जस्वी, अतिशयोक्ति, तुल्ययोगिता, दीपक, प्रतिवस्तूपमा, दृष्टान्त, निदर्शना, व्यतिरेक, सहोक्ति, विनोक्ति, समासोक्ति, परिकर, श्लेष, अप्रस्तुतप्रशंसा, व्याजस्तुति, पर्यायोक्ति, अर्थान्तरन्यास, काव्यलिङ्ग, अनुमान, हेतु, अनुकूल, आक्षेप, विभावना, विशेषोक्ति, विरोध, असंगति, विषम, सम, विचित्र, अधिक, अन्योन्य, विशेष, व्याघात, कारणमाला, मालादीपक, एकावली, सार, यथासंख्य, पर्याय, परिवृत्ति, परिसंख्या, उत्तर, अर्थापत्ति, विकल्प, समुच्चय, समाधि, प्रत्यनीक, प्रतीप, मीलित, सामान्य, तद्गुण, अतद्गुण, सूक्ष्म, व्याजोक्ति, स्वभावोक्ति, भाविक, उदात्त, रसवद्, भावोदय, समाहित, भावशबलता, भावसन्धि, संसृष्टि और संकर।

अमृतानन्दयोगिन्

अमृतानन्द योगी, जिन्हें अमृतानन्दयति भी कहते हैं, ईसा की तेरहवीं शताब्दी के मध्यभाग में हुए हैं। दस अध्यायों में विभाजित इनका अलंकार संग्रह काव्य-शास्त्र का एक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है। इसमें काव्य के सभी उपादान तत्त्वों का विवेचन करते हुए भट्टि भूमिपति के पुत्र राजा मान्व की गुण गाथा से सम्बन्धित उदाहरण निबद्ध किये गये है।

वाग्भट (१२वीं शताब्दी)

इन वाग्भट द्वारा रचित वाग्भटालंकार ग्रन्थ में चित्र, वक्रोक्ति अनुप्रास और यमक इन ४ शब्दालंकारों का तथा निम्नलिखित ३५ अर्थालंकारों का विवरण प्राप्त होता है।

अर्थालंकार—जाति, (स्वभावोक्ति) उपमा. रूपक, प्रतिवस्तूपमा, भ्रान्तिमान्, आक्षेप, संशय, दृष्टान्त, व्यतिरेक, अपह्नुति, तुल्ययोगिता, उत्प्रेक्षा, अर्थान्तरन्यास, समासोक्ति, विभावना, दीपक, अतिशय, हेतु, पर्यायोक्ति, समाहित, परिवृत्ति, यथासंख्य, सहोक्ति, विषम, विरोध, अवसर, सार, श्लेष समुच्चय, अप्रस्तुतप्रशंसा, एकावली, अनुमान, परिसंख्या प्रश्नोत्तर तथा संकर।

अप्पयदीक्षित (सत्रहवीं शताब्दी)

अप्पयदीक्षित द्वारा विरचित दो अलंकार शास्त्रीय ग्रन्थ हैं, कुवलयानन्द एवं चित्रमीमांसा। चित्रमीमांसा में यद्यपि उपमा, उपमेयोपमा, अनन्वय, स्मरण, रूपक, परिणाम, ससन्देह, भ्रान्तिमान् अपह्नुति, उत्प्रेक्षा और अतिशयोक्ति केवल ११ अलंकारों का विवेचन प्राप्त होता है, किन्तु यह विवेचन रुय्यक, मम्मट एवं पण्डितराज जगन्नाथ द्वारा किये गये अलंकार विवेचन के समान अत्यन्त उत्कृष्ट कोटि का है। कुवलयानन्द में सामान्य अध्येताओं की दृष्टि से बिना गम्भीर विवेचन के विविध अलंकारों के लक्षण एवं उदाहरण निबद्ध हुए हैं। इन्होंने शब्दालंकारों की सम्पूर्ण रूप से उपेक्षा की है, अर्थात् उनका विवेचन नहीं किया है। इनके द्वारा स्वीकृत निम्नलिखित ११६ अलंकार हैं।

उपमा, अनन्वय, उपमेयोपमा, प्रतीप, रूपक, परिणाम, उल्लेख, स्मृति, भ्रान्ति, सन्देह, अपह्नुति, उत्प्रेक्षा, अतिशयोक्ति, तुल्ययोगिता, दीपक, आवृत्ति, प्रतिवस्तूपमा, दृष्टान्त, निदर्शना, व्यतिरेक, सहोक्ति, विनोक्ति, समासोक्ति, परिकर, परिकरांकुर, श्लेष, अप्रस्तुतप्रशंसा, प्रस्तुतांकुर, पर्यायोक्ति, व्याजस्तुति, व्याजनिन्दा, आक्षेप, विरोधाभास, विभावना, विशेषोक्ति, असम्भव, असंगति, विषम, सम, विचित्र, अधिक, अल्प, अन्योन्य, विशेष, व्याघात, कारणमाला, एकावली, मालादीपक, सार, यथासंख्य, पर्याय, परिवृत्ति, परिसंख्या, विकल्प, समुच्चय, कारकदीपक, समाधि, प्रत्यनीक, अर्थापत्ति, काव्यलिङ्ग, अर्थान्तरन्यास, विकस्वर, प्रौढोक्ति, सम्भावना, मिथ्याध्यवसित, ललित, प्रहर्षण, विषादन, उल्लास, अवज्ञा, अनुज्ञा, लेश, मुद्रा, रत्नावली, तद्गुण पूर्वरूप, अतद्गुण, अनुगुण, मीलित, विशेष, उत्तर, सूक्ष्म, पिहित, व्याजोक्ति, गूढोक्ति, विवृतोक्ति, युक्ति, लोकोक्ति, छेकोक्ति, वक्रोक्ति, स्वभावोक्ति, भाविक, उदात्त, अत्युक्ति, निरुक्ति, प्रतिषेध, विधि, हेतु, रसवत्, प्रेय, (भाव) ऊर्जस्वि, समाहित, भावोदय, भावसंधि, भावशबता, प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान, शब्दप्रमाण, स्मृति, श्रुति, अर्थापत्ति, अनुपलब्धि, सम्भव, ऐतिह्य, संसृष्टि, संकर, सामान्य, और उन्मीलित।

शौद्धोदनि (अज्ञात)

इनके द्वारा लक्षित अलंकारों का ही विवरण केशवमित्र ने किया है।

केशवमिश्र (१६वीं शदी)

शौद्धोदनिकृत अलंकार कारिका पर केशवमिश्र की व्याख्या अलंकार शेखर के नाम से सुविदित है। इस ग्रन्थ में शब्दालंकारों एवं १४ अर्थालंकारों का विवरण हुआ है। यहां बहुत स्पष्ट शब्दों में स्वीकार किया गया है कि इनके अतिरिक्ति अन्य अलंकार होते ही नहीं[1] इनके द्वारा स्वीकृत अलंकार निम्न-लिखित हैं :—

शब्दालंकार— चित्र, वक्रोक्ति, अनुप्रास, गूढ, श्लेष, प्रश्नोत्तर तथा यमक।

अर्थालंकार—उपमा, रूपक उत्प्रेक्षा, समासोक्ति, अपह्नुति. समाहित, स्वभाव, विरोध, सार, दीपक, सहोक्ति, अन्यदेशत्व, विशेषोक्ति और विभावना।

पंडितराज जगन्नाथ (१७वीं शताब्दी)

पंडितराज जगन्नाथ का रसगङ्गाधर, अलंकारशास्त्र के प्रौढतम ग्रन्थों में स्वीकार किया जाता है। क्योंकि यह ग्रन्थ सम्पूर्ण रूप से अब तक उपलब्ध न न हो सका है, अतः इन्हें कितने अलंकार अभीष्ट हैं, यह कहना सम्भव नहीं हैं। रसगङ्गाधर के हिन्दी टीकाकार पंडितमदन मोहन झा के अनुसार यदि किसी प्रकार सम्पूर्ण ग्रन्थ उपलब्ध होता अथवा पंडितराज जगन्नाथ इस ग्रन्थ को पूर्ण कर पाते तो "पंडितराज अभिमत अलंकारों की संख्या भी प्रायः १०० के लगभग होती।[2] रसगङ्गाधर में शब्दालंकारों का विवेचन बिल्कुल नहीं हुआ है। इनके द्वारा स्वीकृत अर्थालंकार निम्नलिखित ७० हैं :—

उपमा, उपमेयोपमा, अनन्वय, असम, उदाहरण, स्मरण, रूपक, परिणाम, ससंदेह, भ्रान्तिमान्, उल्लेख, अपह्नुति, उत्प्रेक्षा, अतिशयोक्ति, तुल्ययोगिता, दीपक, प्रतिवस्तूपमा, दृष्टान्त, निदर्शना, व्यतिरेक, सहोक्ति, विनोक्ति, समासोक्ति, परिकर, श्लेष, अप्रस्तुतप्रशंसा, पर्यायोक्ति, व्याजस्तुति, आक्षेप, विरोध, विभावना, विशेषोक्ति, असंगति, विषम, सम, विचित्र, अधिक, अन्योन्य, विशेष, व्याघात, कारणमाला एकावली, सार, काव्यलिङ्ग, अर्थान्तरन्यास, अनुप्रास, यथासंख्य, पर्याय, परिवृत्ति, परिसंख्या, अर्थापत्ति, विकल्प, समुच्चय,

---

१. एवं स्युरर्थालंकाराश्चर्तुदश न चापरे ॥२॥ —अलंकार शेखर ११-१२

२. रसगङ्गाधर की भूमिका —पंडितमदनमोहन झा पृ० ३६

समाधि, प्रत्यनीक, प्रतीप, प्रौढोक्ति, ललित, प्रहर्षण, विषादन, उल्लास, अवज्ञा, अनुज्ञा, तिरस्कार, लेश, तद्गुण, अतद्गुण, मीलित, सामान्य, और उत्तर।

चिरञ्जीव

ग्रन्थ काव्यविलास

नरेन्द्रप्रभसूरि

आचार्य नरेन्द्रप्रभसूरि उन जैनाचार्यों में हैं, जिन्होंने काव्यशास्त्र के क्षेत्र में भी अपनी लेखनी को प्रेरित किया। इनका ग्रन्थ "अलंकार महोदधि" यद्यपि अधिक प्रचलित नहीं है, किन्तु प्रौढ ग्रन्थ है। काव्यशास्त्र सम्बन्धी अन्य प्रमुख समस्याओं पर विचार करने के अनन्तर इन्होंने ४ शब्दालंकारों एवं ७१ अर्थालंकारों का विवेचन किया है। जो निम्नलिखित हैं :—

शब्दालंकार—अनुप्रास (वृत्त्यनुप्रास, छेकानुप्रास, लाटानुप्रास, बन्धानुप्रास); यमक, श्लेष, वक्रोक्ति।

अर्थालंकार—अतिशयोक्ति, सहोक्ति, उपमा, अनन्वय, उपमेयोपमा, स्मरण, संशय, भ्रान्तिमान्, उल्लेख, रूपक, अपह्नुति, परिणाम, उत्प्रेक्षा, तुल्ययोगिता, दीपक, निदर्शना, प्रतिवस्तूपमा, दृष्टान्त, अर्थान्तरन्यास, व्यतिरेक, विनोक्ति, परिकर, समासोक्ति, अप्रस्तुतप्रशंसा, पर्यायोक्त, आक्षेप, व्याजस्तुति, श्लेष, विरोध, असंगति, विशेषोक्ति, विभावना, विषम, सम, अधिक, विचित्र, पर्याय, विकल्प, व्याघात, अन्योन्य, विशेष, कारणमाला, सार, एकावली, मालादीपक, काव्यलिङ्ग, अनुमान, यथासंख्य, परिवृत्ति, परिसंख्या, अर्थापत्ति, समुच्चय, समाधि, प्रत्यनीक, प्रतीक, मीलित, सामान्य, तद्गुण, अतद्गुण, उत्तर, सूक्ष्म, व्याजोक्ति, स्वभावोक्ति, भाविक, उदात्त, रसवत्, प्रेय, ऊर्जस्वि, समाहित, संसृष्टि और संकर।

भावदेवसूरि

भावदेवसूरि काव्यशास्त्र के जैन आचार्यों में अन्यतम हैं। इनका स्थितिकाल सत्रहवीं शती स्वीकार किया जाता है। काव्यालंकार संग्रह इनकी अलंकार शास्त्रीय एकमात्र रचना है। इसका प्रकाशन गायकवाड़ ओरिएण्टल सीरिज बड़ौदा द्वारा नरेन्द्रप्रभसूरिकृत अलंकार महोदधि के साथ उस ग्रन्थ के अन्त में परिशिष्ट के रूप में हुआ है। यह अत्यन्त संक्षिप्त ग्रन्थ है। इनमें अलंकारों के केवल लक्षण और उदाहरण दिये गये हैं। कुछ (१५) अलंकारों में तो ग्रन्थकार

ने अलंकार लक्षण देने की भी आवश्यकता नहीं समझी है, केवल उदाहरण मात्र देना ही पर्याप्त समझा है।

भावदेवसूरि ने निम्नलिखित अलंकारों का विवरण प्रस्तुत किया है :— पुनरुक्तवदाभास, अनुप्रास, लाटानुप्रास, चित्र, वक्रोक्ति (शब्दालंकार), श्लेष, उपमा, अनन्वय, तुल्ययोगिता, दीपक, व्यतिरेक, प्रतीप, दीपक, सन्देह, उत्प्रेक्षा भ्रान्ति, उल्लेख, अप्रस्तुतप्रशंसा, समासोक्ति, पर्यायोक्ति, आक्षेप, विभावना, विशेषोक्ति, असङ्गति, विषम, समाधि, अर्थान्तरन्यास, परिसंख्या, परिवृत्ति, सूक्ष्म, व्याजोक्ति, वक्रोक्ति, भाविक, रसवत्, प्रेयस्, संसृष्टि, उदात्त, आशीः, सार एकावली, उत्तर, (अर्थालंकार)। इनके अतिरिक्त उन्होंने प्रतिवस्तूपमा, दृष्टान्त, स्मरण, अपह्नुति, अतिशयोक्ति, सहोक्ति, विरोध, अन्योन्योपमा, अन्योन्य, हेतु, समुच्चय, क्रम, तद्गुण, कारणावली और अत्युक्ति अलंकारों का केवल उदाहरण देकर परिचय कराया है।

नरसिंह कवि

नरसिंह कवि अपनी काव्यप्रतिभा के कारण अभिनव कालिदास के नाम से विख्यात रहे हैं। इनका स्थिति काल १७३४-१७७० ई० माना जाता है। इनकी चन्द्रकला परिणय नाटक एवं नञ्जराज यशोभूषण दो रचनाएं प्रसिद्ध हैं। इनमें से नञ्जराजयशोभूषण काव्यशास्त्रीय रचना है। इसमें काव्य लक्षण काव्य के हेतु, काव्य के प्रकार, अर्थ प्रतीति कराने वाली अभिधा लक्षणा और व्यञ्जना शक्तियां, काव्य के उपादानतत्त्व: दोष गुण रस और अलंकारों का विस्तृत विवेचन किया गया है। इस ग्रन्थ की एक मुख्य विशेषता यह है कि इसमें प्रत्येक काव्य-उपादान तत्त्वों के उदाहरण के रूप में नञ्राज की प्रशस्ति निबन्धन किया गया है।

नरसिंह के अनुसार अलंकार तीन प्रकार के होते हैं शब्दालंकार अर्थालंकार एवं उभयालंकार। अर्थालंकारों को उन्होंने चार वर्गों में विभाजित किया है। प्रतीयमान वास्तव, प्रतीयमान औपम्य, प्रतीयमान रसादि से युक्त तथा अस्फुट प्रतीयमान अर्थ से युक्त।

उनके अनुसार समासोक्ति, पर्यायोक्ति, आक्षेप, व्याजस्तुति, उपमेयोपमा, अनन्वय, अतिशयोक्ति, परिकर, अप्रस्तुतप्रशंसा, अनुक्तनिमित्ता विशेषोक्ति अलंकारों में प्रतीयमान वस्तु रूप अर्थ काव्य का उपस्कारक होता है।

रूपक, परिणाम, सन्देह, भ्रान्तिमान्, उल्लेख, अपह्नुति, उत्प्रेक्षा, स्मरण, तुल्ययोगिता, दीपक, प्रतिवस्तूपमा दृष्टान्त, सहोक्ति, प्रतीप, व्यतिरेक, निदर्शना और श्लेष, अलंकारों में प्रतीयमान औपम्य काव्य के सौन्दर्य का हेतु होता है।

रसवत्, प्रेय, ऊर्जस्वी; समाहित, भावोदय, भावसन्धि और भावशबलता अलंकारों में रति आदि भाव व्यञ्जित होते हुए काव्य में चारुत्व का आधान करते हैं।

इनके अतिरिक्त उपमा, विनोक्ति, अर्थान्तरन्यास, विरोध, विभावना, उक्त-गुणनिमित्ता, विशेषोक्ति, विषम, सम, चित्र, अधिक, अन्योन्य, कारणमाला, एका-वली, व्याघात, मालादीपक, काव्यलिङ्ग, अनुमान, सार, यथासंख्य, अर्थापत्ति, पर्याय, परिवृत्ति, परिसंख्या, विकल्प, समुच्चय, समाधि, प्रत्यनीक, प्रतीप, विशेष, मीलन, सामान्य, संगति, तद्गुण, अतद्गुण, व्याजोक्ति, बक्रोक्ति, स्वभावोक्ति, भाविक उदात्त अलंकार प्रतीयमान अर्थ के आस्वाद के बिना ही काव्य में चम-त्कार की सृष्टि करते हैं।

प्रतीयमान अर्थ के संस्पर्श के अतिरिक्त उन्होंने अलंकारों का वर्गीकरण अन्य प्रकार से भी किया है। उसके अनुसार उपमा अलंकार भेद प्रधान सादृश्य मूलक है। रूपक, परिणाम, सन्देह, भ्रान्तिमान्, उल्लेख, अपह्नव अलंकारों में अभेद प्रधान सादृश्य चमत्कार का हेतु होता है। विभावना, विशेषोक्ति, विषम, विचित्र, असंगति, अन्योन्य, व्याघात, अतद्गुण, भाविक और विशेष विरोधमूलक अलङ्कार हैं। यथासंख्य, परिसंख्या, अर्थापत्ति, विकल्प और समुच्चय अलङ्कार वाक्यन्याय मूलक होते हैं। पर्याय परिवृत्ति प्रत्यनीक तद्गुण सम स्वभावोक्ति उदात्त और विनोक्ति लोकव्यवहारमूलक अलङ्कार हैं। काव्यलिङ्ग, अनुमान, अर्थान्तर-न्यास अलङ्कारों के मूल में तर्क की प्रतिष्ठा रहती है। कारणमाला, एकावली, मालादीपक और सार अलङ्कारों में चारुत्व श्रृंखलाजन्य रहता है। व्याजोक्ति, वक्रोक्ति और मीलन अलङ्कारों में अपह्नव चारुत्व का हेतु रहता है। जबकि समासोक्ति और परिकर अलङ्कारों में चारुत्व विशेषण के वैचित्र्य पर निर्भर रहता है।

अलङ्कारों की इन भेदक विशेषताओं के आधार पर उनका वर्गीकरण करने के अतिरिक्त नरसिंह कवि ने प्रत्येक अलङ्कार के निज वैशिष्ट्य की चर्चा करते हुए अलङ्कारों के बीच अत्यन्त स्पष्ट विभाजन रेखा भी खींची है, जिससे प्रत्येक अलङ्कार के स्वरूप को पृथक्-पृथक् बिना किसी असुविधा के पहचाना जा

सकता है।

विश्वेश्वर

आचार्य विश्वेश्वर पंडित के २ अलङ्कार शास्त्रीय ग्रन्थ है। अलङ्कार कौस्तुक, और अलङ्कर मुक्तावली, ५६ कारिकाओं से युक्त अलङ्कार कौस्तुभ ग्रन्थ में नव्यन्याय की शैली में अलङ्कारों का प्रौढ विवेचन हुआ है। अलङ्कार कौस्तुभ की इन कारिकाओं को लेकर ही विश्वेश्वर पंडित ने अलङ्कारशास्त्र के सामान्य अध्येताओं के लिए एक अत्यन्त संक्षिप्त वृत्ति भी लिखी है। जिसे अलङ्कार मुक्तावली के नाम से जाना जाता है। इन्होंने शब्दालङ्कारों की उपेक्षा करते हुए केवल निम्नलिखित अर्थालङ्कारों का विवेचन किया है।

अतद्गुण, अतिशयोक्ति, अधिक, अनन्वय, अनुगुण, अनुमान, अनुज्ञा, अन्योन्य, अपह्नुति, अप्रस्तुतप्रशंसा, अर्थान्तरन्यास, असंगति, आक्षेप, उत्तर, उत्प्रेक्षा, उदात्त, उन्मीलित, उपमा, उपमेयोपमा, ऊर्जस्वी, उल्लेख, एकदेशविवर्त्तिरूपक, कारणमाला, काव्यलिङ्ग, तद्गुण, तुल्ययोगिता, दीपक, दृष्टान्त, निदर्शना, परिकर, परिसंख्या, पर्याय, पर्यायोक्त, पूर्वरूप प्रतिवस्तूपमा, प्रतीप, प्रत्यनीक प्रहर्षण, प्रेय, प्रौढोक्ति, भावशबलता, भाविक, भावोदय, भ्रान्तिमान्, मीलित, यथासंख्य, युवित, रसनोपमा, रसवत्, रूपक, लुप्तोपमा, लेश, विनोवित, विभावना, विरोध, विशेष, विशेषोक्ति, विषम, विषादन, व्यतिरेक, व्याघात, व्याजनिन्दा, व्याजस्तुति, व्याजोक्ति, श्लेष सन्देह, संकर, संसृष्टि, सम, समाधि, समासोक्ति, समाहित, समुच्चय, ससन्देह, सहोक्ति, सामान्य, सार, सूक्ष्म, स्मरण, स्वभावोक्ति।

भट्टदेवशंकर पुरोहित (१८वीं शदी का पूर्वार्ध)

भट्टदेवशंकर पुरोहित ने ११५ अर्थालङ्कारों का विवेचन किया। शब्दालङ्कारों की चर्चा इन्होंने नहीं की।

उपमा, ललितोपमा, अनन्वय, उपमेयोपमा, प्रतीप, रूपक, परिणाम, उल्लेख, स्मृतिमान्, भ्रान्तिमान्, सन्देहवान् अपह्नुति, उत्प्रेक्षा, अतिशयोक्ति, तुल्ययोगिता, दीपक, आवृत्तिदीपक, प्रतिवस्तूपमा, दृष्टान्त, निदर्शना, व्यतिरेक, सहोक्ति, विनीक्ति, सहोक्ति, परिकरांकुर, परिशंकर, श्लेष, अप्रस्तुतप्रशंसा, प्रस्तुतांकुर, पर्यायोक्त, व्याजस्तुति, व्याजनिन्दा, आक्षेप, विरोधाभास, विभावना, विशेषोक्ति, असम्भव, असङ्गति, विषम, सम, विचित्र, अधिक, अल्प,

अन्योन्य, विशेष, व्याघात, कारणमाला, एकावली, मालादीपक, सार, यथासंख्य, पर्याय, परिवृत्ति, परिसंख्या, विकल्प, समुच्चय, कारकदीपक, समाधि, प्रत्यनीक, काव्यार्थापत्ति, काव्यलिङ्ग, अर्थान्तरन्यास, विकस्वर, प्रौढोक्ति, सम्भावना, मिथ्याध्यवसित, ललित, प्रहर्षण, विषादन, उल्लास, अवज्ञा, अनुज्ञा, लेश, मुद्रा, रत्नावली, तद्‌गुण, पूर्वरूप, अतद्‌गुण, अनुगुण, मीलित, सामान्य, उन्मीलित, विशेषक, गूढोत्तर, चित्र, सूक्ष्म, पिहित, व्याजोक्ति, गूढोक्ति, विकृतोक्ति, युक्ति, लोकोक्ति, छेकोक्ति, वक्रोक्ति, स्वभावोक्ति, भाविक, उदात्त, अत्युक्ति, निरुक्ति, प्रतिषेध, विधि, प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान, शब्द, रसवत्, प्रेय, ऊर्जस्वी, समाहित, भावोदय, भावसन्धि, भावशबलता, संसृष्टि, संकर।

वेणीदत्त

वेणीदत्त मिथिला नरेश श्री माधव सिंह के मामा थे, साथ ही उनके सभा पंडित भी थे। माधवसिंह का शासन काल १७७६ से १८०७ माना जाता है, इस आधार पर इनकी स्थिति भी अठारहवीं शती का उत्तरार्ध एवं उन्नीसवीं शती का आदि मानना चाहिए। इनकी दो रचनाएं हैं : रस कौस्तुभ और अलङ्कार मंजरी।

श्रीकृष्णब्रह्मतन्त्र परकालस्वामी (उन्नीसवीं शती)

श्रीकृष्णब्रह्मतन्त्र वैष्णव परम्परा के प्रसिद्ध मठ परकाल स्वामी की परम्परा के वैष्णव सन्त हैं। इन्होंने अलङ्कारों का विस्तृत विवेचन करते हुए उदाहरण के रूप में विष्णु भक्तिपरक पद्यों का निवेश किया। इनके द्वारा स्वीकृत अलङ्कार निम्नलिखित हैं।

अर्थालङ्कार—उपमा, उपमेयोपमा, अनन्वय, असम, उदाहरण, प्रतीप, रूपक, परिणाम, उल्लेख, स्मृति, भ्रान्ति, सन्देह, अपह्नुति, उत्प्रेक्षा, अतिशयोक्ति, तुल्ययोगिता, दीपक, आवृत्तिदीपक, प्रतिवस्तूपमा, दृष्टान्त, निदर्शना, व्यतिरेक, सहोक्ति, विनोक्ति, समासोक्ति, परिकर, परिकरांकुर, श्लेष, अप्रस्तुतप्रशंसा, प्रस्तुतांकुर, पर्यायोक्त, व्याजस्तुति, व्याजनिन्दा, आक्षेप, विरोध, विभावना, विशेषोक्ति, असम्भव, असंगति, विषम, सम, विचित्र, अधिक, अल्प, अन्योन्य, विशेष, व्याघात, कारणमाला, एकावली, मालादीपक, सार, यथासंख्य, पर्याय, परिवृत्ति, परिसंख्या, विकल्प, समुच्चय, कारकदीपक, समाधि, प्रत्यनीक,

काव्यार्थापत्ति, काव्यलिङ्ग, अर्थान्तरन्यास, विकस्वर, प्रौढोक्ति, सम्भावना, मिथ्याध्यवसिति, ललित, प्रहर्षण, विषादन, उल्लास, अवज्ञा, अनुज्ञा, तिरस्कृति, लेश, मुद्रा, रत्नावली, तद्गुण, पूर्वरूप, अतद्गुण, अनुगुण, मीलित, सामान्य, उन्मीलित, विशेषक, उत्तर, चित्र, प्रश्न, सूक्ष्म, पिहित, व्याजोक्ति, गूढोक्ति, विवृतोक्ति, युक्ति, लोकोक्ति, छेकोक्ति, वक्रोक्ति, स्वभावोक्ति, भाविक, उदात्त, अत्युक्ति, निरुक्ति, प्रतिषेध, विधि, हेतु, रसवान्, प्रेय, ऊर्जस्वी, समाहित, भावोदय, भावसन्धि, भावशबलता, प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान, शब्दप्रमाण, अर्थापत्ति, अनुपलब्धि, सम्भव, ऐतिह्य, संसृष्टि, संकर।

शब्दालंकार—अनुप्रास, छेकानुप्रास, वृत्यनुप्रास, लाटानुप्रास, यमक, पुनरुक्तवदाभास, अपशब्दवदाभास, चित्र, (अव्ययाभास, तिङन्तवदाभास, गूढपाद, क्रियावञ्चना, विभक्तिवञ्चना, स्थाननियम, अपुनरुक्त, पद्म आदि बन्ध)।

अलङ्कार शास्त्रीय आचार्यों की उपर्युक्त विस्तृत परम्परा है, उपरिवर्णित आचार्यों के अतिरिक्त भी अनेक ऐसे आचार्य हैं, जिनके ग्रन्थों का उपयोग साधनों के अभाव के कारण (पुस्तक सुलभ न होने के कारण) हम नहीं कर सके हैं, किन्तु स्थालीपुलाक न्याय से उपर्युक्त आचार्यों के द्वारा किये गये अलङ्कार विवेचन के आधार पर प्रस्तुत ग्रन्थ में लगभग २२५ अलङ्कारों का अध्ययन करने के अनन्तर हम कह सकते हैं कि—इन अलङ्कारों के विकास के मूल में निम्नलिखित प्रवृत्तियां विद्यमान रही है।

१. लौकिक ऐतिहासिक एवं भौगोलिक वस्तुओं के स्वभाव के यथार्थ वर्णन में यद्यपि कोई आकर्षण प्राप्त नहीं होता, परन्तु जब वही यथार्थ वर्णन अपनी विशिष्ट सूचनाओं के साथ किया जाता है, तो उसमें एक विशेष चमत्कार का अनुभव होता है। इसी चमत्कार से सर्वप्रथम 'जाति' अथवा 'स्वभावोक्ति' अलङ्कार का जन्म हुआ है और यही (चमत्कार) भूत और भविष्य से सम्बन्ध होने पर भाविक अलङ्कार के रूप में एवं उत्कर्ष से सम्बद्ध होने पर उदात्त अलङ्कार के रूप में सहृदय को आह्लादित करता हुआ विकसित हुआ है।

२. मानव की यह भी एक सामान्य प्रवृत्ति है कि वह जिन परिस्थितियों में निरन्तर विकास करता है, कुछ काल के लिए उनसे भिन्न स्थितियों में भी वह आनन्द का अनुभव करता रहा है। यथा लोक व्यवहार अथवा काव्य में सरल, सहज, और सुबोध भाषा के निरन्तर प्रयोग के बीच यदा कदा किञ्चित् दुर्बोध शब्दों का समावेश भी (जो श्रोता या पाठक के विचार प्रवाह को कुछ काल के

लिए अवरुद्ध कर सके) आनन्द का कारण होता है। यही प्रवृत्ति 'प्रहेलिका' गूढ गूढोक्ति, व्याजोक्ति, श्लेष आदि अलङ्कारों के जन्म के मूल में रही प्रतीत होती है।

३. लौकिक जीवन में आकर्षक अथवा प्रिय वस्तुओं और व्यक्तियों के चित्र सदा ही आकर्षण उत्पन्न करते रहते हैं। जहां एक ओर इस आकर्षण ने चित्र-कला को जन्म दिया है, वहीं इसने काव्य के क्षेत्र में पद्म, चक्र, सर्वतोभद्र आदि विविध बन्धों को जन्म दिया। इनमें विशेष प्रकार से की गयी अक्षर योजना कवि के चातुर्य बोध के साथ-साथ दर्शक के दृश्य में भी कौतुहल की सृष्टि करती है। कृत्रिमता की प्रधानता के कारण इस प्रवृत्ति से काव्यार्थ की प्रतीति में प्रायः बाधा उपस्थित होती है। इसलिए आनन्दवर्धन एवं उनके अनुयायियों ने ऐसे कष्ट साध्य अलङ्कारों की आलोचना की है, जिसके फलस्वरूप इस प्रकार के बंध मूलक चित्र अलङ्कारों के विकास में पर्याप्त नियन्त्रण हुआ है।

४. काव्य रचना का मुख्य उद्देश्य वर्णनीय अर्थ को ललित रूप से श्रोता या पाठक के मानस में उपस्थित करना होता है। यह कार्य शब्द और अर्थ मिलकर करते हैं। शब्द उनके बाह्य साधन हैं, और अर्थ आन्तर साधन। बाह्य साधन सौन्दर्य की अपेक्षा आन्तर साधन का सौन्दर्य वर्णनीय वस्तु के वर्णन को अधिक ललित बना देता है। इस कारण अलङ्कारों के क्षेत्र में शब्दालङ्कारों की अपेक्षा अर्थालङ्कारों का अधिक महत्त्व होना स्वाभाविक है और इसीलिए अर्थालङ्कारों का विकास अपेक्षाकृत अधिक हुआ है।

५. वर्णनीय वस्तु को बढ़ाकर चढ़ाकर कहने की प्रवृत्ति लोक और काव्य दोनों में समान रूप से पायी जाती है। भरत के नाट्य शास्त्र में अतिशय की यह प्रवृत्ति (काव्यगत) अलङ्कार विशेष के रूप में नहीं दिखाई पड़ती है। स्वतन्त्र अलङ्कार के रूप में इस प्रवृत्ति का सर्वप्रथम दर्शन भामह में होता है। रुद्रट के समय तो यह अतिशय उनके अलङ्कारों के मूल में अन्यतम स्वीकार किया गया। इसी प्रवृत्ति से अतिशय अतिशयोक्ति और अत्युक्ति आदि अलङ्कारों का जन्म हुआ है।

६. काव्यगत सादृश्य अपेक्षाकृत अधिक उत्कृष्ट व आह्लादक तत्त्व माना जाता है, यह (सादृश्य) चाहे वर्णगत हो अथवा पदगत (शब्दगत) या पदार्थगत। प्रत्येक स्थिति में यह विविध अलङ्कारों द्वारा काव्य को चारुतर बनाते हुए काव्यार्थ के उन्मीलन में सहायक होता है। उदाहरणार्थ अनुप्रास आदि शब्दा-

लङ्कारों एवं परुषा आदि वृत्तियों का आधार वर्णगत सादृश्य है, यमक लाटानुप्रास एवं पुनरुक्तवदाभास अलङ्कारों का मूल पदगत सादृश्य है और उपमा आदि अधिकांश अलङ्कारों का प्राण पदार्थगत सादृश्य है। वर्ण और पदगत सादृश्य की अपेक्षा पदार्थगत सादृश्य का महत्त्व कुछ अधिक कहा जा सकता है, क्योंकि जहां वर्णगत एवं पदगत सादृश्य केवल क्षणिक चमत्कार उत्पन्न करता है, वहां पदार्थगत सादृश्य का चमत्कार काव्यार्थ प्रतीति (वर्णनीय वस्तु के सौन्दर्य बोध) तक रहने के कारण और भी अधिक स्थायी होता है। अनेक बार तो पदार्थगत सादृश्य पर ही काव्यार्थ की प्रतीति निर्भर हुआ करती है। महाकवि कालिदास की उपमाएं इसकी साक्षी हैं। इस सादृश्य के कारण ही नाट्यकला काव्यकला एवं चित्रकला का विकास हुआ है। काव्य में यह सादृश्य काव्य की अपेक्षा प्रतीयमान रूप में विद्यमान होने पर और भी अधिक सुन्दर हो जाता है।

७. रसभावादि काव्य की आत्मा कहे जाते हैं और काव्य में प्रधान रूप से उनकी विवक्षा रहती है, किन्तु कभी-कभी इन रसभावादि का उपनिबन्धन अप्रधान रूप से भी होता हैं। उस स्थिति में भी रसभावादि की रसनीयता अतिशय आदि तत्त्वों की अपेक्षा अधिक मनोरम रहती है। रसवत् प्रेय आदि अलङ्कारों का विकास इसी सौन्दर्य प्रतीति के कारण हुआ है।

८. सौन्दर्य के मूल-सादृश्य, आदि उपर्युक्त तत्त्वों के मिश्रण का भी अलङ्कारों के विकास में महत्त्वपूर्ण स्थान रहा है। उदाहरणार्थ अर्थ श्लेष में सादृश्य और किञ्चित् सुबोधता का तथा अध्यवसित प्राधान्यमूला अतिशयोक्ति में सादृश्य और अतिशय का मिश्रण देखा जा सकता है। संसृष्टि और संकर अलङ्कार इसी मिश्रण के उदाहरण हैं।

९. अलङ्कारों के विकास में उपर्युक्त सौन्दर्य जनक तत्त्वों के अतिरिक्त सौन्दर्य को परखने वाली आलङ्कारिकों की दृष्टि का भी महत्त्वपूर्ण स्थान रहा है। इस दृष्टि भेद के कारण अनेक नवीन अलङ्कारों की उद्भावना हुई है। उदाहरणार्थ किसी सौन्दर्य पूर्ण वर्णन में जहां किसी एक आलङ्कारिक को सभी तत्त्वों के समान महत्त्व की प्रतीति होती है। किसी को किसी तत्त्व विशेष की प्रधानता तथा अन्य तत्त्व की गौणता (अप्रधानता) दृष्टिगत होती है, वहीं किसी अन्य आलङ्कारिक को इतर तत्त्व विशेष की प्रधानता की अनुभूति हो सकती है। इस प्रकार के तत्त्वों में भी उसके अंश विशेष की प्रधानता की अनुभूति किसी

को हो सकती है। इसके फलस्वरूप ही अनेक अलङ्कारों की उत्पत्ति हुई है। यथा दण्डी ने जहां अन्योन्योपमा, वाक्यार्थोपमा, तुल्योपमा और प्रतिवस्तूपमा नामक उपमा के भेदों को मानते हुए उपमालङ्कार के दर्शन किये थे, वहीं रुय्यक आदि ने अनन्वय दृष्टान्त, तुल्ययोगिता और प्रतिवस्तूपमा नामक स्वतन्त्र अलङ्कारों को स्वीकार किया।

जहां आचार्य भरत ने केवल चार अलङ्कारों के द्वारा काव्यगत सौन्दर्य की निज अनुभूति को प्रकाशित किया, वहां भामह ने उस सौन्दर्यानुभूति का प्रकाशन ३८ अलङ्कारों में, उद्भट ने ४१ अलंकारों में, रुद्रट ने ६७ अलंकारों में, आचार्य मम्मट ने ६६ अलंकारों में, जयदेव और विश्वनाथ ने पृथक्-पृथक् रूप से ११६ अलंकारों में किया है।

इस प्रकार दृष्टि भेद के आधार पर होने वाली चमत्कार की अनुभूति के अनन्त होने के कारण अलंकारों की संख्या की सत्ता का निर्धारण कर सकना भी सम्भव प्रतीत नहीं होता है।

अलंकार कोश

अक्रमातिशयोक्ति

अतिशयोक्ति अलंकार को भरत को छोड़कर प्राय: सभी आलंकारिकों ने स्वीकार किया है। लोकातिक्रान्त कथन इस अलंकार का जीवातु है। इस कथन के मूल में औपम्य एवं कार्यकारणभाव में अन्यतर का रहना अनिवार्य है। इनमें से औपम्यमूला अतिशयोक्ति को साध्यवसाना लक्षणा के समानान्तर समझा जा सकता है, जहां आरोप्यमाण एवं आरोपविषय में अभेद के बोध के लिए आरोप्यमाण द्वारा आरोप विषय का निगरण हो जाता है, अर्थात् दोनों में अभेद अध्यवसित होता है, तथा इस अभेद अध्यवसान की ही प्रधानता रहती है। कार्यकारणभावमूला अतिशयोक्ति में कारण-कार्य के सुनिश्चित पौर्वापर्य में विपर्यय होता है। यह विपर्यय दो प्रकार का हो सकता है—कारण-कार्य की समानकालिकता, अथवा कारण से कार्य का पूर्वभाव। अतिशयोक्ति अलंकार के सामान्यत: पांच प्रकार माने जाते हैं—(१) अभेद में भेद कथन, (२) भेद में अभेद कथन, (३) सम्बन्ध में असम्बन्ध कथन, (४) असम्बन्ध में सम्बन्ध कथन, (५) कारण-कार्य के पौर्वापर्य में विपर्यय का निबन्धन। [विशेष विवरण के लिए अतिशयोक्ति प्रकरण देखें]

अक्रमातिशयोक्ति अलंकार वस्तुत: कोई स्वतन्त्र अलंकार न होकर अतिशयोक्ति के पूर्व परिगणित पंचम भेद का एक उपभेद है, जिसमें कारण एवं कार्य का सहभाव कथित होता है। किन्तु इसे जयदेव अप्पयदीक्षित एवं चिरञ्जीव ने स्वतन्त्र अलंकार के रूप में स्वीकार किया है।

मूल लक्षण

जयदेव—अक्रमातिशयोक्तिश्चेद् युगपत्कार्यकारणे। —चन्द्रालोक ५.४१

अप्पयदीक्षित—अक्रमातिशयोक्ति: स्यात् सहत्वे हेतुकार्ययो:। —कुवलयानन्द ४१

चिरंजीव—अक्रमातिशयोक्तिश्चेद् युगपत्कार्यकारणे॥ —काव्यविलास २.२७

अचिन्त्य

असंगति विषम आदि अलंकारों की भांति अचिन्त्य भी कार्य-कारण भाव मूलक अलंकारों में अन्यतम है। इसे अलंकार रत्नाकरकार शोभाकर मित्र के अतिरिक्त किसी अन्य आलंकारिक ने स्वीकार नहीं किया है। उनके अनुसार जहां स्वाभाविक कारण से परस्पर विरुद्ध अनेक कार्य की उत्पत्ति हो, अथवा विलक्षण स्वभाव वाले कारण से अविलक्षण स्वभाव वाले कार्य की उत्पत्ति हो तो वहां **अचिन्त्य अलंकार** माना जाता है। सामान्यतः कार्य में वे ही गुण धर्म हुआ करते हैं, जो कारण में हों फलतः कार्य और कारण में समान धर्म होते हैं अथवा उनका स्वभाव समान होता है, किन्तु इस अलंकार में कार्य कारण की यह स्वभाव गत समानता दृष्टिगत नहीं होती। कारण के गुणों और उसके स्वभाव को जानते हुए भी कवि प्रतिभा के कारण पाठक कार्य में विद्यमान गुण अथवा स्वभाव के स्वरूप के सम्बन्ध में सोच तक नहीं पाता। इसी अचिन्तनीयता के कारण ही इस अलंकार को अचिन्त्य कहा जाता है। कार्य कारण के बीच यह अचिन्तनीयता की स्थिति कई प्रकार की हो सकती है—कहीं किसी कार्य का जनक उसके विरोधी का उपमर्दक हो सकता है, यथा कटु द्रव्य पित्त का जनक है, साथ ही पित्त के विरोधी श्लेष्मा (कफ) का वह उपघातक है; कहीं जिसकी उत्पत्ति एक कारण से होती है, और उसके (कारण के) विरोधी कारणान्तर से उसका विनाश होता है, यथा उष्ण पदार्थ से दाह उत्पन्न होता है, और वह दाह उष्णता विरोधी शीत से शान्त हो जाता है। इसी प्रकार कहीं एक पदार्थ का कारण उसके विरोधी कार्य से भी सम्बद्ध होता है, यदि विरुद्ध से सम्बद्ध है तो उससे सम्बद्ध कैसे है? इत्यादि अनेक बातें विचार से परे होती हैं, अचिन्त्य होती हैं। यह अचिन्त्यता ही इस अलंकार का मूल है।

यह दो प्रकार का हो सकता है १-एक स्वभाव वाले कारण से परस्पर विरुद्ध अनेककार्यों की उत्पत्ति का निबन्धन होना। २. विलक्षण स्वभाव वाले कारण से अविलक्षण स्वभाव वाले काय की उत्पत्ति होना। यथा—

चिरसंस्थितोऽपि विगलति मानश्चिरविगलितोऽपि संघटते।
विपरीतरसं करोति मधुमदः कामिजने॥

इस पद्य में मधुमद (शराब का नशा) कारण से चिरस्थित मान की निवृत्ति, और चिरनिवृत्त की प्रवृत्ति वर्णित हुई है।

अत्यासन्नोऽवधिः क्रियतां मम मण्डनं प्रयत्नेन।
अद्य समाप्यते विरहः आगतेऽपि प्रियेऽनागतेऽपि च ॥

इस पद्य में प्रियतम में आगमन और अनागमन रूप विलक्षण (विरुद्ध) स्वभाव वाले कारण से अविलक्षण स्वभाव वाले विरह समाप्ति रूप कार्य का निबन्धन हुआ है।

मूल लक्षण

शोभाकर—अविलक्षणाद्विलक्षणकार्योत्पत्तिश्चाचिन्त्यम्। अ० र० ५८ पृ० १०२

कणाद—कारणगुणपूर्वकः कार्यगुणो दृष्टः। —वैशेषिक २.१.२४

शोभाकर—(क) यत्रैकस्वभावात् कारणात्परस्परविरुद्धानेककार्योत्पत्तिस्तदेकम्। विलक्षणस्वभावाच्चाविलक्षणस्वभावस्योत्पादस्तद् द्वितीयम्।
—अ० र० पृ० १०२

(ख) निमित्तयोरत्र निमित्तिनोर्वा विभिन्नयोरेव विरुद्धतास्ति। विरुद्ध-संसर्गनिबन्धनात्तद् भवेद्विरोधात् स्फुट एव भेदः। अ० र० पृ० १०४

अतद्गुण

अतद्गुण अलंकार का सर्व प्रथम उल्लेख हमें काव्य-प्रकाश में मिलता है तथा परवर्त्ती आलंकारिकों में रुय्यक, (७४) वाग्भट प्रथम, जयदेव (५.१००) नरेन्द्र प्रभसूरि (८.७६) विद्यानाथ (८. १३९) विद्याधर (८.६५) विश्वनाथ (१०.९०) अप्पयदीक्षित (कुवलया० १४४) चिरञ्जीव (२.५३) एवं नरसिंह कवि (पृ० १९०) ने शब्दान्तर के साथ मम्मट निर्दिष्ट लक्षण को ही स्वीकार किया है। अतद्गुण अलंकार तद्गुण से विपरीत है अर्थात् सान्निध्य आदि हेतु रहने पर भी यदि एक वस्तु दूसरी वस्तु के गुणों का अनुसरण नहीं करती तो वहां अतद्गुण अलंकार होगा। 'तस्य उत्कृष्ट गुणस्य गुणाः न सन्ति अस्मिन्' इस व्युत्पत्ति के अनुसार न्यून गुण वाले पदार्थ के द्वारा उत्कृष्ट गुण वाले पदार्थ के गुणों का अनुहरण न होने से भी अतद्गुण अलंकार होता है। 'यदि तु तदीयं वर्णं सम्भवन्त्यामपि योग्यतायाम्। इदं न्यूनगुणं न गृह्णीयात् तदा भवेदतद्गुणो नाम। (का० प्र० ८१२)

'यदा पुनरुत्कृष्टगुणपदार्थसन्निधानाख्ये हेतौ सत्यपि तद्रूपस्योत्कृष्टगुणस्याननुहरणं न्यूनगुणेनानुवर्त्तनं भवति सोऽतद्गुणः । तस्योत्कृष्टगुणस्यास्मिन्गुणा न सन्तीति कृत्वा । [अ० स० पृ० २१४]। इसके अतिरिक्त 'तस्य अप्रकृतस्य गुणा नास्मिन्सन्तीति' इस व्युत्पत्ति के अनुसार किसी निमित्त विशेष से जहां अप्रकृत के गुणों का प्रकृत द्वारा अनुहरण नहीं होता वहां भी अतद्गुण अलंकार होता है। तदिति अप्रकृतम्, अस्येति च प्रकृतमत्र निर्दिश्यते तेन यत् अप्रकृतस्य रूपं प्रकृतेन कुतोऽपि निमित्तात् नानुविधीयते सोऽतद्गुण इत्यपि प्रतिपत्तव्यम् । [क० प्र० पृ० ८१३] । यद्वा तस्याप्रकृतस्य रूपाननुहारः सत्यननुहरणहेतौ सोऽतद्गुणः । तस्या प्रकृतस्य गुणाः नास्मिन्सन्तीति कृत्वा । [अ० स० पृ० २१४] । इस प्रकार अनुहरण का हेतु रहने पर भी न्यून गुण वस्तु के द्वारा उत्कृष्ट के गुणों का अनुहरण न होने पर प्रथम प्रकार का अतद्गुण होगा । तथा किसी हेतु विशेष के कारण प्रकृत द्वारा अप्रकृत के गुणों का अनुहरण न होने पर द्वितीय प्रकार का अतद्गुण अलंकार होगा ।

उदाहरण

हन्त सान्द्रेण रागेण भृतेऽपि हृदये मम ।
गुणगौर निषण्णोऽपि कथं नाम न रज्यसि ॥

पद्य में प्रकृत नायक जो कि गुण से धवल है [उज्जवल गुणों के कारण कीर्तिमान होने से] हृदय में रक्त [अनुरक्त] नायिका से युक्त है, अतः उसे रक्त होना चाहिए, किन्तु वह रक्त (अनुरक्त अथवा रक्त वर्ण) नहीं हो रहा है ।

गाङ्गमम्बु सितमम्बु यामुनं कज्जलाभमुभयत्र मज्जतः ।
राजहंस तव सैव शुभ्रता चीयते न च न चापचीयते ॥

'गाङ्गमम्बु' इत्यादि पद्य में उज्जवल वर्ण राजहंसशुभ्र वर्ण गंगाजल में एवं श्यामवर्ण यमुना जल में मज्जन करता हुआ भी न तो अधिक शुभ्र होता है और न श्याम अर्थात् गुण अनुहरण के कारण गंगा के शुभ्र जल एवं यमुना के श्याम जल का सम्पर्क होने पर भी न तो गंगाजल के शुभ्रगुण का और न यमुना जल के श्याम गुण का अनुहरण करता है अतः यहां प्रथम प्रकार का अतद्गुण एवं पूर्व उदाहरण में द्वितीय प्रकार का अतद्गुण अलंकार है ।

'गागमम्बु' इत्यादि उपर्युक्त पद्य में वस्तुतः अप्रस्तुत प्रशंसा अलंकार है, 'तुल्ये प्रस्तुते तुल्याभिधाने सः।' [सा० द० ३४२] क्योंकि यहां अप्रस्तुत राजहंस के माध्यम से जो गंगा और यमुना के शुक्ल एवं श्याम वर्ण के जल से प्रभावित नहीं हो रहा है, उस सत्पुरुष की प्रशंसा की जा रही है जो सद्गुणशाली सज्जनों और दुर्गुणशाली दुर्जनों के साहचर्य में भी दृढ़ एवं अपरिवर्त्तित रहता है। इस प्रकार यद्यपि सत्पुरुष प्रकृत एवं राजहंस अप्रकृत है, तथापि, विश्वनाथ ने राजहंस को गंगा यमुना की अपेक्षा प्रकृत कहा है, उसका हेतु यह है कि गंगा और यमुना क्रमशः अतिशय शुक्ल एवं श्याम गुणों से युक्त है, उनके सम्पर्क से ही राजहंस में संभावित गुण-परिवर्त्तन का यहां अभाव विवक्षित है।

इस प्रसंग में एक शंका हो सकती है कि पूर्वोक्त पद्यों में क्रमशः अतिशय राग से युक्त हृदय में विद्यमान होने पर भी नायक के रञ्जित न होने में तथा गंगा एवं यमुना के शुभ्र एवं श्याम जल में मज्जन करने पर भी राजहंस के शुभ्रतर अथवा श्यामतर न होने में कारण होने पर भी कार्य न होने के कारण विशेषोक्ति अलंकार क्यों न माना जाए। इसका उत्तर यह है कि अतद्गुण अलंकार में सौन्दर्य केवल इस बात में निहित है कि यहां प्रकृत में गुण का ग्रहण नहीं हो रहा है। जबकि विशेषोक्ति में चारुत्व इस बात में रहता है कि कार्य की उत्पत्ति नहीं हो रही है। यदि कदाचित् कार्य कारण भाव की प्रतीति यहां भी होती है तो भी यहां विशेषोक्ति न हो सकेगी क्योंकि कवि भी विवक्षा नहीं है, कवि विवक्षा तो केवल गुण के अग्रहण में है [कार्यकारणभावस्य चात्राविवक्षणान्न विशेषोक्त्यलंकारः। अ० सं० पृ० २१५। 'नन्वत्र सत्यपि कारणसामान्येऽन्यगुणानुदाहरणरूपस्य कार्यस्यानुत्पत्तेः किमयं विशेषोक्तिरेव न भवतीत्याशङ्क्याह-कार्येत्यादि। [विमर्शिनी पृ० २१५] विमर्शिनीकार जयरथ एवं उनके ही द्वारा उद्धृत अज्ञात नामा अलंकारसारकार कार्यकारणभाव की सम्भावना करते हुए अतद्गुण को विशेषोक्ति में समाहित करते हैं [वस्तुतस्तु संभवत्येव कार्य-कारणभावः। अत एवालंकारसारकृता विशेषोक्त्यन्तर्भाव एवोक्तः। ग्रन्थकृता (रुय्यकेन) प्राच्यानुरोधाल्लक्षितः। [विमर्शिनी पृ० २१५]

अतद्गुण का अन्तर्भाव विषम में नहीं किया जा सकता, क्योंकि

विषम में कार्य में कारण से विपरीत गुण अथवा क्रिया की उत्पत्ति होती है, जबकि तद्गुण में प्रथम तो कार्य कारण भाव की विवक्षा नहीं है, दूसरे यहां भिन्न गुण की उत्पत्ति का भी प्रश्न नहीं है क्योंकि यहां पूर्व गुण ही रहता है भले ही परिस्थितियां भिन्न हों, तथा पूर्व गुण के अपरिवर्त्तित रहने में ही चारुत्वविशेष का अनुभव होता है [तस्य हि विरूपस्य कार्यस्यानर्थस्योत्पत्तिश्च लक्षणम्। विमर्शिनी पृ० २१६]।

मूल लक्षण

मम्मट—तद्रूपानुहारश्चेदस्य तत्स्यादतद्गुणः ।

—काव्यप्रकाश सू० २०५ का० १३८

रुय्यक—सति हेतौ तद्गुणाननुहारोऽतद्गुणः । —अलंकार सर्वस्व ७४

वाग्भट—तत्संश्लिष्टमपि वस्तु यद्गुणं नाश्रयति सोऽतद्गुणः ।

—काव्यानुशासन पृ० ४५

जयदेव—सङ्गतान्यगुणानङ्गीकारमाहुरतद्गुणम् । —चन्द्रालोक ५.१००

विद्यानाथ—सति हेतावन्यगुणास्वीकारः स्यादतद्गुणः । —प्रतापरुद्रीयम् ८.१३६

विद्याधर—सति हेतौ तद्रूपाननुहारोऽतद्गुणः कथितः । —एकावली ८.६५.

विश्वनाथ—तद्रूपाननुहारस्तु हेतौ सत्यप्यतद्गुणः । —साहित्यदर्पण १०.९०

अप्पयदीक्षित—सङ्गतान्यगुणानङ्गीकारमाहुरतद्गुणम् । —कुवलयानन्द १४४

चिरंजीव—सङ्गतान्यगुणानङ्गीकारे त्वाहुरतद्गुणम् । —काव्यविलास २.५३

नरेन्द्रप्रभसूरि—स्वगुणत्यागाद् योगे वस्त्वन्तरस्य यत् ।
धत्ते तद्गुणतां वस्तु नैव चेत्तदतद्गुणः ॥

—अलंकार महोदधि ८.७९-८०

नरसिंह कवि—सति हेतौ परगुणास्वीकारः स्यादतद्गुणः ॥

—नञ्जराजयशोभूषण पृ० १९०

भट्टदेवशंकर पुरोहितः—मिलितस्य पदार्थस्य गुणानङ्गीकृतिस्तु या ।
अतद्गुणः स सम्प्रोक्तो गुणावज्ञाविलक्षणः ॥

—अलंकारमंजूषा ११०

वेणीदत्तः—अप्रस्तुतो न्यूनगुणः प्रस्तुतस्य गुणं यदा ।
उत्कृष्टमपि नादत्ते तदैव स्यादतद्गुणः ॥ —अलंकारमंजरी २३२
अप्रस्तुतं वस्तुरूपं यदा प्रस्तुतवस्तुना ।
नादीयतेऽचलत्वेन तदान्यः स्यादतद्गुणः ॥ —वही २३४

विश्वेश्वर—अन्य गुणासम्बन्धे प्रकृतस्यातद्गुणः प्रोक्तः ॥

—अलंकार मुक्तावली ५१

श्रीकृष्ण ब्रह्मतन्त्र परकालस्वामी—अतद्गुणं सङ्गतान्यगुणानङ्गीकृतिं विदुः।

—अलंकार मणिहार १४५

अतिशय

अतिशय अलंकार की उद्भावना शोभाकर मित्र ने की है। उनके अतिरिक्त केवल वाग्भट द्वितीय ने इसे स्वीकार किया है। यह अन्य-आचार्यों द्वारा स्वीकृत अतिशयोक्ति एवं अत्युक्ति से भिन्न है। क्योंकि अतिशयोक्ति औपम्य मूलक अथवा कार्यकारणभाव मूलक अलंकार है जिसमें अध्यवसान की प्रधानता रहा करती है, तथा अत्युक्ति में केवल अपूर्व अधिकता विवक्षित रहती है, जबकि अतिशय शृङ्खला मूलक अलंकार है, और उसमें शृङ्खलान्यायेन निबद्ध पदार्थों में उत्तरोत्तर उत्कर्ष प्रधानतया विवक्षित रहता है। इस अलंकार को केवल दो आलंकारिकों शोभाकर एवं वाग्भट द्वितीय ने स्वीकार किया है। शोभाकर के अनुसार वर्ण्यमान अतिशय सम्भाव्य और असंभाव्य दो प्रकार का हो सकता है जबकि वाग्भट द्वितीय के अनुसार वह केवल असंभाव्य ही होना चाहिए। यथा:—

यदि दैवतं प्रसन्नं मा कार्षी मम मानुषे जन्म।
अथ जन्म मा प्रेमाथ प्रेम मा जने दुर्लभे॥

प्रस्तुत पद्य में मानुष जन्म प्रेम एवं दुर्लभ जन के प्रति प्रेम इनमें उत्तरोत्तर उत्कर्ष का निबन्धन हुआ है। ये तीनों ही संभाव्य हैं; अतः यह अतिशय का प्रथम प्रकार है।

सुजनो न कुप्यत्येवाथ कुप्यति विप्रियं न चिन्तयति।
अथ चिन्तयति न जल्पति, अथ जल्पति लज्जितो भवति॥

प्रस्तुत पद्य में सुजन का कुपित होना, विप्रिय चिन्तन करना, उसका कथन करना एवं लज्जित होना इनकी असंभावना द्वारा अतिशय की विवक्षा है।

मूल लक्षण

शोभाकर—(१) क्रमेणोत्तरोत्तरस्मिन् सम्भावनयाऽसम्भावनयाऽतिशयोऽतिशयालंकारः।

—अलंकाररत्नाकर वृत्ति पृ० १६४

(२) संभावनयाऽन्यथावाऽतिशयोऽतिशयः ।

—अलंकार रत्नाकर सूत्र ६५ पृ० १६४

वाग्भट—वस्तूनां वक्तुमुत्कर्षमसंभाव्यं यदुच्यते ।
वदन्त्यतिशयाख्यं तमलंकारं बुधा यथा ॥ —वाग्भटालंकार ४.१०२

अतिशयोक्ति

अध्यवसाय के साध्य होने पर उत्प्रेक्षा अलंकार होता है, इसकी चर्चा यथास्थान की जाएगी। यह अध्यवसाय यदि साध्य न होकर सिद्ध हो तो उसे अतिशयोक्ति अलंकार कहा जाता है। इस अलंकार का विवेचन नाट्य शास्त्रकार भरत को छोड़कर सभी आलंकारिकों ने किया है। यह बात भिन्न है कि जयदेव एवं काव्यविलासकार चिरंजीव ने इसका विवरण अत्युक्ति नाम से दिया है। विष्णु धर्मोत्तर पुराणकार के अनुसार उपमा के अतुल गुणों की स्थिति में अतिशयोक्ति अलंकार होता है। दण्डी भामह, अग्निपुराणकार, शिलामेघसेन उद्भट एवं भोज ने अतिशयोक्ति की परिभाषा देते हुए लोकातिक्रान्त गोचरता को मूलतत्त्व के रूप में स्वीकार किया है; जब कि वामन ने इस शब्द का प्रयोग न करके भी उत्कर्षपूर्ण कल्पनातिशय के वर्णन को इसका मूल मानते हुए प्रकारान्तर से उनका ही अनुगमन किया है। यह लोकातिक्रान्त गोचरता ही लोकोत्तर चमत्कार है, इस लोकोत्तरता के कारण दण्डी ने इस अलंकार को समस्त अलंकार में उत्तम माना है तथा अतिशय अन्य काव्य के उपादान तत्त्वों के साथ सभी अलंकारों में अथवा अधिकाधिक अलंकारों में व्यापक रूप से रहता है, ऐसा भामह ने स्पष्ट शब्दों में स्वीकार किया है। लोकातिक्रान्तता अलौकिकता को अतिशय नाम से रुद्रट ने सम्पूर्ण अलंकारों में तो नहीं, किन्तु पूर्व-विशेष-उत्प्रेक्षा-विभावना-अतद्गुण-अधिक-विरोध-विषम-असंगति-पिहित-व्याघात एवं हेतु अलंकारों को अन्य अलंकारों से पृथक् करने के लिए भेदक तत्त्व के रूप में स्वीकार किया है। इस अतिशय कार्य के आधार पर ही शोभाकर एवं वाग्भट्ट द्वितीय ने इस अलंकार को अतिशयोक्ति न कहकर केवल अतिशय नाम से ही स्मरण किया है। अध्यवसाय को इस अलंकार की परिभाषा में सर्वप्रथम मम्मट ने जोड़ा है। तथा रूय्यक ने इसके स्वरूप को स्पष्ट किया

है। शोभाकर ने तो अध्यवसान को ही अतिशयोक्ति अलंकार स्वीकार किया है।

अध्यवसान

अध्यवसान उस क्रिया को कहते हैं जिसमें विषयी द्वारा विषय का अन्तःनिगरण होता है, जिसके फलस्वरूप विषय एवं विषयी में अभेद प्रतीति होती है। इस अध्यवसाय में तीन अंग होते हैं—स्वरूप अर्थात् अध्यवसान रूप क्रिया, विषय तथा विषयी। इसमें विषय की निगीर्यमाणता अथवा निगरण रहने के कारण विषय की प्रधानता का तो प्रश्न ही नहीं उठता। प्रधानता का तो स्वरूप अर्थात् अध्यवसान व्यापार की हो सकती है या विषयी अर्थात् अध्यवसित की। स्वरूप की प्रधानता होने पर उत्प्रेक्षा अलंकार होता है और अध्यवसित की अर्थात् विषयी की प्रधानता होने पर अतिशयोक्ति अलंकार होता है। प्रथम में अध्यवसाय साध्य रहता है और द्वितीय में सिद्ध। जयरथ ने इस तथ्य को कुछ अधिक स्पष्ट शब्दों में निरूपित किया है। उनका कहना है कि वह अध्यवसान दो प्रकार का है सिद्ध और साध्य। जब विषय का उपादान नहीं किया होता, वह निर्गीण रहता है, अतएव अध्यवसित की प्रधानता रहती है वहां अध्यवसान सिद्ध रहता है। किन्तु जहां इव आदि का प्रयोग होने से विषय की विषयी के रूप में सम्भावना मात्र की जाती है वहां विषय निर्गीयमाण रहता है—अतएव वहां अध्यवसान क्रिया की ही प्रधानता रहती है। वहां अध्यवसान साध्य रहा करता है। विश्वनाथ ने रुय्यक के अध्यवसान को अतिशयोक्ति की परिभाषा में स्वीकार करते हुए इसके सिद्ध और साध्य भेदों को अविकल रूप से स्वीकार किया है।

अतिशयोक्ति भेद

अतिशयोक्ति के भेदों का सर्वप्रथम विवेचन उद्भट ने निम्नलिखित शब्दों में किया है—

> **"भेदेनान्यत्वमन्यत्र नानात्वं यत्र बध्यते।**
> **तथासम्भाव्यमानार्थनिबन्धनेऽतिशयोक्तिधीः ॥**

कार्यकारणयोर्यत्र पौर्वापर्यविपर्ययात् ।
आशुभावं समालम्ब्य बध्यते सोऽपिपूर्ववद् ॥

(१) भेद में अनन्यत्व अर्थात् अभेद या एकत्व ।
(२) अभेद में नानात्वं अर्थात् भेद ।
(३) सम्बन्ध के बिना भी सम्भाव्यमान अर्थ का निबन्धन ।
(४) कार्य और कारण के पौर्वापर्य का विपर्यय ।

उद्‌भट निर्दिष्ट इन चार भेदों में मम्मट को प्रथम तीन स्वीकार्य हैं—

(१) उपमान में उपमेय का अन्तर्निगरण करके अध्यवसान ।
(२) प्रस्तुत का अन्यत्व (अभेद में भेद)
(३) यद्यर्थ (असंभाव्य अर्थ) की यथोक्त कल्पना । वे इसे अविकल रूप से नामान्तर से स्वीकारते हैं। किन्तु वे उद्‌भट के अन्तिम अतिशयोक्ति भेद कार्यकारण के पौर्वापर्य विपर्यय को
(१) कार्य और कारण का सहभाव तथा
(२) कार्य और कारण में पूर्वापर का विपर्यय अर्थात् कारण से पूर्व ही कार्य का वर्णन। इन दो भागों में विभाजित करके अतिशयोक्ति के कुल पांच भेद स्वीकार करते हैं।

रुय्यक ने उद्‌भट उद्‌भावित एवं मम्मट परिष्कृत इन पांच भेदों को अविकल स्वीकार करते हुए। (१) अभेद में भेद (२) भेद में अभेद (३) सम्बन्ध में असम्बन्ध (४) असम्बन्धमें सम्बन्ध (५) तथा कारण कार्य के क्रम में विपर्यय पांच नाम दिये हैं।

डा० रामचन्द्र द्विवेदी के अनुसार रुय्यक को इन नामों को स्वीकार करने की प्रेरणा राजानक तिलक से प्राप्त हुई है। जैसा कि ऊपर की पंक्तियों में कहा जा चुका है कि कार्य-कारण के पौर्वापर्य का विध्वंस दो प्रकार से हो सकता है। कार्यकारण का सहभाव तथा कारण से पूर्व कार्य का होना। चन्द्रालोककार जयदेव तथा काव्य विलासकार चिरञ्जीव ने प्रथम अर्थात् कारण कार्य के सहभाव को अक्रमातिशयोक्ति नाम से तथा द्वितीय प्रकार अर्थात् कारण-कार्य पौर्वापर्य विपर्यय को अत्यन्तातिशयोक्ति के नाम से स्वतंत्र अलंकार माना है। इसी प्रकार रुय्यक एवं विश्वनाथ स्वीकृत प्रथम अतिशयोक्ति भेद को जयदेव, अप्पयदीक्षित एवं चिरञ्जीव ने रूपकातिशयोक्ति नाम से तथा द्वितीय अर्थात् 'अभेद में भेद' प्रकार को उक्त

तीनों ने भेदकातिशयोक्ति नाम से स्वतंत्र अलंकार माना है। इसके अतिरिक्त वे अप्पयदीक्षित रुय्यक आदि के चतुर्थ भेद 'असम्बन्ध में सम्बन्ध' को भी सम्बन्धातिशयोक्ति नाम से स्वतंत्र अलंकार के रूप में स्वीकार करते हैं। कारण स्वभावत: कार्य से पहले रहता है। इसी पूर्वापर क्रम को आधार मानकर नैयायिकों ने कारण की परिभाषा भी की है । 'कार्यनियतपूर्ववृत्तिः कारणम्' [तर्क संग्रह] कवि की सृष्टि में कभी-कभी इस शाश्वत नियम का व्यतिक्रम भी चमत्कारातिशय की प्रतीति के लिए कर दिया जाता है। यह व्यतिक्रम जैसा कि पहले कहा जा चुका है कि सामान्यत: दो प्रकार का हो सकता है: कारणकार्य का सहभाव तथा कारण से पूर्व कार्य की उत्पत्ति । रुय्यक ने दोनों ही प्रकारों को कारण कार्य पौर्वापर्य विध्वंस एक ही नाम के अन्तर्गत परिगणित किया है। दूसरे शब्दों में उनके अनुसार कारण-कार्य का पौर्वापर्य विध्वंस पूर्वोक्त प्रकार से दो प्रकार का हो सकता है। विमर्शिनीकार जयरथ ने पौर्वापर्य विध्वंस के पांच प्रकारों की कल्पना की है—(१) प्रसिद्ध कारण को कार्य कहना, (२) प्रसिद्ध कार्य को कारण कहना, (३) कार्य को कारण से पूर्व बताना, (४) प्रसिद्ध कार्यों में क्रम का विपर्यय तथा (५) उनका सहभाव।

अतिशयोक्ति अलंकार का मुख्य तत्त्व है अध्यवसाय की प्रधानता। यह अध्यवसान धर्म तथा धर्म, धर्म तथा धर्मी एवं धर्मी तथा धर्मी इन तीन रूपों में ही हो सकता है।

कथमुपरि कलापिनः कलापो
विलसति तस्य तलेऽष्टमीन्दुखण्डम् ।
कुवलययुगलं ततो विलोलं
तिलकुसुमं तदधः प्रवालमस्मात् ।।

यह पद्य भेद में अभेद अध्यवसाय का उदाहरण है। इसमें प्रस्तुत नायिका के केशपाश, भाल, नेत्र, नासिका और अधर पर क्रमश: कलाप, इन्दुखण्ड, कुवलय, तिलकुसुम तथा प्रवाल का अभेद अध्यवसान किया गया है, जो कि परस्पर पूर्णत: भिन्न हैं।

इसी प्रकार **'विशेष दुखादिव'** इत्यादि पद्य में अचेतनगतमौनित्व पर चेतनगत मौनित्व का अध्यवसाय किया गया है। ये दोनों प्रकार के मौनित्व परस्पर भिन्न है, जिन पर अभेद का अध्यवसाय यहां

हुआ है।

इसी प्रकार **'सहाधरदलेन'** इत्यादि में अत्यन्त भिन्न अधर के राग (लालिमा) तथा प्रिय के राग (प्रेम) में परस्पर अभेद का अध्यवसाय हुआ है। **'अन्यदेवाङ्गलावण्यम्'** इत्यादि पद्य में लावण्य आदि भेद रहित है किन्तु उनमें भेद का अध्यवसान किया गया है।

अस्याः सर्गविधौ प्रजापतिरभूच्चन्द्रो नु कान्तिप्रदः
शृङ्गारैकरसः स्वयं नु मदनो मासो नु पुष्पाकरः।
वेदाभ्यासजडः कथं नु विषयव्यावृत्तकौतूहलो
निर्मातुं प्रभवेन्मनोहरमिदं रूपं पुराणो मुनिः॥

कालिदास रचित प्रस्तुत पद्य में शकुन्तला के सर्वातिशयी सौन्दर्य की प्रतीति कराने हेतु शकुन्तला के रूप के निर्माण में ब्रह्मा का सम्बन्ध होने पर भी असम्बन्ध का अध्यवसान किया गया है। मम्मट ने प्रस्तुत पद्य को सन्देह अलंकार के उदाहरण के रूप में प्रस्तुत किया है। नागेश ने भी इसमें असम्बन्ध की संभावना का निषेध किया है।

यदि स्यान्मण्डले सक्तमिन्दोरिन्दीवरद्वयम्।
तदोपमीयते तस्या वदनं चारुलोचनम्॥

इस पद्य में इन्दु मण्डल में इन्दोवर का सम्बन्ध होने पर भी नायिका के मुख से तुलना के लिए सम्बन्ध की सम्भावना की गयी है। वामन ने दूसरे उदाहरण के रूप में शिशुपाल वध के निम्नलिखित पद्य को उद्धृत किया है—

उभौ यदि व्योम्नि पृथक् प्रवाहावाकाशाङ्गापयसः पतेताम्।
तेनोपमीयेत तमालनीलमामुक्तमुक्तालतमस्य वक्षः।
[शिशु० ३.८]

प्रागेव हरिणाक्षीणां चित्तमुत्कलिकाकुलम्।
पश्चादुद्भिन्नबकुलरसालमुकुलश्रियः ॥

इस पद्य में लोकसामान्य कार्य-कारण के पौर्वापर्य का व्यतिक्रम दिखाया गया है। क्योंकि बकुल और आम्रमञ्जरी पहले प्रगट होती है जो नारीजनों के औत्सुक्य के लिए उद्दीपन का कार्य करती है। यह लोकनियम है, किन्तु कवि ने इसको विपरीत रूप से अर्थात् कामिनियों के हृदय में औत्सुक्य उद्दीपन पहले हुआ बकुल और आम्रमञ्जरी का

उद्भव बाद में, ऐसा विपर्यय पूर्ण वर्णन किया है। इस प्रकार यहां कारण से पूर्व कार्य का कथन किया गया है।

सममेव समाक्रान्तं द्वयं द्विरदगामिना।
तेन सिंहासनं पित्र्यं मण्डलं च महीक्षिताम्॥

उक्त पद्य में रघु द्वारा एक साथ ही पैत्रिक राजसिंहासन तथा राजमण्डल पर अधिकार करना कहा गया है। शीघ्रकारिता के द्योतन के लिए कार्य-कारण के क्रम का विपर्यय अथवा कारण कार्य का सहभाव इन पद्यों में कहा जाता है।

यहां विचारणीय है कि अतिशयोक्ति अलंकार में वैशिष्ट्य (भेदक तत्त्व) क्या है? इसका उत्तर होगा कि अतिशयोक्ति में सिद्ध अध्यवसाय आवश्यक हैं। अब प्रश्न यह है कि इसके प्रथम दो 'भेद में अभेद' तथा 'अभेद में भेद' भेदों में किन दो भिन्न पदार्थों में भेद का अध्यवसाय ही रहा है। एक पक्ष के अनुसार इन भेदों में भेद रहने पर अभेद आदि का वर्णन अलौकिक होता है। इसका जो अतिशय रूप फल है, वही प्रयोजक होने के नाते निमित्त है, उसी के साथ अभेद अध्यवसाय होता है, उदाहरणार्थ 'कमलमनम्भसि' इत्यादि उदाहरणों में वदन आदि का कमल आदि के साथ भेद रहते हुए भी वास्तविक सौन्दर्य का कवि-समर्पित सौन्दर्य के साथ अभेद अध्यवसाय हुआ है। भेद होने पर भी अभेद का वर्णन इस अभेदाध्यवसाय का निमित्त है। क्योंकि यहां अध्यवसाय सिद्ध है, अतः यहां अध्यवसित प्राधान्य है। यदि यहां 'कथमुपरि कलापिनः कलापो' इत्यादि में केशपाश और कलाप में अभेद अध्यवसित मानेंगे तो मानना होगा कि यह अभेदाध्यवसाय दो धर्मियों का होगा : दो धर्मों का नहीं तथा 'अन्यदेवाङ्गलावण्यम्' इत्यादि उदाहरण में दो धर्मी न होकर केवल दो धर्म हैं। फलतः इस पद्य में दो धर्मियों में अभेद अध्यवसाय न होने के कारण इसे अतिशयोक्ति का उदाहरण न माना जा सकेगा। इसे क्योंकि अतिशयोक्ति का उदाहरण स्वीकार किया जाता है, अतः दो धर्मियों में अभेद अध्यवसाय मानना आवश्यक है।

उपर्युक्त पक्ष को स्पष्ट करते हुए जयरथ ने भी कहा है कि 'कमलमनम्भसि' इत्यादि उदाहरणों में यदि वदन आदि धर्मियों का अभेदाध्यवसाय स्वीकार करते हुए धर्मियों का ही अभेदाध्यवसा माना

जाएगा तो यहां अर्थात् 'अन्यदेवाङ्ग लावण्यम्' इत्यादि में धर्मों का अभेद अध्यवसाय होने से अव्याप्ति दोष होगा। अतः पूर्व उदाहरणों अर्थात् 'कमलमनम्भसि' इत्यादि में भी धर्मों में ही अभेद अध्यवसाय मानना उचित है, जिससे सर्वत्र एकरूपता रह सके।

विश्वनाथ ने उपर्युक्त पक्ष का खण्डन किया है। उनका कहना है कि 'अन्यदेवाङ्ग लावण्यम्' इत्यादि पद्य में अव्याप्ति की जो सम्भावना उठायी गयी है, वह उचित नहीं है; क्योंकि इस पद्य में भी कामिनी का सौन्दर्य, जो कि अन्य नारी के सौन्दर्य से भिन्न नहीं हैं, पर भेद का अध्यवसान किया गया है। इस प्रकार यहां भी सिद्ध अभेद अध्यवसाय विद्यमान ही है। यहां यह कल्पना करने की आवश्यकता नहीं है कि वास्तविक सौन्दर्य एवं कवि कल्पित सौन्दर्य में अभेद अध्यवसित है। क्योंकि यहां एक वस्तु कामिनी का सौन्दर्य काव्यात्मक शैली में अन्य वस्तु के रूप में प्रस्तुत किया गया है तथा एक सौन्दर्य अन्य सौन्दर्य से भिन्न होता है। इसी सौन्दर्य को और अधिक स्पष्ट करते हुए विश्वनाथ का कहना है कि यदि 'अन्यदेव' के स्थान पर अन्यदिव कर दिया जाए तो हमें इस पद्य में निर्विवाद रूप से उत्प्रेक्षा माननी होगी, क्योंकि उस स्थिति में सम्भावना द्योतक इव पद का प्रयोग होने से वहां पर अध्यवसाय साध्य होगा। क्योंकि उत्प्रेक्षा में साध्य अध्यवसाय अनिवार्यतः रहता है अत. इतना तो निर्विवाद रूप से माना जाएगा कि 'अन्यदिवाङ्ग लावण्यम् इत्यादि में अध्यवसाय (साध्य अध्यवसाय) अवश्य है। इतना स्वीकार करते ही यह निश्चित हो जाता है कि 'अन्यदेवाङ्ग-लावण्यम् इत्यादि में भी अध्यवसाय अवश्य है। क्योंकि इसमें साध्यता बोधक इव पद के स्थान पर सिद्धता बोधक एव पद के प्रयोग के अतिरिक्त कोई अन्तर नहीं है। इस प्रकार यहां सिद्ध अध्यवसाय की सिद्धि होने से अतिशयोक्ति का लक्षण अव्याप्त नहीं, जो कि उक्त पक्ष का आक्षेप, रहा है।

'प्रागेव हरिणाक्षीणाम्' इत्यादि उदाहरण में बकुल आदि का सौन्दर्य जो पहले प्रकट होता है पर पीछे प्रगट होने वाला सौन्दर्य कहा गया है, यही यहां अध्यवसाय है। यदि यहां भी 'प्रागेव' के स्थान पर 'प्रागिव' का दिया जाए तो निर्विवाद रूप से उत्प्रेक्षा अलंकार हो जाएगा। इसी प्रकार असंबन्ध में सम्बन्ध, एवं सम्बन्ध में असम्बन्ध' के

उदाहरणों 'अस्याः सर्गविधौ' तथा 'यदि स्यात्' इत्यादि पद्यों में भी प्रजापति, जो कि सौन्दर्य का सृष्टा है, ब्रह्मा, जो कि इस प्रकार के सौन्दर्य का सृष्टा नहीं है, से अभिन्न रूप से अध्यवसित है। इसी प्रकार नीलकमल, जो कि चन्द्रमा से सम्बद्ध नहीं है, को सम्बद्ध रूप से अध्यवसित किया गया है अतः सर्वस्वकार का कथन है कि 'यहां धर्मों का अध्यवसाय है दो धर्मियों का नहीं, निर्दोष नहीं है।

अलंकार सर्वस्व में उपलब्ध यह पक्ष, कि दो धर्मियों में अभेद अध्यवसाय नहीं होता तथा ऐसी स्थिति में अतिशयोक्ति अलंकार नहीं होता, विचारणीय है, क्योंकि रुय्यक स्वयं दो धर्मियों में अभेद अध्यवसाय स्वीकार करते हैं तथा इस संदर्भ में उन्होंने **'कमलमनम्भसि कमले च कुवलये तानि च कनकलतिकायाम्। सा च सुकुमारसुभगेत्युपात्तपरम्परा केयम्।'** पद्य को उदाहरण के रूप में प्रस्तुत किया है, जो निश्चय ही विश्वनाथ के 'कथमुपरिकलापिन' इत्यादि उदाहरण से शतशः साम्य रखता है। उस पद्य में स्वयं रुय्यक के अनुसार दो धर्मियों का अर्थात् मुख आदि का कमल आदि के साथ अभेदाध्यवसाय है जैसा कि स्वयं रुय्यक कहते हैं 'अत्र मुखादीनां कमलाद्यैर्भेदेऽभेदः।' इसप्रकार अलंकारसर्वस्व में दो धर्मियों में अभेद अध्यवसाय की स्थिति में अतिशयोक्ति अलंकार स्वीकार किया गया है।

मूल लक्षण

अतिशयोक्ति (औपम्यगर्भ)

विष्णुधर्मोत्तर :—प्रोक्ता चातिशयोक्तिस्तु ह्यतुलैरुपमागुणैः।

—विष्णुधर्मोत्तर पुराण २४.१०

अग्नि :—लोकसीमानिवृत्तस्य वस्तुधर्मस्य कीर्त्तनम्
भवेदतिशयो नाम। —अग्निपुराण ३४४-२५-२६

दण्डी :—विविक्षा या विशेषस्य लोकसीमातिवर्त्तिनी, असावतिशयोक्तिः स्याद्।

—काव्यादर्श २.२१४

भामह :—निमित्ततो वचो यत्तु लोकातिक्रान्तगोचरम्।
मन्यन्तेऽतिशयोक्तिं तामलंकारतया यथा॥
इत्येवमादिरुदिता गुणातिशययोगतः॥

—काव्यालंकार २.८१, २.८४

शिलामेघसेन :—दण्डी अनुकृत। २२६

उदभट्ट :—निमित्ततो यत्तु वचो लोकातिक्रान्तगोचरम् ।
मन्यन्तेऽतिशयोक्तिं तामलंकारतया बुधाः ।
—काव्यालंकार सार संग्रह २.११

वामन :—सम्भाव्यधर्मस्य उत्कर्षकल्पनाऽतिशयोक्तिः ।
—काव्यालंकार सूत्रवृत्ति ४.३.१०

भोज :—विवक्षा या विशेषस्य लोकसीमातिवर्त्तिनी ।
असावतिशयोक्तिः स्यादलंकारोत्तमा च सा ।
प्रभावातिशयो यश्च यश्चानुभवनात्मकः ।
अन्योन्यातिशयो यश्च तेऽपि नातिशयात्पृथक् ।
—सरस्वती कण्ठाभरण-४.८३,८५

कुन्तक :—यस्यामतिशयः कोऽपि विच्छित्या प्रतिपाद्यते ।
वर्णनीयस्य धर्माणां तद्विदाह्लाददायिनाम् ।।
—वक्रोक्ति जीवित ३.२६

मम्मट :—निगीर्याध्यवसानं तु प्रकृतस्य परेण यत् ।
विज्ञेयातिशयोक्तिः सा ।
—काव्यप्रकाश सू० १५३ का १००,

रुय्यक :—अध्यवसितप्राधान्ये त्वतिशयोक्तिः । —अलंकार सर्वस्व २२

हेमचन्द्र :—विशेषविवक्षया भेदाभेदयोगायोगव्यत्ययोतिशयोक्तिः ।
—काव्यानुशासन ६.१०, सू० १२२

शोभाकर मित्र :—अध्यवसानमतिशयोक्तिः । —अलंकारत्नाकर सू० ३७

विश्वनाथ :—सिद्धत्वेऽध्यवसायस्यातिशयोक्तिर्निगद्यते ।
—साहित्य दर्पण १०.४६

अमृतानन्दयति :—विवक्षितार्थविषये लोकवृत्तातिशायिनी ।
उक्तिस्त्वतिशयो हि स्यादनुद्वेगकरी यथा ।
—अलंकार संग्रह ५३०

अप्पयदीक्षित :—(क) विषयस्यानुपादानाद् विषय्युपनिबध्यते ।
यत्र सातिशयोक्तिः स्यात्कविप्रौढ़ोक्ति जीविता ।
—चित्र मीमांसा पृ० ३१६

(ख) **रूपकातिशयोक्तिः** स्यान्निगीर्याध्यवसानतः ।
यद्यपह्नुतिगर्भत्वं सैव सापह्नवा मता ।।
भेदाकातिशयोक्तिस्तु तस्यैवान्यत्ववर्णनम् ।
सम्बन्धातिशयोक्तिः स्यादयोगे योगकल्पनम् ।।

योगेप्ययोगोऽसम्बन्धातिशयोक्तिरितीर्यते ।
अक्रमातिशयोक्तिः स्यात्सहत्वे हेतुकार्ययोः ॥
चपलातिशयोक्तिस्तु कार्ये हेतुप्रसक्तिजे ।
अत्यन्तातिशयोक्तिस्तु पौर्वापर्यव्यतिक्रमे ॥

—कुवलयानन्द ३६-४३

पंडितराज जगन्नाथ :—विषयिणा विषयस्य निगरणमतिशयः तस्योक्तिः ।

—रसगंगाधर, भाग ३ पृ० २

अतिशयोक्ति (कार्यकरण गर्भ)

उद्‌भट :—कार्यकरणयोर्यत्र पौर्वपर्यविपर्ययात् ।
आशुभावं समालम्ब्य बध्यते सोऽपि पूर्ववत् । —काव्यालंकार २.१३

रुय्यक :—कार्यकारणयोः समकालत्वे पौर्वपर्यविपर्यये चातिशयोक्तिः ।

—अलंकारसर्वस्व ४३

वाग्भट्ट :—अत्युक्तिरतिशयोक्तिः । —काव्यानुशासन पृ० ३७

शोभाकर मित्र :—अध्यवसानमतिशयोक्तिः । अलंकार रत्नाकर ३७

विद्यानाथ :—विषयस्यानुपादानाद्विषय्युपनिबध्यते ।
यत्र सातिशयोक्तिः स्यात्कविप्रोढोक्तिजीविता ॥

—प्रतापरुद्रीयम् ८.१०५

संघरक्खित :—पकासका विसेंसस्स सियातिसयवुत्ति या ।

—सुबोधालंकार १७४

विद्याधर :—अध्यवसितिसिद्धत्वं प्रकृतस्यान्यत्वकल्पनं यद्वा ।
सम्बन्धासम्बन्धौ तद् व्यत्यासे भवेदतिशयोक्तिः ॥
अनयोः समसमयत्वे पौर्वापर्यस्य वा विपर्यासे ।
कार्या शुभावगमिका द्विविधाऽतिशयोक्तिराख्याता ॥

—एकावली ८.३७

नरेन्द्रप्रभ सूरि :—भेदे वा सत्यभेदे वा प्रस्तुताप्रस्तुतात्मनाम् ।
सम्बन्धे वाप्यसम्बन्धे यो भवेत्तद्विपर्यये ॥
गुणानां च क्रियाणां च लोकसीमातिवर्त्तिनी ।
प्रगल्भप्रतिभोल्लासादुत्कर्षभणितिश्च या ।
पौर्वापर्यविपर्यासो यत्र कारणकार्ययोः ।
वदन्त्यतिशयोक्तिं तां सर्वालंकारजीवितम् ॥

—अलंकार महोदधि ८२, ८३, ८४,

भावदेव सूरि :—केवल उदाहरण

नरसिंह कवि :—विषयस्यानुपादानाद् विषय्युपनिबध्यते ।
यत्र सातिशयोक्तिः स्यात् कविप्रौढोक्तिजीविता ।।
—नञ् राजयशोभूषण पृ० १८१

विश्वेश्वरः :—अप्रकृतेन निगीर्णे साध्यवसानाश्रयात्प्रकृते ।
प्रकृतस्याप्याधिकत्वे यद्येवं स्यात्तथापत्तौ ।
स्याज्जन्यजनकपौर्वापर्यत्यागश्च सा त्वतिशयोक्तिः ।।
अलंकार मुक्तावली-१६

श्रीकृष्ण ब्रह्मतन्त्र परकालस्वामी :—
निर्गीर्य विषयं यत्र विषय्येवाध्यवस्यते ।
रूपकातिशयोक्तिं तामलङ्कारविदोविदुः ।।
—अलंकार मणिहार-५७

अत्युक्ति

अत्युक्ति अलंकार की चर्चा हमें जयदेवकृत चन्द्रालोक अप्पय दीक्षित कृत कुवलयानन्द भावदेवसूरि कृत काव्यालंकारसारसंग्रह एवं चिरञ्जीवकवि कृत काव्यविलास में प्राप्त होती है। इनमें भी भावदेवसूरि ने इस अलंकार का लक्षण न देकर केवल उदाहरण प्रस्तुत किया है। शेष तीनों अलंकारिकों द्वारा दिया गया **अत्युक्ति** का लक्षण अर्थतः ही नहीं, शब्दतः भी पूर्ण समान है, केवल वर्णन शब्द में विभक्ति का भेद है। चिरञ्जीव वर्णन पद को लक्षण में सप्तम्यन्त प्रयुक्त कर रहे हैं, जबकि जयदेव एवं अप्पय दीक्षित प्रथमान्त । तीनों के ही अनुसार 'वर्णनीय व्यक्ति के शौर्य औदार्य आदि का वर्णन इतना बढ़ा चढ़ाकर किया जाए कि वह तथ्य-तथ्य न हो अतथ्य हो जाए, किन्तु अद्भुत प्रतीत हो।' **अत्युक्ति** अलंकार के लक्षण को देखकर ऐसा प्रतीत होता हैं कि इस अलंकार का प्रयोग आश्रयदाता राजा की स्तुति करते हुए प्रायः होता रहा होगा। सामान्य पाठकों को **अतिशयोक्ति** और **अत्युक्ति** पदों के यौगिक होने के कारण समानार्थकता का भ्रम हो जाता है, जबकि दोनों अलंकारों का क्षेत्र सर्वथा भिन्न है। '**अति-शयोक्ति अलंकार** के दो प्रकार हैं: औपम्य मूलक एवं कार्यकारण-भाव मूलक। औपम्य मूलक अतिशयोक्ति में प्रस्तुत और अप्रस्तुत में

अभेद अध्यवसाय होता है, और अध्यवसित की प्रधानता रहती है, फलत: भिन्न पदार्थों में अभेद की प्रतीति, अभिन्न पदार्थों में भेद की प्रतीति, सम्बद्ध पदार्थों में असम्बन्ध की तथा सम्बन्ध रहित पदार्थों में सम्बन्ध की प्रतीति होती है। पांचवी स्थिति यह है जहां कार्य कारण का पूर्वोत्तरवर्त्तित्व व्याहत होता है, अर्थात् कारण कार्य से नियत-पूर्ववर्त्ती होता है, किन्तु **अतिशयोक्ति** में कभी दोनों समानकालिक निबद्ध हो सकते हैं, और कभी कार्य कारण से पूर्व ही निबद्ध होता है। इसके विपरीत अत्युक्ति में अतथ्य भूत शौर्य औदार्य आदि गुणों का अद्‌भुत वर्णन होता है। काव्यानुशासनकार वाग्भट्ट **अत्युक्ति** अर्थात् बढ़ा चढ़ाकर किए गए कथन को ही **अतिशयोक्ति** मानते हैं, इसके लिए उन्होंने **अत्युक्ति** पद से ही **अतिशयोक्ति** को लक्षित कराया है। अत्युक्तिरतिशयोक्तिः। [काव्यानुशासन पृ० ३७]

मूल लक्षण

जयदेव :—अत्युक्तिरद्भुतातथ्यशौर्योदार्यादि वर्णनम् ।

—चन्द्रालोक ५.१११

अप्पयदीक्षित :—अत्युक्तिरद्भुतातथ्यशौर्यौदार्यादिवर्णनण् ।

—कुवलयानन्द १६३

काव्यविलास :—अत्युक्तिरद्भुतातथ्यशौर्यौदार्यादिवर्णने ॥

—काव्य विलास २.५६

भावदेव सूरि—केवल उदाहरण

श्रीकृष्णब्रह्म तन्त्र परकाल स्वामी :—

अद्भुतातथ्यशौर्यादिवर्णनाऽत्युक्तिरिष्यते ।

—अलंकार मणिहार-१६२

अत्यन्तातिशयोक्ति

अतिशयोक्ति अलंकार को भरत को छोड़कर प्राय: सभी आलंकारिकों ने स्वीकार किया है। लोकातिक्रान्त कथन इस अलंकार का जीवातु है। इस कथन के मूल में औपम्य एवं कार्यकारणभाव में अन्यतर का रहना अनिवार्य है। इनमें से औपम्यमूला अतिशयोक्ति

को साध्यवसाना लक्षणा के समानान्तर समझा जा सकता है, जहां आरोप्यमाण एवं आरोपविषय में अभेद के प्रत्यायन के लिए आरोप्यमाण द्वारा आरोपविषय का निगरण हो जाता है। अर्थात् दोनों में अभेद अध्यवसित होता है, तथा इस अभेद अध्यवसान की ही प्रधानता रहती है। कार्य-कारणभावमूला अतिशयोक्ति में कारण-कार्य के सुनिश्चित पौर्वापर्य में विपर्यय होता है। यह विपर्यय दो प्रकार का हो सकता है—कारण-कार्य की समानकालिकता अथवा कारण से कार्य का पूर्वभाव। अतिशयोक्ति अलंकार के सामान्यतः पांच प्रकार माने जाते हैं—(१) अभेद में भेद, (२) भेद में अभेद, (३) सम्बन्ध में असम्बन्ध, (४) असम्बन्ध में सम्बन्ध, (५) कारण-कार्य के पौर्वापर्य का विपर्यय। [विशेष विवरण के लिए अतिशयोक्ति प्रकरण देखें]।

अत्यन्तातिशयोक्ति अलंकार वस्तुतः कोई स्वतन्त्र अलंकार न हो कर अतिशयोक्ति के पूर्वपरिगणित पंचम भेद का एक उपभेद है, जिसमें कारण से कार्य की पूर्वभाविता का निबन्धन होता है। किन्तु इसे जयदेव अप्पयदीक्षित एवं चिरञ्जीव ने स्वतन्त्र अलंकार के रूप में स्वीकार किया है।

मूल लक्षण

जयदेव :—अत्यन्तातिशयोक्तिस्तत्पौर्वापर्यव्यतिक्रमे। —चन्द्रालोक ५.४१

अप्पयदीक्षित :—अत्यन्तातिशयोक्तिस्तत्पौर्वापर्यव्यतिक्रमे।

—कुवलयानन्द ४३

चिरञ्जीव :—अत्यन्तातिशयोक्तिस्तु पौर्वापर्यव्यतिक्रमे॥

—काव्यविलास २.५७

अधिक

अधिक अलंकार की विवेचना सर्व प्रथम हमें रुद्रट के काव्यालंकार में प्राप्त होती है। उनके अनुसार निम्नलिखित स्थितियों में अधिक अलंकार हो सकता है—(१) जहां एक ही कारण से परस्पर विरुद्ध स्वभाव वाले पदार्थ उत्पन्न हों, (२) जहां एक ही कारण से दो ऐसे पदार्थ उत्पन्न होते हैं, जिन की क्रियाएं परस्पर विरुद्ध परिणाम वाली प्रसिद्ध हों, (३) जहां सुविशाल आधार में भी किसी कारण छोटी

वस्तु न समाती हो। यत्रान्योन्य विरुद्धं विरुद्ध-बलवत् क्रिया प्रसिद्धं वा, वस्तु द्वयमेकस्माज्जायते इति तद् भवेदधिकम्। यत्राधारे सुमहत्याधेयमवस्थितं तनीयोऽपि। अतिरिच्येत कथंचित्तदधिकमपरं परिज्ञेयम्। का० अ० ९.२६.२८)

भोज ने इसे विषम असंगति आदि की भांति विरोध के अन्तर्गत समाहित करना चाहा है। [स० कं० ३.२४] मम्मट रुय्यक आदि परवर्ती आलंकारिकों ने रुद्रट उद्भावित तीन प्रकारों में से केवल अन्तिम को ही अधिक अलंकार के रूप में स्वीकार किया है अर्थात् उनके अनुसार आश्रय एवं आश्रयी में क्रमशः एक के तनु और इतर अन्यतम के महान् होने पर अधिक अलंकार होता है।[महतो यन्महीयांसावाश्रिताश्रययोः क्रमात्। आश्रयाश्रयिणौ स्यातां तनुत्वेऽप्यधिकं तु तत्। [का० प्र० १२८] आश्रय और आश्रयी की इस योजना में अनुरूपता का अभाव भी अवश्य होना चाहिए। आश्रयाश्रयिणोरनानुरूप्यमधिकम्। [अ० स० ४८] अधिकमिदं गदितं यद्यत्राननुरूपताश्रयाश्रयिणोः। [एका० ८.४०] मम्मट और रुय्यक से परवर्ती आलंकारिकों में जयदेव [चन्द्रा० ५०८१] नरेन्द्रप्रभ सूरि [अ० म० ८.५७] विद्यानाथ [प्रताप० ८.१५४] विद्याधर [एका० ८.४०] विश्वनाथ [सा० द० ७२] अप्पयदीक्षित [कुवल० ९५.९६] जगन्नाथ [रसगं० भाग ३ पृ. ५१९] चिरञ्जीव [का० वि० २.४३] एवं नरसिंह [नञ् राज० पृ.१९४] आदि ने इसे स्वीकार किया है तथा उन सभी के अनुसार उसका स्वरूप रुय्यक स्वीकृत स्वरूप से अभिन्न है।

इस अलंकार के प्रसंग में एक बात स्मरणीय है कि अधिक अलंकार में आश्रय अथवा आश्रयीगत यह आधिक्य वस्तु में वास्तविक नहीं होना चाहिए। अपितु उसे पूर्णतः कविकल्पित होना चाहिए, क्योंकि चारुत्व कविप्रतिभा प्रसूत आधिक्य में ही रहता है, वास्तविक में नहीं। [तच्चाश्रयाश्रयिणोः कविप्रतिभाकल्पितमेव ग्राह्यं न पुनर्वास्तवम्। तेन चारुत्वाप्रतीतेः। विमर्शिनी पृ० १७०। 'लक्षणे कल्पनमित्यनेन यत्राधाराधेययोरन्यतरस्य न्यूनत्वमधिकत्वं च वास्तवं तत्र नातिप्रसङ्गः'। [रसगं० भा० ३ पृ० ५२२] इसी आधार पर अलंकार सर्वस्व के टीकाकार जयरथ ने अलंकार सर्वस्व में ही उद्धृत उदाहरण में स्वाभाविक अधिकत्व में अलंकारत्व को अस्वीकार किया है। तेन नभसो द्यु-

प्रभृतीनां चान्योन्यापेक्षया वैपुल्यं पारिमित्यं च वास्तवमेवेत्यनुदाहरणमेतत् [विमर्शिनी पृ० १७०]

शोभाकर मित्र अधिक अलंकार को स्वतन्त्र अलंकार मानना उचित नहीं समझते। उनका कहना है कि 'द्यौरत्र क्वचिदाश्रिता' प्रविततं पातालमत्र क्वचित्' इत्यादि रुय्यक उदाहृत अधिक अलंकार के उदाहरणों के अनुरूप संघटना होने के कारण **विषम** अलंकार ही मानना चाहिए। इस प्रकार **अधिक** अलंकार **विषम** में ही अन्तर्भूत है। इस प्रसंग में उनका यह भी तर्क है कि यदि इस प्रकार के आश्रयआश्रयी अननुरूप संघटना को पृथक् अलंकार स्वीकार करते हैं, तो गुणगुणियों की अननुरूप संघटना में अलंकारान्तर मानना आवश्यक होगा। अतः अधिक को स्वतन्त्र अलंकार मानना उचित नहीं है। 'द्यौरत्र क्वचिदाश्रिता' इत्यादावाकाशादराश्रयस्य महत्वे दिवादेराश्रयिणोऽल्पत्वमित्याश्रयाश्रयिणोरनानुरूप्यमधिकमित्यधिकालंकारो न वाच्यः। अत्राप्यननुरूपसंघटनस्य विद्यमानत्वाद् विषमालंकारान्तर्भावोपपत्तेः। अन्यथा गुणगुणिनोरनानुरूप्यं विगुणमित्यलंकारान्तरलक्षणप्रणयनप्रसङ्गः। एवमप्याश्रयस्याल्पत्वादाश्रयिणोऽमहत्वेऽनानुरूप्ये विषमालंकार एव। [अ० र० पृ० १०७]

वस्तुतः विषम अलंकार में दोनों परस्पर निरपेक्ष वस्तुओं की संघटना की जाती है, जबकि अधिक अलंकार में दोनों वस्तुएं परस्पर आधार आधेयभाव से सम्बद्ध होती है, अतः विषम और अधिक के बीच इस महान अन्तर को देखते हुए दोनों को एक कहना उचित नहीं है। 'एवं च परिमितत्वापरिमितत्वयोः सापेक्षत्वात्तथाविधवस्तुद्वयसंघटनयैव तदवगमनसिद्धिरित्याधाराधेययोः संघटनेनैवाननुरूपत्वमवगम्यते। विषये चानन्यापेक्षत्वेन स्वत एवाननुरूपयोः संघटनमित्यनयोर्महान्भेदः। [विमर्शिनी पृ० १६९-१७०]

किमधिकमस्य ब्रूमो महिमानं वारिधेर्हरिर्यत्र।
अज्ञात एव शेते कुक्षौ निक्षिप्य भुवनानि॥

इस पद्य में समस्त भुवनों को अपनी कुक्षि में रखने वाले एवं अतिशय महान् के रूप में सम्भाव्य विष्णु का समुद्र के एक अल्पतम भाग में न केवल सो जाना वर्णित है, अपितु समुद्र में भी उनकी सत्ता का भी बोध समुद्र वासियों को नहीं हो पाता। इससे समुद्र के महीयस्त्व

का बोध होता है। इस प्रकार महतो महीयान् विष्णु की अपेक्षा भी आश्रय समुद्र की महत्ता का कथन होने से यहां प्रथम प्रकार अर्थात् आश्रयाधिक्यमूलक अधिक अलंकार है।

युगान्तकालप्रतिसंहृतात्मनो
जगन्ति यस्यां सविकासमासत।
तनौ ममुस्तत्र न कैटभद्विष-
स्तपोधनाभ्यागमसंभवाः मुदः॥

महाकवि माघ के इस पद्य में आश्रित का आधिक्य निरूपित हुआ है। क्योंकि इस पद्य में समस्त ब्रह्माण्ड के आश्रयभूत विष्णु के अवतार कृष्ण, जो यहां आश्रय रूप से निबद्ध हैं, में नारद दर्शन से उत्पन्नभूत अद्भुत आनन्द (मुद) का न समा सकना वर्णित है। इस प्रकार यहां आश्रित आधिक्य मूलक अधिक अलंकार है।

मूल लक्षण

रुद्रट—यत्रान्योन्यविरुद्धं विरुद्धबलवत् क्रिया प्रसिद्धं वा।
वस्तुद्वयमेकस्माज्जायत इति तद् भवेदधिकम्॥
यत्राधारे सुमहत्याधेयमवस्थितं तनीयोऽपि।
अतिरिच्येत कथंचित्तदधिकमपरं परिज्ञेयम्॥
—काव्यालंकार ६.२६

मम्मट—महतोर्यन्महीयांसावाश्रिताश्रययोः क्रमात्।
आश्रयाश्रयिणौ स्यातां तनुत्वेऽप्यधिकं तु तत्।
—काव्यप्रकाश सू० १६५, का० १२८

रुय्यक—आश्रयाश्रयिणोरनानुरूप्यमधिकम्॥ —अलंकार सर्वस्व ४८

वाग्भट्ट:—आधारादाधेयस्याधेयादाधारस्य वाधिक्येऽधिकम्।
—काव्यानुशासन पृ० ४५

जयदेव—अधिकं बोध्यमाधारादाधेयाधिक्यवर्णनम्। चन्द्रालोक ५.८१

विद्यानाथ—आधाराधेययोरानुरूप्याभावोऽधिको मतः।
—प्रतापरुद्रीयम् ८.१५४

विद्याधर—अधिकमिदं गदितं यद्यत्राननुरूपताश्रयाश्रयिणोः।
—एकावली ८.४०

विश्वनाथ—आश्रयाश्रयिणोरेकस्याधिक्येऽधिकमुच्यते। —साहित्य दर्पण १०.७२

अप्पयदीक्षित—अधिकं पृथुलाधारादाधेयाधिक्यवर्णनम् ।
पृथ्वाधेयादाधाराधिक्यं तदपि तन्मतम् ।
—कुवलयानन्द ९५, ९६

पंडितराज जगन्नाथ—आधाराधेययोरन्यतमस्यातिबिस्तृतत्वसिद्धिफलकमितरस्या-
तिन्यूनत्वकल्पनमधिकम् । —रसगंगाधर भा० ३ पृ० ५१९

चिरञ्जीव—अधिकं त्वधिकाधारादाधेयधिक्यावर्णने ।
—काव्यविलास २.४३

नरेन्द्र प्रभसूरि—अधिकं नानुरूपत्वमाश्रयाश्रयिणोस्तु यत् ।
—अलंकार महोदधि ८.५७

नरसिंह कवि—आधाराधेययोरानुरूप्याभावोऽधिको मतः ।
—नञ्राजयशोभूषण पृ० १९४

भट्टदेव शंकर—(अ) आधिक्यं विपुलाधारादाधेयस्य तु वर्ण्यते ।
अधिकालङ्कृतिस्तत्र विज्ञेया काव्यवित्तमैः ॥
(आ) आधेयाद्विपुलाद्यत्राधिकरणाधिक्यवर्णनम् ।
तत्रापि विबुधैरन्याधिकालङ्कृतिरिष्यते ॥
—अलंकार मञ्जूषा ७८, ६८

वेणीदत्त—यदाधारमहत्त्वर्थमाधेयाधिक्यकीर्त्तनम् ।
अधिकं तमालङ्कारं प्रथमं परिचक्षते ।
यदाधेयमहत्त्वार्थमाधाराधिक्यकीर्त्तनम् ।
अधिकाख्यमलङ्कारं द्वितीयं तं विदुर्बुधाः ।
—अलंकारमञ्जरी १९५, १९७

विश्वेश्वरः—आधारस्याधेयादाधेयस्यापि वाऽऽधारात् ।
यद् वर्ण्यते महत्त्वं तत्कथयन्त्यधिकमधिकज्ञाः ॥
—अलंकार मुक्तावली ४४

अनन्वय

अनन्वय अलंकार में एक ही वस्तु उपमान और उपमेय दोनों के रूप में निबद्ध होती है। एक ही वस्तु को उपमान और उपमेय के रूप में निबन्धन करने का प्रयोजन इतर वस्तु से उसके सादृश्य का अभाव सूचित करना होता है।

अनन्वय अलंकार की स्वीकृति हमें भामह और विष्णुधर्मोत्तर-

पुराण में मिलती है। उद्भट ने भी भामह के लक्षण को ही अविकल रूप से उद्धृत किया है। दण्डी ने इसे उपमा अलंकार के अन्तर्गत एक भेद 'अनन्वयोपमा' के नाम से ही स्वीकार किया है। भामह उद्भट के अतिरिक्त इसे वामन, मम्मट, रुय्यक, शोभाकरमित्र, जयदेव, विद्यानाथ, विद्याधर, अप्पयदीक्षित, पंडितराज जगन्नाथ, नरेन्द्रप्रभसूरि, काव्यविलासकार चिरञ्जीव, भावदेव सूरि एवं नरसिंह कवि आदि ने स्वीकार किया है। भरत अग्निपुराणकार, शिलामेधसेन, रुद्रट, भोज, कुन्तक, हेमचन्द्र, संघरक्षित आदि आचार्यों ने इसकी कोई चर्चा नहीं की है। इस अलंकार की अनन्वय संज्ञा अन्वर्थ संज्ञा है। क्योंकि यहां उपमानान्तर का अभाव रहता है। यह अभाव तात्त्विक न होकर वैवक्षिक रहा करता है।

विश्वनाथ द्वारा अनन्वय के लिए प्रस्तुत उदाहरण 'राजीवमिव राजीवम्' में अनन्वय अलंकार हैं अथवा लाटानुप्रास अथवा उभय संसृष्टि यह प्रश्न उपस्थित किया जा सकता है, क्योंकि यहां उपमेय राजीव से इस उपमान का (वैवक्षिक) अभाव है, अतः राजीव को ही उपमान के रूप में प्रयुक्त किया गया है, फलतः अनन्वय अलंकार होना चाहिए, दूसरी ओर तात्पर्यभेद के साथ राजीव पद का पुनः कथन किया गया है, अतः (तात्पर्यभेदे लाटानुप्रासः)' इस परिभाषा के अनुसार लाटानुप्रास होना चाहिए। क्योंकि रुय्यक ने उपर्युक्त परिभाषा को और स्पष्ट करते हुए कहा है कि 'तात्पर्यमन्यपरत्वम्, तदेव भिद्यते न तु शब्दार्थस्वरूपम्' अर्थात् लाटानुप्रास में एक पद पुनः उसी स्वरूप के साथ उसी अर्थ के लिए प्रयुक्त होता है, किन्तु पुनः प्रयोग में उसका तात्पर्य कुछ भिन्न (विशिष्ट) रहता है। लाटानुप्रास का यह स्वरूप उद्भट के काव्यालंकारसारसंग्रह में भी इसी रूप में वर्णित हुआ है। आचार्य मम्मट ने भी लाटानुप्रास का उपर्युक्त स्वरूप ही स्वीकार किया है। इस प्रकार लाटानुप्रास और अनन्वय में संकर की पर्याप्त आशंका हो सकती है। किन्तु वस्तुतः दोनों ही परस्पर निर्विवाद रूप से अत्यन्त भिन्न हैं। दोनों का अन्तर यह है कि लाटानुप्रास में एक शब्द समानार्थक रूप में पुनः प्रयुक्त होता हुआ प्रतीत होता है किन्तु दोनों प्रयोगों में पदों में तात्पर्य भेद रहा करता है। जबकि अनन्वय में कवि एक ही अर्थ (तात्पर्य) के लिए औपम्य के साथ उसके

वाचक पदों का प्रयोग करता है। तात्पर्यार्थ समान रहते हुए उसका वाचक पद भिन्न भी हो सकता है और अभिन्न भी। तात्पर्य यह है कि लाटानुप्रास में दोनों पदों का अभेद आवश्यक है और अनन्वय में आनुषंगिक। अत्यन्त संक्षेप में इस प्रकार कह सकते हैं कि लाटानुप्रास में शब्दार्थ पौनुरुक्त्य का महत्त्व है एवं अनन्वय में अर्थ पौनुरुकत्य का। उदाहरणार्थ 'राजीवमिव पाथोजम्' अनन्वय का उदाहरण है, लाटानुप्रास की यहां आशंका भी संभव नहीं है। अनन्वय में कवि जहां कहीं अभिन्न पदों का प्रयोग करता है, वहाँ उसका प्रयोजन केवल झटिति अर्थ प्रतीति कराना है, अतः अनन्वय में शब्दैक्य केवल आनुषंगिक है। यहां आनुषंगिक का तात्पर्य यह है कि वह साक्षात्प्रयोजक नहीं है। इसके विपरीत लाटानुप्रास के लिए शब्दैक्य अनिवार्य ही है। अर्थात् शब्दैक्य के बिना लाटानुप्रास की योजना संभव नहीं है।

मूल लक्षण

विष्णुधर्मोत्तर पुराण—

विना तथास्यादुपमा तु यत्र
तेनैव तस्यैव भवेन्नृवीर ।
अनन्वयाख्यं कथितं पुराणै-
रेतावदुक्तं तव लेशमात्रम् ॥

—विष्णुधर्मोत्तर पुराण १४-१५

दण्डी—अनन्वय ससन्देहावुपमास्वेव दर्शितौ। —काव्यादर्श-२.३५८

भामह—तत्र तेनैव तस्य स्यादुपमानोपमेयता।
असादृश्यविवक्षातस्तमित्याहुरनन्वयम् ॥ —काव्यालंकार ३.४५

अप्पयदीक्षित—(क) स्वस्य स्वेनैव उपमानोपमेयत्वेऽनन्वयो मतः ।

—चित्र मीमांसा पृ० १५१, १४७

उद्‌भट—यत्र तेनैव तस्य स्यादुपमानोपमेयता।
असादृश्यविवक्षातः तमित्याहुरनन्वयम् ॥

—काव्यालंकारसार संग्रह ६४

बामनः—एकस्योपमानोपमेयत्वेऽनन्वयः। —काव्यालंकार सूत्रवृत्ति ४.३.१४

मम्मट—उपमानोपमेयत्वे एकस्यैवैकवाक्यगे।
अनन्वयः। —काव्यप्रकाश सू० १३५, का० ९१

रुय्यक—एकस्यैवोपमानोपमेयत्वेऽनन्वयः।

—अलंकार सर्वस्व १२

शोभाकर—तेनैव तदेकदेशिना अवसितभेदेन वानन्वयः।

—अलंकार रत्नाकर ६

जयदेव—उपमानोपमेयत्वे यत्रैकस्यैव जाग्रतः।

..................भवेदेवमनन्वयः। —चन्द्रालोक ५.१२

विद्यानाथ—एकस्यैवोपमानोपमेयत्वेऽनन्वयो मतः। —प्रतापरुद्रीयम् ८.४३

विश्वनाथ—उपमानोपमेयत्वमेकस्यैव त्वनन्वयः।

—साहित्य दर्पण १०, २६

विद्याधर—अनुगतिरूपमङ्गानामेकस्मिन्नेव जायते वाक्ये।

यद्येकस्य तदानीमन्वर्थोऽनन्वयः कथितः॥ —एकावली-८.४

अप्पयदीक्षित—उपमानोपमेयत्वं यदेकस्यैव वा वस्तुनः।

...............इत्यादौ तदनन्वयः।

—कुवलयानन्द १.१०

जगन्नाथ—द्वितीयसदृशव्यवच्छेदफलकवर्णनविषयीभूतं यदेकोपमानोपमेयकं सादृश्यं तदनन्वयः। —रस गंगाधर पृ० ३८०

चिरञ्जीव—उपमानाभिन्ने स्यादुपमेये त्वनन्वयः। —काव्यविलास २.१६

नरेन्द्रप्रभसूरि—एकस्यैवोपमानोपमेयत्वे स्यादनन्वयः।

—अलंकार महोदधि ८.१५

भावदेवसूरि—अनन्वयः शशीवेन्दुः प्रतीपो मुखवच्छशी।

—काव्यालंकार संग्रह ६.८

नरसिंह—ऐक्ये ह्यनन्वयः प्रोक्त उपमानोपमेययोः।

—नञ्राजयशोभूषण पृ० १६६

यत्र द्वितीयसब्रह्मचारि निषेधद्योतनायैकस्यैवोपमानोपमेयभावः प्रतिपाद्यते तत्रानन्वयालंकारः। वही वृत्ति।

भट्टदेव शंकर—एकस्यैवोपमानत्वोपमेयत्वं प्रकल्पते।

अनन्वितं यत्तत्रासावनन्वय उदाहृतः॥

—अलंकार मंजूषा ३ पृ० ११

वेणीदत्त—एकं पदं बोधकं स्यादुपमानोपमेययोः।

एकवाक्यगतं यत्र तत्रानन्वय उच्यते॥

—अलंकार मञ्जरी ४४ पृ० ८

विश्वेश्वर—यत्रैकावच्छिन्ने स्यातामुपमानोपमेयत्वे ।
अन्यसदृशनिषेधं तमन्वयसंज्ञमाचख्युः ॥
—अलंकार मुक्तावली-८

श्रीकृष्ण ब्रह्मतन्त्र परकालस्वामी—
अनन्वयो यदेकस्यैवोपमानोपमेयता ॥ —अलंकार मणिहार-२५

अनादर

अनादर अलंकार को केवल आचार्य शोभाकर मित्र ने स्वीकार किया है । उनके अनुसार जहाँ किसी विशेष धर्म से युक्त एक वस्तु की प्राप्ति होने पर भी उसके सदृश अन्य अप्राप्त वस्तु की प्राप्ति के लिए उस प्राप्त वस्तु का अनादर किया जा रहा हो, वहां अनादर अलंकार होता है । यथा—

श्रीकश्मीरनरेन्द्रचन्द्र ! भवतः प्रत्यर्थिनो हन्त ते
प्रज्ञा कौशलशालिनोऽपि नितरां जाड्यं समभ्यागताः ।
भूभर्तुः कटकाग्रतस्तव गताः द्राक् सिंहनादाकुलात्
भूभर्तुः कटकाग्रमेव च गताः यत्सिंहनादाकुलम् ॥

प्रस्तुत पद्य में सिंहनादयुक्त कटकान्तर की प्राप्ति के लिए प्राप्त तत्सदृश का निरादर निबद्ध है ।

शोभाकर के अनुसार यह उक्त निमित्तक और अनुक्त निमित्तक भेद से दो प्रकार का हो सकता है ।

मूल लक्षण

शोभाकर—(क) अप्राप्तार्थं तत्तुल्यानादरोऽनादरः । —अ० र० ७०, पृ० १२१
(ख) यदा यद्रूपे वस्तुनि प्राप्ते तत्तुल्याप्राप्तवस्त्वन्तरावाप्त्यर्थं तस्यानादरस्तदा अनादराख्योऽलंकारः । —वही पृष्ठ १२१

अनिष्ट विध्याभास

जहां अनिष्ट का विधान किया जाता हुआ भी अनिष्ट होने से ही बाधित होकर चमत्कार की सृष्टि करता है, तो वहां प्रतिपाद्यमान अनिष्ट विधि बाधित होने से विध्याभास मात्र सिद्ध होती है, और उसे

अन्वर्थ **विध्याभास** अथवा **अनिष्ट विध्याभास अलंकार** कहते हैं। इस अलंकार को स्वतंत्र रूप से सर्वप्रथम शोभाकर मित्र ने **विध्याभास** नाम से स्वीकार किया है। विश्वनाथ भी इसे इसी नाम से स्वीकार करते हैं। जबकि एकावलीकार ने इसे **विध्याभास** के स्थान पर **अनिष्ट विध्याभास** नाम दिया है। वे 'अपरस्त्वनिष्टविध्याभासस्तस्याभिधीयते भेदः (एकावली ८.३२) वाक्य में इसे एक ओर तस्य पद से अभिहित आक्षेप का भेद स्वीकार करते हैं, दूसरी ओर वृत्ति में 'इत्यन्वर्थाभिधानोऽयम्' (वही पृ० २७५) कहते हुए स्वतन्त्र नाम देकर स्वतन्त्र अलंकार के रूप में स्वीकार करते हैं।

यह अलंकार आक्षेप की प्रकृति का होकर भी आक्षेप से भिन्न है। क्योंकि आक्षेप में विशेष अभिधान के लिए उक्त अथवा वक्ष्यमाण का निषेध किया जाता है, जबकि **अनिष्ट विध्याभास** (विध्याभास) में अनिष्ट का विधान किया जाता है, निषेध नहीं, किन्तु विधान होते हुए भी विधीयमान के अनिष्ट होने के कारण विपरीत लक्षणा से विधि ही निषेध को प्रकाशित करती है। **आक्षेप** में निषेध वाच्य होता हैं, जबकि अनिष्टविध्याभास में निषेध की व्यंजना से प्रतीति होती है। स्मरणोय है कि **व्याजस्तुति** में स्तुति विहित होने पर भी व्यंजना से स्तुति निषेध होकर निन्दा की प्रतीति होती है, और उसे आक्षेप से भिन्न अलंकार, उसके व्यंजनामूलक होने के कारण, स्वीकार किया जाता है, उसी प्रकार लक्षणामूलक होने के कारण इसे भी पृथक् अलंकार मानना अनुचित नहीं है।

शोभाकर के अनुसार इसके तीन प्रकार हैं—शुद्ध, अनिष्टान्तर से संसृष्ट एवं अनिष्टके भी अभ्युपगम (स्वीकृति) के द्वारा विधान।

व्रज ममैवैकस्याः भवन्तु निश्श्वासरोदितव्यानि।
मा तवापि तया विना दाक्षिण्यहतस्य जायन्ताम्॥

प्रस्तुत पद्य में प्रियगमन अनिष्ट होते हुए भी विधि रूप से आभासित हो रहा है। फलतः यहां शुद्ध **अनिष्ट विध्याभास** अलंकार है।

वरं हुतवहज्वाला पञ्जरान्तर्व्यवस्थितिः।
न शौरिसेवाविमुखजनसंवासवैशसम् ॥

प्रस्तुत पद्य में अभ्युपगम के माध्यम से अनिष्ट-प्रियगमन विधिरूप

से आभासित हो रहा है ।

सुभग-विलम्बस्व स्तोकं यावदिदं विरहकातरं हृदयम् ।
संस्थाप्य भणिष्याम्यथवाऽपक्राम किं भणामः ॥

इस पद्य में प्रिय का अपक्रम (प्रस्थान) अनिष्ट होते हुए भी विधि-रूप में आभासित हो रहा है। साथ ही वह 'क्या कहूं' वाक्य से अभिहित कथन निषेध आक्षेप से संकीर्ण है।

मूल लक्षण

विद्याधर—अपरस्त्वनिष्टविध्याभासस्तस्याभिधीयते भेदः ।

यत्रानभिमतपिशुनो विधिः निषेधं प्रकाशयति ॥ एकावली कारिका ८.३२
तत्रानिष्टस्यानिष्टत्वादेव बाधितः प्रतिमेधमाक्षिपति इत्यन्वर्थाभिधानोयम् ।
—एकावली पृ० २७५

शोभाकर—

(क) अनिष्टविधानं विध्याभासः । —अलंकार रत्नाकर सूत्र ४६

(ख) आक्षिप्यतेऽत्र विधिना नयतो निषेधः स्वार्थं विधावपि न पर्यनुयोग बुद्धिः ।
तस्मादनिष्टविधिरेव विलक्षणत्वात् नाक्षेपमध्यपतितोऽपि तु भिन्न एव ।
—अलंकार रत्नाकर पृ० ८६

विश्वनाथ—अनिष्टस्य तथार्थस्य विध्याभासः परो मतः ।—साहित्यदर्पण १०.६५

अनुकूल

अनुकूल अलंकार की चर्चा विश्वनाथ के अतिरिक्त पूर्ववर्ती अथवा परवर्ती किसी भी आचार्य ने नहीं की है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि प्रातिकूल्य के अनुकूल होने में भी एक चारुत्व है, किन्तु इस प्रकार के अल्प चारुत्व के आधार पर अलंकार भेद किए जाएँ तो अलंकारों की संख्या अनन्त हो जायगी। आचार्य दण्डी ने ठीक ही कहा है—काव्य-शोभाकरान्धर्मानलंकारान्प्रचक्षते । ते चाद्यापि विकल्प्यन्ते कस्तान्कार्त्स्न्येन वक्ष्यति (काव्यादर्श २.१)।

कुपितासि यदा तन्वि निधाय करजक्षतम् ।
बधान भुजपाशाभ्यां कण्ठमस्स दृढं तदा ॥

इस पद्य में किसी खण्डिता नायिका को उसी की सखि द्वारा दण्ड के प्रकार का निर्देश करते हुए दण्ड देने का परामर्श दिया गया है कि इसे

नाखूनों से नोंचो तथा पाश से(भुज रूपीपाश से) इसको गर्दन से कसकर बाँध दो। नखक्षतपूर्वक बन्धन अन्य किसी को कष्टदायक होने से प्रतिकूल है किन्तु यहाँ नायिका की सखी का विवक्षित नखक्षत पूर्वक अपने बाहुपाश में निबद्ध कर लेने का परामर्श है, जो नायक के लिए प्रतिकूल न होकर सर्वथा अनुकूल है। विश्वनाथ का कहना है कि इस पद्य में जो चारुत्व विशेष प्रकट हो रहा है वह अन्य अलंकारों से सर्वथा भिन्न है। अतः इसे एक नवीन अलंकार के रूप में स्वीकार किया जाना चाहिए। किन्तु ऊपर जैसा कहा जा चुका है अत्यल्प चमत्कार विशेष के कारण नवीन अलंकार विशेष की स्वीकृति नहीं की जाती। यदि ऐसा करना चाहेंगे तो वाग्भट्ट द्वारा स्वीकृत 'अपर', रुद्रट एवं वाग्भट स्वीकृत 'मत', अप्पय दीक्षित स्वीकृति 'लोकोक्ति' 'छेकोक्ति' 'युक्ति' प्रतिषेध चित्रोत्तर रत्नावली अल्प आदि, जगन्नाथ स्वीकृत 'तिरस्कार', चिरञ्जीव स्वीकृत 'स्तुति-निन्दा एवं गुम्फ', भावदेव सूरि स्वीकृत दैवक, नरसिंह कवि स्वीकृत तत्कर आदि अलंकारों को स्वीकार करना अनिवार्य होगा।

अनुकृति

अनुकृति भी कार्यकारण मूलक अलंकार है। इसे केवल शोभाकर मित्र ने स्वीकार किया है। उनके अनुसार किसी भी निमित्त से किसी एक वस्तु में किसी एक रूप (या गुण) का उदय होने पर अन्य वस्तु में किसी अन्य निमित्त से उसी रूप (या गुण) का उदय निबद्ध होने पर अनुकृति अलंकार होता है।

'एकं दन्तच्छद्-अस्य स्फुरति जववशादर्धमन्यत्प्रकोपात्,
एकः पाणिः प्रणन्तुं शिरसि कृतपदः क्षेप्तुमन्यस्तथैव।
एकं ध्यानान्निमीलत्यपरमविषहं वीक्षितुं चक्षुरित्थं
तुच्छानिच्छापि वामातनुरवतु स वो यस्य सन्ध्या विधाने॥

इस पद्य में एक कारण विशेष से एक अधर पाणि एवं नेत्र में क्रमशः स्फुरण, चरणस्पर्श एवं निमीलन का उदय होने पर अन्य अधर आदि में अन्य कारण से उसी धर्म का उदय होना निबद्ध है। अतः यहां अनुकृति अलंकार माना जाता है।

स्मरणीय है कि **समाधि अलंकार** में भी एक निमित्त से समुदित रूप या गुण समुदाय का निमित्तान्तर से भी निबन्धन होता है, किन्तु दोनों में अन्तर यह है कि **समाधि में** उसी धर्म का निमित्तान्तर से उदय उसी आश्रय (उसी वस्तु) में हुआ करता है, जब कि **अनुकृति** में यह रूप या गुण का उदय भिन्न आश्रय में निबद्ध होता है।

मूल लक्षण

शोभाकर—

(क) हेत्वन्तरादन्यस्यापि तथात्वमनुक्तिः। —अलंकार रत्नाकर ७२

(ख) परोपि तथाविधो भवति निमित्तान्तरात्-
तदानुकृतिरिष्यते, यदि स एव भूयस्तथा।
प्रतिप्रसवभूरसावथ तदेव तस्यापि चेत्-
तथात्वमपि कारणन्तरवपुरसमाधिस्त्वसौ॥ —वही ७२

अनुगुण

अनुगुण अलंकार की उद्भावना चन्द्रालोककार जयदेव ने की है, परवर्त्ती आलंकारिकों में केवल अप्पयदीक्षित चिरञ्जीव एवं भट्ट देवशंकर ने इसे स्वीकार किया है। इनमें अप्पय आदि तीनों ने ही इस अलंकार को लक्षित कराने में अक्षरशः जयदेव का अनुगमन किया है। इनके अनुसार जहां अन्य के सान्निध्य के कारण स्वगुण में प्राप्त उत्कर्ष का वर्णन किया जाए तो वहाँ **अनुगुण अलंकार** होता है।

'कर्णोत्पलानि दधते कटाक्षैरपि नीलताम्'

इस पद्य में स्वतः नील कमल में नेत्र कटाक्ष के सान्निध्य से नीलता में उत्कर्ष प्राप्ति का वर्णन होने से **अनुगुण अलंकार** माना जाएगा।

मूल लक्षण

जयदेव—प्राक् सिद्धस्वगुणोत्कर्षोऽनुगुणः परसन्निधेः॥ —चन्द्रालोक ५.१०१

अप्पयदीक्षित—प्राक्सिद्धस्वगुणोत्कर्षोऽनुगुणः परसन्निधेः। —कुवलयानन्द १४५

चिरञ्जीव— ,, ,, ,, ।—काव्यविलास २.५४

विश्वेश्वर—प्राक्सिद्धस्वगुणोत्कर्षोऽनुगुणः परसन्निधेः॥ अलंकार मुक्तावली ५१

अनुज्ञा

अनुज्ञा अलंकार को अप्पयदीक्षित पंडितराज जगन्नाथ, विश्वेश्वर पंडित, श्रीकृष्ण ब्रह्म तन्त्र परकाल स्वामी एवं भट्टदेव शंकर पुरोहित केवल इन पांच आलंकारिकों ने स्वीकार किया है। इनके अनुसार जब दोष में भी गुणदर्शन होने के कारण उसकी (गुण की) अभ्यर्थना की जाती है, तो वहाँ **अनुज्ञा अलंकार** होता है।

सेवया माधवस्यास्य लभतां परमं पदम्।
दूरे स्थिता वयं धन्याः गुणवर्णनकाक्षिणः ।।

इस पद्य में माधव (विष्णु, राजा विशेष) से दूर स्थिति दोष है, किन्तु उस दूरता के कारण गुण वर्णन की आकांक्षा अहर्निश रहकर धन्यता का हेतु हो रही है। इस प्रकार दोष की गुण के रूप में परिणति होने से यहाँ **अनुज्ञा अलंकार** होगा।

मूल लक्षण

अप्पयदीक्षित—दोषस्याभ्यर्थनाऽनुज्ञा, तत्रैव गुणदर्शनात् ।। कुवलयानन्द १६७

जगन्नाथ—उत्कटगुणविशेषलालसया दोषत्वेन प्रसिद्धस्यापि वस्तुनः प्रार्थनमनुज्ञा। —रसगंगाधर भाग ३, पृ० ७४७

विश्वेश्वर—दोषस्याभ्यर्थनानुज्ञा तत्रैव गुणदर्शनात्। —अलंकार मुक्तावली ५३

श्रीकृष्ण ब्रह्मतन्त्र परकाल स्वामी—

अनुज्ञा सा गुणौत्सुक्याद्दोषस्याभ्यर्थना यदि।

—अलंकार मणिहार १३८

भट्ट देवशकर पुरोहित—दोषस्याभ्यर्थना यत्र तत्रैव गुणदर्शनात्।
क्रियते तत्र विदुषाऽनुज्ञालंकार इष्यते ।।

—अलंकार मञ्जूषा १०४

अनुपलब्धि

अनुपलब्धि प्रमाण मूलक अलंकार है। अनुपलब्धि का अर्थ है, किसी पदार्थ की प्राप्ति न होने से उसके अभाव का ज्ञान होना। भोज अमृतानन्द यति एवं अप्पय दीक्षित ने इसे अभाव के नाम से स्वीकार किया है। (द्रष्टव्य अभाव अलंकार) श्रीकृष्ण ब्रह्मतन्त्र परकाल स्वामी इसे अनुपलब्धि नाम से स्वीकार करते हैं।

मूल लक्षण

श्रीकृष्ण ब्रह्मतन्त्र परकाल स्वामी—

यद्योग्यानुपलब्धेस्स्यादभावस्यावधारणम् ।
कृतिनोऽनुपलब्धि तां रम्यां विदुरलंकृतिम् ॥

—अलंकार मणिहार १८०

अपशब्दाभास

अपशब्दाभास नामक अलंकार की चर्चा अलंकार मणिहार में ही सर्वप्रथम हुई है। लोक में अपशब्दों का प्रयोग किसी व्यक्ति द्वारा अन्य व्यक्ति के लिए क्रोध आदि की स्थिति में किया जाता है। किन्तु अनेक बार कुछ शब्दों का वास्तविक तात्पर्य न समझने के कारण भी श्रोता को उनके अपशब्द होने का भ्रम होता है। ये दोनों ही स्थितियां अलंकार कोटि से बाहर की हैं। किन्तु कवि जब ऐसी शब्द योजना करता है कि उन पदावलियों को सुनकर अपशब्द होने का भ्रम होता है, किन्तु कुछ काल में ही वास्तविक पदार्थ का बोध होने पर उस भ्रम की निवृत्ति स्वतः हो जाती है। श्रोता ऐसी स्थिति में चमत्कार का अनुभव करता है, और इसे ही श्रीकृष्ण ब्रह्मतंत्र परकाल स्वामी ने अपशब्दाभास अलंकार के रूप में स्वीकार किया है।

मूल लक्षण

श्रीकृष्ण ब्रह्मतंत्र परकाल स्वामी—

निवर्तते साधुभावज्ञानाद्यत्रापशब्दधीः ।
अपशब्दवदाभास्सोलंकारो निगद्यते ॥

—अलंकार मणिहार २११

अनुप्रास

अनुप्रास अलङ्कार शब्दालङ्कारों में सर्वाधिक विदित अलङ्कार है। भरत, शिलामेत्रसेन, कुन्तक, काव्यानुशासनकार वाग्भट प्रथम, संघरक्खित, अमृतानन्द योगिन्, अप्पय दीक्षित एवं पण्डित राज जगन्नाथ के अतिरिक्त इनसे पूर्ववर्ती प्रायः सभी आलङ्कारिकों ने इसे स्वीकार किया है। इसके लक्षण के सम्बन्ध में भी आलङ्कारिकों में

प्राय: एकरूपता है। इतना अवश्य है कि भामह ने इसका विवेचन माधुर्य गुण के सन्दर्भ में किया है। एवं विश्वनाथ ने 'रसानुगतत्वेन न्यासोऽनुप्रासः' व्युत्पत्ति देते हुए इसे रसादि के अनुगुण माना है, जब कि आनन्दवर्धन ने 'शृङ्गारस्याङ्गिनो यत्नादेकरूपानुबन्धवान्, सर्वेष्वेव प्रभेदेषु नानुप्रासः प्रकाशकः। [ध्वन्या॰] कहते हुए इसे रस का अनुयोगी नहीं माना है।

अनुप्रास व्यञ्जन साम्यमूलक अलङ्कार है, यदि स्वर और व्यञ्जन दोनों का साम्य हो तो वहां अनुप्रास न होकर यमक अलङ्कार हो जाता है, किन्तु यमक के लिए आवश्यक है कि स्वर व्यञ्जन का साम्य समग्र रूप से हो किञ्चिन्मात्र वैषम्य होने पर यमक न होकर अनुप्रास अलङ्कार ही होता है। उदाहरणार्थ 'दर्दुरदुरध्यवसायसायम्' इस पद्यांश में 'दुर' शब्द की आवृत्ति हो रही है अतः स्वर और व्यञ्जन दोनों का साम्य होते हुए भी यहां केवल इसलिए यमकालङ्कार नहीं माना जाता कि प्रथम 'दुर' शब्द ऊर्ध्व रेफ से संयुक्त है। साय साय में 'साय' स्वर व्यञ्जन समुदाय की आवृत्ति होते हुए भी द्वितीय 'साय' पद सानुस्वार है। इसी प्रकार 'आकर्ण्य कर्ण मधुराणि' इत्यादि में कर्ण एवं कर्ण की आवृत्ति प्रतीत होती है किन्तु प्रथम 'कर्ण' व्यञ्जनान्त एवं द्वितीय 'कर्ण' स्वरान्त है अतः यहां भी यमक अलङ्कार न होकर अनुप्रास ही होगा।

अनुप्रास अलङ्कार के भेदों के सम्बन्ध में विद्वान् एक मत नहीं है। आचार्य मम्मट और उनके उत्तरवर्ती रुय्यक आदि आचार्य छेक और वृत्ति भेद से अनुप्रास के केवल दो भेद मानते हैं। यह विभाजन वर्णों की आवृत्ति एक बार हो रही है या अनेक बार हो रही है इस पर निर्भर रहता है। [सोऽनेकस्य सकृत् पूर्वः, एकस्याप्यसकृत् परः। (का॰ प्र॰ ३१) संख्या नियमे पूर्वं छेकानुप्रासः, अन्यथा वृत्यनुप्रासः। (अ॰ स॰ सू॰ ४-५)] उद्भट ने छेकानुप्रास को स्वतन्त्र अलङ्कार माना है, एवं अनुप्रास अलङ्कार के परुषानुप्रास, उपनागरिकानुप्रास, ग्राम्यानुप्रास नाम से तीन भेद किये हैं, साथ ही यह भी स्वीकार किया है कि परुषा, उपनागरिका और ग्राम्या तीन वृत्तियां हैं, जिनके आधार पर उपर्युक्त तीन अनुप्रास भेद किये जाते हैं। (का॰ सा॰ सं॰ १.४-७)। दण्डी ने एक वर्ण एवं अनेक वर्णों की आवृत्ति को अनुप्रास के दो भेद

माने हैं तथा एक वर्ण गत आवृत्ति में मधुरा, ललिता, प्रौढा, भद्रा और परुषा इन पांच वृत्तियों को स्वीकार किया है। रुद्रट भी अनुप्रास अलङ्कार में उपर्युक्त मधुरादि पांच वृत्तियां मानते हैं।

आचार्य भोज अनुप्रास के सर्वप्रथम, श्रुति, वृत्ति, वर्ण, पद, नाम और लाटोय भेद से ६ भेद करते हैं। इनके अनुसार श्रुत्यनुप्रास के ग्राम्य, नागर और उपनागर तीन भेद हैं, एवं इन भेदों के भी मसृण आदि अनेक भेद होते हैं। वे वर्णानुप्रास के कर्णाटी आदि बारह प्रकार सोदाहरण गिनाकर पुनः गम्भीरा आदि बारह प्रकार भी उपभेद के रूप में बताते हैं। इसी प्रकार उन्होंने वर्णानुप्रास के कर्णाटी आदि बारह प्रकारों का वर्णन करके पुनः गम्भीरा आदि बारह प्रकारों तथा उनके अनन्तर स्तवकवान् आदि बारह प्रकारों की चर्चा की है। उनके अनुसार पदानुप्रास के भी मसृण दन्तुर आदि बारह प्रकार होते हैं। उन्होंने नामानुप्रास के स्वभावतः आदि पांच मुख्य प्रकार, तथा लाटानुप्रास के व्यवहृत व्यस्त समस्त उभय एवं चक्रवाल नाम से मुख्य पांच भेद किये हैं। उनका कहना है कि यमक की भांति इसके भी अनेक प्रकार हैं। उत्तरकालीन आचार्य मम्मट आदि ने इस अलङ्कार का ध्वनिवाद के प्रवर्तक आचार्य आनन्दवर्धन की दृष्टि से मूल्याङ्कन किया है। फलतः भोज के समय तक इसको जो अत्यधिक महत्व प्राप्त था वह समाप्त हो गया। इन दिनों एक ओर इसके अनेक भेद करने की प्रवृत्ति समाप्त हो गयी और दूसरी ओर लाटानुप्रास को स्वतन्त्र अलङ्कार मानकर इसकी सीमा को कुछ संकुचित कर दिया। यद्यपि मम्मटोत्तर कालीन आचार्यों में भी वाग्भट्ट द्वितीय, केशवमिश्र, नरेन्द्र-प्रभसूरि एवं भावदेव सूरि ने पुरानी परम्परा का ही अनुवर्तन करते हुए लाटानुप्रास को अनुप्रास की सीमा में ही रखने का प्रयत्न किया है। हेमचन्द्र ने एक वर्ण की सकृत् आवृत्ति, एक पद की असकृद् आवृत्ति एवं अनेक पदों की असकृत् आवृत्ति के आधार पर इसके तीन प्रकार माने हैं। रुय्यक ने दो व्यञ्जन समुदाय की अनेकधा सादृश्य (अनेकधा आवृत्ति) को छेकानुप्रास कहा है। [संख्या नियमे छेकानुप्रासः (अ० स० सू० ४) वृत्ति—द्वयोर्व्यञ्जनसमुदाययोः परस्परमनेकधा सादृश्यं संख्यानियमः।]

आचार्य विश्वनाथ ने लाटानुप्रास को भी अनुप्रास के अन्तर्गत

रखते हुए इसके पांच भेद किये हैं। इन पांच भेदों में वृत्त्यनुप्रास छेकानुप्रास, श्रुत्यनुप्रास एवं अन्त्यानुप्रास को भले ही अनुप्रास के भेद स्वीकर किया जाये, किन्तु लाटानुप्रास को अनुप्रासालङ्कार की सीमा में रखना उचित नहीं है। क्योंकि अनुप्रास में केवल शब्दों में कुछ समानता होती है। यदि पूर्व पद में साम्य हो अर्थात् सार्थक ध्वनि समूह की आवृत्ति हो रही हो तथा दोनों समान ध्वनि समूहों में अर्थ भेद हो तो अनप्रास न होकर यमक अलङ्कार होता है किन्तु यदि दो ध्वनि समूहों में (पदों में) अर्थ भी समान हो, किन्तु तात्पर्यमात्र भिन्न हों तो वहां लाटानुप्रास अलङ्कार होता है। यह स्थिति न केवल अनुप्रास की सीमा को लांघती है बल्कि यमक की सीमा को भी पार कर पुनरुक्ति की सीमा में आ जाती है। अर्थ पुनरुक्ति दोष है, अतः इसे अलङ्कार कहना तो सम्भव नहीं है, किन्तु जब अर्थ पुनरुक्ति होते हुए भी तात्पर्य भेद हो तो उससे दोषत्व हटकर अलङ्कारत्व आ जाता है, यह स्थिति अनप्रास के क्षेत्र से बाहर है। अतः लाटानुप्रास को स्वतन्त्र अलङ्कार मानना ही उचित है।

विश्वनाथ ने अन्त्यानुप्रास के दो प्रकार माने हैं। पादान्त्य और पदान्त्यग। पादान्त्य अनुप्रास में प्रत्येक (दो या अधिक) चरण की अन्तिम कुछ ध्वनियों में समानता रहती है।

केशः कासस्तवकविकासः कायः प्रकटितकरभविलासः।
चक्षुर्दग्धवराटककल्पं त्यजति न चेतः काममनल्पम्।

इस पद्य में प्रथम और द्वितीय चरण के क्रमशः 'विकास' एवं 'विलासः' पदों में एवं तृतीय चतुर्थ चरण के 'कल्पम्' एवं 'अनल्पम्' पदों में देखा जा सकता है।

पदान्तग अनुप्रास में एक चरणगत पदों में अन्तिम अंश में समानता होती है जिसे **'मन्दं हसन्तः पुलकं वहन्तः।'** इत्यादि पद्य में 'हसन्तः' 'वहन्तः' पदों में अन्तिम अंश 'अन्तः' ध्वनि समूह की समानता के कारण देखा जा सकता है।

यस्य न सविधे दयिता दवदहनस्तुहिनदीधितिस्तस्य।
यस्य च सविधे दयिता दवदहनस्तुहिनदीधितिस्तस्य॥

इस पद्य में पूर्वार्ध और उत्तरार्ध एक वर्ण को छोड़कर पूर्णतः समान है। पूर्वार्ध में 'यस्य' पद के अनन्तर 'न' का प्रयोग हुआ है और उत्तरार्ध में 'च' का। शेष सभी पद न केवल उच्चारण में समान हैं बल्कि उनका पदार्थ भी समान है, किन्तु उद्देश्य और विधेय के भेद के कारण पूर्वार्ध और उत्तरार्ध में वाक्यार्थ सर्वथा भिन्न है।

लाटानुप्रास पद में 'लाट' पद देश विशेष का वाचक है, किन्तु प्रायः सभी प्रदेशों के आलङ्कारिकों द्वारा इस की स्वीकृति के कारण 'लाट' पद को उपलक्षण मानना अधिक उचित होगा।

मूल लक्षण

विष्णुधर्मोत्तरः

एकैकस्य तु वर्णस्य विन्यासो यः पुनः पुनः।
अर्थगत्या तु संख्यातमनुप्रासं पुरातनैः। (४)
अत्यर्थं तत्कृतं राजन्ग्राम्यतामुपगच्छति।
वर्णः समानुपूर्व्याम् —विष्णुधर्मोत्तरपुराण

अग्निपुराण

स्यादावृत्तिरनुप्रासो वर्णानां पदवाक्ययोः। —अग्निपुराण १३४३.१

दण्डी

वर्णावृत्तिरनुप्रासः पादेषु च पदेषु च।
पूर्वानुभवसंस्कारबोधिनी यद्यदूरता॥ —काव्यादर्श १-५५

भामह

सरूपवर्णविन्यासमनुप्रासं प्रचक्षते। १२.५
ग्राम्यानुप्रासमन्यत्तु मन्यन्ते सुधियोऽपरे। २.६
लाटीयमप्यनुप्रासमिहेच्छन्त्यपरे यथा। २.८
—काव्यालंकार

उद्भट

छेकानुप्रासस्तु द्वयोर्द्वयोः सुसदृशोक्तिकृतौ॥
—काव्यालंकार सारसंग्रह १.३

वामन

शेषःसरूपोऽनुप्रासः। अनुल्बणो वर्णानुप्रासः।
पादानुप्रासः पादयमकवत्। —काव्यालंकार सूत्रवृत्ति ४.१.८-१०

रुद्रट

एकद्वित्रान्तरितव्यञ्जनमविवक्षितस्वरं बहुशः ।
आवर्त्यते निरन्तरमथवा यदासावनुप्रासः ॥

—काव्यालंकार २.१८

भोज

आवृत्ति र्या तु वर्णानां नाति दूरान्तरस्थिता ।
अलंकारः स विद्वद्भिरनुप्रासः प्रदर्श्यते ॥

—सरस्वती कण्ठाभरण २.६०

मम्मट

वर्णसाम्यमनुप्रासः । —काव्यप्रकाश सू० १०४ का० ७६

रुय्यक

संख्यानियमे छेकानुप्रासः । —अलंकार सर्वस्व सू० ४

वाग्भट

अदूरान्तरिता वृत्तिरनुप्रासः ।
सकृद् वर्णावृत्तिश्छेकानुप्रासः ॥ —काव्यानुशासन पृ० ४६

हेमचन्द्र

व्यञ्जनस्यावृत्तिरनुप्रासः । —काव्यानुशासन ५.१ सू० १.४

शोभाकरमित्र

द्वयोः द्वयोः समुदाययोः साम्यं छेकानुप्रासः । —अलंकार रत्नाकर ॥३॥

जयदेव

स्वरव्यञ्जनसन्दोहव्यूहामन्दोहदोहदा ।
गौर्जगज्जाग्रदुत्सेका छेकानुप्रासभासुरा ॥ —५.२
श्लोकस्यार्धे तदर्धे वा वर्णावृत्तिर्यदिध्रुवा ।
तदामता मतिमता स्फुटानुप्रासता सताम् ॥
उपमेयोपमानादावर्थानुप्रासः इष्यते ॥ —चन्द्रालोक ५.५, ५-६,

विद्यानाथ

भेदव्यवधानेन द्वयोर्व्यंजन युग्मयोः ।
आवृत्तिर्यत्र स बुधैश्छेकानुप्रास इष्यते । —प्रतापरुद्रीयम् ७.२

विद्याधर

शब्दस्य पौनरुक्त्यं व्यञ्जनसमुदायाश्रितं यस्मात् ।
छेकानुप्रासः संख्यानियमे समुल्लसति । —एकावली ७.३

विश्वनाथ

अनुप्रास: शब्दसाम्यं वैषम्येपि स्वरस्य यत्।
छेको व्यंजनसंघस्य सकृत्साम्यमनेकधा ॥
—साहित्य दर्पण १०,2 ॥

वाग्भट द्वितीय

तुल्यश्रुत्यक्षरावृत्तिरनुप्रासः स्फुरद्गुणः ।
अतत्पदः स्याच्छेकानां लाटानां तत्पदश्च सः ॥ —वाग्भट ४.१७

केशवमिश्र

वर्णसाम्यमनुप्रासः ।
अनेकस्य वर्णस्य सकृत्साम्यं छेकानुप्रासः ॥ —अलंकार शेखर पृ० ३०

चिरञ्जीव

(१) पादादिषु पदावृत्या स्फुटा वर्णविभेदतः । २.६०
(२) लाटानुप्रासभूर्भिन्नाऽभिप्राया पुनरुक्तता ॥ २.६१
(३) आवृत्तवर्णसंपूर्ण वृत्त्यनुप्रासवद्वचः । २६२
(४) सव्यञ्जनस्वरावृत्तौ छेकानुप्रास इष्यते । —काव्यविलास

नरेन्द्रप्रभसूरि

अनुप्रासोक्षरावृत्तिर्नातिदूरान्तरस्थिता । ७.२
(१) यत्रावृत्तिरनेकस्य वर्णस्य सकृदीक्ष्यते ।
सच्छेकानुप्रासश्चतस्रस्तद्भिदास्त्विमाः । ७.७
(२) तुल्यस्थानभवैर्वर्णैरावृत्तैः श्रुतिहारिभिः ।
विश्रुतः श्रव्यनुप्रासः सर्वस्वं कविकर्मणः ॥ —अलंकार महोदधि ७.३

भावदेवसूरि

वर्णसाम्यमनुप्रासः ।
आद्ये व्यञ्जनसादृश्यं सकृदन्यत्र भूरिशः ।
तत्पदाख्योऽपि लाटानामनुप्रासो भवेद्यथा ॥
—काव्यालंकार ५४, ५५, ५६

नरसिंह कवि

भवेदव्यवधानेन द्वयोर्व्यञ्जनयुग्मयोः ।
आवृत्ति यत्र स बुधैश्छेकानुप्रास इष्यते ॥
(यत्राव्यवहितयोर्व्यंजनयुग्मयोः पौनरुक्त्यं तत्र छेकानुप्रासः ।
—नञ्राजयशोभूषण पृ० १५६

वेणीदत्त

वर्णसाम्यमनुप्रासः

छेकानेकेषु वर्णेषु साम्यं स्यात्सकृदेव हि । —अलंकार मंजरी पृ० २

वृत्त्यनुप्रासः

उद्भट

सरूपव्यञ्जनन्यासं तिसृष्वेतासु वृत्तिषु ।
पृथक्पृथगनुप्रासमुशन्ति कवयः सदा ।।

—काव्यालंकार सारसंग्रह ।।७।।

रुय्यक

(संख्यानियमे छेकानुप्रासः) अन्यथा तु वृत्त्यनुप्रासः ।

—अलंकारसर्वस्व सू० ५

वाग्भट प्रथम

असकृद्वृत्त्यनुप्रासः । (अनुप्रासभेद) —काव्यानुशासन पृ० ५०

शोभाकरमित्र

अन्यथा तु वृत्यनुप्रासः एव । —अलंकार रत्नाकर ।१४।

जयदेव

आवृत्तवर्णसम्पूर्णं वृत्यनुप्रासवद्वचः । —चन्द्रालोक ५.३

विद्यानाथ

एकद्विप्रभृतीनान्तु व्यञ्जनानां यथा भवेत् ।
पुनरुक्तिरसौ नाम वृत्यनुप्रास इष्यते ।। —प्रतापरुद्रीयम् ७.३

विद्याधर

संख्यानियमाभावे भवति पुनर्वृत्त्यनुप्रासः । —एकावली ७.४

विश्वनाथ

अनेकस्यैकधा साम्यमसकृद्वाप्यनेकधा ।
एकस्य सकृदप्येष वृत्त्यनुप्रास उच्यते । —साहित्य दर्पण

नरेन्द्रप्रभसूरि

उपनागरिकादीनां वृत्तीनामनुरोधतः ।
त्रैविध्यजुषि वर्णनामेकताऽनेकतावताम् ।
यस्मिन्नसकृदावृत्तिर्दृश्यते तं विपश्चितः ।
वृत्त्यनुप्रासमिच्छन्ति त्रिविधोऽपि द्विधा च यः ।।

—अलंकार महोदधि ७.१०, ७.१०-११

नरसिंह

संख्यानियममुल्लंघ्य वृत्त्यनुप्रास ईरितः। —नञ्जराजयशोभूषण पृ० १५६

वेणीदत्त

यदेकस्य तु वर्णस्य समत्वं यन्मुहुर्मुहुः।
तत्प्रोक्तो वृत्त्यनुप्रासो रसविद्याविशारदैः॥

—अलंकार मञ्जरी।१०। पृ० ३

लाटानुप्रास

भामह

लाटीयमप्यनुप्रासमिहेच्छन्त्यपरे यथा। —काव्यालंकार २.८

उद्‌भट

स्वरूपार्थाविशेषेपि पुनरुक्ति फलान्तरात्।
शब्दानां वा पदानां वा लाटानुप्रास इष्यते।

—काव्यालंकार सार संग्रह १.८

मम्मट

शाब्दस्तु लाटानुप्रासो भेदे तात्पर्यमात्रतः।

—काव्यप्रकाश सू० ११२ का० ८१

वाग्भट प्रथम

सकृदसकृद्वा पदावृत्तिर्लाटानाम्। —काव्यानुशासन पृ० ५०

हेमचन्द्र

तात्पर्यमात्रभेदिनो नाम्नः पदस्य वा लाटानाम्।

—काव्यानुशासन सू० १०५

शोभकरमित्र

तुल्याभिधेयभिन्नतात्पर्यशब्दावृत्तिर्लाटानुप्रासः।

—अलंकार रत्नाकर ॥५॥

जयदेव

लाटानुप्रासभूर्भिन्नाभिप्राया पुनरुक्तता। —चन्द्रालोक ५.४

विद्यानाथ

शब्दार्थयोः पौनरुक्त्यं यत्र तात्पर्यभेदवत्।
स काव्यतात्पर्यविदां लाटानुप्रास इष्यते॥ —प्रतापरुद्रीयम् ७.६

विद्याधर

तात्पर्यभेदयुक्तं लाटानुप्रास इत्यदः कथितम्। —एकावली ७.५

विश्वनाथ

शब्दार्थयोः पौनरुक्त्यं भेदे तात्पर्यमात्रतः। लाटानुप्रास इत्युक्तः।

—साहित्य दर्पण

केशवमिश्र

असकृदावृत्तवर्णत्वाल्लाटानुप्रासः। अलंकार शेखर पृ० ३०

नरेन्द्रप्रभ सूरि

एकवृत्ति-पृथग्वृत्तिवृत्त्यवृत्तिस्थितिस्पृशाम्।
भूयः साम्येऽपि तात्पर्यमात्रतो भेदशालिनाम्।
नाम्नां यदियमावृत्तिर्वृत्तिवर्जं पदस्य च।
पदानां च स लाटानामनुप्रासः प्रकीर्त्यते॥

—अलंकार महोदधि ७.१५, १६

भावदेवसूरि

अनुप्रासभेदतत्पदाव्यापि लाटानामनुप्रासः। —काव्यालंकार संग्रह ५.६

भट्टदेव शंकर

तयोर्यत्पुनरुक्तिः स लाटानुप्रास इष्यते। अलंकार मंजूषा पृ० १५७

वेणीदत्त

पदार्थयोरभेदे स्याद् योजनामात्रभेदतः।
विभिन्नशब्दधार्ये तु लाटानुप्रास ईरितः॥ —अलंकार मञ्जरी पृ० ५

अनुमान

दर्शन शास्त्र में साध्य से साधन की प्रतीति को अनुमिति कहा जाता है, यह अनुमिति ज्ञानरूप है। इसकी कारणभूत प्रक्रिया को अथवा लिङ्ग ज्ञान को (व्याप्ति विशिष्ट पक्षधर्मता ज्ञान अथवा लिङ्ग परामर्श को) अनुमान कहते हैं। [तस्मालिङ्ग परामर्शोऽनुमानम्। तर्क] काव्य में दर्शन शास्त्रीय अनुमान के सदृश योजना को उस स्थिति में अनुमान अलंकार कहा जाता है। जब वह चारुत्व का भी साथ-साथ जनक हो। इसमें साधन के द्वारा साध्य का बोध कराया जाता है। उदाहरणार्थ-अग्नि और धूम का सहभाव सर्वसाधारण को विदित है। सुदूर पर्वत मार्ग पर धूम देखकर वहां अग्नि है, ऐसा ज्ञान करना अनुमान कहा जाता है। किन्तु लोक और दर्शनशास्त्र के क्षेत्र में अनुमान के रूप में सुविदित यह प्रक्रिया काव्य के क्षेत्र में चारुत्व विशेष के बोध

के लिए ही अपनायी जाती है अन्यथा नहीं, और तभी उसे अनुमान अलंकार कहा जाता है।

काव्यशास्त्र के क्षेत्र में अनुमान की (अनुमान अलंकार की) सर्व-प्रथम चर्चा रुद्रट ने की है तथा उनसे परवर्ती आलंकारिकों में कुन्तक, संघरक्खित, शौद्धोदनि, केशव मिश्र एवं भावदेव सूरि को छोड़कर प्राय: सभी ने अनुमान अलंकार को स्वीकार किया है। तथा प्राय: सभी ने इसका कवि-प्रतिभा-प्रसूत और विच्छित्ति विशेष से सम्पन्न होना आवश्यक माना है [यत्र शब्दवृत्तेन पक्षधर्मान्वयव्यति-रेकवत् साधनं साध्ये प्रतीतये निदर्श्यते, सोऽनुमानालंकार: विच्छित्ति-विशेषश्चात्रार्थादाश्रयणीय:' । अ० स० पृ० १८४ । 'अनुमानं च विच्छित्या ज्ञानं साध्यस्य साधनात्' । सा० द० १०.६३। अत्र साध्य-साधनकथनमात्राभिधानं, व्याप्त्यादिप्रदर्शनं न कर्त्तव्यं इत्युपदेशे पर्य-वसितम्। इतरथा कथमेतत्तर्कानुमानतो भेदं भजेत्। किं च पञ्चा-वयवत्वे सत्यपि अवयवान्तरानुपादानं पौनरुक्त्यपरिहाराय" एका० पृ० ३०२। अस्य च कवि प्रतिभोल्लिखितत्वेन चमत्कारित्वे काव्या-लंकारता।" रसगं० पृ० ४७५]।

अनुमान अलंकार से काव्यलिङ्ग और अर्थान्तरन्यास अलंकारों में अन्तर अर्थान्तरन्यास अलंकार के संदर्भ में स्पष्ट किया जाएगा।

जानीमहेऽस्या हृदि सारसाक्ष्याः विराजतेऽन्तः प्रियवक्त्रचन्द्रः।
उत्कान्तिजालैः प्रसृतैस्तदङ्गेष्वापाण्डुता कुड्मलताक्षिपद्मे॥

अनुमान के उदाहरण इस पद्य में वर्णित नायिका के अंगों में पाण्डुरता एवं नेत्रों में प्रफुल्लता का अभाव (कुड़मलता) यद्यपि वियोग के कारण है, किन्तु कवि उसके कारण के रूप में नायिका के हृदय में चन्द्रमा का विद्यमान होना बता रहा है तथा उसके हेतु के रूप में अंगों की पाण्डिमा आदि को प्रस्तुत कर रहा है। क्योंकि चन्द्रमा की पाण्डु-किरणों के कारण उसके सम्पर्क युक्त पदार्थों में पाण्डिमा का होना स्वाभाविक है। इसी प्रकार कमल दिन में खिलते हैं, जब कि आकाश में चन्द्रमा का अभाव होता है एवं रात्रि में चन्द्रकिरणों का सम्पर्क होते ही कमल मुकुलित हो जाते हैं अत: नेत्ररूपी कमलों का बन्द होना भी चन्द्रकिरण सम्पर्क के कारण है यह अनुमान सहज ही है। इस काव्या-नुमान का न्याय प्रक्रिया के अनुसार विश्लेषण करें तो यहां पक्ष हृदय

होगा और साध्य उसमें चन्द्र का होना। साधन अंगों की पाण्डिमा और नयन कमलों का मुकुलन होगा। न्याय वाक्य का स्वरूप निम्नलिखित प्रकार का हो सकता है—'अस्याः हृदयं प्रियमुखचन्द्रवत् किरणसम्पर्क-जन्याङ्ग पांडिमात्वात् नयनमुकुलीभावाच्च। हर्म्य पांडिमावत्, इतर-कमल मुकुलनवच्च।' इस अनुमान योजना में प्रिय मुख पर चन्द्र का आर्थ तथा नयन पर कमल का शाब्द अभेदारोप होने के कारण विद्यमान रूपक अलंकार अनुमान में चमत्कार ला रहा है।

यत्र पतत्यबलानां दृष्टिर्निशिताः पतन्ति तत्र शराः।
तच्चापरोपितशरो धावत्यासां पुनः स्मरो मन्ये॥

प्रस्तुत पद्य में 'कामिनीजनों के आगे' पक्ष है, तथा वहां धनुष-वाण सहित कामदेव का होना साध्य है। कामिनियों के दृष्टिपात के साथ ही युवजनों का स्मरबाण से विद्ध होना साधन (हेतु) है जिसे न्याय की पारम्परिक भाषा में इस प्रकार कहा जा सकता है—"इमाः अबलाः अग्रतः चापारोपितशरवत्कामदेवयुक्ताः निपतन्निशितशर-दृष्टियुक्तत्वात्।" प्रस्तुत पद्य में कवि प्रौढोक्तिजन्यचमत्कार अनुमान को अलंकारत्व प्रदान करता है। विश्वनाथ द्वारा उद्धृत इस उदाहरण से पूर्ण साम्य युक्त किन्तु उत्कृष्ट उदाहरण विश्वनाथ से पूर्ववर्ती मम्मट एवं रुय्यक ने प्रस्तुत किया है जो द्रष्टव्य है :—

यत्रैताः लहरी चलाचलदृशो व्यापारयन्तो भ्रुवम्
यत्तत्रैव पतन्ति सन्ततममी मर्मस्पृशो मार्गणाः।
तच्चक्रीकृत चापमञ्चितशरप्रेङ्खत्करः क्रोधनो
धावत्यग्रत एव शासनधरः सत्यं सदाऽऽसां स्मरः॥

[का० प्र० पृ०, ६०; अ० स० पृ० १४५]

कवि की वृत्ति में सामान्यतः तीन प्रकार के अर्थ उपलब्ध होते हैं। स्वतः सम्भवी, कविप्रौढोक्ति सिद्ध एवं कवि निबद्ध वक्तृ प्रौढोक्ति-सिद्ध। स्वतः सम्भवी वह अर्थ है जो लोक में भी देखा जा सकता है। लौकिक औचित्य से ही उसका औचित्य विदित होता है तथा लोक के आदर्श पर हो काव्य में उसका वर्णन होता है। कविप्रौढोक्तिसिद्ध अर्थ कवि प्रतिभा की सृष्टि है। लोक में उस प्रकार के अर्थ का दर्शन यद्यपि असम्भव है तथापि कविप्रतिभाजन्य होने के कारण उसके

औचित्य में सहृदय पाठक श्रोता या प्रेक्षक को कभी अनौचित्य की आशंका भी नहीं होती। तथा कविनिबद्धवक्तृ प्रौढोक्तिसिद्ध अर्थ कवि द्वारा काव्य में नियोजित पात्र विशेष के मुख से कथित होने पर ही औचित्यपूर्ण तथा चमत्कारकारी होता है अन्यथा नहीं।

यहां स्मरणीय है कि अनुमान और उत्प्रेक्षा दोनों ही अलंकारों में अविद्यमान की सम्भावना की जाती है, अतः दोनों में अभेद की आशंका हो सकती है। किन्तु वास्तविकता यह है कि दोनों अलंकारों के विषय सर्वथा भिन्न-भिन्न हैं। उत्प्रेक्षा में की गयी सम्भावना में ज्ञानगत निश्चितता नहीं होती। क्योंकि उसमें अध्यवसान व्यापार की ही प्रधानता होती है। अध्यवसान क्रिया की पूर्णता दिखाई पड़ने पर जब निश्चय की स्थिति हो सकती है वहां उत्प्रेक्षा अलंकार ही नहीं रह जाता। इसी लिए उसे 'उत्कटैककोटिक सन्देह' भी कहा जाता है। जब कि अनुमान में सन्देह के किसी प्रकार की कोई सम्भावना नहीं रहती।

मूल लक्षण

रुद्रट

(२) वस्तु परोक्षं यस्मिन्साध्यमुपन्यस्य साधकं तस्य।
पुनरन्यदुपन्यस्येद्विपरीतं चैतदनुमानम्॥

(२) यत्र बलीयः कारणमालोक्याभूतमेव भूतमिति।
भावीति वा तथान्यत्कथ्येत तदन्यदनुमानम्।

—काव्यालंकार ७.५६, ५६

भोज

लिङ्गाद्यल्लिङ्गिनो ज्ञानमनुमानं तदुच्यते।
अनुमेयेन संबद्धं प्रसिद्धं च तदन्विते।
तदभावे च नास्त्येव तल्लिङ्गमानुमपकम्।

—सरस्वतीकण्ठाभरण ३.४६, ३४७

मम्मट

अनमानं तदुक्तं यत्साध्यसाधनयोर्वचः।

—काव्यप्रकाश सू० १८२ का० ११७

रुय्यक

साध्यसाधननिर्देशोऽनुमानम्। —अलंकार सर्वस्व पृ० १८४

वाग्भट प्रथम

हेतोरर्थप्रतिपत्तिरनुमानम् ।। —काव्यानुशासन पृ० ४० ।

हेमचन्द्र

हेतोः साध्यावगमोऽनुमानम् । —काव्यानुशासन ६.२३ सू० १३५

शोभाकर मित्र

साधनात्साध्यप्रतीतिरनुमानम् । —अलंकार रत्नाकर ७८

जयदेव

अनुमानं च कार्यादेः कारणाद्यवधारणम् । —चन्द्रालोक ५.३६

विद्यानाथ

साध्यसाधननिर्देशेत्वनुमानमुदीर्यते ।। —प्रतापरुद्रीयम् ८.२१७

विद्याधर

अनुमतमनुमानमिदं यत्र स्तः साध्यसाधने कथिते । —एकावली ८.५०

विश्वनाथ

अनुमानं तु विच्छित्या ज्ञानं साध्यस्य साधनात् ।

—साहित्य दर्पण १०.६३

अमृतानन्दयति

हेतुना हेतुमज्ज्ञानमनुमानं तदुच्यते । —अलंकार संग्रह

वाग्भट्ट द्वितीय

प्रत्यक्षाल्लिङ्गतो यत्र कालत्रितयवर्त्तिनः ।
लिङ्गिनो भवति ज्ञानमनुमानं तदुच्यते ।। —वाग्भटालंकार ४.१३८

अप्ययदीक्षित

अष्टौ प्रमाणालंकाराः प्रत्यक्षप्रमुखाः क्रमात् ।

—कुवलयानन्द १७१

पंडितराज जगन्नाथ

अनुमितिकरणमनुमानम् । —रसगंगाधर भाग ३ पृ० ६०९

नरेन्द्र प्रभसूरि

अनुमानं तु साध्याय साधनोक्तिर्मनोहरा । —अलंकार महोदधि ८.६७

नरसिंह कवि

साध्यसाधनमात्रोक्तावनुमान उदाहृतः । —नञ्जराजयशोभूषण पृ० २०९

भट्ट देवशंकर पुरोहित

प्रमा तज्जनकं यत्र कविभिः संनिबध्यते
प्रमाणालंकृतिस्तत्र चतुर्धा सा प्रकीर्त्तिता
(वृत्ति स प्रत्यक्षानुमानोपमानशब्दभेदाच्चतुर्धा।)

अलंकार मञ्जूषा १३२

विश्वेश्वर

अनुमानं व्याप्यबलाद्यापकधीर्धर्मिनिष्ठा या ॥

—अलंकार मुक्तावली ३५

श्रीकृष्ण ब्रह्मतन्त्र परकालस्वामी

अनुमानं लिङ्गजन्यलिङ्गिज्ञानमुदाहृतम्। —अलंकार मणिहार १७६

वेणीदत्त

यत्र साध्यस्य संसिद्धिः साधनेन विधीयते।
अनुमानमलंकारं तं वदन्ति विचक्षणाः। —अलंकार मञ्जरी १५६

अन्यदेशत्व

अन्यदेशत्व अलंकार का उल्लेख हमें केवल अलंकार शेखर में मिलता है। अलंकार शेखर में उपलब्ध कारिकाओं के लेखक आचार्य शौद्धोदनि ने इस अलंकार की गणना मात्र की है,[1] स्वरूप निर्देश नहीं किया है। यह कार्य केशव मिश्र ने किया है। उनके अनुसार प्रयोज्य अर्थात् फल और प्रयोजक अर्थात् हेतु का भिन्न देश में निबन्धन होने पर **अन्यदेशत्व अलंकार** होता है।[2]

सा बाला वयमप्रगल्भवचसः सा स्त्री वयं कातराः।
सा पीनोन्नतिमत्पयोधरयुगं धत्ते सखेदा वयम्॥
साऽऽक्रान्ता जघनस्थलेन गुरुणा गन्तुं न शक्ताः वयम्।
दोषैरन्यजनाश्रितैरपटवो जाताः स्म इत्यद्भुतम्॥

इस पद्य में एकत्र 'बाला' आदि में हेतु की सत्ता एवं 'वयं' आदि पद द्वारा वाच्य कविनिबद्ध वक्ता में (अन्यत्र) फल का निबन्धन होने से **अन्यदेशत्व अलंकार** होगा।

केशवमिश्र के अनुसार कुछ आचार्य एक अधिकरण में हेतु के रहने पर भी फलाभाव होने से विशेषोक्ति एवं अन्य अधिकरण में हेतु के

अभाव में भी फलनिष्पत्ति का निबन्धन होने से विभावना अलंकार मानते हैं। उनके अनुसार ही गोवर्धनाचार्य, जिनका ग्रन्थ अज्ञात है, के मत में **विशेषोक्ति** और **विभावना** अलंकारों के द्वारा ही इस प्रकार के काव्य चारुत्व का मूल्यांकन हो जाता है एतदर्थ पृथक् **अन्य-देशत्व अलंकार** मानने की आवश्यकता नहीं है।

मूल लक्षण

शौद्धोदनि—लक्षण (नहीं स्वीकृत), सहोक्तिरन्यदेशत्वं विशेषो०।

—अलंकारकारिका ४.२.२

केशवमिश्र—प्रयोज्यप्रयोजकयो: वैयधिकरण्यमन्यदेशत्वम्।

—अलंकार शेखर पृ० ३८

केचित्तु 'अन्यदेशत्वमेवविशेषोक्तिविभावने, अधिकरणद्वयमादाय।

—वही पृ० ३६

गोवर्धनस्तु आभ्यां (विशेषोक्तिविभावनाभ्यां) अन्यापदेशत्वं निराचकार।

—अलंकार शेखर पृ० ३६

अन्योक्ति

अन्योक्ति अलंकार को केवल रुद्रट भोज वाग्भट एवं हेमचन्द्र इन चार आलंकारिकों ने स्वीकार किया है। इन आचार्यों में इसके स्वरूप के सम्बन्ध में ऐकमत्य नहीं है। आचार्य रुद्रट के अनुसार विशेषण साम्य से अप्रस्तुत की प्रतीति होने पर तो समासोक्ति अलंकार होता है, किन्तु विशेषण साम्य न रहने पर भी इतिवृत्त की समानता के कारण जहां उपमान के कारण उपमेयरूप अर्थ गम्यमान हो वहां **अन्योक्ति अलंकार** होता है। इसके विपरीत काव्यानुशासनकार वाग्भट उपमेय का कथन होने पर जहां अन्य अर्थात् उपमान की प्रतीति हो वहां **अन्योक्ति अलंकार** स्वीकार करते हैं। आचार्य हेमचन्द्र रुद्रट का अनुसरण करते हुए उपमान के कथन द्वारा उपमेय की गम्यमानता में ही **अन्योक्ति** स्वीकार करते हैं। इसके विपरीत नहीं [अप्राकरणिकस्याभिधानेन प्रकरणिकस्याक्षेपे इत्यर्थ:। काव्यानु० पृ० ३०८]। इनके अनुसार सामान्य के प्रस्तुत होने पर विशेष अप्रस्तुत (अन्य) का विशेष के प्रस्तुत होने पर सामान्य अन्य अर्थ का, कार्य के प्रस्तुत होने पर कारणरूप अन्य अर्थ का, कारण के प्रस्तुत होने पर कार्य रूप अन्य

सदृश का अभिधान हो सकता है। इस प्रकार अन्य के कथन में पांच स्थितियां हो सकती हैं। फलतः **अन्योक्ति** के पांच प्रकार हो सकते हैं। भोज ने **अन्योक्ति** को **समासोक्ति** में अन्तर्भुक्त माना है।

मूल लक्षण

रुद्रट—असमानविशेषणमपि यत्र समानेतिवृत्तमुपमेयम्।
उक्तेन गम्यते परमुपमानेनेति सान्योक्तिः ॥ —काव्यालंकार ८.७४

भोज—समासोक्ति-भेद (उभयालंकार) 'अन्योक्तिश्चापि समासोक्तिभेदः, उभयोक्तिरपि तथा। —सरस्वती कंठाभरण पृ० १९७

वाग्भट प्रथम—उपमेयस्यैवोक्तौ अन्यप्रतीतिरन्योक्तिः।
—काव्यानुशासन पृ० ३५

हेमचन्द्र—सामान्यविशेषे कार्ये कारणे प्रस्तुते तदन्यस्य तुल्ये तुल्यस्य चोक्तिरन्योक्तिः ॥ —काव्यानुशासन ६.८ सू० १२०

अन्योन्य

अन्योन्य अलंकार का सर्वप्रथम उल्लेख हमें रुद्रट के काव्यालंकार में प्राप्त होता है। भोज (१२०-१२१) रुय्यक (४६), शोभाकर (५६) जयदेव (चन्द्रा० ५-८२) नरेन्द्र प्रभसूरि (अलं० मं० ८-६१) संघरक्खित (सुबो० ३२०) विद्याधर (एका० ८-४०) विश्वनाथ (सा० द० १०-७२) अप्पयदीक्षित (कुवल० ९८) जगन्नाथ (रसगंगा० पृ० ५२४) चिरञ्जीव (का० वि० २-४४) आदि ने भी इसका विवेचन किया है। जबकि भावदेव सूरि तथा नरसिंह कवि ने भी इसे स्वीकार किया है, किन्तु इन्होंने लक्षण देना आवश्यक नहीं समझा।

अन्योन्य अलंकार में निबद्ध दो वस्तुओं द्वारा स्वतन्त्र रूप से एक ही क्रिया की जाती है। दोनों द्वारा की जाने वाली क्रिया एक ही न होने पर अर्थात् क्रियाभेद होने पर अन्योन्य अलंकार न होगा। फलतः **'कृष्ण द्वैपायनं पार्थः सिषेवे शिष्यवत्ततः। असावध्यापयत्तांस्तुस्तु विद्यां योगसमन्विताम्"** पद्य में पार्थ द्वारा 'सेवन क्रिया' तथा कृष्णद्वैपायन द्वारा 'अध्यापन क्रिया' यद्यपि एक दूसरे के प्रति की गई है किन्तु क्रिया भेद के कारण यहां अन्योन्य अलंकार न होगा। इसी प्रकार क्रिया एक होने पर उन क्रियाओं का कर्ता उन दो पदार्थों को

ही, परस्पर के प्रति होना चाहिए। कर्तृभेद होने पर भी अन्योन्य अलंकार न माना जायेगा। अतएव 'सिंहः प्रसेनमवधीत् सिंहो जाम्बवता हतः।' इत्यादि पद्यों को अन्योन्य अलंकार न माना जायगा क्योंकि प्रसेन के प्रति वध क्रिया का कर्ता सिंह है तथा सिंह के प्रति वध क्रिया का कर्ता जाम्बवान् है। साथ ही दो वस्तुओं द्वारा की जाने वाली समान (एक) क्रिया परस्पर के प्रति होनी चाहिए किसी अन्य के प्रति नहीं। इसीलिए पूर्वोक्त 'सिंहः प्रसेनम्' इत्यादि पद्य में वध क्रिया (एक ही क्रिया) सिंह तथा जाम्बवान द्वारा की गई है; किन्तु वह परस्पर के प्रति नहीं है सिंह की क्रिया का कर्म प्रसेन है एव जाम्बवान की क्रिया का कर्म सिंह। अतः दो कर्त्ताओं द्वारा की गई क्रिया परस्पर के प्रति नहीं है। फलतः यहां अन्योन्य अलंकार न माना जायगा।

त्वया सा शोभते तन्वी तया त्वमपि शोभसे।
रजन्या शोभते चन्द्रश्चन्द्रेणापि निशीथिनी।

प्रस्तुत पद्य में एक (समान) क्रिया 'शोभन' है, जिसके कर्ता युष्मद् एवं तन्वी पदवाच्य पदार्थ हैं, जिनका फल शोभा एक दूसरे को प्राप्त हो रही है। इसी प्रकार यहां दूसरी क्रिया पुनः 'शोभन' है जिसके कर्ता रजनी एवं चन्द्रमा हैं तथा यहां भी उसका फल परस्पर को मिलता है, अतः यहां दोनों अंशों में अन्योन्य अलंकार माना जाएगा।

मूल लक्षण

रुद्रट

यत्र परस्परमेकः कारकभावोभिधेययोः क्रियया।
संजायेत स्फुरिततत्त्वविशेषस्तदन्योन्यम्॥

—काव्यालंकार ७.९१

भोज

अन्योन्यमुपकारो यस्तदन्योन्यं त्रिधा च तत्।

—सरस्वती कण्ठाभरण ३.२७

मम्मट

······क्रियया तु परस्परम्।
वस्तुनोर्जननेऽन्योन्यम्'''। काव्यप्रकाश १२० सू० १८७ का० १२०

रुय्यक

परस्परं क्रियाजननेऽन्योन्यम् । अलंकार सर्वस्व ४६

वाग्भट्ट प्रथम

यत्र क्रियाया: परस्परं कार्यकारित्वं तदन्योन्यम् ।
—काव्यानुशासन पृ० ४२

शोभाकरमित्र

रूपधर्मयो: परस्परनिबन्धनत्वम् अन्योन्यम् । —अलंकार रत्नाकर ५६

जयदेव

अन्योन्यं नाम यत्र स्यादुपकार: परस्परम् । चन्द्रालोक ५.८२

विद्यानाथ

तदन्योन्यं मिथो यत्रोत्पाद्योत्पादकता भवेत् । —प्रतापरुद्रीयम् ८.१६३

संघरक्खित

यदि भूसिय भूसत्तं अञ्ञमञ्ञं तु वत्थूनं ।
विनेव सदिसत्तन्तं अञ्ञमञ्ञं विभूषनं । —सुबोधालंकार ३२०

विद्याधर

भवति क्रियोपजननं यद्यन्योन्यं तदान्योन्यम् । एकावली ८.४०

विश्वनाथ

अन्योन्यमुभयोरेकक्रियाया: कारणं मिथ: । साहित्य दर्पण १०.७२

अप्पयदीक्षित

अन्योन्यं नाम यत्र स्यादुपकार: परस्परम् । —कुवलयानन्द ६८

पंडितराज जगन्नाथ

द्वयोरन्योन्येनान्योन्यस्य विशेषाधानमन्योन्यम् ।
—रसगंगाधर भाग ३ पृ० ५२४

चिरञ्जीव

अन्योन्यं तत्र यत्र स्यादुपकार: परस्परम् । काव्यविलास २.४४

नरेन्द्र प्रभसूरि

अन्योन्यमुपकारित्वं वस्तुनो: क्रियया मिथ: । अलंकार महोदधि ८.६१

नरसिंह कवि

तदन्योन्यं मिथो यत्रोत्पाद्योत्पादकता भवेत् । नञ्राज यशोभूषण

भट्टदेवशंकर

परस्परोपकारो यद्वर्ण्यते यत्र तु द्वयो: ।
अन्योन्यमिति हि प्रोक्तोऽलङ्कारस्तत्र तद् बुधै: । —अलङ्कार मंजूषा ७०

विश्वेश्वर

अन्योन्यं वस्तूनां परस्परोत्कर्षहेतुत्वे ॥ —अलंकार मुक्तावली ३८

वेणीदत्त

यत् परस्परमुत्कर्षकारणत्वं पदार्थयोः ।
तदन्योऽन्यमलङ्कारं ब्रुवते काव्यकोविदाः । —अलङ्कार मञ्जरी १६८

अपह्नुति

अन्तर्धान अभिव्यक्ति और अन्तश्चरण जिस प्रकार जगन्नायक की कलालीला के अंग हैं उसी प्रकार उन्मीलन और अपह्नव भी कवि कला के अंग हैं। अपह्नुति अलंकार में यथार्थ का अपह्नव करते हुए अन्य रूप में अभिव्यक्ति होती है। नाट्यशास्त्र और विष्णुधर्मोत्तर पुराण के लेखकों को छोड़कर प्रायः सभी आचार्यों ने इस अलंकार को स्वीकार किया है। दण्डी एवं अग्निपुराणकार ने प्रकृत का निषेध करके अन्य अर्थ की सूचना (दर्शन) अपह्नुति का लक्षण माना था। शिलामेघसेन कुन्तक शोभाकार एवं अप्पयदीक्षित इसी परम्परा के अनुयायी हैं। आचार्य भामह एवं उद्भट इस अलंकार में औपम्य का होना आवश्यक मानते हैं। वामन, रुद्रट, मम्मट, रुय्यक, हेमचन्द्र, विद्यानाथ, जगन्नाथ आदि भामह की परम्परा का ही अनुगमन करते हुए अपह्नुति को औपम्याश्रित ही मानते हैं। अन्यथा इसकी संभावना नहीं हो सकती। भोज इसमें यद्यपि सादृश्य को अनिवार्य नहीं मानते। किन्तु अपह्नुति के भेदों की चर्चा करते हुए इन्होंने औपम्यगर्भा अपह्नुति का भी सोदाहरण विवेचन किया है। जिसके आधार पर कहा जा सकता है कि अपह्नुति के लिए उनके मत में भी औपम्य का महत्त्वपूर्ण स्थान है। विश्वनाथ ने प्रस्तुत अलंकार का लक्षण और विभाजन औपम्य का आश्रयण करते हुए ही किया है, जिसमें प्रकृत अर्थात् उपमेय का निषेध करके अन्य अर्थात् उपमान के स्थापन को अपह्नुति अलंकार कहा गया है। संघरक्खित इसे वञ्चना नाम से स्वीकार करते हैं।

प्रकृत का अपह्नव (निषेध करना) दो प्रकार से हो सकता है: अपह्नवपूर्वक आरोप अथवा अरोप पूर्वक अपह्नव।

अपह्नुति अलंकार की योजना में तीन प्रकार से काव्य रचना

दिखायी पड़ती है : कहीं तो पहले अपह्नव करके तब आरोप, कहीं पहले आरोप की योजना तब अपह्नव और कहीं असत्यत्व प्रतिपादक छद्म आदि शब्दों द्वारा अपह्नव का निर्देश। प्रथम दो प्रकारों में अपह्नव एवं आरोप की योजना अलग-अलग वाक्यों में होती है जबकि तृतीय प्रकार में एक वाक्य में ही अपह्नव एवं आरोप का कथन होता है।

शोभाकर मित्र ने अपह्नुति (अप्रकृतनिषेध) के उदाहरण के रूप में **'न विषं विषमित्याहुः ब्रह्मस्वं विषमुच्यते। विषमेकाकिनं हन्ति ब्रह्मस्वं तु ससन्ततिम्''** को उद्धृत किया है। वस्तुतः यहां अपह्नुति न होकर रूपक अलंकार है। दोनों में अन्तर यह है कि अपह्नुति में प्रकृत के गुणों का काव्यमय निषेध किया जाता है, साथ ही अन्य का आरोप भी होता है जबकि रूपक में इस प्रकार का निषेध अभीष्ट नहीं रहता, केवल प्रकृत को अप्रकृत के रङ्ग में रंग दिया जाता है। प्रस्तुत पद्य में भी विष के धर्म का निषेध न होकर ब्रह्मस्व (ब्राह्मण के धन) पर विष के धर्म का आरोप मात्र है। अतः यहां रूपक अलंकार ही होना चाहिये, अपह्नुति नहीं।

विश्वनाथ के अनुसार कभी-कभी किसी गोपनीय अर्थ को किसी प्रकार प्रगट करके श्लेष अथवा किसी अन्य माध्यम से उसका अन्य तात्पर्य बताया जाता है। ऐसी स्थिति में भो उस काव्य बन्ध में अपह्नुति अलंकार माना जायेगा।

जैसाकि पहले कहा जा चुका है भामह आदि आचार्य अपह्नुति में औपम्य अनिवार्य मानते हैं, उनके अनुसार 'उपमेय का निषेध करके उपमान की स्थापना अपह्नुति अलंकार है।

मूल लक्षण

अग्निपुराण

अपह्नुतिरपह्नुत्य किञ्चिदन्यार्थ सूचनम्। —अग्निपुराण ३४५-१८

दण्डी

अपह्नुतिरपह्नुत्यकिञ्चिदन्यार्थदर्शनम्। —काव्यादर्श २.३०४

भामह

अपह्नुतिरभीष्टा च किञ्चिदन्तर्गतोपमा।
भूतार्थापह्नवादस्याः क्रियते चाभिधा यथा। —काव्यालंकार ३.२१

शिलामेघसेन

दण्डी अनुकृत। —सियवसलकुर

उदभट

अपह्नुतिभीष्टा च किंचिदन्तर्गतोपमा।
भूतार्थापह्नवेनास्या निबन्धः क्रियते बुधैः।

—काव्यालंकार सार संग्रह ५.३

वामन

समेन वस्तुनाऽन्यापलापोऽपह्नुतिः। काव्यालंकार सूत्र वृत्ति ४.३.५

रुद्रट

अतिसाम्यादुपदुमेयं यस्यामसदेव कथ्यते सदपि।
उपमानमेव सदिति च विज्ञेयापह्नुतिः सेयम्। —काव्यालंकार ८.५७

भोज

अपह्नुतिपह्नुत्यकिञ्चिदन्यार्थदर्शनम्।

—सरस्वती कण्ठाभरण ४.४३

कुन्तक

अन्यदर्पयितुं रूपं वर्णनीयस्य वस्तुनः।
स्वरूपापह्नवो यस्यामसावपह्नुतिर्मता। —वक्रोक्तिजीवित ३.४३

मम्मट

प्रकृतं यन्निषिध्यान्यत्साध्यते सात्वपह्नुतिः।

--काव्यप्रकाश सू० १४६ का० ९६

रुय्यक

विषयस्यापह्नवेऽपह्नुतिः। —अलंकार सर्वस्व २०

वाग्भट प्रथम

प्रकृतस्य सदृशेनापलापोऽपह्नुतिः। काव्यानुशासन पृ० ३९

हेमचन्द्र

प्रकृताप्रकृताभ्यां प्रकृतापलापोऽपह्नुतिः। काव्यानुशासन ६.२१

शोभाकरमित्र

विषयस्य मुख्यस्य वापह्नवेऽन्यादिधीरपह्नुतिः।

—अलंकार रत्नाकर २९

जयदेव

अतथ्यमारोपयितुं तथ्यापास्तिरपह्नुतिः। —चन्द्रालोक ५.२४

विद्यानाथ

निषिध्य विषयं साम्यादन्यारोपेह्यपह्नुतिः। —प्रतापरुद्रीयम् ८.६६

संघरक्खित

गोपेत्वा वण्णनियमं यं किञ्चि दस्सियते परं।
असंभवा समं तस्स यदि सा वञ्चना मता॥ —सुबोधालंकार ३१२

विद्याधर

कलयति विषयेऽपह्नवमारोप्यं यत्र भासते सुतराम्।
आहुरपह्नुतिमेतां बन्धच्छायाः त्रयी चास्या।

—एकावली ८.११

विश्वनाथ

(क) प्रकृतं प्रतिषिध्यान्यस्थापनं स्यादपह्नुतिः। १०३८
(ख) गोपनीयं कमप्यर्थं द्योतयित्वा कथञ्चन।
यदि श्लेषेणान्यथा वान्यथयेत्साप्यपह्नुतिः।

—साहित्य दर्पण १०.३८-३९

अमृतानन्दयति

सत्यार्थापह्नवादन्यप्रकारोपह्नुतिर्यथा।
नैत देतदिदं ह्येतदित्यपह्नवपूर्वकम्। अलंकार संग्रह ५.४१

वाग्भट्ट द्वितीय

उच्यते यत्र सादृश्यादपह्नुरियं यथा॥ —वाग्भटालंकार ४.८६

अप्ययदीक्षित

(१) प्रकतस्य निषेधेन यदन्यत्वप्रकल्पनम्।
साम्यादपह्नुति र्वाक्यभेदाभेदवती द्विधा।

—चित्रमीमांसा पृ० २३७

(२) (क) शुद्धापह्नुतिरन्यस्यारोपार्थो धर्मनिह्नवः।
(ख) स एवं युक्तिपूर्वश्चेदुच्यते हेत्वपह्नुतिः।
(ग) अन्यत्र तस्यारोपार्थः पर्यस्तापह्नुतिस्तु सः।
(घ) भ्रान्तापह्नुतिरन्यस्य शंकायां भ्रान्तिवारणे।
(ङ) छेकापह्नुतिरन्यस्य शंकातस्तथ्यनिह्नवे।
(च) कैतवापह्नुतिर्व्यक्तौ व्याजाद्यैर्निह्नुतेः पदैः।

कुवलयानन्द। २६, २७, २८; २९, ३०, ३१

केशवमिश्र

किञ्चदपह्नुत्य यदन्यार्थप्रदर्शनं सापह्नुतिः।

—अलंकार शेखर पृ० ३६

पंडितराज जगन्नाथ

उपमेयतावच्छेदक निषेधसामानाधिकरण्येना-
रोप्यमाणमुपमानतादात्म्यमपह्नुतिः। —रसगंगाधर पृ० ६२५

चिरञ्जीव

अतथ्यमारोपयितुं तथ्यापास्तिरपह्नुतिः। —काव्यविलास २.१६

नरेन्द्रप्रभसूरि

विषयेऽपह्नुतिं नीते तदन्येन त्वपह्नुतिः। —अलंकार महोदधि ८.२३

भावदेवसूरि

केवल उदाहरण

नरसिंह कवि

निषिध्य प्रकतं यत्राप्रकृतारोपणं भवेत्।
तत्रापह्नुत्यलंकारः स त्रिधा परिकीर्तितः।

—काव्यालंकार संग्रह पृ० २७४

वेणीदत्त

उपमेयं व्यवस्थाप्य यत्रासत्यतया पुनः।
उपमानस्य सत्यत्वं कथनं स्यादपह्नुतिः॥
संगोप्योऽपि प्रकटितः केनचिद्धेतुना पुनः।
योऽर्थस्तस्यापलापो यः सोप्यन्योऽपह्नवः स्मृतः॥

—अलंकार मञ्जरी ६४ पृ० १२. ६६, पृ० १३

भट्ट देवशंकरपुरोहित

(१) अन्यारोपनिमितं यत्क्रियते धर्मनिह्नवः।
शुद्धापह्नुतिरुक्ता सालंकारनयगामिभिः। —अलंकार मंजूषा १४
अपह्नवस्तादृशश्चेत्क्रियते युक्तिपूर्वकः।
हेत्वपह्नुतिरुक्ता सालङ्कृतिर्जनरञ्जना॥

—१५ अलंकार मंजूषा १५

अन्यत्र तस्यारोपार्थं क्रियते धर्मनिह्नवः।
पर्यस्तापह्नुतिः साहि पूर्ववद् द्विविधा मता॥ —अलंकार मंजूषा १६

भ्रान्तापह्नुतिरन्यस्य सम्भ्रान्तौ तन्निवारणे।
भ्रान्तिस्तु द्विविधा प्रोक्ता स्वतः कव्युम्भितापि च॥
—अलंकार मंजूषा १७

स्वरहस्यस्य कथनं नीयतेऽन्यत्र चेद्धिया।
गोपनाय तदा प्रोक्ता छेकापह्नुत्यलङ्कृतिः। —अलंकार मंजूषा १८

व्याजाद्यैर्निह्नुतिर्यत्र पदैश्चेत्संनिबध्यते।
कैतवापह्नुतिस्तत्र प्रोक्तालङ्कारकोविदैः॥ —अलंकार मंजूषा १९

विश्वेश्वर

प्रकृतं निषिध्य भिन्नात्मतया प्रोक्तावपह्नुतिः कथिता॥
—अलंकार मुक्तावली १५

श्रीकृष्ण ब्रह्मतन्त्र परकाल स्वामी

आहार्या भेदबुद्धिश्चेन्निषेधोऽङ्गयङ्गमेव वा॥
एतां सामान्यतः प्राहुरपह्नुतिमलङ्कृतिम्। अलंकार मणिहारः ४९

अप्रस्तुत प्रशंसा

अप्रस्तुत प्रशंसा अलंकार का उल्लेख नाट्यशास्त्र और विष्णु धर्मोत्तर पुराण में नहीं मिलता है। उसके अनन्तर रुद्रट, हेमचन्द्र, शौद्धोदनि एवं केशव मिश्र को छोड़कर प्रायः सभी ने इसका विवेचन किया है। प्रारम्भ में इस अलंकार के लक्षण में केवल अप्रस्तुत की स्तुति को ही उसके स्वरूप के रूप में स्वीकार किया गया था। 'अप्रस्तुत-प्रशंसा सा स्यादपक्रान्तेषु या स्तुतिः' [का० द० २.३४० सिय ३२०] 'अधिकारादपेतस्य वस्तुनोऽन्यस्य या स्तुतिः' [अ० पु० ३४५.१६; काव्या० ३.२९; का० सा० सं० ५.८]। स्मरणीय है कि समासोक्ति के समान अप्रस्तुत प्रशंसा अलंकार में भी अग्निपुराणकार एवं भामह द्वारा दिये गए अलंकार लक्षण में लगभग पूर्ण साम्य विद्यमान है। अप्रस्तुत प्रशंसा के स्वरूप का कुछ विशेष स्पष्टीकरण करने का सर्व प्रथम वामन ने प्रयास किया है। उन्होंने वृत्ति में उपमेय का लिङ्गमात्र कथन होने अर्थात् समान वस्तु के रूप में न्यास होने पर अप्रस्तुत प्रशंसा माना है [उपमेयस्य किञ्चित् लिङ्गमात्रेण उक्तौ समानवस्तुन्यासे

अप्रस्तुत प्रशंसा [का० सू० वृ० ४.३-४] किन्तु उनके तत्काल उत्तरवर्त्ती भोज ने इसके लिए अप्रस्तुत कथन के लिए किसी भी हेतु को पर्याप्त माना है तथा उसके वाच्या एवं प्रत्येतव्या (व्यंग्या) दो भेद किये हैं [अप्रस्तुतप्रशंसा स्यादस्तोतव्यस्य या स्तुतिः कुतोऽपि हेतोर्वाच्या च प्रत्येतव्या च सोच्यते। स० कं० ४.५४] भोज द्वारा इन दो भेदों को स्वीकार करने का अर्थ है कि वे अप्रस्तुत की प्रशंसा वाच्य अथवा प्रत्येतव्य दोनों ही स्थितियों में अप्रस्तुत प्रशंसा अलंकार मानते हैं। भोज के अनन्तर कुन्तक ने इस अलंकार के स्वरूप में कुछ वैशिष्ठ्य देखा है, उनके अनुसार अप्रस्तुत का वह वर्णन प्रस्तुत के सौन्दर्य को प्रगट करने वाला होना चाहिए [अप्रस्तुतोऽपि विच्छित्तिं प्रस्तुतस्यावतारयन्। यत्र तत् साम्यमाश्रित्य सम्बन्धान्तरमेव वा। वक्रो० ४.२३]। साथ ही अप्रस्तुत का वह वर्णन साम्य अथवा किसी अन्य सम्बन्ध विशेष के आधार पर होना चाहिए। कुन्तक द्वारा प्रस्तुत और अप्रस्तुत के सम्बन्ध का जो प्रश्न उठाया गया, मम्मट एवं रुय्यक ने उसे एक सुव्यवस्थित रूप प्रदान किया। इनके अनुसार प्रस्तुत की विच्छित्ति के लिए अप्रस्तुत का यह वर्णन सारूप्य सामान्य-विशेषभाव अथवा कार्यकारणभाव पर भी आश्रित होना चाहिए [अप्रस्तुतात्सामान्यविशेषभावे कार्यकारणभावे सारूप्ये च प्रस्तुतप्रतीतावप्रस्तुतप्रशंसा। अ० स० पृ० १३२]। परवर्त्ती आलंकारिकों में शोभाकर मित्र, विद्याधर [८.२७] विद्यानाथ [८.२०७] विश्वनाथ, अप्पय दीक्षित [कुव० ६६], चिरंजीव [का० वि० ८.४३-४४] तथा नरसिंह कवि [पृ० २०५] ने इसे स्वीकार किया है। जयदेव इनमें से सारूप्य को स्वीकार नहीं करते [५.६४]। अन्य आलंकारिक इस प्रसंग में प्रायः मौन हैं।

इस प्रसंग में यह भी स्मरणीय है कि शोभाकर ने इसे लक्षणा मूला माना है उनका कहना है कि इस अलंकार में अप्रस्तुत से प्रस्तुत की प्रतीति व्यञ्जना द्वारा न होकर लक्षणा द्वारा होती है। उनका तर्क है कि किसी भी प्रसङ्ग में प्रस्तुत की उपेक्षा कर अप्रस्तुत का वर्णन असम्बन्ध प्रलाप-सा प्रतीत होता है, फलतः मुख्य अर्थ के बाधक होने से सामान्य-विशेष, कार्यकारण भाव सादृश्य एवं विरोध आदि संबंधों के कारण या अति प्रसिद्धि के कारण अथवा किसी प्रयोजन विशेष के कारण प्रस्तुत अर्थ का बोध होता है; अतः इसे लक्षणामूला ही मानना

चाहिए [इयं चासम्बन्धप्रलापिताप्रसङ्गेनाप्रस्तुतस्याभिधातुमनुचितत्वाद्बाधितमुख्यार्थतया सामान्यविशेषभाव-कार्यकारणत्व-सादृश्य-विरोधादिके सम्बन्धे चारूढप्रतीत्यादिलक्षणे प्रयोजने च सति प्रस्तुतमर्थं प्रतिपादयन्ती लक्षणामूलैव युक्ता न तु व्यञ्जनात्मिका वाच्या बाधितत्वेन पर्यवसितत्वेन व्यञ्जनस्य सम्भवात् [अ० र० पृ० ६१]। इस प्रसङ्ग में उन्होंने किसी (अज्ञातनामा) आचार्य का उद्धरण भी प्रस्तुत किया है—"मुख्यार्थबाधादिसमस्तहेतुयोगादसौ लक्षणयैव युक्ता । विरोधमन्वर्थनिबन्धनादिभेदस्थितेनापि च पञ्चधैव" इति [अ० र० पृ० ६१]।

भेद-प्रभेद :—अप्रस्तुत प्रशंसा अलंकार का स्वरूप निर्धारण करते हुए जिन उपादान तत्त्वों की चर्चा हुई है उनके आधार पर इसके कई भेद-प्रभेद आचार्यों द्वारा स्वीकार किए गए हैं। भोज से पूर्व इस अलंकार के भेद-प्रभेदों की चर्चा नहीं हुई थी। भोज ने इसके सर्वप्रथम वाच्या और प्रत्येया (व्यंग्या) दो भेद किये थे तथा उनके अनुसार इन दोनों में भी धर्म अर्थ अथवा काम के बाध के आधार पर प्रभेद होने से ६ प्रभेद, तथा स्तुति और निन्दा हेतु गुणों के वाच्य अथवा प्रत्येय होने पर चार अन्य प्रभेद भी होते हैं। इस प्रकार भोज के मत में इसके दस भेद होते हैं।

कुन्तक के अनुसार इस अलंकार की योजना में साम्य तथा सम्बन्धान्तर के हेतु रूप में रहने से साम्याश्रया एवं सम्बन्धान्तराश्रया दो भेद होते हैं। मम्मट ने लक्षण में किन्ही तत्त्वों का उल्लेख न करके भी जिन आधार तत्त्वों को स्वीकार किया है उसके अनुसार इसके छ प्रकार होते हैं—१. कार्य के प्रस्तुत होने पर कारण का वर्णन, २. कारण के प्रस्तुत होने पर कार्य का वर्णन, ३. सामान्य के प्रस्तुत होने पर विशेष का वर्णन, ४. विशेष के प्रस्तुत होने पर सामान्य का वर्णन, ५. तुल्य के प्रस्तुत होने पर तुल्यान्तर का वर्णन, ६. प्रस्तुत के वाच्य होने पर प्रतीयमान का अप्रस्तुत अध्यारोप [कार्ये निमित्ते सामान्ये विशेषे प्रस्तुते सति। तदन्यस्य वचस्तुल्ये तुल्यस्येति च पञ्चधा। (का० प्र० ५.९९ पृ० ६७७)। इयं च काचित् वाच्ये प्रतीयमानार्थानध्यारोपेणैव भवति। (वहीं पृ० ६८४)]।

रुय्यक के अनुसार अप्रस्तुत प्रशंसा अलंकार त्रिविध सम्बन्धों के

आधार पर पांच प्रकार का हो जाता है—सामान्य विशेष भाव में दो—सामान्य से विशेष की प्रतीति, विशेष से सामान्य की प्रतीति। इसी प्रकार कार्यकारण भाव में दो भेद—कार्य से कारण की प्रतीति एवं कारण से कार्य की प्रतीति, तथा सारूप्य में एक प्रकार। इस प्रकार कुल पांच प्रकार हुए। सारूप्य में भी साधर्म्य एवं वैधर्म्य के आधार पर दो प्रकार हो सकते हैं। इसी प्रकार वाच्य के सम्भव, असम्भव एवं उभय रूप होने से तीन अन्य प्रकार भी होते हैं। [त्रिविधश्च सम्बन्धः सामान्यविशेषभावः कार्यकारणभावः सारूप्यञ्चेति। सामान्यविशेषभावे सामान्याद् विशेषस्य विशेषाद्वा सामान्यस्य प्रतीतौ द्वैविध्यम्। कार्यकारणभावेऽप्यनयैव भङ्ग्या द्विधात्वम्। सारूप्ये त्वेको भेद इत्यस्याः पञ्च प्रकाराः, तत्रापि सारूप्यहेतुके भेदे साधर्म्यवैधर्म्याभ्यां द्वैविध्यम्। वाच्यस्य सम्भवासम्भवोभयरूपताभिस्त्रयः प्रकाराः। [अ० स० पृ० १३२-१३३]।

शोभाकर मित्र मम्मट एवं रुय्यक स्वीकृत प्रथम पांच प्रकार स्वीकार करते हैं—[सामान्याद्विशेषस्य विशेषाद्वा सामान्यस्य कार्यात्कारणस्य कारणाद्वा कार्यस्य सदृशविरुद्धादेश्च तथाविधस्याप्रस्तुतात्प्रस्तुतस्य प्रतिपत्तिरप्रस्तुतप्रशंसा॥ अ० र० ६१] विद्यानाथ रुय्यक का ही पूर्णतया अनुगमन करते हैं। अप्पय दीक्षित ने, मम्मट स्वीकृत पाँच भेदों को मानते हुए भी कुन्तक उद्‌भावित सम्बन्धान्तर को एक अतिरिक्त भेदक स्वीकार कर कुल छ प्रकार माने हैं। नरेन्द्रप्रभ सूरि पूर्णतः रुय्यक का ही अनुसरण करते हैं। नरसिंह कवि मम्मट स्वीकृत केवल पांच भेदों की ही चर्चा करते हैं।

विश्वनाथ, मम्मट उद्‌भावित पांच भेदों को स्वीकार करते हैं—१. सामान्य से विशेष, २. विशेष से सामान्य, ३. कारण से कार्य, ४. कार्य से कारण तथा सदृश से सदृश की प्रतीति। इनके अनुसार सादृश्य से होने वाली प्रतीति में साधर्म्य के साथ वैधर्म्य को भी आधार माना जा सकता है।

पादाहतं यदुत्थाय मूर्धानमधिरोहति।
स्वस्थादेवापमानेऽपि देहिनस्तद्वरं रजः॥

यह पद्य शिशुपाल वध [२.४६] से उद्‌धृत है। इसमें बलराम ने कृष्ण से धूल एवं मनुष्य के वृत्तान्त विशेष द्वारा सामान्य प्रस्तुत

सिद्धान्त की प्रतीति कराते हुए कहा है कि अपमान सहना उचित नहीं होता। यदि तुच्छतम धूल भी किसी के पैरों का आघात पाकर शान्त या प्रतिक्रिया रहित होकर पड़ी नहीं रहती अपितु पदाघात करने वाले तथा उसके निकट में भी विद्यमान प्रत्येक प्राणी के शिर पर चढ़कर ही शान्त होती है, तो यह उचित ही है कि कभी भी किसी के द्वारा किए गये अपमान को न सहा जाए।

स्रगियं यदि जीवितापहा हृदये किं निहिता न हन्ति माम्।
विषमप्यमृतं क्वचिद् भवेदमृतं वा विषमीश्वरेच्छया।।

प्रस्तुत पद्य रघुवंश [८.४६] से उद्धृत है। प्रसङ्ग है, इन्दुमती की मृत्यु पर महाराजा अज द्वारा विलाप। आकाश मार्ग से जाते हुए नारद की वीणा से गिरी हुई माला की चोट से इन्दुमती की मृत्यु हो जाती है। यहां कवि का विवक्षित इस सामान्य कथन को प्रगट करना है कि कोई हानिकर कार्य अथवा वस्तु भी ईश्वर की इच्छा से (भाग्यवश) लाभकर हो सकती है एवं लाभकर वस्तु भी हानि पहुँचा सकती है। यह सामान्य कथन प्रस्तुत है, जिसे कवि ने इस विशेष कथन द्वारा प्रगट किया है कि ईश्वरेच्छा से विष भी अमृत हो जाता है और अमृत भी विष हो जाता है। इस प्रकार यहां अर्थान्तरन्यास अलंकार है [विशेषस्य सामान्येन साधर्म्यवैधर्म्याभ्यां समर्थनमर्थान्तरन्यासः। काव्यानु० द्वितीय ६.१९] क्योंकि प्रस्तुत पद्य में अज स्वयं से ही प्रश्न करता है कि जिस माला ने मेरी प्राण-प्रिया पत्नी के प्राण ले लिए हैं वह हृदय पर रखने पर भी मेरी मृत्यु का कारण क्यों नहीं होती ? वह इस प्रश्न का उत्तर स्वयं इस सामान्य कथन द्वारा देता है कि ईश्वर की इच्छा से अमृत भी कहीं विष हो जाता है और कहीं विष भी अमृत बन जाता है। यहां भी माला उसकी पत्नी की मृत्यु का कारण बन चुकी है। अतः यहां अर्थान्तरन्यास अलंकार है, किन्तु यहां अप्रस्तुत सामान्य से इन्दुमती को मृत्यु के कारणभूत विशेष प्रस्तुत की प्रतीति हो रही है, अतः यहां अप्रस्तुतप्रशंसा अलंकार भी है।

यहां क्योंकि कथित विष का अमृत होना और अमृत का विष होना एवं सुखद माला का मृत्युदायक हो जाना के बीच बिम्बप्रतिबिम्बभावरूप साम्य भी है, अतः इस पद्य में दृष्टान्त अलंकार होना चाहिए। इसका समाधान यह है कि दृष्टान्त में सुविदित बिम्ब को ही ग्रहण

किया जाता है किन्तु प्रस्तुत पद्य में निबद्ध 'विष का अमृत होना और अमृत का विष होना होना' सुविदित नहीं है, अतः दृष्टान्त अलंकार स्वीकार करना उचित नहीं हैं।

इन्दुर्लिप्त इवाञ्जनेन जडिता दृष्टिर्मृगीणामिव
प्रम्लानारुणिमेव विद्रुमदलं, श्यामेव श्यामप्रभा।
कार्कश्यं कलया च कोकिलवधूकण्ठेष्विव प्रस्तुतम्
सीतायाः पुरतश्च हन्त, शिखिनां बर्हाः सगर्हा इव॥

'इन्दुर्लिप्त इवाञ्जनेन' इत्यादि पद्य में सीता के मुख का अतिशय सौन्दर्य-रूप प्रस्तुत 'इन्दु की अञ्जनलिप्तता' आदि अप्रस्तुत कार्यों के कारण के रूप में प्रतीत होता है, तथा यह प्रतीति अप्रस्तुत 'इन्दु की अञ्जनलिप्तता आदि के द्वारा हो रही है। अत्र सम्भाव्यमानैरिन्द्वादिगतैरञ्जनलिप्तत्वादिभिः कार्यरूपैरप्रस्तुतैर्लोकोत्तरो वदनादिगतः सौन्दर्यातिशयकारणरूपः प्रस्तुतः प्रतीयते। तेनेयमप्रस्तुतप्रशंसा' [अ० स० पृ० १३४]।

गच्छामीति मयोक्तया मृगदृशा निःश्वासमुद्रेकिणम्
त्यक्त्वा तिर्यगवेक्ष्य बाष्पकलुषेणैकेन मां चक्षुषा।
अद्य प्रेम मदर्पितं प्रियसखीवृन्दे त्वया बध्यता-
मित्थं स्नेहविवर्धितो मृगशिशुः सोत्प्रासमाभाषितः॥

प्रस्तुत पद्य में विदेश यात्रा के लिये तैयार किसी व्यक्ति की विदेश यात्रा स्थगित या निरस्त हो जाने पर किसी मित्र ने उसका कारण पूछा। अतः उसका उत्तर अर्थात् न जाने का कारण यहां प्रस्तुत है, जिसकी प्रतीति नायिका के द्वारा पद्य में कहे गये वचनों, जो कि अप्रस्तुत है, के द्वारा हो रही है।

सहकारः सदामोदो वसन्तश्रीसमन्वितः।
समुज्ज्वलरुचिः श्रीमान् प्रभूतोत्कलिकायुतः॥

प्रस्तुत पद्य में प्रस्तुत नायक की प्रतीति अप्रस्तुत सहकार के वर्णन से हो रही है तथा यह प्रतीति नायक एवं सहकार के साम्य के द्वारा होती है। इसके लिए कवि ने श्लिष्ट पदों का प्रयोग किया है। किन्तु केवल विशेषण पद ही श्लिष्ट है विशेष्य सहकार पद श्लिष्ट नहीं है। इस प्रकार यहाँ समासोक्ति के समान केवल श्लिष्ट विशेषणों

का प्रयोग है तथा अप्रस्तुत सहकार के द्वारा प्रस्तुत नायक प्रतीति होने से यहां तुल्य के लिए तुल्य अभिधानमूला अप्रस्तुत प्रशंसा अलंकार है।

पुंस्त्वादपि प्रविचलेद्यदि यद्यधोऽपि,
यायाद्यपि प्रणयने न महानपि स्यात्।
अभ्युद्धरेत्तदपि विश्वमितीदृशीयं,
केनापि दिक्प्रकटिता पुरुषोत्तमेन ॥

प्रस्तुत पद्य भल्लट शतक [७६] से उद्धृत है। काव्यप्रकाशकार मम्मट ने भी श्लेषाश्रित तुल्याभिधान हेतुक अप्रस्तुत प्रशंसा के उदाहरण के रूप में इस पद्य को उद्धृत किया है। इस पद्य में विशेष्य वाचक पद पुरुषोत्तम भी श्लिष्ट है और विशेषण वाचक पुंस्त्व आदि पद भी शिष्ट है। अतः यहां दूसरे प्रकार का अर्थात् श्लेष अलंकार के समान उभय श्लेषमूला अप्रस्तुत प्रशंसा अलंकार है [अत्र सत्पुरुषे वर्णनीयत्वेन प्रस्तुते सति तत्तुल्यस्य अप्रस्तुतस्य श्री विष्णोरभिधानम्, तत्र 'पुंस्त्वात्' इत्यादि विशेषणानां 'पुरुषोत्तमेन' इति विशेष्यस्य च श्लेषेण प्रस्तुतस्य विष्णुतुल्यस्य सत्पुरुषस्याक्षेप इति श्लेष हेतुकाऽप्रस्तुत प्रशंसेयम्। का० प्र० बा० बो० टीका पृ० ६८२]।

यहां यह प्रश्न हो सकता है कि प्रस्तुत पद्य में पुरुषोत्तम पद द्वारा राजरूप प्रस्तुत अर्थ ही प्रथमतः अभिहित होता है जब कि अप्रस्तुत प्रशंसा में अप्रस्तुत अर्थ ही अभिहित होता है, प्रस्तुत अर्थ तो व्यंग्य (अथवा शोभाकर के मत में लक्ष्य भूत) रहता है, अतः यहां अप्रस्तुत प्रशंसा का लक्षण कैसे संगत होगा ? विश्वनाथ इस आशंका का समाधान देते हुए कहते हैं कि वस्तुतः यहां यदि पुरुषोत्तम पद का प्रस्तुत अर्थ सत्पुरुष है, तो उस स्थिति में पुरुषोत्तम एवं सत्पुरुष अर्थ में यौगिक शक्ति होगी अतः प्रकरणादि सहित उस शक्ति को 'अवयव शक्तेः समुदाय-शक्तिर्बलीयसी' न्याय से अवरुद्ध कर नारायणादि रूप अर्थ को प्रथम उपस्थित करेगी अतः पहले अप्रस्तुत अर्थ ही प्रगट होगा प्रस्तुत नहीं। और यदि राजरूप अर्थ प्रस्तुत है तो अति प्रसिद्धि के कारण पुरुषोत्तम पद से नारायण अर्थ प्रथम होगा। अतः कोई दोष न होगा।

एक: कपोतपोत: शतशः श्येनाः क्षुधाभिधावन्ति ।
अम्बरमावृतिशून्यं हरहर शरणं विधेः करुणा ॥

प्रस्तुत पद्य में अप्रस्तुत कपोत है जिससे केवल सादृश्य महिमा से प्रस्तुत पुरुष विशेष की प्रतीति होती है । यहां कपोत और आपद्ग्रस्त पुरुष में केवल सादृश्य सम्बन्ध ही है, वह श्लेष संसृष्ट नहीं है ।

धन्याः खलु वने वाताः कह्लारस्पर्शशीतलाः ।
राममिन्दीवरश्यामं ये स्पृशन्त्यनिवारिताः ॥

प्रस्तुत पद्य में रामसम्पर्क युक्त वायु एवं राम सम्पर्क से वंचित पुरुष में वैधर्म्यवश सम्बन्ध है, जिसके कारण अप्रस्तुत धन्य वायु से प्रस्तुत अधन्य दशरथ की प्रतीति हो रही है ['अत्र वाताः धन्या इति अप्रस्तुतादहमधन्य इति वैधर्म्येण प्रस्तुतोऽर्थः प्रतीयते। अ० स० पृ० १३३]।

पूर्व उद्धृत सभी उदाहरणों में अप्रस्तुत वाच्य संभव रूप है।

कोकिलोऽहं भवान्काकः समानः कालिमाऽऽवयोः ।
अन्तरं कथयिष्यन्ति काकलीकोविदाः पुनः ॥

प्रस्तुत पद्य में अप्रस्तुत कोकिल एवं काक का वार्त्तालाप तब तक सम्भव नहीं है, जब तक अप्रस्तुत कोकिल पर व्यंग्य प्रस्तुत पुरुष का अध्यारोप न किया जाए । इस प्रसंग में अलंकार सर्वस्व में उद्धृत उदाहरण द्रष्टव्य है—

'कस्त्वं भोः कथयामि दैवहतकं मां विद्धि शाखोटकम्,
वैराग्यादिववक्षि साधुविदितं कस्मादिदं कथ्यते।
वामे नात्र वटस्तमध्वगजनः सर्वात्मना सेवते,
नच्छायाऽपि परोपकारवृतये मार्गस्थितस्यापि मे॥

अत्राचेतनेन सह प्रश्नोत्तरिका नोपयन्नेति वाच्यस्यासंभव एव, [अ० स० पृ० १३७]।

अन्तश्छिद्राणि भूयांसि कण्टकाः बहवो बहिः ।
कथं कमलनालस्य मा भूवन् भङ्गुराः गुणाः ॥

पद्य सम्भव असम्भव उभय रूप का उदाहरण है। साथ ही यहां श्लेषगर्भता भी है। इस पद्य में अप्रस्तुत वाच्य अर्थ कमल नाल में

कण्टकों का उसे भङ्गुर बनाना हेतु के रूप में सम्भव है तथा छिद्रों का भङ्गुरता के लिए हेतुत्व असम्भव है। यहां प्रस्तुत की प्रतीति तात्पर्यत: (प्रयोजन के रूप में) व्यञ्जना द्वारा होती है तथा प्रस्तुत पर अप्रस्तुत का अध्यारोप कर देने से प्रस्तुत में दोषरूप छिद्र भङ्गुरता के हेतु हैं, अत: उसकी भी संगति हो जाती है [अत्र वाच्येऽर्थे कण्टकानां भङ्गुरीकरणे हेतुत्वं संभवि छिद्राणां त्वसंभवि, इत्युभयरूपत्वम्। प्रस्तुतस्य तात्पर्येण प्रतीतेस्तदध्यारोपात्तत्र संगतमेवैतदिति नासमीचीनम् किंचित्, [अ० स० पृ० १३८]।

इस प्रसंग में स्मरणीय है कि अप्रस्तुत प्रशंसा अलंकार शब्दशक्तिमूलावस्तु ध्वनि, उपमाध्वनि समासोक्ति एवं श्लेष से सर्वथा भिन्न है। जिस प्रकार समासोक्ति में प्रस्तुत पर अप्रस्तुत के व्यवहार का समारोप होता है, उसी प्रकार अप्रस्तुत प्रशंसा में भी प्रस्तुत पर अप्रस्तुत के व्यवहार का समारोप रहता है जब कि शब्दशक्तिमूला वस्तुध्वनि में व्यवहार समारोप नहीं होता, अत: अप्रस्तुत प्रशंसा और शब्दशक्तिमूलावस्तुध्वनि एक नहीं हो सकते, अर्थात् एक का अन्यतर में अन्तर्भाव या अभेद स्वीकार नहीं किया जा सकता। इसके अतिरिक्ति शब्दशक्तिमूल ध्वनि में शब्दों का द्वचर्थक होना आवश्यक है, जब कि अप्रस्तुत प्रशंसा में शब्द द्वचर्थक हो भी सकते हैं और नहीं भी। उपमाध्वनि एवं समासोक्ति दोनों में प्रस्तुत और अप्रस्तुत अर्थ का बोध होता है, किन्तु इन दोनों में प्रस्तुत वाच्य होता है; जब कि अप्रस्तुत प्रशंसा में इसके सर्वथा विपरीत अप्रस्तुत वाच्य होता है तथा प्रस्तुत अर्थ प्रतीयमान रहता है ['प्रस्तुतादप्रस्तुतप्रतीतौ समासोक्तिरुक्ता अधुना तद्वैपरीत्येनाप्रस्तुतात्प्रस्तुतप्रतीतावप्रस्तुतप्रशंसोच्यते। अ० स० पृ० १३२] अप्राकरणिकेन प्राकरणिकाक्षेपोऽप्रस्तुतप्रशंसा, प्राकरणिकेनाऽप्राकरणिकाक्षेप: समासोक्तिरिति विवेक:। [का० प्र० प्रदीप पृ० ५०]। अप्रस्तुतप्रशंसा श्लेष अलंकार से भी भिन्न है क्योंकि श्लेष में प्रगट होने वाले दोनों अर्थ प्रस्तुत होते हैं, अथवा दोनों अप्रस्तुत हो सकते हैं, जब कि अप्रस्तुतप्रशसा में वाच्य अर्थ अप्रस्तुत होता है और दूसरा व्यंग्य अर्थ प्रस्तुत होता है। साथ ही श्लेष में दोनों अर्थ वाच्य होते हैं, जब कि अप्रस्तुत प्रशंसा में एक (अप्रस्तुत) वाच्य होता है और अन्य (प्रस्तुत) व्यंग्य। इस प्रकार

यह अलंकार सभी समान प्रतीत होने वाले अलंकारों से भिन्न है।

मूल लक्षण

अग्नि

······अप्रस्तुतं स्तोत्रमिदं पुनः।
अधिकारादपेतस्य वस्तुनोऽन्यस्य या स्तुतिः॥ —अग्निपुराण ३४५.१६

दण्डी

अप्रस्तुतप्रशंसास्यादप्रक्रान्तेषु या स्तुतिः। —काव्यादर्श २.३४०

भामह

अधिकारादपेतस्य वस्तुनोऽन्यस्य या स्तुतिः।
अप्रस्तुतप्रशंसेति सा चैवं कथ्यते यथा। —काव्यलंकार ३.२६

शिलामेघसेन

दण्डी अनुकृत ३२०।

उद्भट

अधिकारादपेतस्य वस्तुनोऽन्यस्य या स्तुतिः।
अप्रस्तुतप्रशंसेयं प्रस्तुतार्थानुबन्धिनी।
—काव्यालंकार सार संग्रह ५.८

वामन

किञ्चिदुक्तौ (उपमेयस्य लिङ्गमात्रेणोक्तौ) अप्रस्तुतप्रशंसा।
—काव्यलंकार सूत्रवृत्ति ४.३.४

भोज

अप्रस्तुतप्रशंसा स्यादस्तोतव्यस्य या स्तुतिः।
कुतोऽपि हेतोर्वाच्या च प्रत्येतव्या च सोच्यते।
—सरस्वती कण्ठाभरण ४.५४

कुन्तक

अप्रस्तुतोऽपि विच्छित्तिं प्रस्तुतस्यावतारयन्।
यत्र तत्साम्यमाश्रित्य सम्बन्धान्तरमेव वा।
वाक्यार्थोऽसत्यभूतो वा प्राप्यते वर्णनीयताम्।
अप्रस्तुतप्रशंसेति कथिता सावलंकृतिः।
—वक्रोक्ति जीवित ४.२३, ४.२४,

मम्मट

अप्रस्तुतप्रशंसा या सा चैव प्रस्तुताश्रया ।

—काव्यप्रकाश सू० १५१ का० ९८

रुय्यक

अप्रस्तुतात्सामान्यविशेषभावे कार्यकारणभावे ।
सारूप्ये च प्रस्तुतप्रतीतावप्रस्तुतप्रशंसा ।।

—अलंकार सर्वस्व ३४

वाग्भट—उपमेयस्य किञ्चिदुक्तावप्रस्तुतप्रशंसा ।

—काव्यानुशासन पृ० ३६।

शोभाकरमित्र

अप्रस्तुतादन्यप्रतीतिरप्रस्तुतप्रशंसा । —अलंकार रत्नाकर ३८

जयदेव

अप्रस्तुतप्रशंसा स्यात्सा यत्र प्रस्तुतानुगा ।
कार्यकारणसामान्यविशेषादेरसौ मता । —चन्द्रालोक ५.६४

विद्यानाथ

अप्रस्तुतस्य कथनात्प्रस्तुतं यत्र गम्यते ।
अप्रस्तुतप्रशंसेयं सारूप्यादिनियन्त्रिता ।। —प्रतापरुद्रीयम् ८.२०६

संघरक्खित

परानुवत्तंनादिहि निब्बिन्देतिह या थुति ।
थुति अप्पकते सायं सिया अप्पकतत्थुति । —सुबोधालंकार ३१५

विद्याधर

सामान्यविशेषत्वे सारूप्ये कार्यकारणभावे च ।
अप्रस्तुतप्रशंसा निर्दिष्टा प्रस्तुतस्य गम्यत्वे ।।

—एकावली ८.२७

विश्वनाथ

अप्रस्तुतात्प्रस्तुतं चेद् गम्यते पञ्चधा ततः ।
अप्रस्तुप्रशंसा स्याद्···। —साहित्य दर्पण १०.५९

अमृतानन्दयति

अप्रस्तुतस्तुतिः सा स्यादप्रक्रान्तेऽपि या स्तुतिः ।
सेवादिक्लेशनिर्विण्णमानसेन कृता यथा ।। —अलंकार संग्रह ५.४५

वाग्भट द्वितीय

प्रशंसा क्रियते यत्राप्रस्तुतस्यापि वस्तुनः ।
अप्रस्तुतप्रशंसां तामाहुः कृतधियो यथा । —वाग्भटालंकार ४.१३४

अप्ययदीक्षित

अप्रस्तुतप्रशंसा स्यात्सा यत्र प्रस्तुताश्रया ॥ —कुवलयानन्द ६६

पंडितराज जगन्नाथ

अप्रस्तुतेन व्यवहारेण सादृश्यादिप्रकारान्यतमप्रकारेण ।
प्रस्तुतव्यवहारो यत्र प्रशस्यते साऽप्रस्तुतप्रशंसा ।
—रसगंगाधर तृतीय ३२७

चिरञ्जीव

अप्रस्तुतप्रशंसा स्यात्सा यत्र प्रस्तुतानुगा । —काव्यविलास २.३५

नरेन्द्रप्रभसूरि

अप्रस्तुतप्रशसा सा यत्र कार्ये च कारणे ।
सामान्ये च विशेषे च प्रस्तुतेऽन्यस्य शंसनम् ।
तुल्ये तुल्यस्य साधर्म्यवैधर्म्याभ्यान्तु तद् द्विधा ।
—अलंकार महोदधि ८.४३-४४

भावदेवसूरि

अप्रस्तुतप्रशंसा स्याद् यत्रासौ प्रस्तुतानुगा ।
—काव्यालंकार सार संग्रह ६.१७

नरसिंहकवि

अप्रस्तुतेन वाच्येन प्रस्तुतं गम्यते यदि ।
अप्रस्तुतप्रशंसेयं कथिता पञ्चधा बुधैः ।
—नञ्राजयशोभूषण पृ० २०५

भट्ट देवशंकर पुरोहित

अप्रस्तुताद् वर्ण्यमानात्प्रस्तुतावगति र्यदि ।
अप्रस्तुतप्रशंसा सा तदा ज्ञेया मनीषिभिः ।
अलंकारमंजूषा ४३ पृ० ९५

विश्वेश्वर

अप्रस्तुतप्रशंसा प्रकृतमतिपत्तिरेतया यत्र ।
कार्यहेतौ व्याप्यव्यापकयोरन्यगीः समेतस्य ॥
—अलंकार मुक्तावली १८

वेणीदत्त

अप्रस्तुतप्रशंसा स्यात् यदाऽप्रस्तुतवस्तुनः ।
कथनं प्रस्तुतार्थस्य भवेदुत्कर्षबोधकम् ।।

—अलंकार मञ्जरी ७६ पृ० १५

श्रीकृष्ण ब्रह्मतन्त्रपरकाल स्वामी

स्यात्प्रस्तुतस्य गमकं यत्राप्रस्तुतवर्णनम् ।
अप्रस्तुतप्रशंसाख्या सैवालंकृतिरुच्यते ।।

—अलंकार मणिहार ८५

अभाव

अभाव प्रमाणमूलक अलंकारों में अन्यतम है। इसे भोज अमृतानन्द योगी एवं अप्पयदीक्षित केवल तीन अलंकारिकों ने स्वीकार किया ने स्वीकार किया है। इनमें भी अप्पय दीक्षित ने इसका लक्षण न कर के केवल प्रमाणालंकार कह कर अभाव प्रमाण से इसे लक्षित कराने का प्रयास किया है। दार्शनिक परम्परा में अभाव प्रमाण को मान्यता केवल पूर्व और उत्तर मीमांसा दर्शन में ही है। इस प्रमाण के द्वारा किसी स्थल विशेष (अधिकरण विशेष) पर किसी अन्य पदार्थ के अभाव का बोध होता है। अन्य दार्शनिकों में कुछ के अनुसार अभाव पदार्थ का ज्ञान अनुमान प्रमाण के द्वारा और कुछ अन्य के अनुसार विशेषण-विशेष्य-भाव सन्निकर्ष के माध्यम से प्रत्यक्ष प्रमाण द्वारा होता है। अप्पय दीक्षित के अनुसार इस प्रमाण का काव्य में निबन्धन होने पर अभाव अलंकार स्वीकार किया जाता है। भोज और अमृतानन्द योगी के अनुसार पदार्थों की असत्ता का निबन्ध होने पर **अभाव अलंकार** मानना चाहिए। [देखें० अनुपलब्धि]

मूल लक्षण

भोज—असत्ता या पदार्थानामभावः सोऽभिधीयते ।। सरस्वतीकण्ठाभरण ३.५४

अमृतानन्दयोगी— अर्थस्याविद्यमानत्वमभाव इति कथ्यते ।

—अलंकार संग्रह ५.६२

अप्पयदीक्षित—अष्टौ प्रमाणालंकाराः प्रत्यक्षप्रमुखाः क्रमात् ।

—कुवलयानन्द १७१

अभेद

अभेद एक सादृश्य मूलक अलंकार है। अलंकार रत्नाकरकार शोभाकर के अतिरिक्त किसी अन्य आचार्य ने इसे स्वीकार नहीं किया है। उन के अनुसार जहां आरोपविषयगत नियत धर्म की हानि का निबन्धन होने से आरोपविषय एवं आरोप्यमाण के बीच अतिशय साम्य की प्रतीति हो रही हो और उसके फलस्वरूप आरोपविषय एवं आरोप्यमाण के मध्य अभेद की भी प्रतीति हो, तो वहां **अभेद अलंकार** स्वीकार किया जाता है। आरोप विषयगत यह धर्म हानि वास्तविक न होकर कवि प्रतिभोत्थापित हुआ करती है, और इसी कारण आरोप विषय एवं आरोप्यमाण में प्रतीति होने वाला अभेद भी वास्तविक न होकर कवि प्रतिभोत्थापित ही होता है। स्मरणीय है कि रूपक अलंकार में भी अभेद प्रतीति रहा करती है। किन्तु दोनों में अन्तर यह है कि रूपक में अभेद मात्र की प्रतीति होती है, जबकि अभेद अलंकार में उपमान या उपमेयगत नियत धर्म की हानि वर्णित रहती है, फलत: उपमान और उपमेय में भेदक तत्त्व का अभाव वर्णित होने से दोनों में सर्वतोभावेन अभेद की प्रतोति होती है।

अभेद अलंकार शाब्द और आर्थ भेद से दो प्रकार का होता है—

कुमारसम्भवगत—

वनेचराणां वनितासखानां दरीगृहोत्सङ्गनिषक्तभासः।
भवन्ति यत्रौषधयो रजन्यामतैलपूराः सुरतप्रदीपाः॥

—कुमार संभव १.१०

पद्य में उपमेय प्रभासित औषधियों में प्रदीपगत 'तैलपूरता' की हानि का कथन करते हुए औषधि एवं सुरत प्रदीप का शाब्द सामानाधिकरण्य करके अभेद का अभिधान हुआ है, अत: यहां शाब्द अभेद अलंकार है।

'दृढतरनिबद्धमुष्टेः कोशनिषण्णस्य सहजमलिनस्य।
कृपणस्य कृपाणस्य च केवलमाकारतो भेदः॥

प्रस्तुत पद्य में आर्थ **अभेद अलंकार है**; क्योंकि कृपण और कृपाण का एक विभक्ति में निर्देश रहते हुए भेद प्रतिपादक 'च' का प्रयोग करते हुए उनका समुच्चय किया गया है, साथ ही आरोप में अभेद की

विवक्षा भी है।

मूल लक्षण

नियतधर्महानावारोप्यमाणस्यातिसाम्यमभेदः ॥ —अलंकार रत्नाकर २७

अर्थान्तरन्यास

अर्थान्तरन्यास एक प्राचीन एवं सर्वस्वीकृत अलंकार है। नाट्य-शास्त्र के अतिरिक्त सभी अलंकार ग्रन्थों में इसका विवेचन उपलब्ध होता है। अर्थान्तरन्यास पद का यौगिक अर्थ है—प्रस्तुत अर्थ से भिन्न अर्थ का उपन्यास। इस अर्थान्तर का प्रकृत अर्थ से यथाकथमपि सम्बन्ध होना चाहिए। अन्यथा वाक्यार्थ में उसकी संगति न हो सकेगी। यह सम्बन्ध क्या होना चाहिए तथा अर्थान्तर के उपन्यास का प्रयोजन क्या है? इसे ही ध्यान में रखते हुए विविध अलंकारिकों ने इस अलंकार के लक्षण किये हैं। दण्डी ने प्रथम उपन्यस्त वस्तु के साधन में समर्थ अन्य वस्तु के उपन्यास को अर्थान्तरन्यास कहा था, [ज्ञेयः सोर्थान्तरन्यासो वस्तु प्रस्तुत्य किञ्चन। तत्साधनसमर्थस्य न्यासोऽन्यस्य वस्तुनः। का० द० २. १६६] जबकि भामह एवं विष्णुधर्मोत्तर पुराणकार ने केवल अन्य उपन्यस्त अर्थ को पूर्वार्थ से अनुगत मात्र होना पर्याप्त समझा था [उपन्यासस्तथान्यः स्यात्प्रस्तुताद्यत्क्वचिद् भवेत्। ज्ञेयः सोऽर्थान्तर न्यासः पूर्वार्थानुगतो यदि। वि० ध० पु० १४.८। उपन्यसनमन्यस्य यदर्थस्योदितादृते। ज्ञेयः सोऽर्थान्तरन्यासः पूर्वार्थानुगतो यथा। काव्या० २.७१]। पूर्व अर्थ में अन्य अर्थ की अनुगति किस आधार से होनी चाहिए इस सम्बन्ध में भामह ने स्वयं कुछ स्पष्ट नहीं किया है। यद्यपि दण्डी द्वारा दिये गये अर्थान्तरन्यास के लक्षण में जिस साधन सामर्थ्य की चर्चा की है यदि उसे इस अनुगति का कारण माना जाए तो प्रथम और इतर अर्थ के बीच समर्थ्य समर्थकभाव होना चाहिए, यह कहा जा सकता है। अग्निपुराणकार के अनुसार उपन्यस्त दोनों अर्थों के बीच सादृश्य सम्बन्ध होना चाहिए [भवेदर्थान्तरन्यासः सादृश्येनोत्तरेण सः अ० पु० ३४४.२४]। इस प्रकार दण्डी, भामह एवं अग्निपुराण में पृथक् पृथक् रूप से अर्थान्तरन्यास अलंकार के जिन उपादान तत्त्वों की ओर संकेत हुआ है वे हैं—(१) प्रस्तुत के अतिरिक्त अर्थान्तर का

उपन्यास (सर्वसम्मत)। (२) दोनों अर्थों में सादृश्य का होना (अ० पु०), (३) दोनों अर्थों में अनुगति (भामह), (४) अन्य अर्थ प्रथम अर्थ के साधन में समर्थक हो (दण्डी)। क्योंकि सादृश्य अथवा साधकता रहने पर ही अनुगति रहेगी। अथवा अनुगति के रहने पर अनुगति का हेतु भूत सादृश्य अथवा साधन सामर्थ्य आदि का होना आवश्यक होगा ही, अतः सादृश्य आदि में अनुगति को अथवा अनुगति में सादृश्य आदि को अन्तर्भूत माना जा सकता है। किन्तु क्योंकि सादृश्य अथवा साध्यसाधन भाव अथवा दोनों ही अनुगति के क्षेत्र में समाहित है; जब कि सादृश्य अथवा साध्यसाधनभाव अथवा दोनों के न रहने पर भी कार्यकारणभाव सामान्यविशेषभाव व्याप्यव्यापकभाव रहने पर भी अनुगति रह सकती है, अतः अग्निपुराणकार और दण्डी के अर्थान्तर-न्यास लक्षण की अपेक्षा भामह के लक्षण को अधिक व्यापक कहा जा सकता है।

उद्भट ने भामह स्वीकृत अनुगति एवं दण्डी स्वीकृत साधन सामर्थ्य को समर्थ्यसमथक भाव के अन्दर समाहित करके पूर्व आचार्यों की अपेक्षा अधिक स्पष्ट लक्षण दिया है [समर्थकस्य पूर्वं यद्वचोऽन्यस्य च पृष्ठतः विपर्ययेण वा यत्स्याद्धि शब्दोक्त्याऽन्यथापि वा। ज्ञेयः सोऽर्था-न्तरन्यासः [का० सा० सं० २६-७]। वामन ने भी अर्थान्तरन्यास में समर्थ्य समर्थक भाव को ही स्वीकार किया है, उनके अनुसार प्रकृत से इतर वस्तु का उपन्यास समर्थन के लिए किया जाता है [उक्तसिद्धचै वस्तुनोऽर्थान्तरस्यैव न्यसनमर्थान्तरन्यासः। का० सू० वृ० ४.३.२१] उक्त कथन के समर्थन के लिए हेतु रूप से अन्य अर्थ की योजना नहीं हो ऐसा होने पर में उसे अर्थान्तरन्यास न कहा जा सकेगा [वस्तुग्रहणा-दर्थस्य हेतोर्न्यसनं नार्थान्तरन्यासः। काव्यालंकारसूत्र वृत्ति[४.३२१]।

रुद्रट ने इस अलंकार को और भी अधिक स्पष्ट किया है। इससे पूर्व किसी आचार्य ने यह स्पष्ट नहीं किया था कि द्वितीय वस्तु द्वारा प्रथम अर्थ का समर्थन किस आधार पर होता है। अग्निपुराणकार ने जिस सादृश्य की चर्चा की भी वह भी बहुत स्पष्ट नहीं थी। साथ ही परवर्ती अलंकारिकों ने इसे स्वीकार भी नहीं किया। रुद्रट के अनुसार अर्थान्तरन्यास में जो समर्थ्यसमर्थकभाव रहता है, उसके लिए कवि दो वस्तुओं में एक वस्तु को **सामान्य** रूप में और दूसरे को **विशेष**

रूप से निबद्ध करता है। अर्थात् दोनों वस्तुओं में एक **सामान्य** होती है और दूसरी **विशेष**। सामान्य-विशेषभाव के कारण ही प्रथम से द्वितीय का समर्थन होता है [धर्मिणमर्थविशेषं सामान्यं वाभिधाय तत्सिद्धचै यत्सधर्मिकमितरं न्यस्येत्सोऽर्थान्तरन्यासः । काव्यालं० ८.७९]। भोज ने अर्थान्तरन्यास के लक्षण के सन्दर्भ में दण्डी का अक्षरशः अनुगमन किया है। एवं कुन्तक ने प्रायः अग्निपुराण का अनुगमन किया है। यद्यपि कुन्तक ने यह स्पष्ट अवश्य किया है कि अर्थान्तर वाच्यार्थ रूप होना चाहिए, पदार्थ रूप नहीं। [वाक्यार्थान्तरविन्यासं मुख्यतात्पर्य साम्यतः । ज्ञेयः सोऽर्थान्तरन्यासः समर्थकतयाऽऽहितः। वक्रो० ३०।३९]। मम्मट का अर्थान्तरन्यास अलंकार का लक्षण परवर्ती आलंकारिकों के लिए मार्गदर्शक के समान है। इनके अनुसार सामान्य का विशेष से अथवा विशेष का सामान्य से साधर्म्य अथवा वैधर्म्य के माध्यम से जहां समर्थन किया जाए वहां अर्थान्तरन्यास अलंकार होता है [सामान्यं वा विशेषा वा तदन्येन समर्थ्यते। यत्तु सोऽर्थान्तरन्यासः साधर्म्येणेतरेण वा। का० प्र० १०९]। इस प्रकार मम्मट के अर्थान्तरन्यास में न केवल दण्डी एवं उद्भट का समर्थ्य-समर्थक भाव समाहित है, बल्कि अग्निपुराणकार निर्दिष्ट सादृश्य की साधर्म्य एवं वैधर्म्य मूलक व्याख्या भी उसमें हो जाती है। इसके अतिरिक्त दो अर्थों में एक के **सामान्य** और दूसरे के **विशेष** होने की बात भी समाहित हुई है। आचार्य रुय्यक ने अर्थान्तरन्यास अलंकार में सामान्य और विशेष के अतिरिक्त कार्यकारण भाव को भी लक्षण में संयुक्त किया है। उनके अनुसार अर्थान्तरन्यास में निर्दिष्ट प्रकृत का सामान्य विशेष भाव में अथवा कार्यकारण से समर्थन किया जाता है [सामान्य-विशेष-कार्यकारणभावाभ्यां निर्दिष्टप्रकृतसमर्थनमर्थान्तरन्यासः। अ० स० पृ० १३९]।

विश्वनाथ ने इस अलंकार के प्रसंग में रुय्यक का पूर्णतः अनुगमन किया है और वे भी सामान्यविशेषभाव के अतिरित कार्यकारण भाव के द्वारा भी प्रकृत का अर्थान्तर से समर्थन होने पर अर्थान्तरन्यास अलंकार मानते हैं। विश्वनाथ को छोड़कर परवर्ती किसी भी आलंकारिक ने अर्थान्तर के लक्षण में कार्यकारणभाव को स्थान नहीं दिया है। इसके विपरीत प्रायः सभी ने यहां तक कि रुय्यक के टीका-

कार जयरथ ने भी रुय्यक की इस मान्यता का विरोध किया है। उनका कहना है कि ग्रन्थकार द्वारा परिगणित भेदों में से कार्यकारण भाव पर आश्रित दो भेद काव्यलिङ्ग के विषय हैं, ऐसा ग्रन्थकार स्वयं कहेंगे। अतः सामान्यविशेषभाव पर आश्रित दो भेद ही मानने चाहिए [कार्यकारणभावाश्रयस्य भेदद्वयस्य काव्यलिङ्गत्वं ग्रन्थकृदेव वक्ष्यतीति सामान्यविशेषभावाश्रयमेव भेदद्वयमाश्रयणीयम्।' विमर्शिनी पृ० १३९]।

पंडितराज जगन्नाथ ने भी रुय्यक का नामोल्लेख करते हुए कारण से कार्य का एवं कार्य से कारण का समर्थन होने पर अर्थान्तरन्यास की संभावना का खण्डन किया है एवं इस स्थिति में काव्यलिङ्ग मानना उचित समझा है ['यत्तु कारणेन कार्यस्य कार्येण कारणस्य वा समर्थनम्' इत्यपि भेदद्वयमर्थान्तरन्यासस्यालंकारसर्वस्वकारो न्यरूपयत्, तन्न, तस्य काव्यलिङ्गविषयत्वात्। अन्यथा "वपुः प्रादुर्भावात्' इति सकलालंकारिकसिद्धं काव्यलिङ्गोदाहरणमसङ्गतं स्यात्। अपरार्धे वाक्यार्थद्वयस्य कारणत्वेन अर्थान्तरन्यासोदाहरणापत्तेः। रसगं० ४७४]। जगन्नाथ द्वारा निर्दिष्ट 'वपुः प्रादुर्भावात्' इत्यादि पद्य को मम्मट आदि ने काव्यलिङ्ग के उदाहरण के रूप में प्रस्तुत किया है। पूरा पद्य इस प्रकार है—

"वपुः प्रादुर्भावादनुमितमिदं जन्मनि पुरा,
पुरारे ! न प्रायः क्वचिदपि भवन्तं प्रणतवान्।
नमन्मुक्तः सम्प्रत्यहमतनुरग्रेऽप्यनतिभाक्,
महेश ! क्षन्तव्यं तदिदमपराधद्वयमपि"।

इस पद्य में कार्य 'अपराधद्वयमपि' का समर्थन दो कारणों—(१) 'पुरा न प्रायः क्वचिदपि भवन्तं प्रणतवान्' तथा (२) 'अग्रेऽप्यनतिभाक्' द्वारा किया गया है। इसी आधार पर रुय्यक एवं विश्वनाथ के अनुसार इसे अर्थान्तरन्यास कहा जा सकता है एवं अन्य आलंकारिकों के अनुसार काव्यलिङ्ग। अतः अतिव्याप्ति रहित लक्षण करना उचित है। उद्योतकार ने इन दोनों (अर्थान्तरन्यास एवं काव्यलिङ्ग) अलंकारों का अन्तर स्पष्ट करते हुए समर्थ्यसमर्थकभाव होने पर अर्थान्तरन्यास एवं कार्यकारणभाव रहने पर काव्यलिङ्ग स्वीकार किया है ['कारणेन कार्यस्य कार्येण कारणस्य वा समर्थनं काव्यलिङ्गस्य विषय

इति बोध्यम् । समर्थ्यसमर्थकयोः सामान्यविशेषभावसम्बन्धेऽयम् (अर्थान्तरन्यासः), तदितरसम्बन्धे काव्यलिङ्गमित्युपगमात् ।' का० प्र० उ० पृ० ८२]। विश्वनाथ पण्डितराज अथवा नागेश के तर्कों को स्वीकार नहीं करते। उन्होंने तर्क दिया है कि 'हेतु तीन प्रकार का होता है—ज्ञापक निष्पादक एवं समर्थक। जहाँ ज्ञापक हेतु का प्रयोग किया गया हो वहाँ अनुमान अलंकार मानना चाहिए, निष्पादक हेतु का प्रयोग होने पर काव्यलिङ्ग अलंकार होता है, समर्थक हेतु की स्थिति में अर्थान्तरन्यास। इस प्रकार काव्यलिङ्ग एवं अर्थान्तरन्यास के विषयैक्य की सम्भावना कथमपि नहीं है [तथा ह्यत्र हेतुस्त्रिधा भवति-ज्ञापको निष्पादकः समर्थकश्चेति। तत्र ज्ञापकोऽनुमानस्य विषयः, निष्पादकः काव्यलिङ्गस्य, समर्थकोऽर्थान्तरन्यासस्य। इति पृथगेव कार्यकारणभावेऽर्थान्तरन्यासः काव्यलिङ्गात् [सा० द० काव्यलिङ्ग]। डा० रामचन्द्र द्विवेदी के शब्दों में 'इन दो अलंकारों (काव्यलिंग एवं अर्थान्तरन्यास) तथा अनुमान का एक दूसरे से भेद हम दो भिन्न प्रकार की प्रतीतियों के विश्लेषण से भी कर सकते हैं। एक प्रतीति प्रत्याय्यप्रत्यायकभाव की होती है और दूसरी समर्थ्यसमर्थकभाव की। जहाँ अप्रतीत अर्थ का दूसरे अर्थ द्वारा प्रत्यायन होता है, वहाँ एक अर्थ प्रत्याय्य (प्रतीति कराने योग्य) होता है और दूसरा अर्थ प्रत्यायक या ज्ञापक होता है। इन दो अर्थों के इस सम्बन्ध को **प्रत्याय्यप्रत्यायकभाव** कहा जाता है। इसके विपरीत जहां अर्थ पूर्वतः प्रतीत होता है और उसका प्रत्यायन (पुनः प्रत्यायन) दूसरा अर्थ कराता है, तो उनमें एक अर्थ समर्थ्य और दूसरा समर्थक होता है, अतः इस स्थिति में (दोनों अर्थों में) **समर्थ्यसमर्थकभाव** होता है। जहाँ भी अप्रतीत का प्रत्यायन होगा। वहां सदा अनुमान अलंकार होगा। समर्थ्यसमर्थकभाव की स्थिति में कहीं तो कारणरूप या कार्यरूप पदार्थ या वाक्यार्थ परस्पर सापेक्ष होंगे और कहीं तटस्थ। हेतु के सापेक्ष और हेतुरूप में ही उपन्यास रहने पर काव्यलिङ्ग होगा, और तटस्थ वाक्यार्थ के हेतु बन जाने की स्थिति में अर्थान्तरन्यास। [अलं० स० मी० पृ० ३७०]। रुय्यक एवं विश्वनाथ के अतिरिक्त [नरेन्द्र प्रभसूरि [अ० म० ८.३७], विद्यानाथ [प्रताप० ८.२२२] भी कार्यकारणभाव की स्थिति में भी अर्थान्तरन्यास अलंकार स्वीकार

करते हैं। शेष प्रायः सभी आलंकारिक शोभाकर [अ० र० ७६] हेमचन्द्र [६.१६] जयदेव [चन्द्रा० ५.३६] संघरक्खित [सुबो० २४१] विद्याधर [एका० ८.२८] अमृतानन्द [अ० सं० ५.२५-२६] वाग्भट (वाग्भ० ४.६२) अप्पयदीक्षित (कुव० १२२) जगन्नाथ (रसगं० पृ० ५८६) चिरञ्जीव (का० वि० २.३६) भावदेव सूरि (का० मा० ६.१६) एवं नरसिंह कवि (नञ्रा० पृ० २१०) आदि ने अर्थान्तरन्यास के लक्षण में कार्यकारण भाव के आधार पर कार्य से कारण अथवा कारण से कार्य के समर्थन को अर्थान्तरन्यास में सम्मिलित नहीं किया है।

भेद-प्रभेद :—आचार्य दण्डी ने अर्थान्तरन्यास अलंकार के निम्नलिखित आठ भेद किये थे—विश्वव्यापी, विशेषस्थ, श्लेषाविद्ध, विरोधवत् अर्थात् प्रकृतविरोधी, अयुक्तकारी, युक्तात्मा, युक्तायुक्त एवं विपर्यय अर्थात् वैपरीत्यगुणयुक्त। (का० द० २.१७६)। शिलामेघसेन ने दण्डी का सर्वशः अनुगमन किया है। उद्भट ने इन भेदों की चर्चा न करके समर्थ्य एवं समर्थक के पूर्व एवं पश्चात् प्रयोग के आधार पर दो भेद स्वीकार किये थे (२.४)। कुन्तक ने इसे साधर्म्य वैधर्म्य एवं वैपरीत्य पर आश्रित मानकर इसके तीन भेद किये हैं (वक्रो० ४.७०)। रुद्रट, मम्मट, हेमचन्द्र, शोभाकर आदि सामान्य से विशेष का एवं विशेष से सामान्य का साधर्म्य अथवा वैधर्म्य के कारण समर्थन होने से इसके चार प्रकार मानते हैं। शोभाकर ने समर्थन वाचक 'हि' आदि पदों के प्रयोग होने पर शाब्द एवं प्रयोग न होने पर आर्थ प्रभेद भी स्वीकार करते हुए इसके आठ प्रकार किये हैं। संघरक्खित ने हि सहित एवं हि रहित, सामान्य अथवा विशेष का समर्थन मानकर केवल चार भेद ही माने हैं। भामह वामन एवं कुन्तक ने इसके भेदों की कोई चर्चा नहीं की है। रुय्यक ने इसके आठ प्रकार स्वीकार किये हैं। (तत्र सामान्यं विशेषस्य विशेषो वा सामान्यस्य समर्थक इति द्वौ भेदौ। तथा कार्यं कारणस्य कारणं वा कार्यस्य समर्थकमिति द्वौ भेदौ। तत्र भेदचतुष्टये प्रत्येकं साधर्म्यवैधर्म्याभ्यां भेदद्वयेऽष्टौ भेदाः। (अ० स० पृ० १३६)। हि शब्द के प्रयोग होने या न होने आदि में उन्हें कोई चारुत्व नहीं प्रतीत होता, अतः उसके आधार पर वे भेद-प्रभेद नहीं करना चाहते (हि शब्दाभिधानानभिधानाभ्यां समर्थकपूर्वोप-

न्यासोत्तरोपन्यासाभ्यां च भेदान्तरसम्भवेऽपि न तद्गणना सहृदय-हृदयहारिणी वैचित्र्यस्याभावात् । वही पृ० १३९)। इस प्रसंग में विश्वनाथ भी रुय्यक का ही अनुसरण करते हैं।

बृहत्सहायः कार्यान्तं क्षोदीयानपि गच्छति।
सम्भूयाम्भोधिमभ्येति महानद्या नगापगा: ॥

माघ कवि के (शिशु० २-१००) प्रस्तुत पद्य में बड़ों की सहायता से छोटों द्वारा भी बड़े कार्य पूर्ण हो जाते हैं, इस सामान्य अर्थ का महानदियों से मिलकर छोटी पहाड़ी नदियों का भी समुद्र तक पहुँचना रूप विशेष अर्थ से साधर्म्य द्वारा समर्थन हुआ है।

यावदर्थ्यपदां वाचमेवमादाय माधवः।
विरराम महीयांसः प्रकृत्या मितभाषिणः ॥

माघ कवि के ही (शिशु० २.१३) प्रस्तुत पद्य में अपेक्षित को कहकर कृष्ण का चुप हो जानारूपी विशेष अर्थ का 'महान् लोग स्वभाव से ही मितभाषी होते हैं' इस सामान्य अर्थ से समर्थन किया गया है।

पृथ्वि स्थिरा भव भुजङ्गम धारयैनां
त्वं कूर्मराज तदिदं द्वितयं दधीथाः।
दिक्कुंजरा कुरुत तत्त्रितये दिधीर्षां
देवः करोति हरकार्मुकमाततज्यम् ॥

प्रस्तुत पद्य में (हनुमन्नाटक १.२७) राम द्वारा शिवधनुष का चढ़ाया जाना रूप कारण पृथ्वी आदि के स्थैर्य आदि कार्यों का समर्थक है।

इत्थमाराध्यमानोऽपि क्लिश्नाति भुवनत्रयम्।
शाम्येत्प्रत्यपकारेण नोपकारेण दुर्जनः ॥

कालिदास के (कुमार संभव २.४०) प्रस्तुत पद्य में वैधर्म्य के द्वारा तारकासुर आराधना करने पर भी तीनों भुवनों को दुःखी कर रहा है, इस विशेष अर्थ का 'दुर्जन प्रत्यपकार से शान्त होता है उपकार से नहीं, इस सामान्य अर्थ के द्वारा समर्थन हो रहा है।

भारविकृत किरातार्जुनीयम् (५.३०) के—

'सहसा विदधीत न क्रियामविवेकः परमापदाम्पदम् ।
वृणुते हि विमृश्यकारिणं गुणलुब्धाः स्वयमेव सम्पदः ।'

पद्य के एक अंश 'सम्पत्ति की प्राप्ति' रूप कार्य द्वारा और 'जल्दी न करना' रूप कारण का समर्थन साधर्म्य के द्वारा तथा 'आपत्तिप्रदत्ता' रूप विरुद्ध कार्य द्वारा 'सहसा विधानाभाव' रूप कारण का वैधर्म्य के द्वारा समर्थन हो । इस प्रकार इस पद्य में साधर्म्य और वैधर्म्य दोनों का उदाहरण है।

वैधर्म्य द्वारा सामान्य का विशेष से तथा कार्य का कारण से समर्थन के उद्योतकार ने निम्नलिखित उदाहरण दिये हैं—

"गुणानामेव दौरात्म्याद्धुरिधुर्यो नियुज्यते ।
असञ्जातकिणस्कन्धः सुखं स्वपिति गौर्गलिः ।

इस पद्य में वैधर्म्य के द्वारा गुणवत्त्व रूप दोष के कार्य अत्यधिक बोझ पड़ना रूप सामान्य अर्थ का असञ्जात किणस्कन्ध होने से गौर्गलि का न जोता जाना रूप विशेष अर्थ से समर्थन किया गया है।

अन्य अलंकारों से भेद :—अर्थान्तरन्यास के समान ही समर्थ्य-समर्थकभाव यद्यपि अप्रस्तुत प्रशंसा एवं उदाहरण में भी विद्यमान रहता है, तथापि इनमें परस्पर अभेद के सन्देह की सम्भावना नहीं है। क्योंकि अप्रस्तुत प्रशंसा में अप्रस्तुत का शब्दतः कथन होता है एवं प्रस्तुत की आर्थ प्रतीति रहती है, जब कि अर्थान्तरन्यास में सामान्य या विशेष प्रस्तुत और अप्रस्तुत दोनों शब्दतः कथित होते हैं (यद्यप्यप्रस्तुत-प्रशंसायां दृष्टान्ते च समर्थ्यसमर्थकभावोपगम्यते । न तु तत्रार्थान्तर-न्यासवत् समर्थ्यसमर्थकभावस्य संभवः । अर्थान्तरन्यासे हि समर्थ्यस्य यथायोगं पूर्वोत्तरकालभावित्वेन स्वकण्ठेनोपात्तस्य समर्थनम् । अप्रस्तुतप्रशंसायां त्वप्रकृतसामर्थ्येन प्रकृतमाक्षिप्यते न तु स्वकण्ठे-नोपादीयते ।.........अतश्च तत्र सत्यपि समर्थ्यसमर्थकभावे शब्दोप-क्रान्तप्रकृतार्थनिष्ठत्वाभावान्नार्थान्तरन्यासत्वम् । लघुवृ० पृ० ३७) ।

दृष्टान्त अलंकार में अप्रस्तुत प्रशंसा के समान प्रकृत प्रतीयमान न होकर अर्थान्तरन्यास के समान ही वाच्य रहता है, तथा दोनों में समर्थ्यसमर्थक भाव भी रहता है, किन्तु फिर भी दोनों में अन्तर यह है

कि **अर्थान्तरन्यास** में समर्थ्यसमर्थकभाव के आधार पर ही अलंकारत्व (चारुत्व) निहित रहता है, जब कि **दृष्टान्त** में अलंकारत्व बिम्बप्रति-बिम्बभाव पर आश्रित रहता है; तथा वहाँ समर्थ्यसमर्थकभाव केवल आर्थ रहता है, जब कि अर्थान्तरन्यास की योजना ही समर्थ्य समर्थक-भाव पर आश्रित होती है। अतः जहां समर्थ्यसमर्थकभाव के माध्यम से उपक्रम किया गया है, वहां **अर्थान्तरन्यास अलंकार** ही होगा। वहां **दृष्टान्त** की कोई सम्भावना नहीं है। इस प्रकार दोनों के परस्पर सांकर्य की कोई संभावना नहीं है (दृष्टान्तेऽपि च द्वयोरपि समर्थ्य-समर्थकयोः स्वकण्ठेनोपात्तत्वात्सत्यपि स्वकण्ठोपात्तप्रकृतार्थनिष्ठत्वे दृष्टान्तस्य समर्थ्यसमर्थकभावपुरस्सरीकारेणाप्रवर्त्तमानत्वान्न भव-त्यर्थान्तरन्यासत्वम्। न खलु तस्य समर्थ्यसमर्थकभाव पुरस्सरीकारेण प्रवृत्तिः बिम्बप्रतिबिम्बभावमात्रस्य शब्दस्पृष्टत्वात्। अर्थाद्धि तत्र समर्थ्यसमर्थकभावावसायः। अर्थान्तरन्यासे तु समर्थ्यसमर्थकभावे-नैवोपक्रमः। तेन यत्र समर्थ्यसमर्थकभावोपक्रममर्थान्तरोपादानं तत्रा-र्थान्तरन्यासत्वाद् दृष्टान्तस्यार्थान्तरन्यासता प्रसङ्गो न भवति। लघु० पृ० ३७)।

पण्डितराज जगन्नाथ ने उपमा एवं दृष्टान्त से भिन्न एक **उदाहरण** नामक अलंकार स्वीकार किया है। उनके अनुसार 'सामान्यरूप से निरूपित अर्थ के सुगमतया बोध के लिए उसके एक देश का निरूपण किया जाता है तथा दोनों निरूपित अर्थों के बीच अवयव-अवयविभाव रहता है, उसे उदाहरण अलंकार कहते हैं (सामान्येन निरूपितस्यार्थ-स्य सुखप्रतिपत्तये तदेकदेशं निरूप्य तयोरवयवावयविभाव उच्यमान उदाहरणम्। रसगं० पृ० २१३)। इस अलंकार में अवयवावयविभाव के कथन के लिए 'इव' एवं 'यथा' इत्यादि शब्दों का प्रयोग होता है (वचनं च इव यथा निदर्शन दृष्टान्तादिशब्दैः काव्येषु स्फुटम्। रसगं० पृ० २१३) यहां अवयव और अवयवी क्रमशः विशेष और सामान्य रूप रहते हैं तथा उनमें समर्थ्यसमर्थकभाव रहता है, अतः अर्थान्तरन्यास से इसके सांकर्य की कल्पना हो सकती है। किन्तु वस्तुतः दोनों का क्षेत्र सर्वथा पृथक्-पृथक् है। (अस्मिश्चालंकारेऽवयवावयविभावबोधकस्यैव शब्दादेः प्रयोगः सामान्यविशेषयोरेकरूपविधेयान्वयश्चार्थान्तरन्यास-भेदाद्वैलक्षण्याधायक इति। रसगंगाधर भा० द्वितीय पृ० २१५।

मूल लक्षण

विष्णुधर्मोत्तर

उपन्यासस्तथान्यः स्यात्प्रस्तुताद्यत्क्वचिद् भवेत् ।
ज्ञेयः सोऽर्थान्तरन्यासः पूर्वार्थानुगतो यदि ।।

—विष्णुधर्मोत्तर पुराण १४.८

अग्नि

भवेदर्थान्तरन्यासः सादृश्येनेतरेण सः । —अग्निपुराण ३४४.२४

दण्डी

ज्ञेयः सोऽर्थान्तरन्यासो वस्तु प्रस्तुत्य किञ्चन ।
तत्साधनसमर्थस्य न्यासो योऽन्यस्य वस्तुनः ।।

—काव्यादर्श २१६६ ।

भामह

उपन्यसनमन्यस्य यदर्थस्योदितादृते ।
ज्ञेयः सोऽर्थान्तरन्यासः पूर्वार्थानुगतो यथा । —काव्यालंकार २.७१

शिलामेघसेन

वस्तु प्रस्तुत्य किञ्चन तत्साधनसमर्थस्यः ।
न्यासो योऽन्यस्य वस्तुनः ज्ञेयः सोऽर्थान्तरन्यासः । —सियवसलकुर २६२

उद्भट

समर्थकस्य पूर्वं यद् वचोऽन्यस्य च पृष्ठतः ।
विपर्ययेण वा यत्स्याद्धिशब्दोक्त्यान्यथापि वा ।।
ज्ञेयः सोऽर्थान्तरन्यासः प्रकृतार्थसमर्थनात् ।
अप्रस्तुतप्रशंसायाः दृष्टान्ताच्च पृथक् स्थितः ।।

—काव्यालंकार सार संग्रह २.४-५

वामन

उक्तसिद्धयै वस्तुनोऽर्थान्तरस्यैव न्यसनमर्थान्तरन्यासः ।

—काव्यालंकार सूत्रवृत्ति ४.३.२१

रुद्रट

धर्मिणमर्थं विशेषं सामान्यं वाभिधाय तत्सिद्ध्यै ।
यत्र सधर्मिकमितरं न्यस्येत्सोऽर्थान्तरन्यासः ।

—काव्यालंकार ८.७९

भोज

ज्ञेयः सोऽर्थान्तरन्यासः वस्तु प्रस्तुत्य किञ्चन,
तत्साधनसमर्थस्य न्यासो योऽन्यस्य वस्तुनः ।
प्रोक्तो यस्तूपन्यासोऽर्थान्तरन्यास एव सः,
स प्रत्यनीकन्यासश्च प्रतीकन्यास एव च ।।

—सरस्वती कण्ठाभरण ४.६९, ४.७१,

कुन्तक—

वाक्यार्थान्तरविन्यासो मुख्यतात्पर्यसाम्यतः ।
ज्ञेयः सोऽर्थान्तरन्यासः साधर्म्येणेतरेण वा ।

—वक्रोक्ति जीवित ३.३९

मम्मट

सामान्यं वा विशेषो वा तदन्येन समर्थ्यते ।
यत्तु सोऽर्थान्तरन्यासः साधर्म्येणेतरेण वा ।।

—काव्य प्रकाश सू० १६५ का १०९

रुय्यक

सामान्यविशेषकार्यकारणभावाभ्याम् निर्दिष्टप्रकृतसमर्थनमर्थान्तरन्यासः ।

—अलंकार सर्वस्व ३५

वाग्भट्ट प्रथम

विशेषस्य सामान्येन समर्थनमर्थान्तरन्यासः ।
साधर्म्येण वैधर्म्येण च । —काव्यनुशासन पृ० ३८

हेमचन्द्र

विशेषस्य सामान्येन साधर्म्यवैधर्म्याभ्यां समर्थनमर्थान्तरन्यासः ।

—काव्यानुशासन ६.१९ सू० १३१

शोभाकर मित्र

विशेषस्यान्येन समर्थनमर्थान्तरन्यासः । —अलंकार रत्नाकर ७६

जयदेव

भवेदर्थान्तरन्यासोऽनुषक्तार्थान्तराभिधा ।। —चन्द्रालोक ५.६६

विद्यानाथ

कार्यकारणसामान्यविशेषाणां परस्परम् ।
समर्थनं यत्र सोऽर्थान्तरन्यास उदाहृतः ।। —प्रतापरुद्रीयम् ८.२२२

संघरक्खित

जेयो सोत्थन्तरन्यासो यो ञ्ञवाक्यत्थ साधनो ।
सव्व व्यापि विसेसट्ठोहि विसिट्ठस्स भेदतो ॥ —सुबोधालंकार २४१

विद्याधर

सामान्येन विशेषः सामान्यं वा यदा विशेषेण ।
कथितः समर्थ्यतेऽर्थो भवति तदार्थान्तरन्यासः । —एकावली ८.२८

विश्वनाथ

सामान्यं वा विशेषेण विशेषस्तेन वा यदि ।
कार्यं च कारणेनेदं कार्येण च समर्थ्यते ।
साधर्म्येणेतरेणार्थान्तरन्यासोऽष्टधा मतः ।

—साहित्यदर्पण १०.६१, ६२

अमृतानन्द यति

प्रस्तुतार्थस्य सिद्धयर्थं विन्यासोऽर्थान्तरस्य यः ।
असावर्थान्तरन्यासो भिद्यते बहुधा यथा ।

—अलंकार संग्रह ५.२५-२६

वाग्भट्ट द्वितीय

उक्तिसिद्धयर्थमन्यार्थन्यासो व्याप्तिपुरस्सरः ।
कथ्यतेऽर्थान्तरन्यासः श्लिष्टोऽश्लिष्टश्च स द्विधा ॥

—वाग्भटालंकार ४.६२

अप्पयदीक्षित

उक्तिरर्थान्तरन्यासः स्यात् सामान्यविशेषयोः । —कुवलयानन्द १२२

पंडितराजजगन्नाथ

सामान्येन विशेषस्य विशेषेण वा सामान्यस्य यत्समर्थनं तदर्थान्तरन्यासः ।
—रसगंगाधर भाग तृतीय पृ० ५९६

चिरञ्जीव

भवेदर्थान्तरन्यासोऽनुषक्तार्थान्तराभिधा ॥ — काव्यविलास २.३६

नरेन्द्रप्रभसूरि

स स्मृतोऽर्थान्तरन्यासः सामान्यमितरोऽपि यत् ।
साधर्म्यवैधर्म्यवता तदन्येन समर्थ्यते ।

—अलंकार महोदधि ८.३७

भावदेवसूरि

भवेदर्थान्तरन्यासोऽर्थान्तरं प्रस्तुतानुगम् ।

—काव्यालंकार सार संग्रह ६.१९

नरसिंह कवि

सामान्यं वा विशेषेण विशेषो वा ततोऽन्यतः ।
समर्थ्यते यत्र तत्रार्थान्तरन्यास ईरितः ।

—नञ्जराजयशोभूषण पृ० २१०

भट्टदेवशंकर पुरोहित

सामान्ये प्रस्तुतेऽन्यस्य विशेषे प्रस्तुतेऽपि च ।
उक्तिरर्थान्तरन्यासोऽलंकारः कथितो बुधैः ॥ —अलंकार मंजूषा ६४

वेणीदत्त

सामान्यस्य पदार्थस्य विशेषेण समर्थनम् ।
प्रथमोऽर्थान्तरन्यासप्रकारः परिकीर्त्तितः ॥
विशेषस्य तथाऽर्थस्य सामान्येन समर्थनम् ।
द्वितीयोऽर्थान्तरन्यासप्रकारः समुदीरितः ॥

—अलंकार मंजरी ११७-११८

विश्वेश्वर

यदि सामान्यविशेषौ समर्थ्येते विशेषसामान्ये ।
साधर्म्याद्वैधर्म्यादपि वा सोऽर्थान्तरन्यासः ॥

—अलंकार मुक्तावली २८

श्रीकृष्ण ब्रह्मतन्त्र परकालस्वामी

समर्थनं विशेषस्य सामान्येनास्य येन वा ।
आहुरर्थान्तरन्यासं साधर्म्येणेतरेण वा ॥ —अलंकार मणिहार १२९

अर्थापत्ति

अर्थापत्ति अलंकार प्राचीन आचार्यों द्वारा प्रायः स्वीकृत है । सर्वप्रथम इसकी चर्चा भोज ने की है। उसके अनन्तर रुय्यक ने प्रमाण मूलक अलंकारों में इसे स्वीकार किया है। उत्तरकालीन आचार्यों में शोभाकर (८१) जयदेव (५.३७) नरेन्द्रप्रभसूरि (८.७२) विद्यानाथ (८.२२८) विद्याधर (८.५४) विश्वनाथ (१०.८३) अमृतानन्द (५.६१-६२) अप्पयदीक्षित (कुव० १२०) जगन्नाथ (तृतीय पृ० ६५०)

चिरंजीव (२.२३) एवं नरसिंह कवि आदि ने इसे स्वीकार किया है। अर्थापत्ति का लक्षण करने के लिए रुय्यक, शोभाकर, नरेन्द्रप्रभसूरि, विद्यानाथ आदि आलंकारिकों ने दण्डापूपिका न्याय की सहायता ली है। दण्डापूपिका न्याय भारतीय सामाजिक इतिहास के उस तथ्य पर आधारित है, जिस काल में अपूप (पुआ-मीठी पूड़ी का एक विशेष प्रकार) को बनाते समय मध्य में छिद्र कर देते थे। तथा उसे रखने के लिए अपूप के छिद्र में डण्डा पिरो कर उस डण्डे में टांग कर उन्हें रखते थे। 'यदि अपूप के मध्यवर्ती कठोर और नीरस डण्डे को चूहों ने खा लिया है, तो निश्चित ही उन्हें (पुओं को) चूहों ने खा डाला है। यही दण्डापूपिका न्याय का तात्पर्य है। पाणिनीय व्याकरण से इस शब्द की सिद्धि तीन प्रकार से हो सकती है। (१) 'दण्डापूपयोर्भाव:' 'दण्डापूपिका'। इस व्युत्पत्ति के अनुसार दण्ड और अपूप में द्वन्द्व समास कर के 'द्वन्द्वमनोज्ञादिभ्यश्च (पा० सू० ५.१.१३३) सूत्र से वुञ् (वुञ्>वु>अक) प्रत्यय कर के 'पृषोदरादीनि यथोपदिष्टम् (पा. सू. ६. ३. १०९) सूत्र से वृद्धि निषेध करते हुए 'अहमहमिका' पद के समान दण्डापूपिका पद सिद्ध होगा। (२) 'दण्डापूपौ विद्यते यस्यां नीतौ सा दण्डापूपिका नीति:' इस व्युत्पत्ति के अनुसार 'अहमहमिका' पद के समान ही 'अत इनिठनौ' (पा. सू. ५.२.११५) से मत्वर्थीय ठन् प्रत्यय (ठन्>ठ>इक) कर के बन सकता है। (३) इस पद की सिद्धि का तीसरा प्रकार है 'दण्डापूपाविव'। इस व्युत्पत्ति के अनुसार द्वन्द्व युक्त दण्डापूप पद से उपमार्थक कन् प्रत्यय (इवे प्रतिकृतौ। पा. सू. ५.३.९६) करके यह शब्द बन सकता है (दण्डापूपयोर्भावो दण्डापूपिका। 'द्वन्द्व-मनो ज्ञादिभ्यश्च' इति वुञ्। पृषोदरादित्वाच्च वृद्धयभाव:। यथा—अहमहमिकेत्यादाविति केचित्। अन्ये तु दण्डापूपौ विद्येते यस्यां नीतौ सा दण्डापूपिका नीति:। एवमहं शक्तोऽहं शक्तोऽस्यामिति अहम-हमिकेति मत्वर्थीयष्ठनित्याहु:। अपरे दण्डापूपिकेति इवे प्रतिकृताविति कनं वर्णयन्ति। अ. स. पृ. १९६)। जयरथ के अनुसार इन तीन प्रकारों (पक्षों) में प्रथम प्रकार ही अधिक प्रशस्त है (एतच्च पक्षत्रयं सामान्येनैवाभिदधता ग्रन्थकृता (रुय्यकेन) स्वयमेवोपपन्न: पक्ष-आश्रयणीय इतिसूचितम्। तेनात्राद्य एव पक्ष आश्रयणीय:'। विमर्शिनी पृ० १९६)। दण्डापूपिका वह तर्कप्रणाली है, जिसके अनुसार आधेय

रूप वस्तु उसी प्रकार स्वतः सिद्ध मानी जा सकती है। जिस प्रकार चूहों द्वारा किसी डंडे को खा लिये जाने पर उस पर लगे हुए माल पुए का भी खा लिया जाना (अत्र हि मूषक कर्त्तृकेण दण्डभक्षणेन तत्सहभाव्यपूपभक्षणमर्थात् सिद्धम्। एष न्यायो दण्डापूपिका शब्देनोच्यते'। ततश्च यथा दण्डभक्षणादपूपा भक्षणमर्थादायातं तद्वत्कस्यचिदर्थस्य निष्पत्तौ सामर्थ्यात्समानन्यायत्व लक्षणाद् यदर्थान्तरमापतति सार्थापतिः। अ. स. पृ. १९६-१९७)।

विद्यानाथ अप्पय दीक्षित एवं नरसिंह कवि ने कैमुतिक न्याय की सहायता से अर्थापत्ति को स्पष्ट किया है। कैमुतिक न्याय व्याप्य व्यापक भाव पर आधारित होता है अर्थात् उसमें गृहीत दो पदार्थों में से एक का विषय न्यून होता है और दूसरे का अधिक। अधिक विषय वाले पदार्थों के आक्रान्त (प्रभावित) होने पर अल्पविषय वाले पदार्थ का आक्रान्त होना स्वतः सिद्ध है। इसे ही 'अर्थात् आपत्ति' अर्थापत्ति कहा जाता है।

पंडित राज जगन्नाथ ने कैमुतिक न्याय से अर्थापत्ति का लक्षण करने में अव्याप्ति दोष की संभावना की है। इनका कहना है कि क्योंकि कौमुतिक न्याय न्यून अर्थ विषयक होता है, अतः उसे अर्थापत्ति का लक्षण मानने पर अधिकार्थापत्ति में अव्याप्ति दोष होगा (यत्तु कैमुत्येनार्थसंसिद्धिः काव्यार्थापत्तिरिष्यते' इति कुवलयानन्दकृता अस्याः लक्षणं निर्मितं तदसत्। कैमुतिकन्यायस्य न्यूनार्थविषयत्वेनाधिकार्थापत्तावव्याप्तेः। यथा—

त्वदग्रे यदि दारिद्र्यं स्थितं भूप द्विजन्मनाम्।
शनैः सवितुरप्यग्रे तमः स्थास्यत्यसंशयम्॥'

अत्र शनैः शब्दमहिम्ना राजाग्रे दारिद्र्यंस्थित्यपेक्षया सूर्याग्रे तमोवस्थानं दुःशकमेवेत्यवगतमपि न्यायसाम्यादापद्यते न तु कैमुतिकन्यायेनेति। (रसगं. भाग ३ पृ. ६५९)।

पंडितराज जगन्नाथ अर्थापत्ति की परिभाषा में तुल्यन्याय का आश्रय लेते हैं। उनके अनुसार तुल्ययुक्ति के बल पर किसी एक अर्थ की आपत्ति को अर्थापत्ति कहते हैं। (केनचिदर्थेन तुल्यन्यायत्वादर्थान्तरस्यापत्तिरर्थापत्तिः। वही भा. ३ पृ. ६५०)।

अर्थापत्ति के भेद—भोज प्रथम प्रतीत अर्थ की प्रतीति के कारण प्रत्यक्ष आदि को आधार मानकर छ प्रकार की अर्थापत्ति स्वीकार करते हैं (सर्वप्रमाणपूर्वकत्वादेकशोऽनेकशश्च सा। प्रत्यक्ष पूर्वका इत्यादि भेदैः षोढा निगद्यते। स. कं. ३.५३)। रुय्यक, विद्यानाथ, विश्वनाथ एवं नरसिंह कवि प्रकृत से अप्रकृत एवं अप्रकृत से प्रकृत अर्थ की आपत्ति के आधार पर दो-दो प्रकार की ही अर्थापत्ति मानते हैं। नरेन्द्र-प्रभसूरि इन दो के अतिरिक्त श्लिष्ट अर्थापत्ति नामक तृतीय प्रकार भी स्वीकार करते हैं। जगन्नाथ के अनुसार अर्थापत्ति के निम्नलिखित चौबीस प्रकार हो सकते हैं—प्रकृत से प्रकृत, अप्रकृत से अप्रकृत, प्रकृत से अप्रकृत और अप्रकृत से प्रकृत। इन चारों भेदों में अर्थान्तर के सम, न्यून और अधिक होने पर (४ × ३ = १२) बारह प्रभेद तथा उनमें भी अर्थ के भाव और अभाव रूप होने से चौबीस प्रकार होंगे (सा च प्रकृतेन प्रकृतस्य, अप्रकृतेन अप्रकृतस्य, प्रकृतेनाप्रकृतस्य, अप्रकृतेन प्रकृतस्येति तावच्चतुर्भेदा। प्रत्येकञ्च अर्थान्तरस्य साम्यन्यूनाधिक्यै-र्द्वादशविधा। ततो भावाभावत्वाभ्यां चतुर्विंशति भेदाः। (रस गं. भा. ३ पृ० ६५०)।

शोभाकर उपर्युक्त में प्रथम बारह भेदों को स्वीकार करते हैं तथा उनमें उन्होंने संभव होने पर असम्भव तथा असम्भव होने पर सम्भव भेद से चौबीस तथा प्रत्येक में शब्द और अर्थ भेद की कल्पना करके अड़तालिस भेद गिनाकर और भी अनेक भेदों की संभावना व्यक्त की है (······द्वादशभेदाः। तत्रापि सम्भवेऽसंभवोऽसम्भवे च सम्भवइति चतुर्विंशतिः। अत्रापि शाब्दत्वार्थत्वादि भेदाद् बहवो भेदाः। अ. र. पृ. १३६)।

विश्वनाथ अर्थापत्ति के केवल दो भेद मानते हैं :—प्रकृत से अप्रकृत एवं अप्रकृत से प्रकृत। इन भेदों के श्लेष मूलक होने पर इनमें और अधिक चारुत्व आ जाता है ऐसी इनकी मान्यता है।

हारोऽयं हरिणाक्षीणां लुठति स्तनमण्डले।
मुक्तानामप्यवस्थेयं के वयं स्मर किंकरा॥

पद्य में प्राकरणिक से अप्राकरणिक का अर्थापत्ति से बोध हो रहा है।

विललाप स वाष्पगद्गदं सहजामप्यपहाय धीरताम्।
अतितप्तमयोऽपि मार्दवं भजते कैव कथा शरीरिणाम्।

इस पद्य में अप्राकरणिक अयस् वृत्तान्त से प्राकरणिक गजवृत्तान्त की स्वाभाविकता का अर्थापत्ति से बोध होता है।

स्मरणीय है कि दर्शनशास्त्र के क्षेत्र में मीमांसकों द्वारा स्वीकृत प्रमाण अर्थापत्ति का वैशेषिक सांख्य और न्याय परम्परा के अनुयायी अनुमान में अन्तर्भाव करते हैं। इसी आधार पर अर्थापत्ति अलंकार के अनुमान अलंकार में अन्तर्भाव की कल्पना हो सकती है। इस आशंका का समाधान देते हुए रुय्यक का कथन है कि समान न्याय कोई सम्बन्ध नहीं है, जबकि अनुमान में व्याप्ति (साहचर्य नियम = नियत सम्बन्ध) का होना अनिवार्य है। तथा नियत सम्बन्ध के अभाव में अनुमान की उत्थापना नहीं हो सकती (नचेदमनुमानम्, समन्यायस्य सम्बन्धरूपत्वाभावात्। असम्बन्धे चानुमानानुत्थानात्। अ. स. पृ. १९७)।

दण्डापूपिका न्याय के मूल में स्वीकृत दण्ड के खा लेने पर अपूपों (पुओं) का खा लिया जाना यद्यपि समान न्याय के कारण स्वाभाविक और उचित अवश्य है, तथापि निश्चित नहीं है। कदाचित् यह असम्भव नहीं है कि प्रवेश का स्थान का ऐसा हो कि पुओं पर पहुंचने का मार्ग न होने से चूहे को पहले दण्ड भक्षण ही करना पड़े, अथवा किसी और कारण से वह पुए न खा सकें। अतः दोनों को पूर्णतः पृथक्-पृथक् ही मानना चाहिए (दण्डभक्षणे ह्यपूपभक्षणं समानन्यायत्वादुचितमपि न निश्चितमेव। दण्डभक्षणेऽपि पृथक् प्रवेशावस्थानादिना केनापि निमित्तेनापूपानाम् भक्षणास्याप्य भावात्। अनुमानं पुनर्नियतमेवार्थान्तरस्यापतनमित्यस्याः पृथग्भावः। विमर्शिनी पृ. १९७)।

इसके अतिरिक्त अनुमान के लिए यह भी आवश्यक है कि एक ही पक्षरूप पदार्थ में साध्य एवं हेतु विद्यमान रहे। अन्यथा भिन्न अधिकरण में साध्य और हेतु के रहने पर अनुमान का होना सम्भव नहीं है। जबकि अर्थापत्ति में हेतु और साध्य समान अधिकरण में वर्णित नहीं होते (नाप्यनुमाने। अर्थापत्तिर्निविशते)। आपाततोऽर्थस्यापादकं समानाधिकरणत्वमेव व्याप्यत्व-पक्षधर्मत्वयोर्दूरापास्तत्वात्। न च

येन कारणेनैकार्थसिद्धिस्तेनैव लिङ्गेन परार्थानुमानमिति वाच्यम् अर्थान्तरसिद्धेरनुमित्यात्मकता विरहात्। रसगं. ३ पृ. ६५७)।

अर्थापत्ति अलंकार मीमांसकों के अर्थापत्ति प्रमाण से भिन्न है। मीमांसकों द्वारा स्वीकृत अर्थापत्ति वहां होती है जहां आपतित होने वाले अर्थ के बिना आपादक अर्थ की अनुपपत्ति रहती है। उदाहरणार्थ 'पीनो देवदत्तो दिवा न भुंक्ते चेत् रात्रिभोजनमर्थादापद्यते' को लें। यहां दिन में न खाने पर भी मोटा होना उपपादक अर्थ है। जो रात्रि भोजन के बिना अनुपपन्न है, अत: प्रथम से दूसरे की कल्पना होती है, किन्तु आलंकारिकों की अर्थापत्ति में इस प्रकार की अनुपपत्ति नहीं है, अत: मीमांसकों की अर्थापत्ति में अलंकारिकों की अर्थापत्ति का अन्तर्भाव सम्भव नहीं है। **'मीमासका: यामेकामर्थापत्तिमङ्गीकुर्वन्ति तत्रापाद्यं विनाऽऽपादकस्यानुपपत्तिर्भवति। यथा पीनो देवदत्तो दिवा न भुंक्ते' इत्यत्र भोजनं विनाऽनुपपन्नेन पीनत्वेन दिवा अभुञ्जानस्य देवदत्तस्य रात्रिभोजनमापद्यते। आलंकारिकाभिमतायामर्थापत्तौ तु नापाद्यं विनाऽऽपादकस्यानुपपत्ति:।** रसगंगाधर चन्द्रिका पृ. ६५७)। इसलिए अर्थापत्ति को आलंकारिक स्वतन्त्र अलंकार के रूप में स्वीकार करते हैं।

मूल लक्षण

भोज

प्रत्यक्षादिप्रतीतोऽर्थो यस्तथा नोपपद्यते।
अर्थान्तरं गमयत्यर्थापत्तिं वदन्ति ताम्। —सरस्वती कण्ठाभरण ३.५२

रुय्यक

दण्डापूपिकयार्थान्तरपतनमर्थापत्ति:। —अलंकार सर्वस्व ६४

शोभाकर मित्र

दण्डापूपिकयापतनमर्थापत्ति:॥ —अलंकार रत्नाकर ८१

जयदेव

अर्थापत्ति: स्वयं सिध्येत्पदार्थान्तरवर्णनम्। —चन्द्रालोक ५.३७

विद्यानाथ

एकस्य वस्तुनो भावाद्यत्र वस्त्वन्यदापतेत्।
कैमुत्यन्यायत: सा स्यादर्थापत्तिरलंक्रिया॥

—प्रतापरुद्रीयम् ८.२२८

विद्याधर

दण्डापूपिकया यत्स्यादेवार्थान्तरापतनम् ।
अर्थापत्तिरियं सा कथितालंकारपारगैर्द्वेधा । —एकावली ८.५५

विश्वनाथ

दण्डापूपिकयान्यार्थागमोऽर्थापत्तिरिष्यते ।। —साहित्यदर्पण १०.८३

अमृतानन्दयति

दृष्टः श्रुतोऽपि वा योऽर्थः स्वस्यैवानुपपत्तितः ।
प्रसूतेऽर्थान्तरे बुद्धि सार्थापत्ति र्मता यथा ।।
—अलंकारसार संग्रह ५.६१-६२

अप्पयदीक्षित

(कैमुत्येनार्थसंसिद्धिः काव्यार्थापत्तिरिष्यते)
अष्टौ प्रमाणालंकाराः प्रत्यक्षप्रमुखाः क्रमात् ।
—कुवलयानन्द १२०, १७१

पण्डितराज जगन्नाथ

केन चिदर्थेन तुल्यन्याय त्वादर्थान्तरस्यापत्तिरर्थापत्तिः ।
—रसगंगाधर भाग तृतीय पृ० ६५०

चिरंजीव

अर्थापत्तिः स्वयं सिद्ध्येत्पदार्थान्तरवर्णनात् ।। —काव्य विलास २.२३

नरेन्द्रप्रभसूरि

प्रस्तुतादितरस्माच्च दण्डापूपिकया बलात् ।
योऽर्थादर्थान्तरन्यासः सार्थापत्तिर्द्विधा मता ।।—अलंकार महोदधि ८.७२

नरसिंह कवि

एकस्य वस्तुनो भावाद्यत्र वस्त्वन्यदापतेत् ।
कैमुतन्यायतस्सा स्यादर्थापत्तिरलंक्रिया ।। —नञ्जराजयशोभूषण पृ०२११

श्रीकृष्ण ब्रह्मतन्त्र परकालस्वामी

अन्यथाऽनुपपत्त्या यत्किंचिदर्थस्य कल्प्यते ।
अर्थान्तरं तां कथयन्त्यर्थापत्तिविचक्षणाः ।। —अलंकार मणिहार १७६

अल्प

अल्प अलंकार को केवल अप्पयदीक्षित ने ही स्वीकार किया है, अन्य किसी भी आलंकारिक ने इसकी स्वीकृति अथवा अस्वीकृति का

संकेत नहीं किया है। उनके अनुसार सूक्ष्म आधेय की अपेक्षा भी आधार की सूक्ष्मता का कथन किया गया हो, वहां **अल्प अलंकार** होना चाहिए। इस प्रकार के कथन में व्यञ्जना द्वारा किसी विशेष अर्थ की प्रतीति भी अवश्य अभिप्रेत होती है, इस व्यङ्ग्यार्थ संश्लेष के कारण ही अल्पता कथन में चारुत्व की प्रतीति होती है, और ऐसे निबन्धन को **अल्प अलंकार** के नाम से स्वीकार किया जाता है।

'मणिमालोर्मिका तेऽद्य करे जपवटीयते ॥

यहां किसी विरहिणी के हाथ में मणिमालामयी मुद्रिका, जो अत्यन्त सूक्ष्म है, की अपेक्षा हाथ की अतिशय सूक्ष्मता का कथन विवक्षित है, जिसके फलस्वरूप वह मालिका जपवटी (जप करने की माला) हुई जा रही है। इस समरूप कथन में उस नायिका की विरहकृशता व्यङ्ग्य है। इसी कारण अप्पयदीक्षित के अनुसार यहां **अल्प अलंकार** माना जाएगा (ततोऽपि करस्य विरहकार्श्यादति सूक्ष्मता दर्शिता। कुवलयानन्द पृ० १६७)। स्मरणीय है कि दीक्षित ने लक्षण वाक्य में व्यङ्ग्य अर्थ की ओर कोई संकेत नहीं किया है, यद्यपि उदाहरण में चारुत्व का विश्लेषण करते हुए वे इसकी ओर संकेत अवश्य करते हैं।

मूल लक्षण

अप्पयदीक्षित—अल्पं तु सूक्ष्मादाधेयाद्यदाधारस्य सूक्ष्मता।

—कुवलयानन्द ६७

अवज्ञा

अवज्ञा अलंकार की चर्चा जयदेव, अप्पय दीक्षित पंडितराज जगन्नाथ एवं चिरञ्जीव ने की है। पंडितराज के अनुसार किसी गुण अथवा दोष के आधार पर अन्य के गुणदोष का आधान उल्लास अलंकार कहा जाता है। (अन्यदीयगुणदोषप्रयुक्तमन्यस्य गुण-दोषयोराधानमुल्लासः। रस गंगाधर भा. ३ पृ. ७३७), तथा इसका विपर्यय अवज्ञा अलंकार कहाता है। जयदेव अप्पयदीक्षित एवं चिरञ्जीव ने भी इसे उल्लास का विपर्यय ही माना है, तथापि उन्होंने लक्षण करते हुए उल्लास का कोई संकेत न कर गुण अथवा दोष की

स्थिति में भी अन्य में लाभ या हानि का अभाव होने पर दो प्रकार का **अवज्ञा अलंकार** माना है।

१. स्वल्पमेवापि लभते प्रस्थं प्राप्यापि सागरम्।
२. कूपे पश्य पयोनिधावपि घटो गृह्णाति तुल्यं जलम्।

प्रस्तुत पद्यों में प्रस्थपरिमाण का पात्र (घट) सागर में पहुंच कर भी उतना ही जल ग्रहण कर पाता है, अर्थात् सागर की अतिशय विशालता रूप गुण का कोई लाभ नहीं है। इस प्रकार का कथन होने से **अवज्ञा अलंकार** होगा। इसी प्रकार—

'मीलन्ति यदि पद्मानि का हानिरमृतद्युते.।'

पद्य में मीलनरूपदोष से भी चन्द्र में विकार का न होना निबद्ध होने से यहां द्वितीय प्रकार का अवज्ञा अलंकार माना जाएगा।

मूल लक्षण

जयदेव—अवज्ञा वर्ण्यते वस्तु गुणदोषाक्षमं यदि। —चन्द्रालोक ५.१०२

अप्पयदीक्षित—ताभ्यां तौ यदि न स्यातामवज्ञालंकृतिस्तु सा।
—कुवलयानन्द १३६

पंडितराजजगन्नाथ—तद्विपर्ययो (उल्लासविपर्ययो) अवज्ञा।
—रसगंगाधर भाग ३. पृ. १७४

चिञ्जीव—अवज्ञा वर्ण्यते वस्तु गुणदोषाक्षमं यदि।
—काव्यविलास १.५४

श्रीकृष्ण ब्रह्मतन्त्र परकालस्वामी—
न स्यातां यदि ते ताभ्यां साऽवज्ञालंकृतिर्भवेत्।
—अलंकार मणिहार—१३८

अवरोह

अवरोह अलंकार को केवल शोभाकर मित्र ने स्वीकार किया है। यह वर्धमान अलंकार का प्रतिपक्षी अलंकार है। उनके अनुसार स्वरूप अथवा धर्म का आधिक्य अर्थात् क्रमशः (उत्तरोत्तर) वृद्धि का निबन्धन होने पर **वर्धमानक अलंकार** होता है। तथा इसका विपर्यय अर्थात् रूप अथवा धर्म के उत्तरोत्तर अपचय का निबन्धन होने पर **अवरोह**

अलंकार होता है। क्योंकि यह अपचय स्वरूप अथवा गुणों का हुआ करता है, अतः इस आधार पर इसे दो प्रकार का मानना चाहिए।

आदावम्बुनिधिस्ततश्च सरसी तस्मात्सरः पल्वलं
पश्चात्पुष्करिणी ततोऽथ विमलं कुण्डं ततो वापिका।
तस्माद् गर्त्तमनन्तरं च चुलकस्सम्पद्यमानः क्षणात्
दृष्टो येन महार्णवः कथमसौ कुम्भोद्भवः कथ्यताम्॥

प्रस्तुत पद्य में समुद्र के स्वरूप का क्रमशः अपचय निबद्ध है, अतः यहां **अवरोह अलंकार** माना जाएगा।

मूल लक्षण

शोभाकार—विपर्ययेऽवरोहः। —अलंकाररत्नाकर ६४

अवसर

अवसर अलंकार को केवल काव्यालंकारकार रुद्रट एवं वाग्भटालंकारकार वाग्भट ने ही स्वीकार किया है। इनके अनुसार प्रसङ्गतः किसी अर्थ की चर्चा होने पर उसी प्रसङ्गवश अत्यन्त उत्कृष्ट अथवा सरस अर्थ का निबन्धन होने पर **अवसर अलंकार** स्वीकार किया जाता है। उत्कृष्ट अथवा सरस अर्थ का निबन्धन क्योंकि अवसर उपस्थित होने के कारण ही किया गया होता है, अतः इस अलंकार का **अवसर** अभिधान अन्वर्थ है।

तदिदमरण्यं यस्मिन् दशरथवचनानुपालयन्व्यसनी।
निवसन्बाहुसहायश्चकार रक्षः क्षयं रामः॥

इस पद्य में पूर्व प्रसङ्गतः अरण्य वर्णन प्राप्त होने पर अरण्य वर्णन के अवसर से ही पिता दशरथ के वचन पालन में तत्पर राम द्वारा बिना विशेष साधनों के ही राक्षस विनाशरूप उत्कृष्ट अर्थ का निबन्ध किया गया है; अतः यहां **अवसर अलंकार** है।

मूल लक्षण

रुद्रट—अर्थान्तरमुत्कृष्टं सरसं यदि वोपलक्षणं क्रियते।
अर्थस्य तदभिधानप्रसङ्गतो यत्र सोऽवसरः॥
—काव्यालंकार ७.१०३

वाग्भट द्वितीय—यत्रार्थान्तरमुत्कृष्टं सम्भवत्युपलक्षणम् ।
प्रस्तुतार्थस्य स प्रोक्तो बुधैरवसरो यथा ॥
—वाग्भटालंकार ४.१२४

अशक्य

अशक्य कार्यकारणभावमूलक अलंकार है। **विशेषोक्ति** एवं **व्याघात** के समान इस अलंकार में भी अपेक्षित परिस्थितियों में कार्य सम्पन्न नहीं होता। इनमें परस्पर अनन्तर यह है **विशेषोक्ति** में समस्त कारणों के रहने पर भी फल की उत्पत्ति दिखाई नहीं देती (विशेषोक्ति खण्डेषु कारणेषु फलावचः) जबकि **व्याघात** में जिन कारणों से कार्य की उत्पत्ति सुनिश्चित मानी जाती है, वही कारण उसके विनाश के लिए निबद्ध किया होता है। (उत्पत्तिविनाशयोरेकोपायत्वे व्याघातः। अलं. र. ६४) इसके विपरीत **अशक्य अलंकार** में शक्यकारण प्रतिबन्धक आदि के कारण अपने कार्य की उत्पत्ति में समर्थ नहीं हो पाता।

क्वचिद् झिल्लीनादः क्वचिदतुलकाकोलकलहः,
क्वचित्कङ्कारावः क्वचिदपि कपीनां कलकलः।
क्वचिद् घोरः फेरुध्वनिरयमहो दैवघटना
कथंकारं तारं क्वणतु चकितः कोकिलयुवा॥

इस पद्य में वसन्त में भी कोकिल क्वणित के अभाव में झिल्लीनाद आदि का प्रतिबन्धक होना निबद्ध है, अतः यहां **अशक्य** अलंकार है।

इस अलंकार को शोभाकर के अतिरिक्त किसी आलंकारिक ने स्वीकार नहीं किया है।

मूल लक्षण

शोभाकर—प्रतिबन्धकादेर्विधानासामर्थ्यमशक्यम् ॥
—अलंकार रत्नाकर ६५

असंगति

असंगति अलंकार विरोधमूलक अलंकारों में है। इस अलंकार में कारण और कार्य का भिन्न देश में निबन्धन होता है। कारण समान अधिकरण में ही कार्य को उत्पन्न करता है, किन्तु इसके विपरीत भिन्न

अधिकरण में कारण से कार्य की उत्पत्ति का निबन्धन होने पर **असङ्गति अलंकार** माना जाता है। इसकी सर्वप्रथम विवेचना हमें रुद्रट कृत काव्यालंकार में प्राप्त होती है। रुद्रट के तत्काल उत्तरवर्ती भोज ने इसे विरोध के अन्तर्गत ही रखना उचित समझा है (विरोधस्तु पदार्थानां परस्परमसङ्गतिः। असंगतिः प्रत्यनीकमधिकं विषमश्च सः'। स. कं. ३.२४) उत्तरवर्ती आलंकारिकों में हेमचन्द्र संघरक्खित अमृतानन्द योगी वाग्भट द्वितीय शौद्धोदनि तथा केशवमिश्र को छोड़कर प्रायः सभी ने इसे स्वीकार किया है। इसके स्वरूप के विषय में कोई विशेष विवाद नहीं है। इतना अवश्य है कि शोभाकर के अतिरिक्त सभी आचार्यों ने इसे केवल कार्यकारण के भिन्नदेशत्व में स्वीकार किया है। जबकि शोभाकर भिन्नदेशत्व के समान भिन्न काल में भी कार्यकारण का निबन्धन होने पर असङ्गति को स्वीकार करते हैं। (तयोर्देशकालान्यत्वमसङ्गतिः। अ. ५५)।

पंडितराज जगन्नाथ ने भिन्न देशत्व के स्थान पर व्यधिकरण पद का प्रयोग किया है (विरुद्धत्वेनापाततो भासमानं हेतुकार्ययोर्वैयधिकरण्यमसङ्गतिः। रसगं. भा. ३, ४६४) जिससे भिन्नदेशत्व के समान ही भिन्नकालत्व को भी लिया जा सकता है, किन्तु उन्होंने जो उदाहरण प्रस्तुत किये हैं वे सभी **भिन्नदेशत्व** के ही हैं, भिन्न कालत्व के नहीं; अतः यह कहना अनुचित न होगा कि वे भी अन्य आचार्यों के समान **भिन्न देशत्व** में ही **असंगति** स्वीकार करते हैं।

असंगति अलंकार के भेद प्रभेदों की चर्चा आचार्यों ने प्रायः नहीं की है। केवल शोभाकर मित्र ने इसके आठ भेद स्वीकार किये हैं ('तत्रैकदेशत्वेन प्रसिद्धस्य कार्यस्य भिन्नदेशत्वं, भिन्नदेशस्याभिन्नदेशता, पश्चात्कालभाविनः पूर्वकालता, सहभावित्वं वा, समानान्तरभाविनश्चिरकालीनता विपर्ययो वा ऐहिकस्यामुत्रिकत्वम्, अन्यथा वा इत्यष्टौ भेदाः। अ. २. पृ. ९६)

पण्डितराज जगन्नाथ ने शुद्ध और श्लिष्ट भेद से दो प्रकार से असङ्गति को उद्धृत किया है।

सा बाला वयमप्रगल्भवचसः सा स्त्री वयं कातराः
सा पीनोन्नतिमत्पयोधरयुगं धत्ते सखेदा वयम्।

साक्रान्ता जघनस्थलेन गुरूणा गन्तु न शक्ताः वयम्
दोषैरन्यजनाश्रितैरपटवो जाताः स्म इत्यद्भुतम् ।।

प्रस्तुत पद्य (अमरु शतक ३४) में कार्यभूत अप्रगल्भता कातरता खेदवत्ता एवं गमन में असामर्थ्य वक्ता नायक में है, जबकि इनके कारण बालात्व स्त्रोत्व भारवत्व (पयोधर भारवत्व) गुरुभाराक्रान्तत्व (गुरुजघनाक्रान्तत्व नायिका में है। इस प्रकार कार्य और इनके कारणों की योजना पृथक् पृथक् देश में होने से यहां **असङ्गति अलंकार** है।

यहां यह ध्यान देने योग्य है कि बालभाव से उत्पन्न अप्रगल्भता तथा प्रेमजन्य अप्रगल्भता परस्पर भिन्न भिन्न है, यहां उनमें अभेद प्रतीति होने से ही असङ्गति हो सकती है (क्योंकि यहां वस्तुतः प्रेम-जन्य अप्रगल्भता का कार्य रूप में निबन्धन हुआ है तथा उसके कारण का निबन्धन न होकर बालभावजन्य अप्रगल्भता के कारण बालात्व का भिन्न देश में होना वर्णित है। अतः यहां भेदे अभेदरूपा अतिशयोक्ति भी विद्यमान है। (अत्र बाल्यनिमित्तप्रगल्भवचनत्वमन्यदन्यच्च स्मरनिमित्तकमित्यनयोरभेदाध्यवसायः एवमन्यत्र ज्ञेयम्। अ. सं. पृ. १६४)।

इसीलिए जयरथ की मान्यता है 'इस (असंगति) अलंकार के मूल में अनुप्राणक रूप से अभेदाध्यवसायमूला अतिशयोक्ति अवश्य रहा करती है, अन्यथा ऐसे स्थलों में विरोध को मानना अपरिहार्य हो जायगा ("……अभेदाध्यवसाय इति। अनेनातिशयोक्तिरस्या अप्यनुप्राण-कत्वेन कटाक्षिता। अन्यथा विरोधो दुष्परिहारः स्यात्। विमर्शिनी पृ. १६४)।

पंडितराज जगन्नाथ असंगति के स्थलों में अतिशयोक्ति को मानना आवश्यक नहीं समझते। इसके लिए उन्होंने अभेदाध्यवसान के सम्पर्क से सर्वथा मुक्त असंगति का उदाहरण भी प्रस्तुत किया है (अस्यां च विभावनायामिव कार्याऽतिशयोक्त्यनुप्राणनमावश्यकम्। अन्यथा विरोधो दुष्परिहर एव स्यात्, इत्यलंकारसर्वस्वकारादीनां मतम्। तच्च—

"दृष्टिर्मृगीदृशोत्यन्तं श्रुत्यन्तपरिशीलिनी ।
मुच्यन्ते बन्धनात्केशाः विचित्रा वैधसी गतिः ।।"

इत्यस्मिन्निर्मितोदाहरणे व्यभिचारादसङ्गतम् । न हि 'मुच्यन्ते बन्धनात्केशा:' इत्यत्र केशबन्धनमुक्त्यंशेऽतिशयोक्तिरस्ति। किन्तु श्लेषमिति कार्याभेदाध्यवसानमात्रम्। तस्माद्येन केनापि प्रकारेण कार्यांशेऽभेदाध्यवसानमावश्यकमिति तु सङ्गतम्। रसगं. भाग ३. पृ. ४६६)

असङ्गति एवं विरोध अलंकार भी परस्पर सर्वथा भिन्न हैं। विरोध अलंकार उत्सर्ग (सामान्य) रूप है तथा असङ्गति विभावना एवं विशेषोक्ति के समान अपवाद (विशेष) रूप है। तथा जैसा कि अन्यत्र कहा जा चुका है 'अपवादविषयपरिहारेणोत्सर्गस्य अवस्थिति:' नियम के अनुसार असङ्गति के विषय को छोड़कर ही विरोध अलंकार होगा। अत: जहां असङ्गति अलंकार के लक्षण का विषय होगा वहां विरोध को बाधकर असङ्गति अलंकार ही होगा। विरोध अलंकार वहीं माना जाता है, जहां भिन्न-भिन्न स्थानों पर रहने वाली दो वस्तुओं को एक स्थल पर बताया जाये। इसके ठीक विपरीत एक अधिकरण में रहने वाली दो वस्तुओं को जब भिन्न भिन्न अधिकरण में बताया जाय तो वहां असङ्गति अलंकार होता है। (**'एषा च विरोधबाधिनी, न विरोध: भिन्नाधारतयैव द्वयोरिह विरोधितायाः प्रतिभासात्। विरोधे तु विरोधित्वम् एकाश्रयनिष्ठमनुक्तमपि पर्यवसितम्, अपवादविषयपरिहारेणोत्सर्गस्य व्यवस्थितेः।'** का. प्र. पृ. ७८०)

पण्डितराज जगन्नाथ ने भी इस तथ्य को इसी रूप में स्वीकार किया है "व्यधिकरणत्वेन प्रसिद्धयोः समानाधिकरणत्वेनोपनिबन्धने विरोधालंकार:। समानाधिकरणत्वेन प्रसिद्धयोर्द्वयोर्वैयधिकरण्येनोपनिबन्धनेऽसङ्गति:।" (रस गं. पृ. ४७२)

असङ्गति एवं विभावना में मुख्य अन्तर यह है कि विभावना में कारण से उत्तरभावी कार्य का निबन्धन तो रहता है, किन्तु उसके उत्तरभावी कार्य का निबन्ध नहीं होता। तथा चारुत्व कारणों के रहने पर भी कार्य के अभाव होने में रहता है। पण्डितराज जगन्नाथ के अनुसार असङ्गति गत दो पदार्थों के बीच कार्य कारण भाव का होना आवश्यक नहीं है, किन्तु उन्हें परस्पर सम्बद्ध एवं एकाश्रित रूप से सुविदित होना चाहिए। साथ ही उन्हें भिन्नाधिकरणरूप से निबद्ध भी

होना चाहिए।

प्रयुक्तासङ्गतिलक्षणे हेतु कार्ययोरिति समानाधिकरणमात्रोपलक्षणम्। तेन 'नेत्रं निरञ्जनं तस्याः शून्यास्तु वयमद्भुतम्' इत्यत्र निरञ्जनत्वशून्यत्वयोरुत्पाद्योत्पादकभावलक्षणसम्बन्धानन्तर्भाविन प्रसिद्धयोरप्यसङ्गतिः सङ्गच्छते। यथाश्रुते तु सा न स्यात्।

(रस. गं. भाग ३, पृ. ४७२)

मूल लक्षण

रुद्रट

विस्पष्टे समकालं कारणमन्यत्र कार्यमन्यत्र।
यस्यामुपलभ्येते विज्ञेयाऽसंगतिः सेयम्। —काव्यालंकार ९.४८

मम्मट

भिन्नदेशतयात्यन्तं कार्यकारणभूतयोः।
युगपद् धर्मयोर्यत्र ख्यातिः सा स्यादसङ्गतिः।
—काव्य प्रकाश सू० १९१ का० १२४

रुय्यक

तयोस्तु: (कार्यकारणयो) भिन्नदेशत्वेऽसंगतिः।
—अलंकार सर्वस्व ४४, पृ० १६३

वाग्भट प्रथम

यत्र कार्यकारणयोर्युगपद् भिन्नदेशतयोपलम्भः सा असङ्गति।
—काव्यानुशासन, पृ० ४४

शोभाकरमित्र

तयोः देशकालान्यत्वमसंगतिः॥ — अलंकार रत्नाकर ५५

जयदेव

आख्याते भिन्नदेशत्वे कार्यहेतोरसङ्गतिः। —चन्द्रलोक ५.७७

विद्यानाथ

कार्यकारणयोर्भिन्नदेशत्वे सत्यसंगतिः। —प्रतापरुद्रीयम् ८.१५६

विद्याधर

एषाऽसङ्गतिरुक्ता हेतोः कार्यस्य भिन्नदेशत्वे।
—एकावली ८.३८

विश्वनाथ

कार्यकारणयोर्भिन्नदेशतायामसङ्गतिः। —साहित्य दर्पण १०.६६

अप्पयदीक्षित

(१) विरुद्धं भिन्नदेशत्वं कार्यहेत्वोरसङ्गतिः।
(२) अन्यत्र करणीयस्य ततोऽन्यत्र कृतिश्च सा।
(३) अन्यत्कर्तुं प्रवृत्तस्य तद्विरुद्धकृतिश्च सा॥

—कुवलयानन्द ८५, ८६, ८७

पंडितराज जगन्नाथ

विरुद्धत्वेनापाततो भासमानं हेतुकार्ययोः वैयधिकरण्यमसङ्गतिः।

—रसगंगाधर भा० ३, पृ० ४६४

चिरञ्जीव

अख्यातभिन्नदेशत्वे कार्यहेत्वोरसङ्गतिः। —काव्यविलास २.४१

नरेन्द्रप्रभसूरि

कार्यकारणयोर्भिन्नदेशतायान्त्वसङ्गतिः। —अलंकार महोदधि ८.५१

भावदेवसूरि

असङ्गतिरसौ यत्र कार्यमन्यत्र कारणात्। —काव्यालंकार संग्रह ६.२६

नरसिंह कवि—असङ्गतिर्हेतुफले भिन्नाधिकरणे यदि।

—नञ्राजयशोभूषण पृ० १६५

भट्ट देवशंकर

(१) विरुद्धं भिन्नदेशत्वं कार्यहेत्वोर्निबध्यते।
यत्र तत्र प्रगदितासङ्गतिः सङ्गतैर्बुधैः॥
(२) अन्यत्र करणीयस्याप्यधिकरणान्तरे कृतिः।
कर्तव्यार्थविरुद्धस्य करणं साप्यसङ्गतिः॥

—अलंकार मंजूषा ५६,६०

विश्वेश्वर

हेतुव्यधिकरणं चेत्कार्यं स्यात्सात्वङ्गति प्रोक्ता॥

—अलंकार मुक्तावली ४१

श्रीकृष्णब्रह्मतन्त्रपरकालस्वामी

भिन्नाधिकरणत्वं यद्विरुद्धं हेतु कार्ययोः।
वर्ण्यते तमलंकारं प्राज्ञाः प्राहुरसंगतिम्॥ —अलंकार मणिहार ६६

वेणीदत्त

भिन्नदेशगतत्वेन कार्यकारणभूतयोः।
अर्थयोरभिधाने स्यादसङ्गतिरलङ्कृति। —अलंकार मञ्जरी १७६

असम्भव

असम्भव अलंकार को केवल अप्पय दीक्षित, चिरञ्जीव, भट्ट देवशंकर पुरोहित एवं परकाल स्वामी इन चार आलंकारिकों ने ही स्वीकार किया है। इन सभी आलंकारिकों के अनुसार अर्थनिष्पत्ति की असंभाव्यता का वर्णन होने पर **असंभव अलंकार** होता है।

प्रमाण मूलक **सम्भव** अलंकार से विपरीत स्थिति इस अलंकार में रहा करती है। उस अलंकार में सम्भाव्यता का कथन शाब्द और आर्थ दोनों प्रकार से हो सकता है, किन्तु इस अलंकार में असम्भाव्यता का कथन शाब्द ही होना चाहिए।

मूल लक्षण

अप्पयदीक्षित—

असम्भवोऽर्थनिष्पत्तेरसंभाव्यत्ववर्णनम्। —कुवलयानन्द ८४

चिरञ्जीव

असम्भवोऽर्थनिष्यत्तावसंभाव्यत्ववर्णनम्॥ —काव्यविलास २.४०

भट्ट देवशंकर पुरोहित

असम्भाव्यार्थनिष्पत्तौ असम्भाव्यत्ववर्णनम्।
क्रियते यत्र तत्रोक्ताऽसम्भवाऽलङ्कृतिः बुधैः॥

—अलंकार मञ्जूषा ५८

श्रीकृष्ण ब्रह्मतन्त्रपरकालस्वामी

असंभाव्यत्वकथनमर्थासिद्धेरसंभवः॥ —अलंकार मणिहार ६८

असम

असम सादृश्य मूलक अलंकार है, यद्यपि इसमें प्रस्तुत के सादृश्य की सर्वथा असंभाव्यमानता विवक्षित रहती है। सदृश के अभाव की यह विवक्षा **अनन्वय अलंकार** में भी रहती है, किन्तु अनन्वय में प्रस्तुत को उपमान और उपमेय दोनों के रूप में निबद्ध करते हुए सादृश्य के अभाव की प्रतीति व्यञ्जना द्वारा ही करायी जाती है, जबकि **असम अलंकार** में सादृश्य का अभाव वाच्य और व्यङ्ग्य दोनों हो सकता है। **अनन्वय** का इससे मुख्य अन्तर यह है कि अनन्वय में प्रस्तुत का

ही उपमान और उपमेय के रूप में निबन्धन अनिवार्यतः रहता है, असम में यह स्थिति नहीं होती। यद्यपि दोनों में ही सादृश्य की असंभावना की प्रतीति कराना कवि को अभिप्रेत रहता है।

'ढुण्ढुलायमानो मरिष्यसि कण्टककलितानि केतकिवनानि।
मालतीकुसुमसदृशं भ्रमर भ्रमन्नपि न प्राप्स्यसि॥'

तथा—

'भ्रमर भ्रमता दिगन्तराणि क्वचिदासादितमीक्षितं श्रुतं वा।
वद सत्यमपास्य पक्षपातं यदि जातीकुसुमानुकारि पुष्पम्॥'

यहां प्रथम पद्य में मालती कुसुम की समता का अभाव वाच्य है, जबकि द्वितीय में जाती कुसुम के सदृश पुष्प का अभाव व्यङ्ग्य है।

शोभाकर पंडितराज जगन्नाथ एवं श्रीकृष्ण ब्रह्मतन्त्र परकाल स्वामी के अतिरिक्त किसी अन्य आचार्य ने इस अलंकार को स्वीकार नहीं किया है।

मूल लक्षण

शोभाकर मित्र

तद्विरहो (उपमान विरहो) असमः। —अलंकार रत्नाकर १०

जगन्नाथ

सर्वथैवोपमा निषेधोऽसमाख्योलङ्कारः॥

—रसगंगाधर भा० ३ पृ० ४००

श्रीकृष्णब्रह्मतन्त्रपरकालस्वामी

उपमायास्सर्वथैव निषेधोऽसम उच्यते।
प्राञ्चो नेदमङ्कारान्तरमित्येव मन्वते॥ —अलंकार परिहार २६

असम्बन्धातिशयोक्ति

अतिशयोक्ति अलंकार को भरत को छोड़कर प्रायः सभी आलंकारिकों ने स्वीकार किया है। लोकातिक्रान्त कथन इस अलंकार का जीवातु है। इस कथन के मूल में औपम्य एवं कार्यकारण भाव में अन्यतर का रहना अनिवार्य है। इनमें से औपम्यमूला अतिशयोक्ति को साध्यवसाना लक्षणा के समानान्तर समझा जा सकता है, जहां

आरोप्यमाण एवं आरोपविषय में अभेद के प्रत्यायन के लिए आरोप्य-माण द्वारा आरोप विषय का निगरण हो जाता है। अर्थात् दोनों में अभेद अध्यवसित होता है, तथा इस अभेद अध्यवसान की ही प्रधानता रहती है। कार्यकारण भावमूला अतिशयोक्ति में कारण-कार्य के सुनिश्चित पौर्वापर्य में विपर्यय होता है। यह विपर्यय दो प्रकार का हो सकता है—कारण कार्य की समकालिकता अथवा कारण से कार्य का पूर्वभाव। अतिशयोक्ति अलंकार के सामान्यतः पांच प्रकार माने जाते हैं—(१) अभेद में भेद, (२) भेद में अभेद, (३) सम्बन्ध में असम्बन्ध, (४) असम्बन्ध में सम्बन्ध, (५) कारण-कार्य के पौर्वापर्य का विपर्यय। (विशेष विवरण के लिए **अतिशयोक्ति** प्रकरण देखें।)

असम्बन्धातिशयोक्ति वस्तुतः स्वतन्त्र अलंकार न होकर अति-शयोक्ति के पूर्व परिगणित भेदों में तृतीय भेद मात्र है। अप्पय दीक्षित ने इसे स्वतन्त्र अलंकार के रूप में स्वीकार किया है।

मूल लक्षण

अप्पयदीक्षित

योगेऽप्ययोगोऽसम्बन्धातिशयोक्तिरितीर्यते ।। —कुवलयानन्द ४०

अहेतु

अहेतु अलंकार को केवल रुद्रट भोज एवं वाग्भट प्रथम ने स्वीकार किया है। इन तीनों में भी इसके स्वरूप के सम्बन्ध में ऐकमत्य नहीं है। रुद्रट एवं वाग्भट के अनुसार विकार उत्पन्न करने के सबल हेतु रहने पर भी जहां विकार का अभाव निबद्ध हो वहां **अहेतु अलंकार** होता है, विकार के अभाव को इस योजना के पीछे अर्थ की स्थिरता प्रधान रूप से विवक्षित रहती है।

रूक्षेऽपि पेशलेन प्रखलेऽप्यखलेन भूषिता भवता।
वसुधेयं वसुधाधिप ! मधुरगिरा परुषवचनेऽपि ।।

इस पद्य में स्तूयमान वसुधाधिप में रूक्ष भाव, खलता एवं परुष-भाषिता रूप विकारों की उत्पत्ति के लिए रूक्ष अतिशय खल एवं परुष-भाषी प्रतिपक्षी का विद्यमान होना सबल हेतु है, तथापि उसके गाम्भीर्य

(स्थिरता) के द्योतन के लिए संभावित विकारों का अभाव निबद्ध किया गया है, अतः यहां रुद्रट एवं वाग्भट के अनुसार **अहेतु अलंकार** माना जाएगा। इस अलंकार योजना द्वारा मुख्य प्रतिपाद्य राजा का स्थैर्यगुण है।

भोज के अनुसार किसी हेतु का अपना कार्य न कर सकने में वस्तु का अपना स्थैर्य आदि धर्म का भी कारण हो सकता है और हेतु की निजशक्ति की हानि भी। दोनों ही स्थितियों में **अहेतु अलंकार** माना जा सकता है। उनके अनुसार **अहेतु** के दो प्रकार होते हैं, **व्याहत** और **कारणमाला**। अनेक आचार्यों द्वारा स्वीकृत **कारणमाला अलंकार** **अहेतु** से सर्वथा अभिन्न है। इनके अनुसार जिस प्रकार हेतु के अभिधीयमान होने पर अहेतु अलंकार होता है, उसी प्रकार प्रतीयमान होने पर भी हो सकता है।

मूल लक्षण

रुद्रट —बलवति विकारहेतो सत्यपि नैवोपगच्छति विकारम्।
यस्मिन्नर्थः **स्थैर्यान्मन्तव्योऽसावहेतुरिति** ॥

—काव्यालंकार ९.५४

भोज —वस्तुनो वा स्वभावेन शक्तेर्वा हानिहेतुना।
अकृतात्मीयकार्यः स्याद् अहेतुः व्याहतस्तु यः।
यस्तु कारणमालेति हेतुसन्तान उच्यते।
पृथक्पृथगसामर्थ्यात्सोऽप्यहेतो र्न भिद्यते ॥

—सरस्वती कण्ठाभरण ३.१८-१९

वाग्भट प्रथम
विकारहेतावप्यविक्रतिरहेतुः ॥ —काव्यानुशासन पृ० ४४

आक्षेप

आक्षेप अलंकार प्राचीनतर एवं सर्व स्वीकृत अलंकारों में से एक है। दण्डी भामह एवं अग्निपुराण से इसका विवेचन प्रारम्भ होकर शौद्धोदनि को छोड़कर प्रायः सभी आचार्यों द्वारा इसका विवेचन किया गया है। यद्यपि इसके लक्षण के सन्दर्भ में आचार्यों में मुख्यतः तीन परम्पराएं दृष्टिगत होती हैं। दण्डी के अनुसार प्रतिषेध का कथन

आक्षेप कहाता है वह चाहे उक्तविषयक हो या वर्तमानविषयक अथवा कुछ और । प्रतिषेधोक्तिराक्षेपः त्रैकाल्यापेक्षया त्रिधा । अथास्य पुनराक्षेप्यभेदानन्त्यादनन्तता (का० द० २.१२०) । इनके अनुसार यह आक्षेप धर्म का भी हो सकता है धर्मी का भी, कारण का भी हो सकता है और कार्य का भी। कभी-कभी उनके अनुसार यह आशीः, परुष वचन, साचिव्य, यत्न परवशता, उपाय, रोष, अनुक्रोश, अनुशय, संशय, एवं अर्थान्तर आदि अनेक प्रकार का हो सकता है (का० द० २.१२१-१६८)। दण्डी द्वारा वर्णित इन आक्षेप प्रकारों को देख कर कहा जा सकता है कि अनुक्त की अध्याहार द्वारा प्रतीति अर्थात् अभिधेयार्थ से अतिरिक्त अर्थ की प्रतीति आक्षेप अलंकार है। दण्डी के इस तात्पर्य को अग्निपुराणकार ने कुछ अधिक स्पष्ट कर दिया है कि शब्द श्रुति से अलभ्य अर्थ जहां प्रकट होता है, वह **आक्षेप** अलंकार है। क्योंकि वहां ध्वनि (व्यंजना) के द्वारा अर्थ की प्रतीति होती है, अतः उसे आक्षेप ध्वनि भी कह सकते हैं (श्रुतेरलभ्यमानोऽर्थो यस्माद् भाति सचेतनः। स आक्षेपो ध्वनिः स्याच्च ध्वनिना व्यज्यते यतः । अग्नि पु० ३४५.१४) शिलामेघसेन (१७६) रुद्रट (८.३९) अमृतानन्द (५.२४.२५) केशव मिश्र आदि आचार्य दण्डी का अनुसरण करते हुए ही आक्षेप का लक्षण करते हैं।

वामन के अनुसार उपमान का आक्षेप **आक्षेप अलंकार** कहलाता है (उपमानाक्षेपश्च आक्षेपः। का० सू० वृ० ४.३.२७)। इस सूत्र को स्पष्ट करते हुए वामन ने वृत्ति में दो अर्थ किये हैं—(१) उपमान का आक्षेप अर्थात् प्रतिषेध। (उपमानस्य आक्षेपः प्रतिषेधः उपमानाक्षेपः तुल्यकार्येऽर्थस्य नैरर्थक्यविवक्षायाम् । वही पृ० १४३)। इसमें उपमान का प्रतिषेध करते हुए कवि का विवक्षित सदृश वस्तु के निर्माण का निरर्थकत्व बताना रहता है। जैसे यदि इसका मुख है, तो पूर्ण चन्द्रमा की कोई आवश्यकता नहीं है इत्यादि। (२) उपमान की आक्षेपवशात् अर्थात् काकु या व्यंजना द्वारा प्रतीति आक्षेप अलंकार है (उपमानस्य आक्षेप आक्षेपतः प्रतिपत्तिरिति सूत्रार्थः। वही पृ० १४३)।

हेमचन्द्र के अतिरिक्त वामन की आक्षेप परिभाषा को किसी ने भी स्वीकार नहीं किया है। यद्यपि वह भी इस परिभाषा से परिभाषित आक्षेप को आक्षेप का एक प्रकार मानते हैं, साथ ही भामह

स्वीकृत आक्षेप को भी स्वीवार करते हैं, जिस का अग्रिम पंक्तियों में वर्णन किया जाएगा।

भामह एवं उद्भट के अनुसार विशेष अभिधान के लिए इष्ट अर्थात् वक्ष्यमाण या उक्त का प्रतिषेध सा करना आक्षेप अलंकार है। (प्रतिषेध इवेष्टस्य यो विशेषाभिधित्सया। आक्षेपः। इति। काव्य० २.६८। का० सा० सं० २.२)। भामह प्रवर्तित आक्षेप के इस स्वरूप को अधिकांश परवर्ती अलंकारिकों ने स्वीकार किया है (द्रष्टव्य का० प्र० १०६-१०७। अ० स० पृ० १४४। चन्द्रा० ५.१७। प्रताप० ८.१६६। सुबोधा० २३७। अ० म० ८.४६। एका० ५.२४, २५। वाग्भ० ४.७५। कुव० ७३ रसगं० भा० ३ पृ० ४०२। का० सा० सं० ६.१६। नञरा० पृ० २०३)। कुन्तक हेमचन्द्र एवं शोभाकर ने भी शब्दान्तर से भामह की परम्परा को ही स्वीकार किया है (वक्रो० ३४०। काव्यानु० ६.११ अ० र० ४८) विश्वनाथ भी इसी परम्परा का अनुसरण करते हैं।

आक्षेप अलंकार में उक्त अथवा वक्ष्यमाण इष्ट का निषेध वास्तविक न होकर आभासमात्र रहता है। रुय्यक के शब्दों में आक्षेप अलंकार में प्रकृत का वर्णन प्राकरणिक होने के कारण ही अभीष्ट है, अतएव इस प्रकार के वर्णनीय का निषेध करना संगत नहीं लगता। फलतः शब्दतः निषेध करने पर भी स्वरूपतः बाधित होने के कारण केवल निषेध की तरह प्रतीत होता है, अतः निषेधाभास बन जाता है। इस निषेध का प्रयोजन प्रस्तुत में विशेष की प्रतीति कराना ही होता है। अन्यथा एक बार कथन और पुनः निषेध से वह हाथी के स्नान की भांति निरर्थक ही हो जाएगा (इह प्राकरणिकोऽर्थः प्राकरणिकत्वादेव वक्तुमिष्यते। तथाविधस्य विधानार्हस्य निषेधः कर्त्तुं न युज्यते। सः कृतोऽपि बाधितस्वरूपत्वान्निषेधायते इति निषेधाभासः सम्पन्नः। तस्यैतस्य करणं प्रकृतगतत्वेन विशेषप्रतिपत्त्यर्थम्। अन्यथा गजस्नानतुल्यं स्यात्। अ० स० पृ०१४४-१४५) दूसरे शब्दों में आक्षेप में जो अर्थ इष्ट होता है, उसी का निषेध किया जाता है, किन्तु निषेध वहां संगत नहीं प्रतीत होता, अतः वह निषेध असत्य प्रतीत होता है जिसके फलस्वरूप विशेष अर्थ की प्रतीति होती है।

इस प्रकार आक्षेप के चार अंग हैं—इष्ट अर्थ, निषेध कथन

और उसकी असंगति तथा विशेष अर्थ की प्रतीति (एवं च आक्षेपे इष्टार्थः, तस्य निषेधः, निषेधस्यानुपपद्यमानत्वादसत्यत्वं, विशेषप्रतिपादनञ्चेति चतुष्टयमुपयुज्यते । अ० स० पृ० १४८)। जहां निषेध वास्तविक होता है अथवा जो कुछ कहा गया है उसका ही निषेध किया गया हो तथा वह निषेध ही विवक्षित हो, वहां आक्षेप अलंकार नहीं होता। उदाहरणार्थ—

"साहित्यपाथोनिधिमन्थनोत्थं कर्णामृतं रक्षत हे कवीन्द्राः।
यत्तस्य दैत्या इव लुण्ठनाय काव्यार्थचौराः प्रगुणीभवन्ति ।।
गृह्णन्तु सर्वे यदि वा यथेच्छं नास्ति क्षतिः कापि कवीश्वराणाम्।
रत्नेषु लुप्तेषु बहुष्वमर्त्यैरद्यापि रत्नाकर एव सिन्धुः ।।

—विक्रमाङ्कदेव चरितम् १.११-१२

इन पद्यों में प्रथम में काव्यरूपी अमृत की सुरक्षा करने को कहकर द्वितीय में उसका निषेध कर दिया गया है कि लोग इच्छानुसार काव्य-अमृत को ग्रहण करें। इस प्रकार यहां पूर्व कथित का निषेध वास्तविक निषेध है निषेधाभास नहीं, अतः यहां आक्षेप अलंकार न होगा। इसलिए रुय्यक ने स्पष्ट कहा है कि यहां न निषेध का विधान होता है और न विहित का निषेध, किन्तु निषेध के माध्यम से विधि का आक्षेप किया जाता है। यह निषेध अवास्तविक होता है तथा अन्ततः विधि में पर्यवसित हो जाता है (तेन न निषेधविधिः, न विहितनिषेधः, किन्तु निषेधेन विधेराक्षेपः। निषेधस्यासत्त्वात् विधिपर्यवसानात् ।' अ० स० पृ० १४७-१४६)। इसे ही मल्लिनाथ ने भी स्वीकार किया। 'यत्र विधिपर्यवसायी निषेध-आभासो भवति स आक्षेपस्य विषयः। यत्र तु निषेधस्य स्वार्थे एव विश्रान्तिः न तत्राक्षेप इति।" (तरला एकावली व्याख्या) पृ० २७४]

स्मरणीय है कि आक्षेप अलङ्कार में यद्यपि निषेध के आधार पर प्रतीत होने वाला अर्थ व्यङ्ग्य होता है, किन्तु यह व्यङ्ग्यार्थ प्रधान नहीं होता। केवल कथन प्रकार के कारण चारुत्व की अनुभूति होती है। अतः आक्षेप स्थल को ध्वनि काव्य न मान कर गुणीभूत व्यङ्ग्य काव्य ही माना जाता है। इस प्रसङ्ग में आनन्द वर्धन का निम्नलिखित कथन स्मरणीय है –

"आक्षेपेऽपि व्यङ्ग्यविशेषाक्षेपिणो वाच्यस्यैव चारुत्वम्। प्राधा-

न्येन वाक्यार्थाक्षेपोक्तिसामर्थ्यादेव ज्ञायते । तथाहि तत्र शब्दोपारुढ-रूपो विशेषाभिधानेच्छया प्रतिषेधरूपो च आक्षेपः स एव व्यंग्यविशेष-माक्षिपन्मुख्यं काव्यशरीरम् । चारुत्वोत्कर्षनिबन्धना हि वाच्यव्यंग्ययोः प्राधान्यविवक्षा ।" —ध्वन्या पृ० ५६

आक्षेप अलंकार के भेद—दण्डी ने आक्षेप अलंकार के वृत्त (भूत), वर्त्तमान, भविष्यद्, धर्म-धर्मी, कारण-कार्य, अनुज्ञा, प्रभुत्व, अनादर, आशीर्वचन, परुष, साचिव्य, यत्न, परवश उपाय, रोष, मूर्च्छा अनुक्रोश श्लिष्ट अनुशय अर्थान्तर और हेतु आक्षेप नाम से अनेक भेद किये थे। रुद्रट के अनुसार उपमान के निषेध द्वारा उपमान का आक्षेप और विरुद्ध का आक्षेप भेद से आक्षेप दो प्रकार है। भामह और रुद्रट ने वक्ष्यमाण और उक्त भेद से आक्षेप के दो प्रकार माने थे। रुय्यक ने भी भामह के समान आक्षेप के प्रथम दो भेद किये हैं। किन्तु उन के अनुसार उक्तविषयक आक्षेप में कहीं वस्तु का निषेध किया जाता है और कहीं वस्तु के कथन का। वक्ष्यमाण विषयक आक्षेप में तो वस्तु के कथन का ही निषेध किया जाता है, वस्तु का नहीं। वस्तु कथन का यह निषेध कहीं सामान्य का कथन होने पर विशेष को लेकर होता है और कहीं अंश का कथन हो जाने पर अंशान्तर की दृष्टि से होता है।

तत्रोक्तविषये आक्षेपे क्वचिद् वस्तु निषिध्यते। तच्च सामान्य-प्रतिज्ञायां क्वचिद् विशेषनिष्ठत्वेन निषिध्यते क्वचित्पुनरंशोक्ता-वंशान्तरगतत्वेनेत्यत्रापि द्वौ । तदेवमस्य चत्वारो भेदाः ।

—अ० स० पृ० १४६।

विश्वनाथ ने रुय्यक के इस विभाजन को अविकल रूप से स्वीकार किया है।

स्मरशरशतविधुरायाः भणामि सख्याः कृते किमपि।
क्षणमिह विश्रम्य सखे निर्दयहृदयस्य किं वदाम्यथवा ।।

प्रस्तुत पद्य में 'भणामि' पद से सामान्यतः सूचित का 'किं वदामि अथवा' द्वारा विशेष का निषेध किया गया है। इस निषेध से यह सूचित होता है कि शीघ्र ही आप को पता चलेगा कि तुम्हारे वियोग की व्यथा से पीड़ित मेरी सखी अर्थात् तुम्हारी प्रेयसी मृत्यु को प्राप्त हो गयी; अतः उचित है कि ऐसा होने से पूर्व ही तुम उसकी विरह व्यथा

को दूर कर दो। यह वक्ष्यमाण विषयक आक्षेप है।

'तव विरहे' इत्यादि वक्ष्यमाण विषयक आक्षेप में 'हन्त नितराम्' अंश तो कह दिया गया है। किन्तु दूसरा अंश 'मरिष्यति' (मर जाएगी) नहीं कहा गया है। यहां वक्ता द्वारा नायिका की मरणदशा का स्व-मुख से कह पाना सम्भव नहीं हो पा रहा है!

बालअ णाहं दूती तुअ प्पियोसि त्ति ण मह वावारो।
सा मरइ तुज्झ अअसो एअं धम्मक्खरं भणिमो॥
[बालक नाहं दूती तस्याः प्रियोऽसीति न मम व्यापारः।
सा म्रियते तवायश एवं धर्माक्षरं भणामः॥]

प्रस्तुत प्राकृत पद्य में उक्त कथन का निषेध किया गया है जिससे इस विशेष अर्थ की प्रतीति हो रही है कि 'वक्ता दूती है और यह संदेश लायी है कि श्रोता की प्रेयसी विरह व्यथा से मरणासन्न है अतः तत्काल उपाय करना आवश्यक है।

तव विरहे हरिणाक्षी निरीक्ष्य नवमालिकां दलिताम्।
हन्त नितान्तमिदानीमाः किं हत जल्पितैरथवा॥

इस पद्य में उक्त कथन का निषेध किया गया है यहां कथन निषेध से 'विरह व्यथिता जो नायिका विरह वश निशा व्यतीत नहीं कर पा रही है तुम्हारे विदेश गमन (दारुण कर्म) पर, जिसके लिए तुम प्रस्तुत हो रहे हो, कैसे जी सकेगी। अतः तुम्हारा विदेश के लिए प्रस्थान उचित नहीं है, यह अर्थ व्यञ्जना द्वारा प्रतीत होता है।

मूल लक्षण

अग्नि

(१) श्रुतेरलभ्यमानोऽर्थो यस्माद् भाति स चेतनः।
स आक्षेपो ध्वनिः स्याच्च ध्वनिना व्यज्यते यतः।
शब्देनार्थेन यत्रार्थं कृत्वा स्वयमुपार्जनम्।

(२) प्रतिषेध इवेष्टस्य यो विशेषाभिधित्सया तमाक्षेपं ब्रुवन्त्यत्र।
—अग्निपुराण ३४५.१५-१६

दण्डी

प्रतिषेधोक्तिराक्षेपस्त्रैकाल्यापेक्षया त्रिधा। —काव्यादर्श २.१२०

भामह

प्रतिषेध इवेष्टस्य यो विशेषाभिधित्सया ।
आक्षेप इति तं सन्तः शंसन्ति द्विविधं यथा । —काव्यालंकार २.६८

उद्भट

प्रतिषेध इवेष्टस्य यो विशेषाभिधित्सया ।
आक्षेप इति तं सन्तः शंसन्ति कवयः सदा ॥
निषेधेनेव तद्बन्धो विधेयस्य च कीर्त्तितः ।
—काव्यालंकार सार संग्रह २.२,२.३

वामन

उपमानाक्षेपश्चाक्षेपः । —काव्यालंकार सूत्र वृत्ति ४.३.२७

रुद्रट

यस्तु प्रसिद्धमिति यद् विरुद्धमिति वास्य वचनमाक्षिप्य अन्यत्तथात्व-
सिद्ध्यै यत्र ब्रूयात्स आक्षेपः । —काव्यालंकार ८.८९

भोज

विधिनाऽथ निषेधेन प्रतिषेधोक्तिरत्र या ।
शुद्धा मिश्रा च साक्षेपो **रोधो नाक्षेपतः** पृथक् ।
क्रियासूत्तिष्ठमानस्य वारणं कारणेन यत् ।
उक्त्या युक्त्या च रोधो यः आक्षेपः सोऽयमुच्यते ।
—सरस्वती कण्ठाभरण ४.६७

कुन्तक

निषेधच्छाययाक्षेपः कान्ति प्रथयितुं पराम् ।
आक्षेप इति स ज्ञेयः प्रस्तुतस्यैव वस्तुनः ॥
—वक्रोक्ति जीवित ३.४०

मम्मट

निषेधो वक्तुमिष्टस्य यो विशेषाभिधित्सया ।
वक्ष्यमाणोक्तविषयः स आक्षेपो द्विधा मतः ।
— काव्यप्रकाश सू० १६१. का० १०६-७

रुय्यक

उक्तवक्ष्यमाणयोः प्राकरणिकयोर्विशेषप्रतीत्यर्थं निषेधाभास आक्षेपः ।
अनिष्ट विध्याभासश्च । —अलंकार सर्वस्व ३८, ३९.

वाग्भट्ट प्रथम

प्रतिषेधपुरःसरोक्तिराक्षेपः । —काव्यानुशासन पृ० ६८

हेमचन्द्र

विवक्षितस्य निषेध इवोपमानस्याक्षेपश्चाक्षेपः ।
—काव्यानुशासन ६.११, सू० १२३

शोभाकरमित्र

इष्टनिषेध आक्षेपः । —अलंकार रत्नाकर ४८

जयदेव

आक्षेपस्तु प्रयुक्तस्य प्रतिषेधो विचारणात् ।। —चन्द्रालोक ५.७०

विद्यानाथ

विशेषबोधायोक्तस्य वक्ष्यमाणस्य वा भवेत् ।
निषेधाभासकथनमाक्षेपः स उदाहृतः ।
समानार्थतयाऽनिष्टविध्याभासोप्याक्षेप इत्यभ्युपगम्यते ।
—प्रतापरुद्रीयम् ८.१९६, ८-२०१

संघरक्खित

विसेसवचनिच्छाय निसेधवचनं तु यं ।
आक्खेपो नाम सोऽयं च तिधा कालप्पभेदतो । —सुबोधालंकार २३७

विद्याधर

कमपि विशेषं वक्तुं प्रकृतस्योक्तस्य वक्ष्यमाणस्य ।
यः प्रतिषेधाभासः कथितः सोऽयं द्विधाक्षेपः । —एकावली ८.३१

विश्वनाथ

वस्तुनो वक्तुमिष्टस्य विशेषप्रतिपत्तये ।
निषेधाभास आक्षेपो वक्ष्यमाणोक्तगो द्विधा ।। —साहित्य दर्पण १०

अमृतानन्दयति

आक्षेपः प्रतिषेधोक्तिः कालधर्मादिकात्मनाम् ।
आक्षेप्यानामनन्तत्वादाक्षेपोऽपि तथा यथा ।
—अलंकार संग्रह ५.२४-२५

वाग्भट्ट द्वितीय

उक्तिर्यत्र प्रतीतिर्वा प्रतिषेधस्य जायते ।
आचक्षते तमाक्षेपालंकारं विबुधा यथा । —वाग्भटालंकार ४.७५

अप्पयदीक्षित

(१) आक्षेपः स्वयमुक्तस्य प्रतिषेधो विचारणात्।
(२) निषेधाभासमाक्षेपं बुधाः केचन मन्यते।
(३) आक्षेपोऽन्यो विधौ व्यक्ते निषेधे च तिरोहिते।

—कुवलयानन्द ७३,७४,७५

केशवमिश्र

एकेनापरस्यान्यथासिद्धिराक्षेपः। —अलंकार शेखर

पंडितराज जगन्नाथ

निषेधमात्रमाक्षेपः।······सव्यङ्ग्यो निषेधः सर्वोप्याक्षेपालंकारः॥

—रसगंगाधर तृतीय पृ० ४•२

चिरञ्जीव

आक्षेपस्तु प्रयुक्तस्य प्रतिषेधो विचारणात्॥ —काव्यविलास २.३८

नरेन्द्रप्रभसूरि

(१) उक्तस्य वक्ष्यमाणस्य वक्तुमिष्टस्य बध्यते।
विशेषाय यो निषेध इवाक्षेपः स लक्षितः।
तदिष्टस्य निषेध्यत्वमाक्षेपोक्ते निबन्धनम्।
सौकर्येणान्यकृतये न निषेधकता पुनः।
(२) स्याद्विधिरिवानिष्ट वस्तुनः सोऽपि चापरः।

—अलंकार महोदधि ८.४७, ४८

भावदेवसूरि

आक्षेपो विविधत्वे नोक्तस्य युक्त्या निषेधनात्।

—काव्यालंकार संग्रह ६.१६

नरसिंह कवि

विशेषबोधायोक्तस्य वक्ष्यमाणस्य वा भवेत्।
निषेधबाधकथनमाक्षेपः स उदाहृतः। —नञ्राजयशोभूषण पृ० २०३

भट्ट देवशंकर

(अ) प्रथमं स्वयमुक्तस्य प्रतिषेधोविचारणात्।
विधीयते यत्र तत्राक्षेपालङ्कार इष्यते॥
(आ) निषेधः स्यात्तदाक्षेपो निषेधो यदि बाधितः।
अन्यार्थे पर्यवसन्नो विशेषाक्षेपको भवेत्।

(इ) विधिर्व्यक्तीकृतो यत्र निषेधेन तिरोहितः।
भवेत्तत्राप्यलङ्कार आक्षेपः कथितो बुधैः।

—अलंकार मञ्जूषा ४६, ५०, ५१

विश्वेश्वर

इष्टस्याप्यभिधातुं योऽर्थस्य विशेषबोधाय।
स्वयमेव प्रतिषेधः स वक्ष्यमाणोक्तविषय आक्षेपः॥

—अलंकार मुक्तावली २५

श्रीकृष्णब्रह्मतन्त्रपरकालस्वामी

स आक्षेपो भवेत्स्वोक्तिनिषेधो यो विमर्शतः।
निषेधो यो बाधितस्सन् विशेषं कंचिदाक्षिपेत्॥

—अलंकार मणिहार ६२

वेणीदत्त

यः प्राकरणिकत्वेन वचनार्हस्य वस्तुनः।
शब्दगत्या निषेधः स्यात् स आक्षेपः प्रकीर्त्तितः।

—अलंकार मञ्जरी १०३

आगम

आगम अलंकार प्रमाण मूलक अलंकारों में अन्यतम है, इसे केवल भोज, अमृतानन्दयोगी, अप्पयदीक्षित एवं भट्टदेवशंकर पुरोहित ने स्वीकार किया है। इनमें भी दीक्षित एवं पुरोहित ने इसका कोई स्पष्ट लक्षण नहीं किया है, केवल इसे स्वीकार कर उदाहरण प्रस्तुत किया है। शेष दोनों आचार्यों द्वारा प्रस्तुत लक्षण दार्शनिकों द्वारा परिभाषित आगम (शब्द) प्रमाण के लक्षण से अधिक भिन्न नहीं हैं।

दार्शनिकों में चार्वाक वैशेषिक एवं बौद्धों के अतिरिक्त सभी सम्प्रदायों के दार्शनिक इसे स्वीकार करते हैं। उनके अनुसार यथार्थ वक्ता पुरुष को आप्त कहते हैं, तथा आप्तपुरुष के वचन को **आगम** अथवा **शब्द प्रमाण** कहते हैं। भोज एवं अमृतानन्द ने शब्द प्रमाण के उपर्युक्त लक्षण को ही अपनी शब्दावली में प्रस्तुत किया है। इस प्रकार के कथनों में चारुत्वातिशय का बोध सहृदय काव्य-पाठक को होता है

अथवा नहीं इस पर आज भी प्रश्न चिह्न ही बना हुआ है। (द्रष्टव्य शब्द प्रमाण)

मूल लक्षण

क. आप्तोदेशः शब्दः। —न्यायसूत्र पृ. १.१.७ ग.

ख. साक्षात्करणमर्थस्याप्तिः, तया प्रवर्त्तते इत्याप्तः ॥

—न्याय भाष्य पृ. ११

ग. आप्तवाक्यं शब्दः। —तर्कभाषा पृ. ४७

भोज—यदाप्तवचनं तद्धि ज्ञेयमागमसंज्ञया ॥—सरस्वती कण्ठाभरण ३.४६

अमृतानन्दयोगी—यथार्थदर्शिनः पुंसो यथादृष्टार्थवादिनः।
उपदेशः परार्थों यः आगमः स मतो यथा ॥

—अलंकार संग्रह ५.५६-६०

अप्पयदीक्षित—अष्टौ प्रमाणालंकाराः प्रत्यक्षः प्रमुखाः क्रमात् ॥

—कुवलयानन्द १७१

भट्ट देवशंकर पुरोहित—लक्षण नहीं उदाहरणमात्र।

आदर

आदर अलंकार शोभाकर द्वारा उद्भावित अलंकारों में अन्यतम है। परवर्ती आलंकारिकों में इस अलंकार को किसी ने भी स्वीकार नहीं किया है। शोभाकर मित्र के अनुसार जहां एक बार छोड़े हुए की पुनः स्वीकृति का निबन्धन हो वहां **आदर अलंकार** माना जाएगा। त्यक्त की स्वीकृति की तीन स्थितियां हो सकती हैं :—(१) अधिक गुण युक्त की प्राप्ति के लिए किसी का त्याग किया गया, उसको ही त्याग के अनन्तर पुनः स्वीकार करना। (२) सामान्यरूप से ही (त्याग के हेतु का निबन्धन किये बिना ही) त्यक्त को पुनः स्वीकार करना (३) दूसरे द्वारा त्यक्त की स्वीकृति। क्योंकि तीनों ही स्थिति में त्यक्त के स्वीकार में स्वीक्रियमाण का आदर होता है, अतः उसके निबन्धन को आदर अलंकार माना जाएगा और उसके तीन प्रकार होंगे।

सम्पत्ति आवि खज्जइ पण्णच्छेएसु पुत्ति को दोसो।
णिअपइणा वि रमिज्जइ पर पुरिस विवज्जिए गामे ॥

(सम्पत्तिकाऽपि खाद्यते पर्णच्छेदेषु पुत्रि को दोषः ।
निज पतिनापि रम्यते परपुरुषविवर्जिते ग्रामे ।।)

प्रस्तुत पद्य में अधिक गुणयुक्त की प्राप्ति के लिए प्रथम परित्यक्त सम्पत्ति का एवं निज पति का पुनः ग्रहण किया गया है; अतः यहां **आदर अलंकार** का प्रथम प्रकार है।

अधिनोद्वकुलस्सदाधिकं यो मधुगण्डूषसमर्पणेन भृङ्गी।
स तदा गिरिजातनयातिभृङ्गी मधुगण्डूषः सवताचकाङ्क्ष ।।

प्रस्तुत पद्य में भृङ्गीजनों द्वारा समर्पित (त्याग किये हुए) मधुगण्डूष का उनके द्वारा ही ग्रहण हुआ है, अतः यहां आदर अलंकार का द्वितीय प्रकार है।)

यत्सशब्दमिति कामविमर्दे नूपुरं परिहरन्ति रमण्यः ।
तद् बभार कतराऽपि विदग्धा गोपनाय निजकण्ठरुतानाम् ।।

प्रस्तुत पद्य में किन्हीं रमणियों द्वारा परित्यक्त नूपुरों का अन्य विदग्धा द्वारा स्वीकार उपनिबद्ध है, अतः यहां तृतीय प्रकार का आदर अलंकार है।

मूल लक्षण

शोभाकर मित्र—त्यक्तस्वीकार आदरः । —अ. र. ७१, पृ. १२२

अधिक गुणप्राप्तौ तुच्छत्वेन त्यक्तस्य तदपगमे पुनः स्वीकारः, त्यागमात्रेण वा पुनरुपादानम्, अन्येन वा त्यक्तस्य ग्रहणमिति त्रिभेद आदरः ।

—अ. र. पृ. १२२

आपत्ति

आपत्ति प्रमाणमूलक अलंकारों में अन्यतम है। इसे केवल शोभाकर ने स्वीकार किया है। उनके अनुसार किसी कार्यविशेष के करने के कारण प्रसङ्गतः अनिष्ट की सम्भावना निबद्ध हो तो वहां **आपत्ति अलंकार** होता है। इस निबन्धन में क्रियमाण निबद्ध कार्य और सम्भावित अनिष्ट की सम्भावना के मध्य हेतुहेतुमद्भाव होता है, किन्तु वह सर्वथा अनियत होता है; इसीलिए शोभाकर ने लक्षण को स्पष्ट करते हुए आपत्ति के विशेषण के रूप में प्रसङ्गात्मिका पद का प्रयोग

किया है। (सा प्रसङ्गात्मिकानिष्टस्यापादनादापत्तिः। अ.र.पृ.१३८) यह प्रसङ्गात्मिकता ही आपत्ति को अनुमान आदि हेतुमूलक अलंकारों से पृथक् करती है।

स्वर्णं स्वर्णमितस्ततो नरि नरि द्राग्दीयतां दीयताम्।
इत्यद्यापि हि सोमपाल विरम त्वं कोऽपि गर्भेश्वरः।
नो चेदात्मभयाच्चलिष्यति रयान्मेरुस्ततः क्व प्रजाः
क्व क्षोणी क्व पयोधयः क्व गिरयः क्वाशाः क्व ते चार्थिनः॥

प्रस्तुत पद्य में अर्थिजनों के प्रति अनुग्रह के लिए बारम्बार किया गया स्वर्ण पदों का उच्चारण अन्ततः उनके ही विघटन का हेतु हो सकता है, ऐसी सम्भावना का निबन्धन चारुत्व का हेतु है, अतः यहां **आपत्ति नामक** अलंकार माना जाएगा।

मूल लक्षण

शोभाकर—अनिष्टापादनमापत्तिः॥ —अलंकार रत्नाकर ८०

अनुमानादेरस्याः साधनरूपश्च दूषणत्वजुषः।
आपत्तेः सुव्यक्तो भेदो ज्ञेयः प्रसङ्गरूपाख्यः॥

—वही पृ. १३८

आवृत्ति

(अर्थावृत्ति-पदावृत्ति-उभयावृत्ति)

दीपक अलंकार के समान भी आवृत्ति भी प्राचीन अलंकार हैं। दीपक अलंकार में ही पद अर्थ अथवा पद और अर्थ दोनों की आवृत्ति होने पर **आवृत्ति अलंकार** होता है। दण्डी ने इन अर्थ पद और पद-अर्थ उभय की आवृत्ति को पृथक् पृथक् अर्थावृत्ति पदावृत्ति और उभया-वृत्ति नामों से स्वतन्त्र अलंकार स्वीकार किया है। शिलामेघसेन दण्डी का ही सम्पूर्ण रूप से इस प्रसंग में अनुसरण करते हैं। आचार्य संघ-रक्षित उपर्युक्त तीनों स्थितियों में केवल एक नाम से ही आवृत्ति अलंकार स्वीकार करते हैं। जयदेव अमृतानन्दयति अप्पयदीक्षित काव्य-विलासकार चिरञ्जीव की भी उपर्युक्त मान्यता ही है, अर्थात् वे भी ऐसे स्थलों में एक आवृत्ति अलंकार ही मानते हैं। विश्वनाथ

आदि आचार्य आवृत्ति को दीपक का ही एक प्रकार मानते हैं स्वतन्त्र अलंकार नहीं।

मूल लक्षण

दण्डी—अर्थावृत्तिः पदावृत्तिरुभयावृत्तिरेव च।
दीपकस्थान एवेष्टमलंकारत्रयं तु नः॥ —काव्यादर्श २-११६

शिलामेघसेन—दण्डी शब्दशः अनुकृत।

जयदेव—आवृत्तेर्दीपकपदे भवेदावृत्ति दीपकम्।

संघरक्षित—पुनप्पुनमुच्चारणं य अत्थस्स च पदस्य च
उभयेसं च विञ्ञेया सायं आवुत्ति नामतो। —सुबो. २२६

अमृतानन्दयति—उक्तस्यानेकधोक्तिः स्यादावृत्तिः सा मता यथा॥
—अ. सं. ५.२४

अप्पयदीक्षित—त्रिविधं दीपकावृत्तौ भवेदावृत्तिदीपकम्॥

चिरञ्जीव—आवृत्ते दीपकपदे भवेदावृत्तिदीपकम्॥
—नञ्राजयशोभूषण २.३१

आशीः

आशीः अलंकार को दण्डी भामह शिलामेघसेन वाग्भट प्रथम संघरक्षित एवं भावदेवसूरि इन छ आलंकारिकों ने स्वीकार किया है। लोक में आशीर्वचन का प्रयोग दैनन्दिन व्यवहार में होता है, जिसमें अभीष्ट अर्थ की आशंसा की जाती है, इस इष्ट अर्थ की आशंसा में वक्ता का सुहृद् भाव अथवा अविरोध प्रगट होता है, काव्य में जब इस इष्ट-अर्थ की आशंसा द्वारा चारुत्व की प्रतीति होती है, तो वहां **आशीः** नामक **अलंकार** स्वीकार किया जाता है। भामह के अतिरिक्त प्रायः अन्य पांचों आलंकारिकों ने इष्ट अर्थ की आशंसा मात्र को अलंकारत्व के लिए पर्याप्त माना है। जबकि भामह इसे अपनी पूर्ण स्वीकृति देते हुए भी इष्ट अर्थ की आशंसा द्वारा जहां सौहृद अथवा अविरोध की विवक्षा हो, वहीं **आशीः अलंकार** को स्वीकार करते हैं, सर्वत्र नहीं।

मूल लक्षण

दण्डी—आशीर्नामाभिलषिते वस्तुन्याशंसनं यथा॥ —काव्यादर्श २.३५७

शिलामेघ—आशीर्नामाभिलषिते वस्तुन्याशंसनं यथा ॥

—स्वभाषालंकार ३३२

भामह—आशीरपि च केषाञ्चिदलङ्कारतया मता ।
सौहृदस्याविरोधोक्तौ प्रयोगोऽस्याश्च तद्यथा ॥

—काव्यालंकार ३.५५

वाग्भट प्रथम—इष्टार्थसंशनमाशीः । —काव्यानुशासन पृ. ४६

संघरक्षित—आसीनाम सियात्थस्स इत्थस्सा' सीसनं यथा ।

—सुबोधालंकार ३३६

भावदेवसूरि—आशीराशीर्वचः ख्यातम् ॥ —काव्यलंकार सार संग्रह

उत्तर

उत्तरअलंकार की उद्भावना आचार्य रुद्रट ने की है । उन्होंने उत्तर का विवेचन वास्तव मूलक और औपम्य मूलक दोनों प्रकार के अलंकारों में किया है । उनके अनुसार उत्तर से प्रश्न का अथवा प्रश्न से उत्तर का जहां उन्नयन हो, वहां उत्तर अलंकार होता है । (उत्तर-वचनश्रवणादुन्नयनं यत्र पूर्ववचनानाम् । क्रियते तदुत्तरं स्यात्प्रश्नाद-प्युत्तरं यत्र । का. अ. ७.९३) रुद्रट के अनुसार औपम्यमूलक उत्तर अलंकार वहां माना जाता है, जहां प्रसिद्ध उपमान से पृथक् उपमेय के विषय में प्रश्न किए जाने पर वक्ता उपमान के अतिरिक्त प्रसिद्ध उप-मान के सदृश उत्तर देता है । (यत्र ज्ञातादन्यत्पृष्टः तत्त्वेन वक्ति तत्तुल्यम् । कार्येणानन्यसमाख्यातेन तदुत्तरं ज्ञेयम् । ८.७२ । उत्तर से प्रश्न का उन्नयन परवर्ती सभी आलंकारिकों द्वारा अविकल स्वीकृत है ।

प्रश्न के अनन्तर उत्तर का निबन्धन वास्तवमूलक एवं औपम्य-मूलक दोनों प्रकार के उत्तर में तो रहता ही साथ ही है, परिसंख्या में भी प्रश्न करके उत्तर का निबन्धन किया जाता है, किन्तु दोनों (उत्तर और परिसंख्या) में मौलिक अन्तर है । परिसंख्या में 'प्रश्न के साथ अथवा प्रश्न के बिना भी उत्तर का निबन्ध तो रहता है किन्तु उसका मूल उद्दिष्ट इतर की व्यावृत्ति (व्यच्छेद) रहता है । उसमें नियमन की भावना रहती है । जबकि उत्तर में नियमन उद्दिष्ट नहीं होता, यहां कवि का उद्देश्य अन्य उत्तर की व्यावृत्ति नहीं है । इसके अतिरिक्त

परिसंख्या में उत्तर सुप्रसिद्ध नहीं होता, साथ ही उसमें औपम्य भी नहीं रहता (परिसंख्यायामज्ञातमेव पृच्छति नियमप्रतीतिश्चौपम्याभावश्च। लघुवृत्ति ८.७२ पृ० २७७) उत्तर अलंकार के वास्तव और औपम्यमूलक विभाजन को परवर्ती आलंकारिकों ने स्वीकार नहीं किया है।

भोज ने **सार** अलंकार का ही **उत्तर** नाम से विवेचन किया है (पदार्थानां तु यस्सारस्तदुत्तरमिहोच्यते। स. कं. ३.२३ पृ. १४०)। उत्तरवर्ती आचार्यों में मम्मट (१२१-१२२) रुय्यक (७५) वाग्भट प्रथम जयदेव (५.१०३) नरेन्द्रप्रभसूरि (८.८०) विद्यानाथ (८.२३७) विद्याधर (८.६६.६७) विश्वनाथ (१०.८२) अप्पयदीक्षित (कुव. १४६) पंडितराज जगन्नाथ (भा. ३. पृ. ७८४) चिरञ्जीव (२.५५) भावदेवसूरि (६.३७) एवं नरसिंह कवि (पृ. ३१३) आदि ने इसे स्वीकार किया है। प्रायः सभी आचार्यों ने उत्तर के दोनों प्रकारों को स्वीकार किया है। (१) उत्तर से प्रश्न का उन्नयन (२) प्रश्न के साथ असम्भाव्य उत्तर का निबन्धन। इसमें परिसंख्या के समान इतर निषेध की विवक्षा नहीं होती।

'वीक्षितुं न क्षमा श्वश्रूः स्वामी दूरतरं गतः।
अहमेकाकिनी बाला तवेह वसतिः कुतः॥'

प्रस्तुत पद्य में उत्तर देने वाली महिला के उत्तर से इस प्रश्न का उन्नयन हो जाता है कि पथिक ने प्रश्न किया है कि क्या मुझे एक रात्रि निवास के लिए घर में स्थान मिल सकेगा?

'का विसमा देव्वगई, किं लद्धव्वं जणो गुणग्गाही।
किं सोक्खं सुकलत्तं, किं दुग्गेज्झं खलो लोओ॥'
('का विषमा दैवगतिः किं लब्धव्यं जनो गुणग्राही।
किं सौख्यं सुकलत्रं किं दुर्ग्राह्यं खलो लोकः॥')

यह पद्य हमें काव्यप्रकाश, अलंकार सर्वस्व एवं एकावली में भी प्राप्त होता है, यद्यपि इन पाठों में कुछ अन्तर अवश्य है। काव्य प्रकाश में इस श्लोक का पाठ इस प्रकार है—का विसमा देव्वगई किं दुल्लहं जं जणो गुणग्गाही। किं सोक्खं सुकलत्तं किं दुःखं यं खलो लोओ (का. प्र. पृ. ७७५)। अलंकार सर्वस्व में 'दुल्लहं' के स्थान पर 'लद्धं' पाठ उपलब्ध

है, विद्याधर ने मम्मट के पाठ को ही अविकल रूप से स्वीकार किया है जबकि साहित्य दर्पण में 'दुल्लहं' के स्थान पर 'लद्धव्वं' तथा 'दुक्खं' के स्थान पर 'दुग्गेज्झं' पाठ किया गया है। प्रस्तुत पद्य में प्रश्नों के असम्भाव्य उत्तर निबद्ध हैं, अतः यहां द्वितीय प्रकार का **उत्तर अलंकार** है।

यह स्मरणीय है कि प्रश्नपूर्विका परिसंख्या एवं उत्तर दोनों में यद्यपि समान रूप से प्रश्न और उत्तर का निबन्धन होता है, किन्तु परिसंख्या में अन्य लोकप्रसिद्ध उत्तर का व्यवच्छेद विवक्षित रहता है, जबकि उत्तर में व्यवच्छेद की विवक्षा नहीं रहती (प्रश्नपरिसंख्यायामन्यव्यपोहे तात्पर्यम् इह तु वाच्ये एव विश्रान्तिरित्यनयोर्विवेकः। का. प्र. पृ. ७७५। न चेयं परिसंख्या व्यवच्छेद्य-व्यवच्छेदकपरत्वाभावात्। अ. स. पृ. २१७। 'व्यवच्छेद्य-व्यवच्छेदकतामन्तरेण प्रवृत्तमिदमिति न गोचरः परिसंख्यायाः। एका. पृ ३२३)

उत्तर और अनुमान भी परस्पर अत्यन्त भिन्न अलंकार हैं। यद्यपि प्रथम प्रकार के उत्तर अलंकार में उत्तर के द्वारा प्रश्न का उन्नयन (बोध) कार्य को देखकर कारण के अनुमान के सदृश ही है। किन्तु अनुमान अलंकार में साध्य और साधन दोनों का निर्देश होता है, जबकि उत्तर में केवल **उत्तर** (साधन) का ही निर्देश होता हैं, साध्य सदृश प्रश्न का नहीं (नापीदमनुमानम्, एक धर्मनिष्ठतया साध्यसाधनयोरनिर्देशात्। का. प्र. पृ. ७७४। न चेदमनुमानम् पक्षधर्मतादेरनुद्देशात्। अ. स. पृ. २१६)।

प्रथम प्रकार के उत्तर और काव्यलिङ्ग में भी ऐक्य की सम्भावना करना उचित न होगा, क्योंकि काव्यलिङ्ग में विद्यमान हेतु और साध्य के बीच जन्यजनकभाव आवश्यक होता है तथा उत्तर से उन्नीत प्रश्न में जन्यजनकभाव नहीं होता (न चैतत् काव्यलिङ्गमुत्तरस्य ताद्रूप्यानुपपत्तेः। न हि प्रश्नस्य प्रतिवचनं जनको हेतुः। का. प्र. पृ. ७७४) तथा हेतु और साध्य के बीच ज्ञाप्यज्ञापकभाव होने पर (जैसा कि यहां विद्यमान माना जा सकता है) काव्यलिङ्ग अलंकार नहीं होता (ज्ञापकहेतोश्च न काव्यलिङ्गविषयता। बालबोधिनी का. प्र. टीका पृ. ७७४)

इस प्रकार उत्तर अलंकार परिसंख्या अनुमान और काव्यलिङ्ग अलंकारों से भिन्न स्वतन्त्र अलंकार है।

मूल लक्षण

रुद्रट—उत्तरवचनश्रवणादुन्नयनं यत्र पूर्ववचनानाम्।
क्रियते तदुत्तरं स्यात्प्रश्नादप्युत्तरं यत्र॥
यत्र ज्ञातादन्यत्पृष्टस्तत्त्वेन वक्ति तत्तुल्यम्।
कार्येणानन्यसमाख्यातेन तदुत्तरं ज्ञेयम्॥

—काव्यालंकार संग्रह ७.९३, ८.७२

भोज—पदार्थानां तु यः सारस्तदुत्तरमिहोच्यते।
सधर्मधर्मिरूपाभ्यां व्यतिरेकाच्चभिद्यते।

—सरस्वती कण्ठाभरण ३.२३

मम्मट—··················उत्तरश्रुतिमात्रतः।
प्रश्नस्योन्नयनं यत्र क्रियते तत्र वा सति।
असकृद् यदसंभाव्यमुत्तरं स्यात्तदुत्तरम्।

—काव्यप्रकाश सू० १८८, का० १२१-२२

रुय्यक—उत्तरात्प्रश्नस्योन्नयनमसकृद् सम्भाव्यमुत्तरं चोत्तरम्।

—अलंकार सर्वस्व ७५

वाग्भट प्रथम—
उत्तरवचनश्रवणात्प्रश्नस्योन्नयनमुत्तरम्।

—काव्यानुशासन पृ० ४४

जयदेव—प्रश्नोत्तरं क्रमेणोक्तौ स्यूतमुत्तरमुत्तरम्। —चन्द्रालोक ५.१०३

विद्यानाथ—उत्तरात्प्रश्न उन्नेयो यत्र प्रश्नोत्तरे तथा।
बहुधा च निबध्येते तदुत्तरमुदीर्यते॥

—प्रतापरुद्रीयम् ८.२३७

विद्याधर—(क) यत्र प्रश्नपुरस्सरमेवासंभाव्यमुत्तरं किमपि।
असकृद् भवति निबद्धं तदुत्तरं तावदत्रैकम्।
(ख) यत्र त्वनुपनिबद्धः प्रश्नः स्यादुत्तरोन्नेयः।
कमपि तदीयं भेदं द्वितीयमाचक्षते सुधियः॥

—एकावली ८.६६, ६७

विश्वनाथ—''''''उत्तरं प्रश्नस्योत्तरादुन्नयो यदि ।
यच्चासकृदसंभाव्यं सत्यपि प्रश्न उत्तरम् ।
—साहित्य दर्पण १०.८२

अप्पयदीक्षित—
किञ्चिदाकूतसहितं स्याद् गूढोत्तरमुत्तरम् ॥
—कुवलयानन्द १४६

पंडितराज जगन्नाथ—
प्रश्नप्रतिबन्धकज्ञानविषयीभूतोऽर्थ उत्तरम् ।
—रसगंगाधर भाग तृतीय पृ० ७८४

चिरञ्जीव—प्रश्नोत्तरक्रमेणोक्तावुत्तरालंकृतिर्भवेत् । —काव्यविलास २.५५

नरेन्द्रप्रभसूरि—
तदुत्तरं भवेद् यत्र प्रश्नोन्नयनमुत्तरात् ।
असकृद् वा सति प्रश्ने यत्रासम्भाव्यमुत्तरम् ।
—अलंकार महोदधि ८.८०

भावदेवसूरि—स्यात्प्रश्नोत्तरमुत्तरम् । —काव्यालंकार संग्रह ६.३७

नरसिंह कवि—(१) उत्तरं प्रश्नपूर्वश्चेदुत्तराद्वा बहिर्यदि ।
प्रश्न उन्नीयते तत्र भवेत् द्विविधमुत्तरम् ।
(२) प्रश्नोत्तराभिन्नमेकमुत्तरं चित्तमुत्तरम् ।
—नञ्राजयशोभूषण पृ० २१३, २१४

विश्वेश्वर—प्रश्ने लोकाविदितोत्तरस्य तच्चासकृत्प्रोक्तौ ।
—अलंकार मुक्तावली ३६

श्रीकृष्णब्रह्मतन्त्रपरकालस्वामी
उन्नतिप्रश्नमथवा निबद्धं प्रश्नमुत्तरात् ।
साकूतमुच्यते यत्र तत्रोत्तरमुदीरितम् ।
—अलंकार मणिहार १५१

वेणीदत्त—अनुपात्तमपि प्रश्नवाक्यं यत्र प्रकल्प्यते ।
उत्तरश्रुतिमात्रेण तदुत्तरमितीष्यते ॥
—अलङ्कार मञ्जरी १७१

उत्प्रेक्षा

भारतीय काव्यशास्त्र के उपलब्ध ग्रंथों में भरतकृत नाट्यशास्त्र को छोड़कर सर्वत्र उत्प्रेक्षा का विवेचन उपलब्ध होता है, किन्तु साथ ही यह भी स्मरणीय है कि उद्भट ने छेकानुप्रास वृत्त्यानुप्रास लाटानुप्रास पुनरुक्तवदाभास उपमा रूपक दीपक और प्रतिवस्तुपमा केवल इन आठ अलंकारों को मानने वाले आलंकारिकों के जिस वर्ग का संकेत किया है, उनके मत में भी उत्प्रेक्षा स्वीकृत नहीं है।

इन आठ अलंकारों के साथ आक्षेप, अर्थान्तरन्यास, व्यतिरेक, विभावना, समासोक्ति और अतिशयोक्ति इन छ अलंकारों को संयुक्त कर चौदह अलंकार मानने वाले आलंकारिकों के मत में भी उत्प्रेक्षा स्वीकृत नहीं है। भामह के साक्ष्य पर यह कहा जा सकता है कि आचार्य मेधावी ने उत्प्रेक्षा की कहीं चर्चा अपने अलंकार ग्रंथ में नहीं की थी। इसके साथ ही विष्णुधर्मोत्तर पुराण के अनुसार यह प्राचीनतम आलंकारिकों द्वारा स्वीकृत एक अलंकार है।

अलंकारों में जहां उपमा को सभी अलंकारों का जीवित कहा गया है। वहीं उत्प्रेक्षा को सभी अलंकारों के सौन्दर्य का सर्वस्व। आचार्य कुन्तक के अनुसार इस अलंकार के अतिशय सौन्दर्य के सामने सभी अलंकारों का सौन्दर्य फीका दिखायी पड़ता है। इसलिए यह सौन्दर्य के मूल के रूप में काव्यों में प्रगट होती है। भामह और उद्भट ने भी इसमें सौन्दर्यातिशय को स्वीकार किया है। उद्भट के अतिशयान्विता पद को स्पष्ट करते हुए तिलक ने 'उत्कर्षपर्यवसायिनी' कहा है। केशव मिश्र ने तो इसे अलंकारों का सर्वस्व, कवि की कीर्ति को बढ़ाने वाला तथा नवोढा के स्मित की भांति सहृदय पाठकों के चित्त को हर लेने वाला स्वीकार किया है।

इस अलंकार में प्रकृत की अप्रकृत के रूप में सम्भावना की जाती है। सम्भावना ही इस अलंकार का प्राण है। दण्डी ने इसका लक्षण करते हुए सम्भावन के स्थान पर उत्प्रेक्षण शब्द का प्रयोग किया था, जो इस अलंकार के किसी भी शब्द की अपेक्षा उत्प्रेक्षा नाम से अधिक निकट है, किन्तु इसीलिए वह व्युत्पत्ति मात्र बनकर रह जाता है लक्ष्य को पूर्ण स्पष्ट नहीं करता। उद्भट ने उत्प्रेक्षण के स्थान पर सम्भावन

शब्द का प्रयोग किया है। वामन ने उत्प्रेक्षा का लक्षण करते हुए अतद्-रूप का अन्यथा अध्यवसान कहा है। रुद्रट ने इसके लक्षण में आरोपण को अपनाया है। परवर्ती आलंकारिकों में किसी ने भी आरोपण को स्वीकार नहीं किया है। परवर्ती आचार्यों में भोज ने दण्डी प्रयुक्त उत्प्रेक्षण को ही आधार मानकर उत्प्रेक्षा का लक्षण किया है। शेष अधिकांश आचार्यों ने सम्भावना को आधार बनाते हुए उत्प्रेक्षा का लक्षण करना चाहा है। ऐसे आचार्यों में कुन्तक, मम्मट, हेमचन्द्र, शोभाकर मित्र, अप्पयदीक्षित, पंडितराज जगन्नाथ, नरेन्द्रप्रभसूरि एवं भावदेवसूरि के नाम विशेष उल्लेखनीय हैं। विश्वनाथ 'भवेत्संभावनो-प्रेक्षा' इत्यादि कहते हुए इसी परम्परा को स्वीकार करते हैं। इसके अतिरिक्त जयदेव ने 'उन्नयन' शब्द से, विद्यानाथ ने 'उपतर्किण' शब्द से, संघरक्खित ने 'परिकल्पना' शब्द से, अप्पय दीक्षित ने 'संभावना' के अतिरिक्त विद्यानाथ प्रयुक्त 'उपतर्कण' शब्द से तथा केशवमिश्र ने 'आरोपण' शब्द से उत्प्रेक्षा को लक्षित कराया है। लक्षण की दृष्टि से उत्प्रेक्षालंकार का सबसे उपयुक्त लक्षण रुय्यक का कहा जा सकता है। उन्होंने अधिकांश आचार्यों द्वारा स्वीकृत सम्भावना एवं वामन स्वीकृत अध्यवसान को लक्षण में समाविष्ट कर इसमें साध्य अध्यवसान का सौन्दर्य बताकर एक ओर तो अतिशयोक्ति से इसके विषय विभाग की स्पष्ट रेखा निर्धारित की है, और दूसरी ओर पारिभाषिक रूप से उप-क्रम शब्द का प्रयोग किया है। विद्याधर ने रुय्यक का अनुसरण करते हुए एक उपयुक्त परम्परा का अनुगमन किया है। यह उत्प्रेक्षा सादृश्य के आधार पर ही होती है, अन्यथा नहीं।

सामान्यतः किसी वस्तु के सम्बन्ध में हमारा ज्ञान तीन प्रकार का हो सकता है: प्रथम वह जिसमें हम निश्चयपूर्वक जानते हैं कि अमुक वस्तु यह है। दूसरे प्रकार में हमारा ज्ञान उभय कोटिक हाता है कि अमुक वस्तु यह है या वह? तृतीय प्रकार में ज्ञान उभयकोटिक होते हुए भी एक ओर झुका रहता है। प्रथम कोटिक ज्ञान उपमा आदि में रहता है। द्वितीय स्थिति अर्थात् उभयकोटिक ज्ञान सन्देह अलंकार में रहता है, इसमें एक ही विषय में प्रकृत और अप्रकृत विषयक ज्ञान एक साथ रहता है, जबकि तृतीय प्रकार के ज्ञान की स्थिति सम्भावना में रहती है। यहां प्रकृत या अप्रकृत में न तो अन्यतम का बोध नियत

रहता है और न प्रकृत और अप्रकृत विषयक उभयकोटिक ज्ञान समान मात्रा में रहता है, किन्तु इन दोनों स्थितियों से विपरीत उभयकोटिक ज्ञान होते हुए भी एक पक्ष की ओर झुका रहता है तथा यह झुकाव अप्रकृत की ओर रहता है, प्रकृत की ओर नहीं। प्रकृत की अप्रकृत के रूप में सम्भावना की जाती है। प्रकृत विषयक यह बोध अप्रकृत की ओर झुका होता है, तथापि प्रकृत का निषेध नहीं किया जाता, जैसा कि अपह्नुति में होता है। उत्प्रेक्षा अलंकार में संदेह, भ्रान्तिभान्, रूपक एवं अपह्नुति के समान संशय भ्रान्ति आरोप अथवा अपह्नव नहीं होता, बल्कि कल्पना या सम्भावना होती है जिसके माध्यम से कवि विषय के प्रति अपने प्रोद्भासमान आकर्षण को व्यक्त करता है।

सम्भावना अथवा मुख को कमल के रूप में उत्प्रेक्षित करने की यह वृत्ति रुय्यक के शब्दों में साध्य अध्यवसान कही जाती है। इस अध्यवसान में व्यापार को प्रधानता होती है। अध्यवसान का अर्थ है विषय का विषयी द्वारा निगरणा, जिसके फलस्वरूप सहृदय को विषय और विषयी में अभेद की प्रतीति होती है। यह अध्यवसान दो प्रकार का हो सकता है सिद्ध और साध्य। जब विषयी द्वारा विषय का निगरण सर्वथा पूर्ण हो जाता है, तो वहां सिद्ध अध्यवसान होता है, जो अतिशयोक्ति का विषय है; तथा जब विषय का निगरण पूर्णतया नहीं होता, बल्कि निगरण की प्रक्रिया रहती है, तब वहां अध्यवसान साध्य रहता है, जो यहां उत्प्रेक्षा अलंकार में विवक्षित है। भाषा में अध्यवसाय का अर्थ होता है निश्चयात्मक ज्ञान। दार्शनिकों की भाषा में भले ही इसे निश्चयात्मक ज्ञान प्रमा (यथार्थ ज्ञान) कहा जाए, किन्तु उत्प्रेक्षा में विषयी की असत्यतया प्रतीति रहती है, क्योंकि इस अलंकार में प्रेयसी का मुख चन्द्र रूप में प्रतीत होता है जो असत्य है। साथ ही वह प्रतीति भी निश्चयात्मकता तक पहुंची हुई नहीं रहती, अपितु तदर्थ प्रयास रहता है।

अध्यवसाय का सुविदित अर्थ है निश्चयात्मक ज्ञान। निश्चयात्मक ज्ञान वही हो सकता है जो अव्यभिचारी हो। जबकि उत्प्रेक्षा में विषय की विषयी रूप में संभावना होती है, अतः उसे अध्यवसाय (सम्यक् ज्ञान) कैसे कहा जा सकता है? इस प्रश्न के उत्तर के रूप में यह समझना अनिवार्य है कि यद्यपि दर्शन शास्त्र अथवा लोक में प्रत्यय (बोध) केवल

दो प्रकार का माना जाता है : निश्चय रूप और अनिश्चय रूप। निश्चयात्मक प्रत्यय यथार्थ होता है, प्रमाणात्मक होता है; तथा उससे भिन्न प्रत्यय, अप्रमा, अयथार्थ अथवा अनिश्चयात्मक कहलाता है। किन्तु प्रत्यय के भेदों का यह स्वरूप काव्य जगत् में ग्रहण नहीं किया जाता, काव्य के क्षेत्र में तो केवल प्रतीति(व्यापार)पर ही विचार होता है। अनिश्चयात्मक प्रत्यय भी दो प्रकार का होता है संशय प्रत्यय और तर्क प्रत्यय। सभी अनिश्चयात्मक प्रत्यय सन्देह रूप नहीं होते। इस अलंकार में विद्यमान संभावना प्रत्यय क्योंकि तर्करूप है, अतः यद्यपि वह सन्देह रूप नहीं है तथापि अनवधारणत्व सामान्य के कारण दोनों प्रत्यय (संशय और सम्भावना प्रत्यय) अभिन्न हैं यह कहना उचित न होगा; क्योंकि इस प्रकार की समानता पर यदि एकता की कल्पना की जाएगी तो असम्यग्ज्ञानत्व सामान्य के कारण भ्रम और संशय में भी भेद करना कठिन होगा।

वस्तुतः प्रत्यय तीन प्रकार के हैं—यह स्थाणु, है या पुरुष, इस प्रकार के दो पक्षों से युक्त ज्ञान 'संशय' है। 'इसे पुरुष ही होना चाहिए' इस प्रकार एक पक्ष के अनुकूल कारण दर्शनपूर्वक 'ज्ञान' **सम्भावना** कहलाता है, तथा यह पुरुष ही है इस प्रकार पक्षान्तर के संस्पर्श से युक्त किन्तु एकतर पक्ष युक्त प्रत्यय **निश्चय** कहलाता है। इस प्रकार प्रत्ययों की विविधता के सम्बन्ध में प्रत्येक हृदय साक्षी है। इस प्रकार सन्देह और निश्चय के अन्तराल में विद्यमान तथा दोनों प्रत्ययों से भिन्न सम्भावना (तर्क) प्रत्यय एक तृतीय प्रत्यय है, यह मानना होगा। यह प्रत्यय ही उत्प्रेक्षा का मूल है।

यह सम्भावना (अध्यवसाय) प्रत्यय भी दो प्रकार का है—स्वारसिक और उत्पादित (कवि कल्पित)। स्वारसिक अध्ययवसाय प्रत्यय में विषय की प्रतीति नहीं होती। शुक्ति का बोध रहने पर किसी भी प्रमाता को उसमें रजत प्रत्यय नहीं हो सकता। उत्पादित अध्यवसाय में तो विषय की प्रतीति विद्यमान रहने पर भी स्वात्माधीन विकल्प की कल्पना के कारण विषयी के रूप में उसकी प्रतीति होती है। विशिष्ट सौन्दर्यानुभूति रूप प्रयोजन इस प्रत्यय का कारण होता है।

'विषय के निगरण पूर्वक विषयी और विषय की अभेद प्रतीति अध्यवसाय है' यह पहले कहा जा चुका है। किन्तु प्रश्न हो सकता है

कि यहां उत्प्रेक्षा में विषय का निगरण न होकर निगीर्यमाणता है, अतः यहां अध्यवसाय है, यह कैसे स्वीकार किया जा सकता है ? किन्तु यह आशंका उचित नहीं है, क्योंकि 'विषय्यन्तः कृतेऽन्यस्मिन्सा स्यात्सा-ध्यवसानिका' इत्यादि वचनों के आधार पर अध्यवसान के लक्षण के रूप में यह लक्षण मानना अधिक उचित होगा कि 'विषयी द्वारा विषय का अन्तर्भाव करना अध्यवसाय है' विषयी द्वारा विषय का यह अन्तर्भाव विषय के निगरण में भी रहता है और निगीर्यमाण होने की स्थिति में भी रहता है। यह निगीर्यमाणता भी दोनों स्थिति में हो सकती है, चाहे विषय का उपादान किया जाए और चाहे न किया जाए। इस प्रकार विषय का निगरण हो जाने पर वहां अध्यवसाय सिद्ध रहता है और इस स्थिति में अध्यवसित की प्रधानता रहती है तथा उसके साध्य रहने पर स्वरूप की अर्थात् अध्यवसान क्रिया की प्रधानता रहती है।

उत्प्रेक्षा के भेद

उत्प्रेक्षा अलंकार का विभाजन (प्रकार निर्देश) करते हुए आचार्य रुय्यक ने निम्नलिखित तथ्यों को आधार माना था। (१) उत्प्रेक्षा वाचक इव आदि पदों का प्रयोग अथवा अप्रयोग। (२) उत्प्रेक्ष्य वस्तु के जाति, गुण, क्रिया और द्रव्य चार भेद, (३) उत्प्रेक्षा के निमित्त का गुण अथवा क्रिया रूप में होना, (४) उसकी उक्ति अथवा अनुक्ति, (५) उत्प्रेक्ष्य वस्तु का स्वरूप हेतु अथवा फल में से अन्यतम के रूप में होना तथा, (६) प्रस्तुत की उक्ति या अनुक्ति।

रुय्यक के समान विश्वनाथ ने उत्प्रेक्षा के प्रथम दो भेद किये हैं : वाच्या एवं प्रतीयमाना। वाच्या उत्प्रेक्षा वहां होती है, जहां 'इव' आदि उत्प्रेक्षा बोधक पदों का प्रयोग किया गया है। इसके विपरीत जहां इव आदि का प्रयोग नहीं होता, वहां उत्प्रेक्षा **प्रतीयमाना** कही जाती है। दोनों ही प्रकार की उत्प्रेक्षा में उत्प्रेक्ष्य वस्तु जाति रूप हो सकती है या गुणरूप या क्रियारूप अथवा द्रव्यरूप। इस प्रकार वाच्या उत्प्रेक्षा के चार तथा प्रतीयमाना के भी चार कुल आठ प्रकार हुए। इन आठों भेदों में उत्प्रेक्षा भावरूप भी हो सकती है और अभाव रूप भी। इन सोलह प्रकार की उत्प्रेक्षाओं में निमित्त भी दो प्रकार

का हो सकता है—गुण स्वरूप अथवा क्रिया स्वरूप। इस प्रकार उत्प्रेक्षा के ३२ भेद होते हैं।

रुय्यक से पूर्व उत्प्रेक्षा का विभाजन हमें सर्वप्रथम दण्डी के काव्यादर्श में मिलता है। दण्डी के अनुसार उत्प्रेक्षा तीन प्रकार की है—चेतनगता, अचेतनगता एवं लुप्ता। उद्भट के अनुसार यह भावाभिमानवती एवं अभावाभिमानवती भेद से दो प्रकार की है। क्योंकि उद्भट ने 'वाच्येवादिभिरुच्यते' कहते हुए इव आदि के अभाव में भी उत्प्रेक्षा को स्वीकार किया है, उसे चाहे **गम्या** कहें या **लुप्ता** कहें, या कुछ और। रुद्रट ने क्योंकि औपम्यमूलक और अतिशयमूलक अलंकारों के दो पृथक् वर्गों में उत्प्रेक्षा का वर्णन किया है, अतः उनके अनुसार यह सर्वप्रथम दो प्रकार की है औपम्यमूला और अतिशयमूला। उनके अनुसार इनमें भी संभाव्य, असंभाव्य तथा अविद्यमान भेद से उत्प्रेक्षा के पुनः तीन-तीन भेद हो सकते हैं। भोज ने द्रव्य गुण एवं क्रिया की उत्प्रेक्षा के आधार पर उत्प्रेक्षा के तीन भेद किये हैं।

कुन्तक के अनुसार यह अनुमानमूला सादृश्यमूला एवं उभयमूला भेद से प्रथम्मतः तीन प्रकार की है तथा उनमें वस्तु एवं क्रिया के उत्प्रेक्षण से पुनः दो-दो भेद हो सकते हैं। आचार्य रुय्यक ने अप्रकृतगत जाति गुण क्रिया अथवा द्रव्य के आधार पर उत्प्रेक्षा के प्रथम चार भेद किये हैं। इन भेदों में भावाभिमान और अभावाभिमान होने से उत्प्रेक्षा के आठ प्रकार होंगे। उत्प्रेक्षा के निमित्त के रूप में कभी गुण का और कभी क्रिया का निबन्धन होता है, अतः उसके सोलह भेद हो सकते हैं तथा प्रत्येक में निमित्त का उपादान होने अथवा उपादान न होने से पुनः दो भेद होकर कुल बत्तीस भेद हुए। इनमें भी हेतु स्वरूप अथवा फल की उत्प्रेक्षा होने से कुल ९६ भेद हो सकते हैं। किन्तु प्रायः द्रव्य के स्वरूप का ही उत्प्रेक्षण होता है, अतः उसमें हेतु और फल भेद छोड़े जा सकते हैं। इस प्रकार उत्प्रेक्षा के कुल अस्सी भेद होंगे। यह भेद कल्पना वाच्याउत्प्रेक्षा की है, जिसमें इव आदि का प्रयोग होता है। प्रतीयमाना उत्प्रेक्षा में प्रायः ये सभी भेद होते हैं, किन्तु उसमें निमित्त का उपादान आवश्यक है, अतः निमित्त अनुपादान के भेद उसमें सम्भव नहीं है। इस प्रकार प्रतीयमाना के कुल चालीस भेद ही होंगे। इसके अतिरिक्त प्रतीयमाना में स्वरूप की उत्प्रेक्षा भी संभव नहीं

है। इस प्रकार रुय्यक के अनुसार वाच्योत्प्रेक्षा के अस्सी एवं प्रतीयमाना उत्प्रेक्षा के (२४) चौबीस कुल मिलाकर एक सौ चार उत्प्रेक्षा के भेद होते हैं। इनके अतिरिक्त उनके अनुसार कभी वह श्लिष्टशब्दहेतुका और कभी सापह्नवा भी हो सकती है।

विश्वनाथ ने रुय्यक स्वीकृत सभी भेद प्रभेदों को अविकल रूप से स्वीकार किया है।

दण्डी ने उत्प्रेक्षा अलंकार की प्रतीति के लिए 'मन्ये शंके ध्रुवम् प्रायः नूनम् तथा इव आदि शब्दों के प्रयोग का निर्देश किया है।

उत्प्रेक्षा अलंकार को हृदयंगम करने की दृष्टि से इसके कुछ उदाहरण देख लेना उचित होगा—

ऊरुः कुरङ्गकदृशश्चञ्चलचेलाञ्चलो भाति।
सपताकः कनकमयो विजयस्तम्भः स्मरस्येव॥

वाच्या उत्प्रेक्षा के उदाहरण के रूप में प्रस्तुत पद्य में ऊरु प्रकृत है जिस पर अप्रकृत विजय स्तम्भ का अध्यवसान किया जा रहा है, अतः यहां उत्प्रेक्षा अलंकार है। इस उत्प्रेक्षा के द्वारा कवि का मृगनयनी के ऊरुओं के सौन्दर्यातिशय एवं अपराजेय काम के वर्धक होने के अतिशय गुण की प्रतीति कराना उत्प्रेक्षा अलंकार का प्रयोजन है, जिसके लिए उत्प्रेक्षा अलंकार की योजना की गयी है।

यहां यह आशंका उठायी जा सकती है कि ध्वनि का विवेचन करते हुए सभी अलंकारों के व्यङ्ग्य होने की सम्भावना बतायी गयी है। व्यङ्ग्य उत्प्रेक्षा का सोदाहरण विवेचन भी उसी प्रसङ्ग में किया जा चुका है, फिर यहां प्रतीयमाना उत्प्रेक्षा की चर्चा करके उसे उत्प्रेक्षा के प्रकार भेद में स्वीकार करना कहां तक उचित है? अतः यदि रूपक आदि अलंकारों में प्रतीयमान अर्थात् व्यङ्ग्य भेद का प्रकार भेद के रूप में परिगणन नहीं किया गया है, तो उत्प्रेक्षा में भी प्रतीयमाना के आधार पर भेद करना उचित नहीं है। इस शंका का समाधान यह है कि वस्तुतः व्यङ्ग्य उत्प्रेक्षा और प्रतीयमाना उत्प्रेक्षा दोनों में पर्याप्त अन्तर है। व्यङ्ग्योत्प्रेक्षा में व्यङ्ग्यार्थ प्रतीति (उत्प्रेक्षा की प्रतीति) के बिना भी वाक्यार्थ तर्कतः पूर्ण और संगत रहता है; जबकि प्रतीयमाना उत्प्रेक्षा में प्रतीयमान उत्प्रेक्षा के बिना वाक्यार्थ स्वयं में तर्कतः पूर्ण (संगत) नहीं रहता, उत्प्रेक्षा की

प्रतीति होने पर ही वह स्वयं में तर्कतः पूर्ण और संगत हो पाता है। अतः व्यङ्ग्य उत्प्रेक्षा से पृथक् प्रतीयमाना उत्प्रेक्षा को मानना आवश्यक है।

वाच्या उत्प्रेक्षा के जाति, गुण, क्रिया और द्रव्य के उत्प्रेक्ष्य होने तथा प्रत्येक में भावाभिमान एवं अभावाभिमान से तथा निमित्त-भूत गुण एवं क्रिया से गुणित करके सोलह भेदों की चर्चा हो चुकी है। इन भेदों में से द्रव्योत्प्रेक्षा के चार भेदों को छोड़कर शेष बारह भेदों में उत्प्रेक्षा के स्वरूप, हेतु और फलरूप होने से तीन-तीन भेद हो सकते हैं। फलतः १२ × ३ = ३६ एवं द्रव्योत्प्रेक्षा के चार भेद जोड़ कर कुल चालीस भेद होंगे।

प्रतीयमाना उत्प्रेक्षा में जहां स्वरूप की सम्भावना (स्वरूपोत्प्रेक्षा) का भी होना संभव नहीं है तथा इव आदि का प्रयोग नहीं हो रहा है, उस स्थिति में वह अध्यवसाय साध्यरूप से प्रतीत न होकर सिद्ध-रूप से प्रतीत होगा, फलतः वहां अतिशयोक्ति अलंकार की स्थिति होगी।

प्रकृत का कथन होने और न होने के आधार पर भी उत्प्रेक्षा के भेद होते हैं यथा 'ऊरुः कुरङ्गकदृशः' इत्यादि पद्य में प्रकृत ऊरुः का कथन हुआ है। इसके विपरीत :—

घटितमिवाञ्जनपुञ्जैः, पूरित इव मृगमदक्षौदैः।
ततमिव तमालतरुभिर्वृतमिव नीलांशुकैर्भुवनम्॥

इस पद्य में प्रकृत व्याप्तत्व का कथन नहीं हुआ है, केवल उस पर अध्यवसीयमान घटितत्व पूरितत्व ततत्व एवं वृतत्व का ही कथन हुआ है। अतः यह पद्य प्रकृत की अनुक्ति का उदाहरण है।

इसी प्रकार—

लिम्पतीव तमोऽङ्गानि वर्षतीवाञ्जनं नभः।
असत्पुरुषसेवेव दृष्टिर्विफलतां गता॥

पद्य में अप्रकृत लिम्पन एवं अञ्जनवर्षण का कथन तो हो रहा है किन्तु प्रकृत व्यापन एवं तमस् सम्पात शब्दतः कथित नहीं है। साहित्यदर्पण के टीकाकार रामचरण के अनुसार अन्धकार का यह लेपन अथवा सम्पात उन लोगों के अनुसार ही सम्भव है जो तमस् को

द्रव्य के रूप में स्वीकार करते हैं। इस प्रसङ्ग में स्मरणीय है कि वैशेषिक दर्शन तथा न्यायमुक्तावलीकार विश्वनाथ एवं तर्कसंग्रहकार अन्नम्भट्ट आदि नव्य नैयायिकों के अनुसार अन्धकार केवल प्रकाश का अभाव है, भाव पदार्थ नहीं। प्रस्तुत पद्य की व्याख्या के सन्दर्भ में मम्मट के वचन 'व्यापनादि लेपनादिरूपतया सम्भावितम्' स्मरणोय है।

विश्वनाथ के अनुसार इन दोनों उत्प्रेक्षाओं में उत्प्रेक्षा के निमित्त क्रमश: अन्धकार की अधिकता एवं उसका धारारूप में पृथ्वी के साथ संयोग है। आचार्य रुय्यक के मतानुसार यहां लेपन पोतना तथा बरसाना इन क्रियाओं की अन्धेरे तथा आकाश में उत्प्रेक्षा की गयी है। मम्मट के मत, जिसे विश्वनाथ ने अपनाया है, को स्वीकार न करने के सम्बन्ध में रुय्यक के दो तर्क हैं—प्रथम यह है कि इस पक्ष में अर्थात् तमोगत लेपन क्रिया के कर्तृत्व की उत्प्रेक्षा मानने पर व्यापन आदि निमित्त गम्यमान होंगे, जबकि व्यापन आदि में लेपन आदि की उत्प्रेक्षा स्वीकार करने पर उत्प्रेक्षा का निमित्त खोज पाना कठिन होगा। दूसरी बात यह है कि कर्तृत्व की उत्प्रेक्षा न मानकर व्यापन पर लेपन की उत्प्रेक्षा स्वीकार करने पर उत्प्रेक्ष्य विषय प्रतीयमान रहता है, जबकि विषय का गम्यमान होना उचित नहीं है, क्योंकि उत्प्रेक्षित (सम्भावन) का आधार होने से प्रस्तुत का अभिधान ही होना चाहिये। इस प्रसङ्ग में मम्मट एवं उनके अनुयायी विश्वनाथ तथा रुय्यक की समीक्षा करने से पूर्व दोनों ही आचार्यों के पक्ष को समझ लेना उचित होगा।

१. मम्मट एवं विश्वनाथ के अनुसार यहां प्रस्तुत है व्यापन एवं संभाव्य अप्रस्तुत है लेपन, जबकि रुय्यक के अनुसार तमस् प्रस्तुत है एवं लेपन कर्तृक सम्भाव्य (उत्प्रेक्ष्य) अप्रस्तुत है।
२. मम्मट एवं विश्वनाथ के अनुसार यहां उत्प्रेक्षा का निमित्त तमस् की गहनता है, जबकि रुय्यक के अनुसार अंधकार का व्यापन उत्प्रेक्षा का निमित्त है।
३. मम्मट एवं विश्वनाथ के अनुसार यह श्लोक उस प्रतीयमान उत्प्रेक्षा का उदाहरण है, जहां प्रस्तुत (व्यापन) का कथन शब्दत:

नहीं है, वह प्रतीयमान है जबकि रुय्यक के अनुसार यह श्लोक निमित्तानुपादान का उदाहरण है, तथा निमित्त (व्यापन) अनुपात्त है।

४. मम्मट एवं विश्वनाथ आदि का इस प्रसङ्ग में कहना है कि उत्प्रेक्षा में सदा हो दो धर्मियों के मध्य अभेद विद्यमान रहता है उदाहरणार्थ 'मुखं चन्द्रं मन्ये' इत्यादि उदाहरणों में प्रस्तुत धर्मी मुख है, जिस पर अप्रस्तुत धर्मी चन्द्र की उत्प्रेक्षा की जा रही है। जबकि रुय्यक के अनुसार धर्म्युत्प्रेक्षा भी हो सकती है और धर्मोत्प्रेक्षा भी। 'मुखं चन्द्रं मन्ये' इत्यादि में जहां दो धर्मियों में अभेद प्रतीतिपूर्वक उत्प्रेक्षा होती है, वहां धर्म्युत्प्रेक्षा रहेगी, इसके विपरीत जहां एक धर्म को सम्भावना की जाती है, वहां धर्मोत्प्रेक्षा होती है। 'लिम्पतीव' इत्यादि पद्य धर्मोत्प्रेक्षा का उदाहरण है क्योंकि यहां धर्मी अन्धकार में लेपन क्रिया के कर्तृत्व धर्म की उत्प्रेक्षा की जा रही है।

इस प्रसङ्ग में मम्मट एवं विश्वनाथ के समर्थन में यह कहा जा सकता है कि ऐसे स्थलों में कवि जिन दो क्रियाओं में अभेद अध्यवसाय करना चाह रहा है वे हैं लेपन एवं व्यापन। क्योंकि यहां कर्ता के विना ही दो क्रियाओं का अभेदाध्यवसाय संभव है, अतः कर्त्तृत्वाध्यवसाय करने को कोई अपेक्षा नहीं है। दूसरो ओर रुय्यक की ओर से यह तर्क प्रस्तुत किया जाता है कि यहां लेपन पर व्यापन का अध्यवसाय करने पर दो दोष होंगे। प्रथम यह कि प्रस्तुत का शाब्द कथन अवश्य होना चाहिए, किन्तु यहां प्रस्तुत (व्यापन) अभिहित नहीं है। दूसरा दोष यह है कि कर्तृत्व अध्यवसाय में निमित्त के रूप में व्यापन को प्राप्त करना सहज है, जबकि अनभिहित प्रस्तुत पर लेपन का अध्यवसाय मानने पर निमित्त का अनुसंधान अपेक्षित होगा, जो कि दुःसाध्य कार्य है। रुय्यक के पक्ष में जो सबसे बड़ा आरोप सम्भव है वह यह है कि अभेद अध्यवसाय में ही उत्प्रेक्षा अलंकार की योजना होती है तथा धर्म और धर्मी में अभेद अध्यवसाय कथमपि संभव नहीं है अतः रुय्यक का पक्ष उचित नहीं है। इस आक्षेप का समाधान देते हुए पंडितराज जगन्नाथ का कथन है कि सर्वत्र अभेद अध्यवसाय होने पर ही

उत्प्रेक्षा हो इस सम्बन्ध में कोई प्रमाण नहीं हैं क्योंकि ऐसे उदाहरण भी विद्यमान हैं, जहां अभेदाध्यवसाय के बिना भी उत्प्रेक्षण होता है। उत्प्रेक्षा अभेद अध्यवसाय में ही हो ऐसा कोई वेद वचन नहीं है, जो इसके लिए आग्रह किया जाए। लक्ष्य का निर्माण करना तो (आचार्यों) (पुरुषों) के अधीन है। अत: 'लिम्पतीव तमोङ्गानि' इत्यादि उदाहरणों में तमस् आदि में लेपन क्रिया कर्त्तृत्व की उत्प्रेक्षा की जाती है यह उचित ही है।

उत्प्रेक्षा अलंकार अन्य अलंकारों के संश्लेष की स्थिति में विशेष चमत्कार उत्पन्न करता है। सामान्यत: एक काव्य विशेष में अनेक अलंकारों की कल्पना अथवा योजना कई प्रकार से हो सकती है।

१. किन्हीं भी दो या अधिक अलंकारों की परस्पर निरपेक्ष भाव से स्थिति।
२. दो या दो से अधिक अलंकारों की अङ्गाङ्गिभाव से स्थिति।
३. एक ही आश्रय में दो या अधिक अलंकारों की स्थिति।
४. दो या अधिक अलंकारों की परस्पर संदिग्ध स्थिति।
५. एक अलंकार का दूसरे अलंकार के मूल में स्थित रहना।

प्रथम स्थिति में जहां अनेक अलंकार निरपेक्ष भाव से स्थित हों वह संसृष्टि अलंकार का विषय है। दूसरी स्थिति अर्थात् अङ्गाङ्गिभाव से अनेक अलंकार एकत्र रहने पर अथवा तीसरी स्थिति अर्थात् एक ही आश्रय में एकाधिक अलंकारों के सन्देह होने पर संकर अलंकार होता है। संकर की स्थिति में अनेक अलंकारों की सम्भावना की स्थिति होने पर भी उन अलंकारों का चमत्कार न मानकर संकर का ही चमत्कार माना जाता है। पांचवीं स्थिति में जहां एक अलंकार की पृष्ठभूमि में अन्य अलंकार रहते हैं, विशिष्टतर चमत्कार की अनूभूति होती है। इस विशिष्टतर चमत्कार को दण्डी ने उत्प्रेक्षितोपमा, मोहोपमा, संशयोपमा, श्लेषोपमा, विरोधोपमा, प्रतिवस्तूपमा तुल्ययोगोपमा, आदि उपमा भेदों के रूप में, विषमरूपक, विरुद्धरूपक, हेतुरूपक, श्लिष्टरूपक, आक्षेपरूपक, तत्त्वापह्नव रूपक आदि रूपक भेदों के रूप में श्लिष्ट-आक्षेप, संशयाक्षेप, अर्थान्तराक्षेप आदि आक्षेप भेदों के रूप में तथा संश्लेषव्यतिरेक, साक्षेपव्यतिरेक, सहेतुव्यतिरेक आदि व्यति-

रेक भेदों के रूप में स्वीकार किया था। इसी प्रकार उत्प्रेक्षा अलंकार की पृष्ठभूमि में अन्य अलंकारों के होने पर भी उत्प्रेक्षा का वैचित्र्य अधिक हो जाता है।

अश्रुच्छलेन सुदृशो हुतपावकधूमकलुषाक्ष्याः।
अप्राप्य मानभङ्गे विगलति लावण्यवारिपूर इव ॥

इस पद्य में 'आंसुओं के बहाने मानों लावण्य जल का प्रवाह बह रहा है' इत्यादि कहते हुए उत्प्रेक्षा के मूल में 'आंसुओं के बहाने' शब्द में 'छलेन' पदांश से अपह्नुति की आरम्भिक योजना की गयी है।

मुक्तोत्करः संकटशुक्तिमध्याद्विनिर्गतः सारसलोचनायाः।
जानीमहेऽस्याः कमनीयकम्बुग्रीवाधिवासाद् गुणवत्त्वमाप ॥

प्रस्तुत पद्य में श्लिष्ट पद वाच्य मुक्तोत्कर की गुणवत्व प्राप्ति के हेतु के रूप में कम्बुग्रीवाधिवास की उत्प्रेक्षा की गयी है। अतः यहाँ श्लेषमूला उत्प्रेक्षा है।

विश्वनाथ द्वारा प्रस्तुत 'मन्ये शंके' इत्यादि कारिका में उत्प्रेक्षा वाचक पदों का परिगणन करते हुए दण्डी एवं विश्वनाथ दोनों ने ही इत्यादि शब्द का प्रयोग किया है। इसका कारण यह है कि उत्प्रेक्षा वाचक पदों की कोई इयत्ता स्वीकार नहीं की जा सकती। इस सूची में 'तर्कयामि, सम्भावयामि, जाने' इत्यादि पदों का भी बढ़ाना उचित ही होगा। 'मुक्तोत्करः' इत्यादि पद्य में 'जानीमहे' क्रिया का प्रयोग हुआ है। उत्प्रेक्षा वाचक पदों के परिगणन के प्रसङ्ग में एक प्रश्न हो सकता है कि 'इव' पद को उपमा वाचक भी माना गया है एवं यहां उत्प्रेक्षा वाचक के रूप में उसका परिगणन हुआ है, इसलिए इव पद से युक्त वाक्य में सन्देह हो सकता है कि यहां उपमा है अथवा उत्प्रेक्षा? विद्यानाथ चक्रवर्ती ने इस प्रश्न का समाधान इस प्रकार दिया है कि जहां उपमान अंश लोक सिद्ध है, वहां उपमान और उपमेय दोनों के सिद्ध होने के कारण 'इव' शब्द साधर्म्य का बोधक होगा, अतः वहां उपमा अलंकार होगा और जहां उपमान अंश कवि कल्पित है, वहां उपमान के लोकतः असम्भव होने के कारण इव पद केवल सम्भावना को व्यक्त कर सकेगा सादृश्य को नहीं, अतः ऐसे स्थलों पर उत्प्रेक्षा

अलंकार होगा।

पारेजलं नीरनिधेरपश्यन्मुरारिरानीलपलाशराशीः।
पत्रावलीरुत्कलिकासहस्रप्रतिक्षणोत्कूलितशैवलाभाः ।

प्रस्तुत पद्य में उपमोपक्रमोत्प्रेक्षा है अर्थात् उपक्रम उपमा का होता है, किन्तु पर्यवसान में उत्प्रेक्षा अलंकार रहता है। इस पद्य में आभा पद उपमा वाचक है, उत्प्रेक्षा-वाचक नहीं, अतः उपक्रम तो उपमा का होता है, किन्तु समुद्र के किनारे शैवाल (सेवार) की सम्भावना लोक में नहीं हो सकती, यह केवल कवि की कल्पित सृष्टि है, अतः यहां पर्यवसान में उत्प्रेक्षा अलंकार ही मानना होगा। इसी प्रकार 'केयूरायितमङ्गदैः' 'विकसितनीलोत्पलतिस्म कर्णे' एवं 'कस्तूरी तिलकन्ति' इत्यादि सुविदित उदाहरणों में क्योंकि 'उपमाना-दाचारे, कर्त्तुः क्यङ् सलोपश्च, सर्वप्रातिपदिकेभ्यः क्विब् वा वक्तव्यः' इत्यादि सूत्रों अथवा वार्तिकों से उपमान पद से आचार अर्थ में क्यच् क्यङ् क्विप् आदि प्रत्ययों से युक्त एतत्प्रत्ययान्त पदों का प्रयोग हुआ है, अतः प्रारम्भ में उपमा अलंकार का उपक्रम होता है, किन्तु कङ्कण का भुजा में एवं कटाक्ष का कानों में तथा शिव के कण्ठ की छवि का तिलक आदि के रूप में व्यवहार लौकिक न होकर केवल कवि कल्पित है, अतः पर्यवसान उत्प्रेक्षा में ही होगा। इस प्रकार इन उदाहरणों में भी उपमोपक्रमोत्प्रेक्षा नामक उत्प्रेक्षा भेद है।

उत्प्रेक्षा का अन्य अलंकारों से अन्तर

उत्प्रेक्षा अलंकार का अन्य अलंकारों से अन्तर स्पष्ट रूप से समझने के लिए उत्प्रेक्षा और भ्रान्तिमान् आदि अलंकारों का अन्तर देख लेना उचित होगा।

उत्प्रेक्षा : भ्रान्तिमान्

मुग्धा दुग्धधिया गवां विदधते कुम्भानधो बल्लवाः
कर्णे कैरवशंकया कुवलयं कुर्वन्ति कान्ता अपि।
कर्कन्धूफलमुच्चिनोति शबरी मुक्ताफलाकांक्षया
सान्द्रा चन्द्रमसो न कस्य कुरुते चित्तभ्रमं चन्द्रिका॥

प्रस्तुत पद्य में गोपालजन चन्द्रिका को भ्रान्ति के कारण दूध समझ

रहे हैं। यहां चन्द्रिका में दूध की सम्भावना की जा रही है यह भी कहा जा सकता है तथा यह सम्भावना कवि कल्पित होगी, क्योंकि लोक में आकाश से दूध की वर्षा सम्भव नहीं है, अतः यहां उत्प्रेक्षा अलंकार है या भ्रान्तिमान् ? यह प्रश्न उठाया जा सकता है, किन्तु इसका समाधान अत्यन्त स्पष्ट है । क्योंकि उत्प्रेक्षा अलंकार में अध्यवसाय के विषय का बोध रहता है, जबकि यहां विषय की प्रतीति भ्रान्ति के कारण विषयी के रूप में हो रही है, अतः यहां उत्प्रेक्षा के सन्देह की भी सम्भाबना नहीं हो सकती। इसके अतिरिक्त उत्प्रेक्षा में ज्ञान आहार्य होता है एवं भ्रान्ति में अनाहार्य होता है। सन्देह अलंकार और उत्प्रेक्षा अलंकार के बीच भी इसी प्रकार अन्तर अत्यन्त स्पष्ट है। क्योंकि सन्देह अलंकार में विषय और विषयी (प्रकृत एवं अप्रकृत) समान रूप से चमत्कृत रहते हैं' जबकि उत्प्रेक्षा में विषयी (अप्रस्तुत) अधिक चमत्कृत रहता है। विषयी के चमत्कार से चमत्कृत करने के लिए ही विषय की विषयी के रूप में सम्भावना की जाती है।

उत्प्रेक्षा : अतिशयोक्ति

उत्प्रेक्षा और अतिशयोक्ति अलंकार भी इसी प्रकार परस्पर पूर्णतः भिन्न हैं। इनमें मुख्य भेद यह है कि अतिशयोक्ति में विषयी का बोध पहले सामान्य रूप से होता है, वाक्यार्थ प्रतीति के अन्त में उसकी असत्यता का बोध होता है, जबकि उत्प्रेक्षा में अध्यवसाय क्यों कि सिद्ध नहीं रहता। अतः विषयी के प्रतीति के साथ ही उसकी असत्यता की भी प्रतीति होती रहती है। आचार्य रुय्यक के अनुसार अतिशयोक्ति में अध्यवसाय सिद्ध रहता है एवं उत्प्रेक्षा में साध्य। इसीलिये वे अतिशयोक्ति में अध्यवसित की प्रधानता स्वीकार करते हैं एवं उत्प्रेक्षा में अध्यवसान व्यापार की।

रंजिता नु विविधास्तरुशैलाः
नामितं नु गगनं स्थगितं नु।
पूरिता नु विषमेषु धरित्री
संहृता नु ककुभस्तिमिरेण॥

इस पद्य में उत्प्रेक्षा अलंकार है अथवा सन्देह यह प्रश्न हो सकता

है। विश्वनाथ यहां प्रयुक्त 'नु' पद को उत्प्रेक्षा वाचक मानकर उत्प्रेक्षा अलंकार स्वीकार करते हैं तथा इसमें सन्देह अलंकार मानने के सिद्धान्त का खंडन करते हैं। जबकि आचार्य रुय्यक ने इस पद्य में एक विशेष प्रकार का सन्देह स्वीकार किया है जिसमें आरोप्यमाण भिन्न-भिन्न आश्रय में विद्यमान रहता है। आचार्य रुय्यक का कहना है कि यदि नु पद को उत्प्रेक्षा वाचक माना जाए तो यहां उत्प्रेक्षा अलंकार मानना होगा। अन्यथा सन्देह अलंकार होगा। उनके अनुसार दोनों में अन्तर यह है। सन्देह अलंकार में समान रूप से दोनों कोटियों की प्रतीति होती है, जबकि उत्प्रेक्षा में उत्कट असम्भाव्य भूत एक कोटि की ही प्रतीति होती है। अतिशयोक्ति अलंकार में प्रतीत विषय की असत्यता की पर्यवसान में प्रतीति होती है। जबकि यहां प्रतीति काल में ही असत्यता का बोध होता है। 'अन्धकार ने विविध वृक्षों एवं पर्वतों को रंग दिया है, आकाश को झुका दिया है, अथवा स्थगित कर दिया अथवा भूमि के विषम (ऊंचे नीचे) भागों को भर दिया है, अथवा दिशाओं को इकट्ठा कर दिया है। इस स्थल में वृक्ष आदि के अन्धकार से आक्रान्त होने को रंगना आदि के रूप में सन्देह किया जा रहा है, अतः यहां सन्देह अलंकार है, ऐसा कुछ आचार्य कह सकते हैं। किन्तु यह उचित नहीं है क्योंकि एक विषय में समान बल से अनेक कोटियों का स्फुरण होने से ही सन्देह अलंकार होता है, जबकि यहां तरु आदि प्रत्येक सम्बन्धी के साथ अन्धकार आदि का व्यापन एवं निगरण करने के साथ रञ्जन आदि का स्फुरण हो रहा है, अतः यह स्थिति सन्देह अलंकार से निश्चय ही भिन्न है। रुय्यक के अनुसार यहां क्योंकि अनेक कोटि निर्धारण रूप सौन्दर्य विशेष का आश्रय लिया गया है अतः एक कोटि में अधिकता होने पर भी इसे सन्देह का एक भिन्न प्रकार मानना चाहिए। वस्तुतः यहां निगीर्ण स्वरूप की अन्य से अभेद-प्रतीति की सम्भावना से भिन्न नहीं है, तथा यह सम्भावना यहां स्पष्ट रूप से विद्यमान है, तथा नु शब्द से उसका बोधन हो रहा है, अतः ऐसे स्थल में उत्प्रेक्षा अलंकार मानना ही उचित है।

मूल लक्षण

विष्णुधर्मोत्तर पुराण

अन्यरूपस्य चार्थस्य कल्पनायान्यथा भवेत् ।
उत्प्रेक्षाख्यो ह्यलंकारः कथितः सः पुरातनैः ॥ —१४.७

अग्निपुराण

अन्यथैवस्थिता वृत्तिश्चेतनस्येतरस्य च ।
अन्यथा मन्यते यत्र तामुत्प्रेक्षां प्रचछते ॥ —३४४-२४-२५

दण्डी

अन्यथैव स्थितावृत्तिश्चेतनस्येतरस्य वा ।
अन्यथोत्प्रेक्षते यत्र तामुत्प्रेक्षां विदु र्बुधाः ॥ —काव्यादर्श २.२२१

भामह

अविववक्षितसामान्या किंचिच्चोपमया सह ।
अतद्गुणक्रियायोगादुत्प्रेक्षातिशयान्विता ॥
—काव्यालंकार २.९१

शिलामेघ सेन—दण्डी अनुकृत —सियवसलकुर

उद्भट्ट

साम्यरूपविवक्षायां वाच्येवाद्यात्मभिः पदैः ।
अतद्गुणक्रियायोगादुत्प्रेक्षाऽतिशयान्विता ॥
लोकातिक्रान्तविषया भावाभावाभिमानतः ।
सम्भावनेयमुत्प्रेक्षा वाच्येवादिभिरुच्यते ॥
—काव्यालंकारसारसंग्रह २.३३-३४

वामन

अतद्रूपस्यान्यथाऽध्यवसानमतिशयार्थमुत्प्रेक्षा ।
—काव्यालंकार सूत्रवृत्ति ४.३.९

औपम्यमूला

रुद्रट

(१) अतिसारूप्यादैक्यं विधाय सिद्धोपमानसद्भावम् ।
आरोप्यते च तस्मिन्नतद्गुणादीति सोत्प्रेक्षा ॥
(२) सान्येत्युपमेयगतं यस्यासम्भाव्यतेऽन्यदुपमेयम् ।
उपमानप्रतिबद्धा परोपमानस्य तत्त्वेन ॥

(३) यत्र विशिष्टे वस्तुनि सत्यसदारोप्यते समं तस्य।
वस्त्वन्तरमुपपत्त्या संभाव्यं सापरोत्प्रेक्षा ॥
—काव्यालंकार ८.३२, ८.३४, ८.३६

अतिशयमूला

(१) यत्राति तथाभूते संभाव्येत क्रियाद्यसंभाव्यम्।
सम्भूतमतद्वति वा विज्ञेया सेयमुत्प्रेक्षा ॥
(२) अन्यनिमित्तवशाद्यद्यथा भवेद्वस्तु तस्य तु तथात्वे।
हेत्वन्तरमतदीयं यत्रारोप्येत सान्येयम् ॥
—काव्यालंकार ९.११, ९.१४

भोज

अन्यथावस्थितं वस्तु यस्यामुत्प्रेक्ष्यतेऽन्यथा।
द्रव्यं गुणः क्रिया वापि तामुत्प्रेक्षां प्रचक्षते।
उत्प्रेक्षावयवो यश्च या चोत्प्रेक्षोपमानता।
मतं चेति न भिद्यन्ते तान्युत्प्रेक्षा स्वरूपतः।
—सरस्वती कण्ठाभरण ४.५२, ५३

कुन्तक

संभावनानुमानेन सादृश्येनोभयेन वा।
निर्वर्ण्यातिशयोद्रेकप्रतिपादनवाञ्छया ।
वाच्यवाचकसामर्थ्याक्षिप्तस्वार्थैरिवादिभिः ।
तदिवेति तदेवेति वादिभिर्वाचकं विना ॥
समुल्लिखितवाक्यार्थव्यतिरिक्तार्थयोजनम्।
उत्प्रेक्षा ··· ··· ··· ··· ··· ··· ···।
प्रतिभासात्तथा बोद्धुः स्वस्पन्दमहिमोचितम्।
वस्तुनो निष्क्रियस्यापि क्रियायां कर्तृतार्पणम् ॥
—वक्रोक्ति जीवित ३.२५, २६, २७, २८

मम्मट

सम्भावनमथोत्प्रेक्षा प्रकृतस्य समेन यत्।
—काव्यप्रकाश सू० १३७ का० ९२

रुय्यक

अध्यवसाये व्यापारप्राधान्ये उत्प्रेक्षा। —अलंकार सर्वस्व पृ० ६९

वाग्भट प्रथम

अत्यन्तसादृश्यादसतोऽपि धर्मस्य कल्पनमुत्प्रेक्षा ।

—काव्यानुशासन पृ० ३४

हेमचन्द्र

असद्धर्मसम्भावनमिवादिद्योत्योत्प्रेक्षा ।

—काव्यानुशासन ६.४ पृ० ११६

शोभाकर मित्र

विषयित्वेन सम्भावनमुत्प्रेक्षा । —अलंकार रत्नाकर ३२

जयदेव

उत्प्रेक्षोन्नीयते यत्र हेत्वादिर्निह्नुतिं विना । —चन्द्रालोक ५.२६

विद्यानाथ

यत्रान्यधर्मसम्बन्धादन्यत्वे नोपतर्कितम् ।
प्रकृतं हि भवेत्प्राज्ञास्तामुत्प्रेक्षां प्रचक्षते ॥ —प्रतापरुद्रीयम् ८.७५

संघरक्खित

वत्थुनो ञ्ञप्पकारेण ठिता वुत्ति तदञ्ञता ।
परिकप्पियते यत्थ सा होति **परिकप्पना** ॥ —सुबोधालंकार २७०

विद्याधर

अप्रकृतत्वेन स्यादध्यवसायो गुणाभिसम्बन्धात् ।
साध्यः प्रकृतस्य यदा कथितोत्प्रेक्षा तदा तज्ज्ञैः ॥ —एकावली ८.१२

विश्वनाथ

भवेत्संभावनोत्प्रेक्षा प्रकृतस्य परात्मना । —साहित्य दर्पण १०.४०

अमृतानन्दयति

यथार्थस्यान्यथाक्लृप्तिरुत्प्रेक्षा साभिधीयते ।
मन्ये शंके ध्रुवं प्रायोनूनमित्यादिभिर्यथा ॥
इवशब्दः क्रियायोगे तूत्प्रेक्षा व्यञ्जको यथा ।

—अलंकार संग्रह ५.३२

वाग्भट्ट द्वितीय

कल्पना काचिदौचित्याद्यत्रार्थस्य सतोऽन्यथा ।
द्योतितेवादिभिः शब्दैरुत्प्रेक्षा सा स्मृता यथा । —वाग्भटालंकार

अप्पयदीक्षित

(१) यत्रान्यधर्मसम्बन्धादन्यत्वेनोपतर्कितम् ।
प्रकृतं हि भवेत्प्राज्ञास्तामुत्प्रेक्षां प्रचक्षते ॥

—चित्रमीमांसा २४७

(२) संभावनास्यादुत्प्रेक्षा वस्तु हेतुफलात्मना।
उक्तानुक्तास्पदा ह्यत्र सिद्धाऽसिद्धास्पदे परे। —कुवलयानन्द ३२

शौद्धोदनि

लक्षण नहीं। —४.२.१

केशवमिश्र

अन्यनिमित्तके वस्तुनि अन्यानिमित्तकारोपणम् उत्प्रेक्षा।

—अलंकार शेखर पृ० ३६

पंडितराज जगन्नाथ

तद्भिन्नत्वेन तद्भाववत्त्वेन वा प्रमितस्य पदार्थस्य रमणीयतद्वृत्ति-तत्समानाधिकरणान्यतरतद्धर्मसम्बन्धनिमित्तकं तत्त्वेन तद्वत्त्वेन वा सम्भावनमुत्प्रेक्षा। —रसगंगाधर पृ० ६४३

चिरञ्जीव

(१) किञ्चित्संभाव्यते यत्र यत्रोत्प्रेक्षां प्रचक्षते।
(२) (व्यञ्जकानामभावे तु गुप्तोत्प्रेक्षां प्रचक्षते)॥

—काव्यविलास २.२१-२२

नरेन्द्रप्रभसूरि

अप्रस्तुतस्य रूपेण हेतुभूतैः क्रियागुणैः।
सम्भाव्यते प्रस्तुतं यत्तामुत्प्रेक्षां प्रचक्षते। —अलंकार महोदधि ८.२४

भावदेवसूरि

सम्भावनमुत्प्रेक्षा—
गूढोत्प्रेक्षा तु सा न स्याद् यत्रेवाद्युपलक्षणम्।

—काव्यालंकार संग्रह ६.१०, ११

नरसिंह कवि

अन्यत्राध्यवसायो यः प्रकृतस्य गुणादिना।
उत्प्रेक्षा कथिता सा स्याद् द्रव्यादिभ्यश्चतुर्विधा।

—नञ्राज यशोभूषण पृ० १७५

उत्प्रेक्षा स्यात्कवेरूहो वस्तुहेतुफलात्मना ।

—अलंकार मंजूषा २०, पृ० ३६

विश्वेश्वर

सम्भाव्यते सह यदा साम्यप्रतियोगिना तदुपमेयम् ।
तामुत्प्रेक्षामाहुर्भिन्नं हेत्वादिविषयत्वात् ॥

—अलंकार मुक्तावली १०

श्रीकृष्णब्रह्मतन्त्रपरकालस्वामी

यदन्यधर्मसंबन्धादन्यस्यान्यत्वतर्कणम् ।
सोत्प्रेक्षोक्ता त्रिधैषा स्याद्वस्तुहेतुफलात्मना ॥

—अलंकार मणिहार ५५

वेणीदत्त

उपमानांश एव स्यात् कोटिरुत्कटतां गतः ।
यत्रोपमेयसन्देह उत्प्रेक्षा सा प्रकीर्त्तिता ॥ —अलंकार मंजरी ५०

उत्प्रेक्षावयव

उत्प्रेक्षावयव को स्वतन्त्र नाम देकर अलंकार स्वीकार करने वाले आचार्य केवल भामह हैं। वामन ने उत्प्रेक्षावयव की चर्चा यद्यपि की है, किन्तु उन्होंने इसे **संसृष्टि** के भेद के ही रूप में ही माना है, स्वतन्त्र अलंकार के रूप में नहीं। उन्होंने (वामन ने) अन्य अलंकारों की एकत्र समष्टि को कोई स्वतन्त्र नाम न देकर केवल **उत्प्रेक्षावयव** की ही चर्चा की है, इसमें बहुत संभव है, भामह के प्रति उनके मानस में विद्यमान सम्मान भावना ही कारण रही हो। भामह इसे स्वतन्त्र नाम देते हुए भी इसे संसृष्टि के पर्याप्त निकट मानते हैं, यही कारण है कि उन्होंने इसका विवरण प्रायः सभी अलंकारों के अन्त में संसृष्टि के निकट रखा है। यद्यपि इन दोनों अलंकारों के मध्य **स्वभावोक्ति अलंकार** का वर्णन उपर्युक्त कल्पना में कुछ बाधक भी है।

भामह के अनुसार जहां कुछ अंश **श्लेष अलंकार** का और कुछ अंश **रूपक अलंकार** का हो, साथ ही उत्प्रेक्षा अलंकार के तत्त्व भी वहां चारुत्वातिशय के हेतु हो रहे हों, वहां **उत्प्रेक्षावयव** अलंकार मानना चाहिए।

तुल्योदयावसानत्वाद्गतेऽस्तं प्रति भास्वति।
वासाय वासरः क्लान्तो विशतीव तमोगृहम्॥

यह पद्य इसका उदाहरण है।

मूल लक्षण

भामह— श्लिष्टस्यार्थेन संयुक्तः किञ्चिदुत्प्रेक्षयान्वितः।
रूपकार्थेन च पुनरुत्प्रेक्षावयवो यथा। —काव्यालंकार ३.४६

वामन—उत्प्रेक्षाहेतुरुत्प्रेक्षावयवः (संसृष्टि भेद)।
—काव्यालंकार सूत्र ४.३.३३

उदात्त

उदात्त अलंकार में किसी वर्ण्य की लोकोत्तर सम्पत्ति का अथवा प्रकरण से सम्बद्ध महापुरुष का वर्णन किया जाता है। इस अलंकार का सर्वप्रथम स्वरूप निर्धारण दण्डीकृत काव्यादर्श में मिलता है (आशयस्य विभूतेर्वा यन्महत्त्वमनुत्तमम्। उदात्तं नाम तं प्राहुरलंकारं मनीषिणः। का० द० २.३००)। वामन, रुद्रट, कुन्तक, हेमचन्द्र, वाग्भट द्वितीय, शौद्धोदनि केशवमिश्र एवं पंडितराज जगन्नाथ को छोड़कर प्रायः सभी आलंकारिकों ने इसे स्वीकार किया है। भोज ने उदात्त को अलंकार न मान कर शब्द एवं वाक्यार्थ के गुण के रूप में स्वीकार किया है। (स० कं० पृ० १६,२५)। हेमचन्द्र ने इसकी अलंकारता को अस्वीकार करते हुए इसे अतिशयोक्ति एवं जाति (स्वभावोक्ति) में अन्तर्भूत माना है (काव्यानु० भाग २, पृ० ४०३)। इसी प्रकार भट्टि ने 'उदार' में तथा रुद्रट ने 'अवसर' में अन्तर्भूत किया है।

इसे उदात्त इसलिए कहा जाता है, क्योंकि इस अलंकार में उदात्त ऐश्वर्य का अथवा उदात्त पुरुष के चरित्र का वर्णन किया जाता है। मल्लिनाथ के अनुसार ऐश्वर्य वर्णन एवं उदात्त पुरुष का वर्णन अर्थतः सर्वथा भिन्न हैं, अतः इन दोनों की पृथक् अलंकारों के रूप में गणना करनी चाहिए, किन्तु शब्द साम्य के कारण एक स्थान पर ही इन दोनों का निरूपण कर लिया जाता है (एतेन उदात्तैश्वर्ययोगादुदात्तः प्रागुक्तः। अयं तूदात्तपुरुषचरितयोगादुदात्त इति पूर्वस्मादन्य

एवायमलंकारोऽर्थभेदात्। परं शब्दसाम्यादत्रैव निरूपणम्। (एकावली-तरला पृ० ३३१)।

इस अलंकार के दो प्रकार हैं:—(१) लोकातिशय (उदात्त) सम्पत्ति का वर्णन एवं (२) उदात्त पुरुष के चरित का वर्णन।

उदात्त अलंकार में वस्तु अथवा व्यक्ति के गुणोत्कर्षका वर्णन किया जाता है एवं पूर्ववर्णित स्वभावोक्ति एवं भाविक में भी वस्तु स्वभाव का वर्णन किया जाता है, तथापि तीनों अलंकारों के क्षेत्र परस्पर अत्यन्त भिन्न हैं, क्योंकि स्वभावोक्ति में वस्तु के लौकिक स्वभाव का यथातथ्य चमत्कार जनक वर्णन होता है एवं भाविक में अलौकिक वस्तु स्वभाव का यथातथ्य वर्णन होता है, जबकि उदात्त में स्वभाव का नहीं बल्कि कल्पित स्वरूप का वर्णन होता है। तात्पर्य यह है कि स्वभावोक्ति और भाविक में वर्ण्यमान धर्म वस्तु का धर्म होता है। जबकि उदात्त में वे धर्म कवि की कल्पना से प्रसूत होते हैं वास्तविक नहीं। (स्वभावोक्तौ भाविके च यथावद् वस्तुवर्णनम्, तद्विपक्षत्वेनारोपितवस्त्वात्मन उदात्तस्यावसरः। तत्रासम्भाव्यमानविभूतियुक्तस्य वस्तुनो वर्णनं कविप्रतिभोत्थापितमैश्वर्यलक्षणमुदात्तम्। अ० स० पृ० २३०।

मूल लक्षण

दण्डी

आशयस्य विभूतेर्वा यन्महत्त्वमनुत्तमम्।
उदात्तं नाम तं प्राहुरलंकारं मनीषिणः॥ —काव्यादर्श २.३००

भामह

एतदेवापरेऽन्येन व्याख्यानेनान्यथा विदुः।
नानारत्नादियुक्तं यत्तत्किलोदात्तमुच्यते॥ —काव्यालंकार ३.१२

शिलामेघसेन—दण्डी अनुकृत

उद्भट

उदात्तं ऋद्धिमद्वस्तु चरितं च महात्मनाम्।
उपलक्षणतां प्राप्तं नेतिवृत्तत्वमागतम्॥

—काव्यालंकारसार संग्रह ४.८

भोज (उदात्तानुण)

श्लाघ्यैर्विशेषणैर्योगो यस्तु सा स्यादुदात्तता।
आशयस्य य उत्कर्षस्तदुदात्तत्वमिष्यते ।।

—सरस्वतीकंठाभरण ३.८२

कुन्तक

ऊर्जस्व्युदात्ताभिधानं पौर्वापर्यप्रणीतयोः।
अलंकरणयोर्भूषणत्वं तद्वन्न विद्यते ।। —वक्रोक्तिजीवित ३.१२

मम्मट

उदात्तं वस्तुनः सम्पत्, महतां चोपलक्षणम् ।

—काव्यप्रकाश सू० १७६-१७७ का० ११५

रुय्यक

समृद्धिमद्वस्तुवर्णनमुदात्तम्, अङ्गभूतमहापुरुषवर्णनञ्च ।

—अलंकारसर्वस्व ८१-८२

वाग्भट प्रथम

वस्तुसम्पत्या महदुपलक्षणेन च वर्णनमुदात्तम् ।।

—काव्यानुशासन पृ० ४२

शोभाकरमित्र

उदारचरिताङ्गत्वमुदात्तम् । —अलंकाररत्नाकर १०८

जयदेव

उदात्तमृद्धेश्चरितं श्लाघ्यं चान्योपलक्षणम् ।। —चन्द्रालोक ५.११०

विद्यानाथ

तदुदात्तं भवेद्यत्र समृद्धं वस्तु वर्ण्यते ।। —प्रतापरुद्रीयम् ८.२६२

संघरक्षित

विभूतिया महन्तत्थं अधिप्पायस्य वा सियो ।
परनुक्कंसतं यातं तं महन्तत्थं ईरितम् ।। —सुबोधालंकार ३०६

विद्याधर

अभिमतमेतदुदात्तं समृद्धिमद्वस्तुवर्णनं यत्र ।। —एकावली ८.७४

विश्वनाथ

लोकातिशयसम्पत्तिवर्णनोदात्तमुच्यते ।
यद्वापि प्रस्तुतस्याङ्गं महतां चरितं भवेत् ।। —साहित्यदर्पण १०.९४

अमृतानन्दयोगिन्

तदुदात्तं यन्महत्त्वमादायैश्वर्ययोर्यथा ।। —अलंकार संग्रह ५.४०

अप्पयदीक्षित

उदात्तमृद्धेश्चरितं श्लाघ्यं चान्योपलक्षणम् ॥ —कुवलयानन्द १६२

चिरञ्जीव

उदात्तमृद्धेश्चरितं श्लाघ्यं चान्योपलक्षणम् ॥ —काव्यविलास २.५८

नरेन्द्रप्रभसूरि

उदात्तं तत्तु यत्काममृद्धिमद्वस्तुवर्णनम् ।
चरितं च महापुंसः कुत्राप्यङ्गत्वमागतम् ॥ —अलंकार महोदधि ८.८४

भावदेवसूरि

उदात्तं धीरवृत्तं यत् ॥ —काव्यालंकार सारसंग्रह ६.३७ (तृतीय चरण)

नरसिंह कवि

उदात्तालंकृतिः सा स्याद्यत्समृद्धार्थवर्णनम् ॥
—नञ्राजयशोभूषण पृ० २१७

भट्ट देवशंकरपुरोहित

समृद्धेश्चरितं यत्र श्लाघ्यं चरितमेव वा ।
वर्ण्यतेऽन्याङ्गतापन्नं तत्रोदात्तमुदाहृतम् ॥ —अलंकार मंजूषा १२६

विश्वेश्वर

वस्तुप्रचय उदात्तं महतामङ्गत्ववचनं च ॥ —अलंकारमुक्तावली ३४

श्रीकृष्णब्रह्मतन्त्र परकालस्वामी

तदुदात्तं वस्तु यत्र वर्ण्यते सुसमृद्धिमत् ।
अन्योपलक्षकं श्लाघ्यचरित्रं वा निबध्यते ॥ — अलंकार मणिहार १६१

वेणीदत्त

उत्कर्षव्यक्तये यत्तु वर्णनीयस्स वस्तुनः ।
उदात्तं तद् विशेषेण कथितं काव्यकोविदैः ॥ —अलंकार मञ्जरी १४७

उदारसार

उदार सार अलंकार की कल्पना चन्द्रालोककार जयदेव की है। जयदेव से परवर्त्ती किसी आलंकारिक ने, यहां तक कि कुवलयानन्द में मुख्यतः चन्द्रालोक को ही उपजीव्य मानने वाले अप्पय दीक्षित ने भी, इसे स्वीकार नहीं किया है । जयदेव के अनुसार जहां भिन्न अनेक गुण भी

अभिन्न रूप से प्रतीत होते हैं, वहां **उदार सार अलंकार** होता है। भेद में भी अभेद की यह प्रतीति सादृश्यातिशय के कारण हुआ करती है, यद्यपि जयदेव ने लक्षण में इस सादृश्य का कोई उल्लेख नहीं किया है। स्मरणीय है कि भिन्न पदार्थों में अभेद प्रतीति का निबन्धन होने पर प्रायः सभी आचार्य अभेदे भेदरूपा अतिशयोक्ति स्वीकार करते हैं। **उदारसार** अलंकार में यह अभेद प्रतीति केवल गुणों के मध्य में होती है, द्रव्य आदि में नहीं।

"मधुरं मधु पीयूषं तस्मात् तस्मात्कवेर्वचः।"

इत्यादि पद्य में रसना ग्राह्य मधु का माधुर्य श्रोत्रग्राह्य काव्य के माधुर्य से यद्यपि नितान्त भिन्न है, तथापि उसका अभिन्नतया निबन्धन किया गया है।

मूल लक्षण

जयदेव—उदारसारश्चेद् भाति भिन्नोऽभिन्नतया गुणः। —चन्द्रालोक ५.८९

उदाहरण

उदाहरण अलंकार केवल पंडितराज जगन्नाथ एवं श्री कृष्ण-ब्रह्मतन्त्रपरकाल स्वामी द्वारा स्वीकृत अलंकार है। यह भी सादृश्य मूलक अलंकारों में से अन्यतम है, अर्थात् **उदाहरण अलंकार** की स्थिति में प्रस्तुत एवं अप्रस्तुत ये दो पदार्थ अवश्य ही रहा करते हैं। साथ ही अर्थान्तर न्यास की भांति इसमें भी दो पदार्थों के मध्य समर्थ्य समर्थक भाव अवश्य रहता है। इसके अतिरिक्त इस अलंकार के लिए यह आवश्यक है कि सर्वप्रथम प्रस्तुत और अप्रस्तुत दोनों में रहने वाले सामान्य पदार्थ का कथन किया जाए तथा उस अभिहित सामान्यार्थ की स्पष्ट प्रतीति के लिए विशेष अर्थ का कथन अवश्य किया जाए, साथ ही इन दोनों अर्थों के मध्य अवयव अवयवी भाव का अभिधान भी हो रहा हो।

अभिमतगुणोऽपि पदार्थो दोषेणैकेन निन्दितो भवति।
निखिलरसायनराजो गन्धेनोग्रेण लशुन इव॥

प्रस्तुत पद्य में अमितगुणपदार्थ प्रस्तुत है और निखिलरसायनराज लशुन अप्रस्तुत, प्रस्तुत अर्थ को सामान्यभूत अर्थ और अप्रस्तुत लशुन

को विशेषभूत अर्थ भी कह सकते हैं, तथा **अर्थान्तरन्यास** के समान यहां प्रस्तुत सामान्य एवं अप्रस्तुत विशेष के मध्य समर्थ्य समर्थक भाव भी विद्यमान है। इसके अतिरिक्त प्रस्तुत सामान्य अर्थ अमित गुण पदार्थ और दोष के मध्य तथा अप्रस्तुत विशेष पदार्थ लशुन और उग्रगन्ध के बीच अवयव अवयवी भाव भी विद्यमान है। अतः इस प्रकार के पद्यों में पण्डितराज जगन्नाथ के अनुसार **उदाहरण अलंकार** स्वीकार किया जाएगा। स्मरणीय है कि जगन्नाथ एवं श्रीकृष्णब्रह्मतन्त्र परकालस्वामी के अतिरिक्त किसी भी अन्य आलंकारिक ने इस अलंकार की चर्चा नहीं की है।

मूल लक्षण

जगन्नाथ—सामान्येन निरूपितस्यार्थस्य सुखप्रतिपत्तये तदेकदेशं निरूप्य तयोरवयवावयविभाव उच्यमान उदाहरणम्।

—रसगंगाधर भाग ३, पृ० ४७३

श्रीकृष्णब्रह्मतन्त्रपरकालस्वामी

सामान्योक्त सुबोधाय तदेकांशनिरूपणात्।
उक्ते तयोरवयवावयवित्व उदाहृतिः॥

—अलंकार मणिहार २८

उद्भेद

उद्भेद अलंकार की चर्चा हमें सर्वप्रथम सरस्वती कण्ठाभरण में मिलती है, किन्तु वहां इसे **भाविक** अलंकार से अभिन्न प्रतिपादित किया गया है। जिसे देखकर यह अनुमान किया जा सकता है कि भोज से पूर्व कुछ आलंकारिकों ने **उद्भेद** को स्वतन्त्र अलंकार के रूप में अवश्य स्वीकार किया था, यद्यपि उन आलंकारिकों की सूचना भी आज हमें उपलब्ध नहीं है। शोभाकरकृत अलंकार रत्नाकर में इसे स्वतन्त्र अलंकार के रूप में स्वीकार किया गया है। उनके अनुसार जहां निगूढ अर्थ का कथमपि उद्भेदन किया गया है, वहां **उद्भेद अलंकार** होता है।

'सूर्यच्छलेन पुत्रक कस्य त्वमञ्जलिं प्रणमयसि।
हासकटाक्षमिश्रा न भवन्ति देवानां ज्योत्कारा:॥'

प्रस्तुत पद्य में सूर्य को प्रणाम के व्याज से वातायन (खिड़की) में स्थित किसी प्रेयसी को प्रणाम करने वाले किसी युवक से उसके इन गूढ व्यवहार का उद्भेद 'देवताओं की प्रणाम-प्रतिक्रिया हास एवं कटाक्षनिक्षेप युक्त नहीं होती' कहते हुए किया गया है, अतः ऐसे स्थलों पर **उद्भेद अलंकार** स्वीकार किया जाता है। यह अलंकार वाच्य और व्यङ्ग्य भेद से दो प्रकार का हो सकता है।

मूल लक्षण

भोज—मते चास्माकमुद्भेदो भिद्यते नैव भाविकात्।
व्यक्ताव्यक्तोभयाख्यायिः त्रिविधः सोऽपि कथ्यते।

—सरस्वती कण्ठाभरण ४.८६

शोभाकर—निगूढस्य प्रतिभेद उद्भेदः। —अलंकाररत्नाकर पृ० १०१

उद्रेक

उद्रेक अलंकार को केवल शोभाकर मित्र ने ही स्वीकार किया है। इनके अनुसार जहां दोष अथवा गुण अपने सजातीय अथवा विजातीय अर्थात् दोष अथवा गुण की अपेक्षा तुच्छ प्रतीत हों, वहां **उद्रेक अलंकार** होता है। यह स्थिति चार प्रकार की हो सकती है। गुण की अपेक्षा गुण की तुच्छता, दोष की अपेक्षा गुण की तुच्छता; गुण की अपेक्षा दोष की तुच्छता और दोष की अपेक्षा दोष की तुच्छता। फलतः **उद्रेक अलंकार** के चार भेद हो सकते हैं।

मूल लक्षण

शोभाकर—सजातीयविजातीयाभ्यां तुच्छत्वम् उद्रेकः।

—अलंकाररत्नाकर ६८

उन्मीलित

उन्मीलित अलंकार सर्वथा अविदित अलंकारों में अन्यतम है। इसे चन्द्रालोककार जयदेव, कुवलयानन्दकार अप्पय दीक्षित, अलंकार मुक्तावलीकार विश्वेश्वर, अलंकार मंजूषाकार भट्ट देवशंकर पुरोहित एवं अलंकारमणिहारकार श्रीकृष्णब्रह्मतन्त्रपरकालस्वामी के अतिरिक्त

किसी अन्य आचार्य ने स्वीकार नहीं किया है। इनके अनुसार किसी भी ज्ञात वैशिष्ट्य के आधार पर भेद की प्रतीति होने पर उन्मीलित अलंकार स्वीकार किया जाता है।

'लक्षितान्युदिते चन्द्रे पद्मानि च मुखानि च'

इत्यादि पद्य में चन्द्रोदय रूप विशिष्ट हेतु से पद्म एवं कामिनीमुख के भेद की प्रतीति का निबन्धन हुआ है। अतः इन आचार्यों के अनुसार इस प्रकार की स्थितियों में **उन्मीलित अलंकार** माना जाएगा।

मूल लक्षण

जयदेव—हेतोः कुतोऽपि वैशिष्ट्यात् स्फूर्तिरुन्मीलितं मतम्।

—चन्द्रालोक ५.३५

अप्पयदीक्षित—भेदवैशिष्ट्ययोः स्फूर्त्तावुन्मीलितविशेषकौ।

—कुवलयानन्द १४८

भट्ट देवशंकर पुरोहित—भेदवैशिष्ट्ययोः स्फूर्तिः केनचिद्धेतुना भवेत्।
यत्र तत्र प्रगदितावुन्मीलितविशेषकौ।

—अलंकारमंजूषा ११३

विश्वेश्वर—हेतोः कुतोऽपि वैशिष्ट्यस्फूर्त्तिरुन्मीलितं मतम्।

—अलंकार मुक्तावली पृ० ५२

श्रीकृष्णब्रह्मतन्त्रपरकालस्वामी
स्फूर्तौ समानगुणयोर्भेदस्योन्मीलितं विदुः।

—अलंकारमणिहार १४६

उपन्यास

उपन्यास नामक अलंकार की चर्चा केवल विष्णुधर्मोत्तर पुराण में हुई है। उक्त पुराण के अनुसार जहां अन्य के निबन्धन के द्वारा किसी अन्य का कथन किया जाए उसे **उपन्यास अलंकार** कहते हैं। परवर्त्ती किसी अलंकारिक ने **'उपन्यास'** नाम से किसी अलंकार की स्वीकृति नहीं दी है। उन्होंने इसके समानधर्मी **अन्योक्ति** एवं **पर्यायोक्त** को स्वीकार किया है। यद्यपि इन दोनों अलंकारों का स्वरूप परस्पर सर्वथा भिन्न है, साथ ही उनका स्वरूप **उपन्यास** से भी पर्याप्त भिन्न है। यद्यपि **उपन्यास** से उन अलंकारों के अन्तर को इसका परिष्कार

माना जा सकता है। उपन्यास में अन्य के उपन्यास से अन्य के कथन में न तो अभिधीयमान और अभिधेय अर्थ के सम्बन्ध की कोई चर्चा की गयी है, और न दोनों में अन्यतम के वाच्य या व्यंग्य होने का कोई संकेत है, जबकि अन्योक्ति में अभिधीयमान और अभिधेय दोनों अर्थों के मध्य उपमान उपमेय भाव अथवा सामान्य विशेष भाव होना चाहिए, एवं पर्यायोक्त में एक का प्रतीयमान और अन्य का वाच्य होना आवश्यक होता है। स्मरणीय है कि उपन्यस्त किसी वस्तु द्वारा इतर वस्तु का बोध सम्बन्ध विशेष के आधार पर ही हो सकता है। वह सम्बन्ध सादृश्य कार्यकारणभाव सहचार स्थान (आधार आधेय भाव) तादर्थ्य आदि अनेक हो सकते हैं। भाषा में इन सम्बन्धों के आधार पर एक अर्थ के बोधक पद से अन्य अर्थ का बोध होने पर लक्षणा वृत्ति स्वीकार की जाती है, ऐसे प्रयोगों में दोनों अर्थों में अभेद का प्राधान्य अथवा अंशतः प्राधान्य रहता है। प्रथम स्थिति में सभी आलंकारिक **रूपक अलंकार** स्वीकार करते हैं। द्वितीप स्थिति में कुछ आलंकारिक **लक्षणा अलंकार** मानते हैं। कभी कभी एक सदृश पदार्थ से इतर पदार्थ का बोध निबद्ध रहता है, वहां **उपमान अलंकार** माना जाता है। इन अलंकारों के विशेष परिचय के लिए उनका निज विवरण द्रष्टव्य है।

मूल लक्षण

विष्णुधर्मोत्तर

उपन्यासेन चान्यस्य यदन्यः परिकीर्त्यते।
उपन्यासमलंकारं तन्नरेन्द्र प्रचक्षते॥ —१४.८

रुद्रट

समानविशेषणमपि यत्र समानेतिवृत्तमुपमेयम्।
उक्तेन गम्यते परमुपमानेनेति सान्योक्तिः। —काव्यालंकार ८.७४

हेमचन्द्र

सामान्यविशेषे कार्ये कारणे प्रस्तुते तदन्यस्य।
तुल्ये तुल्यस्य चोक्तिरन्योक्तिः।
—काव्यानुशासन ६.८, सू० १२०

वाग्भट प्रथम

उपमेयस्योक्तौ अन्य प्रतीतिरन्योक्तिः। —काव्यानुशासन पृ० ३४

उपमा

साम्य—साम्य सौन्दर्य का मूल है इसे सामान्यरूप से स्वीकार करने में किसी को आपत्ति नहीं हो सकती। लोक में एक से प्रतीत होने वाले जुड़वा भाई-बहनों की दर्शनीयता साम्य के कारण ही होती है। विद्यालयों में छात्र-छात्राओं के लिए गणवेश का निर्धारण अथवा सैनिक अथवा अर्धसैनिक संगठनों में वेश का निर्धारण इस सौन्दर्य भावना के कारण ही किया जाता है। वाग्व्यवहार में भी समान पदों, समान ध्वनि वाले पदों अथवा समान उच्चारण स्थान से उच्चरित होने वाले पदों में सौन्दर्य की जो अनुभूति होती है, उसके आधार, पर स्वीकार किये जाने वाले अलंकारों (शब्दालंकारों) को अधिकांश आचार्यों ने स्वीकृति दी है। ध्वनि साम्य के समान ही ध्वनिगम्य अर्थों की समानता में जिस सौन्दर्य की अनुभूति होती है उसके आधार पर अनेक अलंकारों को स्वीकार किया जाता है। जिनका वर्णन यथास्थान किया जायेगा।

परस्पर भिन्न दो वस्तुओं में विद्यमान सादृश्य के कथन की शैली अनन्त हो सकती हैं और इसी आधार पर सादृश्य मूलक अलंकारों की संख्या भी अनन्त हो सकती है। मुख और चन्द्र में विद्यमान कोई धर्म विशेष (आह्लादकता) दोनों में सादृश्य की प्रतीति कराता है। इन दोनों पदार्थों में विद्यमान सादृश्य के कुछ प्रमुख प्रकार के आधार पर अप्पय दीप्ति ने चित्र मीमांसा में बाईस अलंकारों को उद्धृत किया है।

एक ही उपमान और उपमेय की दृष्टि भेद एवं प्रकार भेद से निरूपण करने के कारण अनेक अलंकार हो सकते हैं तथा प्रत्येक अलंकार के मूल में सादृश्य विद्यमान रहता है। इस प्रकार यह स्वीकार करना अनुचित न होगा कि अलंकार योजना के प्रसंग में सादृश्य मुख्यतम तत्त्व है। अतएव अलंकार शास्त्र के आचार्यों द्वारा सादृश्य मूलक अलंकारों का सर्वप्रथम वर्णन करना उचित ही है। सादृश्य नामक समान तत्त्व के रहते हुए भी उपमा, रूपक आदि अलंकारों में विद्यमान भेदक तत्त्वों का वर्णन यथा अवसर किया जायेगा।

उपमा अलंकार का काव्यों में प्रयोग वैदिक काल से लेकर आज

तक सभी कवियों ने अनिवार्य रूप से किया है। काव्यशास्त्र के आचार्यों में भी भरत से लेकर आज तक के सभी आचार्यों ने इसको स्वीकार करते हुए इसका लक्षण करना चाहा है। इतना ही नहीं भाषा-शास्त्र के आचार्य पाणिनि ने 'उपमानानि सामान्यवचनैः, [पा. २,५५] उपमितं व्याघ्रादिभिः सामान्याप्रयोगे [पा. २.१.५६] आदि सूत्रों में एवं यास्क ने लुप्तोपमानानि, अथोपमानानि आचक्षते [निरुक्त ३.४.१] शब्दों द्वारा उपमा का विवेचन किया है। निघण्टुकार ने भी उपमालंकार का संक्षिप्त विवरण दिया है एवं उसके द्वारा सूचित किया है कि उनके पूर्व भी गार्ग्य आदि आचार्यों ने उपमा का साङ्गोपाङ्ग विवेचन किया था।

पूर्णोपमा—उपमान और उपमेय के मध्य वैधर्म्य का कथन न करते हुए यदि एक वाक्य में साम्य का कथन किया जाये तो वहां उपमा अलंकार होता है। उपमा अलंकार की योजना में चार अंश अनिवार्यतः होते हैं: (१) उपमान (२) उपमेय (३) साधारणधर्म और (४) उपमावाचक इव आदि पद। कभी-कभी उपर्युक्त चारों अंशों का शब्दशः कथन नहीं होता, किन्तु वहां भी उनकी अर्थ सामर्थ्य से प्रतीति अवश्य होती है। उपमा के उपर्युक्त चार अंगों का कथन करते हुए यदि उपमा अलंकार की योजना होती है, तो वहां **पूर्णोपमा** अलंकार माना जाता है एवं जहाँ अर्थ सामर्थ्य से उपर्युक्त एक या अधिक उपमा के अंगों में अन्यतम की प्रतीति हो उसे लुप्तोपमा अलंकार कहते हैं। अनेक आचार्यों ने इसे पूर्णोपमा एवं लुप्तोपमा न कहकर श्रौती एवं आर्थी उपमा कहा है। पूर्णा और लुप्ता अथवा श्रौती एवं आर्थी का यह भेद हमें सर्वप्रथम उद्‌भट के काव्यालङ्कारसार संग्रह में मिलता है। भरत दण्डी एवं शिलामेघसेन ने उपमा के अंगों के शब्द द्वारा वाच्य होने अथवा न होने के आधार पर कोई भेद नहीं किया था।

भरत द्वारा स्वीकृत उपमा के **प्रशंसा निन्दा कल्पिता सदृशी** और **किञ्चित्सदृशी** भेदों में वक्ता के उद्देश्य अथवा सादृश्य के स्वरूप की ओर ही ध्यान लक्षित होता है।

दण्डी ने उपमा अलंकार के निम्नलिखित बत्तीस भेद स्वीकार किये हैं—धर्मोपमा, वस्तूपमा, विपर्यासोपमा, अन्योन्योपमा, नियमोपमा, अनियमोपमा, समुच्चयोपमा, अतिशयोपमा,

उत्प्रेक्षितोपमा, अद्भुतोपमा, मोहोपमा, संशयोपमा, निर्णयोपमा, श्लेषोपमा, समानोपमा, निन्दोपमा, प्रशंसोपमा, आचिख्यासोपमा, विरोधोपमा, प्रतिषेधोपमा, चाटूपमा, तत्त्वाख्यानोपमा, असाधारणोपमा, अभूतोपमा, असम्भावितोपमा, बहूपमा, विक्रियोपमा, मालोपमा, वाक्यार्थोपमा, प्रतिवस्तूपमा, तुल्ययोगोपमा और हेतूपमा।

अग्निपुराण में समास और असमास के आधार दो भेद करते हुए समास के पुन: दो भेद किये गये हैं एवं पुनः दण्डी के समान वस्तूपमा, धर्मोपमा परस्परोपमा विपरीतोपमा नियमोपमा, अनियमोपमा समुच्चयोपमा व्यतिरेकोपमा बहूपमा मालोपमा विक्रियोपमा अद्भुतोपमा मोहोपमा संशयोपमा निश्चयोपमा वाक्यार्थोपमा आत्मनोपमा अनन्योपमा एवं गगनोपमा भेद स्वीकार किये गये हैं। साथ ही उपर्युक्त भेदों में भरत स्वीकृत भेदों का अनुसरण करते हुए वाक्यार्थ के उद्देश्य के आधार पर पांच प्रकार स्वीकृत किये गये हैं।

भामह ने उपमागत सादृश्य बोधक तत्त्व को आधार मान कर इवादिवाच्या समासाभिहिता एवं वतिनोक्ता नाम से तीन भेद स्वीकार किये हैं। इसके अतिरिक्त उन्होंने जहां समान वस्तु का निबन्धन होने से इवादि के बिना भी सादृश्य की प्रतीति होती है, वहाँ भी उपमा अलंकार स्वीकार किया है। भामह ने निन्दा प्रशंसा आदि के आधार पर उपमा के भेदों का स्पष्ट खंडन किया है।

जैसा कि पूर्व पंक्तियों में कहा जा चुका है कि लुप्ता आदि भेदों का सर्वप्रथम संकेत हमें उद्भट के काव्यालंकार सार संग्रह में मिलता है, इसके अतिरिक्त क्यच् क्यङ् आदि प्रत्ययों के आधार पर उपमा के भेदों की कल्पना भी हमें सर्वप्रथम उद्भट में ही मिलती है। उपमाबोधक प्रत्यय आदि के आधार पर उपमा के भेदों को न्यूनाधिक संख्या में मम्मट और पंडितराज जगन्नाथ ने उद्भट का अनुसरण करते हुए ही स्वीकार किया है। उद्भट के अनुसार उपमा के प्रकार निम्नलिखित हैं—इवादि वाच्या, सादृश्यादि वाच्या, वाचक लुप्ता, वाचकोपमेयलुप्ता, त्रिलुप्ता, वाचकधर्मलुप्ता, समासा, असमासा, क्यच् प्रत्यय सहिता, क्यङ् प्रत्यय सहिता, णमुल् सहिता, वतिसहिता, षण्ठ्यन्ता, सप्तम्यन्ता, नामधातुवती, कल्पप् प्रत्ययान्ता और

तद्धितान्ता। उद्भट उपर्युक्त भेदों की चर्चा करते हुए अन्त में बहुविधा कहते हुए स्वीकृत भेदों के अतिरिक्त अन्य भेदों की संभावना अथवा भेदों की अनन्तता की ओर भी संकेत करते प्रतीत होते हैं।

काव्यालंकार सूत्र वृत्तिकार वामन ने उपमा के केवल चार भेद ही स्वीकार किये हैं—पदार्थोपमा, वाक्यार्थोपमा, पूर्णा और लुप्ता। आचार्य रुद्रट के अनुसार उपमा के प्रथम तीन प्रकार हैं—वाक्यार्थोपमा, समासोपमा और प्रत्ययोपमा। उनके अनुसार वाक्यार्थोपमा के छ एवं समासोपमा के पुनः तीन प्रकार होते हैं। इनके अतिरिक्त वे **मालोपमा रशनोपमा, समस्तविषया** एवं **एकदेशविषया** इत्यादि भेद भी स्वीकार करते हैं।

सरस्वती कंठाभरणकार भोज के अनुसार सर्वप्रथम उपमा के दो भेद हैं—अभिधीयमाना (वाच्या) और प्रतीयमाना। इन दोनों भेदों में पुनः पद वाक्य एवं प्रपञ्च भेद से तीन प्रकार हैं। उन्होंने इनके पुनः पृथक्-पृथक् आठ उपभेद किये हैं। इस प्रकार अभिधीयमाना और प्रतीयमाना उपमा के चौबीस भेद हो जाते हैं। उनके अनुसार **पदोपमा** अन्तर्भूतेवार्था, अन्तर्भूतसामान्या, अन्तर्भूतोभयार्था, सर्वसमासा, उपमेयार्थप्रत्यया, उपमानार्थप्रत्यया, सामान्यार्थप्रत्यया एवं इवार्थप्रत्यया भेद से आठ प्रकार की है। इसी प्रकार वाक्योपमा के प्रथम दो भेद हैं—पदार्थसाम्यवती, वाक्यार्थसाम्यवती। इनमें से प्रथम भेद के चार उपभेद हैं—पूर्णा, लुप्ता, लुप्तपूर्णा एवं पूर्णलुप्ता। इसीप्रकार वाक्यार्थ साम्यवती के भी चार प्रकार हैं—एकेवशब्दा, अनेकेवशब्दा, अनिवादिशब्दा एवं वैधर्म्यवती। भोज के अनुसार प्रपञ्चोपमा के भी प्रकृतरूपा एवं विकृता नाम से प्रथम दो भेद हैं और दोनों में निम्नलिखित प्रकार से चार-चार प्रभेद होते हैं—प्रकृतरूपा में समस्तोपमा, एकदेशोपमा, मालोपमा एवं रसनोपमा। तथा विकृता में विपर्यासोपमा, उभयोपमा, उत्पाद्योपमा एवं अनन्वयोपमा।

आचार्य मम्मट ने उपमा के प्रथम दो भेद किये हैं पूर्णा और लुप्ता। उनके अनुसार पूर्णा के पांच प्रकार हैं—श्रौती, आर्थी, वाक्यगा, समासगा और तद्धितगा।

वे लुप्ता के पुनः निम्नलिखित प्रकार मानते हैं :—

उपमानलुप्ता—वाक्यगा और समासगा। **वाचकलुप्ता**—समासगा, कर्मणि क्यजन्ता, अधिकरणे क्यजन्ता, कर्तरि क्यङन्ता, **द्विलोपाः**—क्विप् प्रत्ययान्ता, समासवती, **धर्मोपमान लुप्ता**; समासगा एवं वाक्यगा; **उपमेयलुप्ता**—क्यच्प्रत्ययान्ता, त्रिलुप्ता समासगा।

आचार्य रुय्यक साधारण धर्म के निर्देश के प्रकार के आधार पर उपमा के तीन भेद करते हैं; अनुगामितया निर्देशवती, बिम्बप्रतिविम्बभावतया निर्देशवती एवं वस्तुप्रतिवस्तुभाव से निर्देशवती। हेमचन्द्र और जयदेव भेदोपभेदों के प्रपञ्च की सर्वथा उपेक्षा करते हैं।

शोभाकार मित्र उपमा के **भावरूपा और अभावरूपा** दो भेद करके गुण-क्रिया एवं धर्म के निर्दिष्ट होने पर त्रिविधा भावरूपा उपमा मानते हैं। उनके अनुसार धर्म श्लिष्ट और शुद्ध दो प्रकार से निर्दिष्ट हो सकता है। इनके अनुसार भी धर्म के निर्देश के तीन प्रकार हैं—साधारण धर्म का एक बार निर्देश, अनेक बार निर्देश अथवा बिम्बप्रतिबिम्बभाव से निर्देश। धर्म का निर्देश न होने पर वह उपमा **प्रकृतगत** अप्रकृतगत और उभयगत होने से तीन प्रकार की होगी। अन्त में वे उपमा को बहुविधा स्वीकार करते हैं।

विद्यानाथ के अनुसार उपमा प्रथम पूर्णा और लुप्ता भेद से द्विविधा है। पूर्णोपमा में प्रथम श्रौती और आर्थी दो प्रकार हैं, पुनः दोनों ही प्रकारों में वाक्यगा; समासगा और तद्धितगा भेद से तीन-तीन प्रकार हैं। लुप्तोपमा में धर्म आदि उपमा के अंगों के अनुक्त रहने पर अनेक भेद हैं। यथा—**अनुक्त धर्मा**, वाक्यगा श्रौती, समासगा श्रौती, वाक्यगा आर्थी, समासगा आर्थी, तद्धितगा आर्थी एवं अनुक्तधर्मा इवादिवती। **अनुक्तोपमाना**—वाक्यगा, समासगा। **अनुक्त धर्मोपमाना** वाक्यगा, समासगा। **अनुक्तधर्मा इवादिवती** उपमाना समासगा। उक्तधर्मा-उपमा सकृद्निर्दिष्टधर्मा, उभयगतत्वेन निर्दिष्टधर्मा दो प्रकार की है। उभयगत निर्दिष्ट धर्मा पुनः धर्म के बिम्बप्रतिबिम्ब रूप से अथवा वस्तुप्रतिवस्तुभावतया निर्देश से दो प्रकार की है। इसके अतिरिक्त विद्यानाथ रूपक के समान ही समस्त वस्तुविषया एक देशविवर्तिनी तथा मालाभेद से उपमा के पुनः तीन प्रकार मानते हैं।

सुबोधालंकार के लेखक संघरक्षित सर्वप्रथम शब्दगम्या अर्थगम्या

एवं वाक्यार्थ विषया भेद से तीन प्रकार की उपमा स्वीकार करते हैं, तथा उनके अनुसार ये तीनों भेद समास, प्रत्यय एवं इवादि शब्द प्रयोग के आधार पर तीन-तीन प्रकार के हो जाते हैं। इनके अतिरिक्त संघरक्खित ने निम्नलिखित अन्य उपमा भेद भी स्वीकार किये हैं— धर्मोपमा, विपरीतोपमा, अन्योन्योपमा, अद्भुतोपमा, श्लेषोपमा, सन्तानोपमा, निन्दोपमा, प्रतिषेधोपमा, असाधारणोपमा भूतोपमा, सरूपोपमा, परिकल्पोपमा, संशयोपमा प्रतिवस्तूपमा एवं वाक्यार्थोपमा।

इन भेदों में से आदि के दश भेदों में अर्थात् धर्मोपमा से भूतोपमा तक में औपम्य वाच्य रहता है। शेष सरूपोपमा आदि पांच भेदों में औपम्यगम्य रहा करता है।

विद्याधर ने उपमा के भेदों में केवल पूर्णा और लुप्ता को स्वीकार किया है। शेष भेदों और उनके उपभेदों की उन्होंने कोई चर्चा नहीं की है।

विश्वनाथ के अनुसार उपमा के निम्नलिखित भेद हैं—

पूर्णा—श्रौतीतद्धितगा, श्रौती समासगा, श्रौती वाक्यगा। आर्थी-तद्धितगा आर्थीसमासगा एवं आर्थीवाक्यगा।

लुप्ता—धर्मलुप्ता श्रौती समासगा, श्रौती वाक्यगा। आर्थी तद्धितगा, आर्थी समासगा, आर्थी वाक्यगा। आर्थी क्यजन्ता, अधिकरणार्थक्यजन्ता, क्यङन्ता, कर्मण्युपमाने णमुल् (णमुल् कर्म के उपमान रहने पर) कर्त्तर्युपमाने णमुल् (णमुल् कर्ता के उपमान रहने पर। उपमानलुप्ता—वाक्यगा एवं समासगा। उपमावाचकलुप्ता—समासगा, क्विबन्ता। धर्मोपमानलुप्ता—समासगा, वाक्यगा। धर्मवाचकलुप्ता—समासगा, क्विबन्ता। उपमेयलुप्ता—क्यजन्ता। धर्मोपमेय लुप्ता—क्यजन्ता। त्रिलुप्ता (उपमा, उपमावाचक साधारण धर्मलुप्ता) समासगा।

विश्वनाथ की मान्यता है कि उपमा के श्रौती अथवा आर्थी होने की स्थिति में भी चमत्कार भेद विद्यमान रहता है, तथा श्रौती अथवा आर्थी भेदों में औपम्य की प्रतीति समस्त पदों से हो रही है अथवा असमस्त वाक्य से अथवा तद्धित आदि प्रत्ययों के द्वारा उसकी प्रतीति हो रही है इसमें भी चमत्कार भेद का अनुभव हो सकता है। किन्तु प्रत्ययविशेष में वह प्रत्यय क्यच् है या क्यङ् अथवा णमुल् इससे

चमत्कृत अनुभूति में कोई अन्तर नहीं आता है। फिर भी विश्वनाथ ने धर्मलुप्ता के क्यच् प्रत्ययान्त में दो प्रकार एवं णमुल् प्रत्यय होने पर दो प्रकार इत्यादि जो भेद किये हैं, उनमें उनके अनुसार ही क्या विशेष चमत्कार है यह विचारणीय है। इसके अतिरिक्त क्यच्, क्यङ्, णमुल् एवं क्विप् प्रत्यय करने पर जिस औपम्य की प्रतीति होती है वह वाच्य है अथवा गम्य अर्थात् औपम्य की वह प्रतीति शाब्दी है अथवा आर्थी इस विषय पर कोई विचार विश्वनाथ ने नहीं किया है। क्योंकि विश्वनाथ ने उपमा के सर्वप्रथम शाब्दी और आर्थी दो भेद किये हैं, अतः यह उचित ही नहीं, आवश्यक था, कि वे इन प्रत्ययान्त भेदों को भी उनके अन्तर्गत विभाजित करते, परन्तु विश्वनाथ ने ऐसा नहीं किया है। इतना ही नहीं उन्होंने 'इह च यथेवादितुल्यादिविरहाच्छ्रौत्यादि विशेषचिन्ता नास्ति' कहते हुए केवल यथा इव आदि पदों के प्रयोग की स्थिति में श्रौती एवं तुल्य आदि शब्दों के प्रयोग की स्थिति में आर्थी उपमा होती है, ऐसी विभाजन रेखा खींचने का प्रयत्न किया है, जो विद्वज्जनों को स्वीकार्य नहीं हो सकती। यथा आदि पदों के प्रयोग की स्थिति में औपम्य वाच्य रहने पर उस उपमा को श्रौती उपमा कहा जायेगा यह तो निर्विवाद है। किन्तु यथा आदि के अभाव में तुल्य आदि औपम्य व्यञ्जक पदों का प्रयोग हो अथवा नहीं दोनों स्थितियों में यदि औपम्य वाच्य न होकर गम्य है तो आर्थी उपमा मानना ही चाहिए।

उपमा अलङ्कार के संदर्भ में स्मरणीय है कि उपमान और उपमेय में विद्यमान समान धर्म के सम्बन्ध को उपमा अलङ्कार कहते हैं। यह समान धर्म उपमान और उपमेय में विद्यमान रहता है अतः उपमा अर्थात् समान धर्म के सम्बन्ध के आश्रय (अधिकरण) उपमान और उपमेय रहते हैं, अतः सम्बद्धच समान धर्म होगा तथा इव आदि उस सम्बन्ध के वाचक होते हैं। पूर्णा उपमा में अधिकरण भूत उपमान और उपमेय के सम्बध्य भूत साधारण धर्म का एवं वाचक इव आदि द्वारा उनके सन्बन्ध का कथन प्रतीत होता है। इव आदि सादृश्य सम्बन्ध के वाचक पदों का प्रयोग होने पर श्रुतिमात्र से उसकी प्रतीति होती है अतः उस अवस्था में उस उपमा को श्रौती उपमा कहा जाता है। जहां इव आदि सम्बन्ध वाचक पदों के अर्थ में ही 'तत्र तस्येव' [५-१-११६] आदि सूत्रों द्वारा विहित 'वत्' प्रत्यय से युक्त पदों का प्रयोग होता है

वहां भी 'वत्' प्रत्यय द्वारा सादृश्य सम्बन्ध का ही कथन होने से श्रौती उपमा ही कही जायेगी। इस सम्बन्ध के बोधन के लिए जहाँ इव आदि पद अथवा इवादि अर्थ में विहित प्रत्यय का प्रयोग न होकर 'तुल्य' आदि पदों का प्रयोग होता है, वहाँ उनका सम्बन्ध कहीं उपमान से होता है, कहीं उपमेय से और कहीं दोनों से। इस स्थिति में अर्थ के अनुसन्धान के अनन्तर ही साम्य का प्रतिपादन होता है। इसी कारण उस स्थिति में उपमा को आर्थी उपमा कहा जाता है। इसी प्रकार 'तेन तुल्यं क्रियाचेद्वतिः [पा० ५-१-११५] सूत्र से तुल्यार्थ में विहित वत्' प्रत्यय का प्रयोग होने पर आर्थी उपमा ही होगी। इन स्थलों में दो पदार्थों, उपमान और उपमेय में तुल्यता का कथन होता है। तुल्यता के बोध के लिए एक वस्तु में दूसरी वस्तु के धर्म का होना आवश्यक होता है, अतः इस अनिवार्यता के बोध के साथ दोनों में विद्यमान साधारण धर्म के सम्बन्ध का बोध होता है, इन स्थलों में साधर्म्य (साधारणधर्म के सम्बन्ध) का बोध आक्षेप के कारण होता है क्योंकि वहां साधारण धर्म का शब्दशः कथन नहीं हुआ है।

उदाहरणार्थ हम निम्नलिखित पद्य को देख सकते हैं :—

सौरभमम्भोरुहवन्मुखस्य कुम्भाविव स्तनौ पीनौ।
हृदयं मदयति वदनं तव शरदिन्दुर्यथा बाले॥

इस पद्य के प्रथम चरण में तद्धितगा श्रौती पूर्णा उपमा है, क्योंकि वत् कल्प इत्यादि प्रत्यय तद्धित (तद्धिताः ४.१.७६) अधिकार में पठित 'तत्र तस्येव' (५.१.११६) से विहित है एवं इसका विधान उक्त सूत्र से इवार्थ में हुआ हैं, अतः यह श्रौतौ तद्धितगा का उदाहरण है।

निष्कर्ष यह है कि उपमा के प्रथम दो भेद पूर्णोपमा और लुप्तोपमा में से पूर्णोपमा कुल छ प्रकार की है (१) श्रौती तद्धितगा (२) श्रौती समासगा (३) श्रौती वाक्यगा (४) आर्थी तद्धितगा (५) आर्थी समासगा एवं (६) आर्थी वाक्यगा।

उपमा के चार अंग उपमान, उपमेय साधारण धर्म एवं उपमा-वाचक में से किसी एक दो अथवा तीन का प्रयोग न होने पर भी जहां उपमेयार्थ की अव्याहत प्रतीति होती है, वहां लुप्तोपमा अलंकार अर्थात् लुप्ता उपमा स्वीकार की जाती है। उपमा के इस प्रकार में भी श्रौती और आर्थी दो उपभेद होंगे।

धर्मलुप्ता उपमा में पूर्णोपमा के समान ही सभी भेद प्रभेद होते हैं केवल तद्धितगा प्रभेद का होना इसमें सम्भव नहीं है। इसका कारण यह है कि तद्धितगा श्रौती केवल तभी हो सकती है जब तद्धित प्रत्यय 'इव' अर्थ में किया गया हो। इवार्थक तद्धित प्रत्यय केवल 'वत्' है, जिसका विधान 'तत्र तस्येव' (पा० ५.१.११६) सूत्र से होता है। इस प्रत्यय का प्रयोग तभी हो सकता है, जब साम्य का आधारभूत कारण भी साथ में विद्यमान हो। इस प्रकार अभिधेय की पूर्ण प्रतीति के लिए साम्य के हेतु का कथन आवश्यक है, यह कहा जा सकता है। यही कारण है कि धर्मलुप्ता केवल निम्नलिखित पांच प्रकार की होगी– धर्मलुप्ता श्रौती वाक्यगा, श्रौती समासगा, आर्थी वाक्यगा, आर्थी समासगा और आर्थी तद्धितगा।

धर्मलुप्ता के ही कुछ अन्य भेद क्यच् आदि प्रत्ययों के साथ अग्रिम पंक्तियों में 'आधारकर्मविहिते' इत्यादि में निर्दिष्ट किये गये हैं। धर्मलुप्ता के पूर्वोक्त पांच प्रकारों में क्यच् प्रत्यय करने पर आधार एवं कर्म अर्थ में दो प्रभेद, क्यङ् प्रत्यय करने पर एक एवं कर्म तथा कर्ता अर्थ में विहित कृदन्त प्रत्यय णमुल् होने पर दो भेद हो सकते हैं। इनमें से क्यच् प्रत्यय उपमान वाचक सुबन्त कर्म से आचार अर्थ में होता है।

क्विबादि प्रत्ययान्त उपमा के उदाहरण निम्नलिखित पद्य में देख सकते हैं :—

अन्तःपुरीयसि रणेषु सुतीयसि त्वं
पौरं जनं, तव सदा रमणीयते श्रीः।
दृष्टः प्रियाभिरमृतद्युतिदर्शमिन्द्र-
संचारमत्र भुवि संचरसि क्षितीश॥

इस पद्य में प्रथमांश रणेषु इत्यादि में उपमान 'अन्तः पुर', उपमेय 'रण', उपमावाचक 'क्यच्' प्रत्यय एवं साधारण धर्म सुखविहरण है। इनमें से साधारण धर्म सुखविहरण शब्दतः निर्दिष्ट नहीं है।

आचार्य मम्मट आदि कुछ आचार्य क्यच् आदि प्रत्ययान्त उपमा के उदाहरणों को वाचकलुप्ता (इवादि लुप्ता) का उदाहरण स्वीकार करते हैं। उनका कहना है कि क्यङ् आदि जो प्रत्यय उपमान वाचक

पदों से आचार अर्थ में विहित होते हैं, वे ही औपम्य की प्रतीति कराते हैं, अतः इन उपमावाचक प्रत्ययों के प्रयुक्त रहने पर इन उदाहरणों को वाचकलुप्ता का उदाहरण मानना यथार्थ से विपरीत है। इस प्रसङ्ग में यह आशंका की जा सकती है कि क्यङ् आदि प्रत्ययों के द्वारा औपम्य की प्रतीति भली प्रकार नहीं होती है। इसके दो कारण हैं : प्रथम यह कि क्यच् क्यङ् आदि प्रत्यय हैं, पद नहीं। प्रत्यय कभी भी पदों के समान स्वतंत्र रूप से अर्थ की प्रतीति कराने में समर्थ नहीं होते। इनके द्वारा अर्थ की प्रतीति तभी होती है, जब वे अन्य शब्दों (धातु अथवा प्रातिपदिकों) से सम्बद्ध होते हैं। अतः क्यच् क्यङ् आदि उपमार्थक नहीं है। दूसरा कारण यह है कि सामान्यतः इव आदि को ही उपमा का वाचक माना गया है क्यच् क्यङ् आदि को नहीं। अतः जहाँ क्यच् क्यङ् आदि का प्रयोग हो रहा है, वहाँ औपम्यार्थ की सम्यक् प्रतीति नहीं होती। इन दो कारणों से मम्मट आदि आचार्यों ने क्यच् आदि प्रत्ययान्त पदों के प्रयोग की स्थिति में इवादिलुप्ता (वाचक लुप्ता) का उदाहरण होगा ऐसा स्वीकार करते हैं।

इस प्रसंग में विश्वनाथ का कहना है कि आचार्य मम्मट ने स्वयं कल्पप् आदि प्रत्ययों के प्रयोग होने पर धर्मलुप्ता तद्धितगा आर्थी उपमा को स्वीकार किया है। अतः यदि प्रत्यय होने के कारण क्यच् आदि प्रत्यय उपमार्थ का सम्यक् बोध नहीं करा सकते, तो कल्पप् आदि भी औपम्य का बोध कैसे करा सकते है? और यदि कल्पप् आदि औपम्य का बोध करा सकते हैं यह स्वीकार्य हो सकता है, तो उनके समान ही क्यच् आदि प्रत्यय भी औपम्य का बोध कराते हैं यह भी स्वीकार्य होना चाहिये। क्योंकि काव्यप्रकाशकार मम्मट 'विषकल्पं मनोवेत्ति' इत्यादि में इव आदि उपमावाचक पदों के अभाव में भी वाचक लुप्ता उपमा न मानकर धर्मलुप्ता उपमा ही मानते हैं; अतः उनके मत में क्यच् आदि प्रत्ययान्त को भी वाचक लुप्ता का उदाहरण मानना उचित नहीं हैं।

क्योंकि पाणिनि के अनुसार 'ईषदसमाप्तौ कल्पप् देश्यदेशीयरः' (५.३.६९)' सूत्र द्वारा किञ्चित् न्यूनता का बोध कराने के लिए ईषद् ऊनः विद्वान् विद्वत्कल्पः' विग्रह करते हुए कल्पप् प्रत्यय का विधान किया जाता है। अतः यह शंका हो सकती है कि किञ्चित्

न्यूनता बोधक होने से कल्पप् प्रत्यय को औपम्य का वाचक कहा जा सकता है; जबकि क्यङ् क्यच् आदि प्रत्यय आचार अर्थ में विहित हैं, अतः वे केवल द्योतक हैं, वाचक नहीं।

इसके उत्तर में विश्वनाथ का कथन है कि जिस प्रकार क्यच् कयङ् आदि प्रत्यय औपम्य के वाचक नहीं, द्योतक हैं; उसी प्रकार वैयाकरणों के अनुसार 'इव' आदि एवं कल्पप् आदि प्रत्यय भी औपम्य के वाचक नहीं हैं।

इस प्रसङ्ग में वाक्यपदीयकार आचार्य भर्तृहरि की स्पष्ट मान्यता है कि 'चादयो न प्रयुज्यन्ते पदत्वे सति केवलाः। प्रत्ययो वाचकत्वेन केवलो न प्रयुज्येते' (२.१९६) इस कारिका की व्याख्या करते हुए पुण्यराज कहते हैं कि 'क्योंकि ये च आदि निपात स्वतंत्र प्रयुक्त नहीं है, अतः वाचक नहीं है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि वैयाकरणों के अनुसार न तो 'इव' आदि कर्मप्रवचनीय वाचक हैं और न क्यङ् आदि भी प्रत्यय। अतः दोनों में कोई अन्तर नहीं है। फलतः या तो दोनों को ही वाचक लुप्ता का उदाहरण स्वीकार किया जाय अथवा दोनों को नहीं।

क्योंकि इवादि के प्रयोग होने पर भी यदि वाचकलुप्ता उपमा ही स्वीकार करेंगे तो पूर्णोपमा की कल्पना भी नहीं हो सकती। अतः इवादि का प्रयोग होने पर वाचकलुप्ता का उदाहरण मानना उचित नहीं है और इसी प्रकार क्यङ् क्यच् आदि के प्रयोग होने पर भी वाचक लुप्ता उपमा मानना उचित नहीं है। क्यच् अथवा क्यङ् प्रत्ययान्त पदों में औपम्य वाचक लुप्त नहीं अपितु प्रयुक्त हैं।

विश्वनाथ की इस मान्यता के पीछे जो तर्क है उसे समझने के लिए उनके वक्तव्य को दो भागों में विभाजित किया जा सकता है (१) इव आदि निपातों का वाचकत्व सन्दिग्ध है। (२) क्यच् आदि प्रत्यय भी क्यङ् आदि प्रत्ययों की भांति प्रत्यय हैं, स्वतंत्र पद नहीं और दोनों ही सिद्धान्ततः वाचक नहीं हैं।

प्रकृति एवं प्रत्यय पृथक्-पृथक् स्व-स्व अर्थ के वाचक हैं अथवा दोनों मिलकर संयुक्त ऊप से किसी अर्थ के वाचक हैं, इस प्रश्न पर आचार्यों के परस्पर विरोधी मत हैं। भर्तृहरि नागेश आदि स्फोटवादियों की मान्यता है कि वाचकत्व शक्ति समुदायरूप पदों अथवा

वाक्यों में है, पदों में प्रकृति प्रत्यय का विभाजन कल्पना मात्र है।

इस सन्दर्भ में दूसरा मत महाभाष्यकार पतञ्जलि एवं मीमांसा शास्त्र के आचार्यों का है। इनके अनुसार धातु, उपसर्ग एवं प्रत्यय (प्रकृति एवं प्रत्यय) का अलग-अलग अर्थ नियत है; अतः उनके द्वारा पृथक्-पृथक् अर्थ का अभिधान होता है। प्रकृति द्वारा अभिहित सामान्य अर्थ में वैशिष्ट्य का आधान प्रत्यय द्वारा अभिहित अर्थ के कारण होता है। इस प्रकार प्रकृति एवं प्रत्यय के द्वारा पृथक्-पृथक् अभिहित अर्थों के समुदाय से समुदित विशिष्ट पदार्थ का बोध होता है, जो कि प्रकृति एवं प्रत्यय दोनों में से किसी एक का भी अर्थ नहीं है।

इस प्रकार हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि चाहे कल्पप् प्रत्यय हो और चाहे क्यङ् क्यच् आदि, मूलतः कोई भी औपम्य अर्थ का वाचक नहीं हो सकता। अतः यदि क्यच् क्यङ् आदि प्रत्यय औपम्यार्थ के वाचक नहीं हैं, तो कल्पप् आदि भी नहीं है, और यदि कल्पप् आदि को औपम्य का वाचक स्वीकार करते हैं, तो क्यच् आदि को भी उसी आधार पर औपम्य का वाचक स्वीकार करना चाहिए। फलतः क्यच् आदि प्रत्ययान्त पदों के प्रयोग होने पर उपमा को वाचक लुप्ता का उदाहरण नहीं माना जा सकता।

इस प्रसङ्ग में यह प्रश्न किया जा सकता है कि वति एवं कल्पप् आदि प्रत्यय इव अर्थ में विहित हैं, अतः वे औपम्य के वाचक हैं, किन्तु क्यङ् आदि प्रत्यय आचार अर्थ में विहित हैं, अतः उन्हें औपम्यवाचक कहना उचित नहीं है। किन्तु यह शंका उचित नहीं है; क्योंकि इव आदि भी मुख्यतः औपम्य के वाचक नहीं कहे जा सकते हैं, क्योंकि उपसर्ग के समान निपात भी वाचक न होकर द्योतक होते हैं। इसके अतिरिक्त क्रिया भी तो द्रव्य में रहने वाला एक धर्म है, और आचार अर्थ में विहित प्रत्यय की स्थिति में यह धर्म उभयनिष्ठ है। अतः यहां भी उपमान और उपमेय के मध्य औपम्य का अभिधान आचारार्थक प्रत्यय के द्वारा हो रहा है यह मानना ही चाहिए।

वैयाकरणों का मत है कि 'इव' आदि निपात होने से उपसर्ग के समान ही वाचक नहीं है। उन्हें सह प्रयुक्त उत्तर पदों की शक्ति की सहायता से द्योतक माना जा सकता है, अथवा वे लक्षणा द्वारा निज अर्थ का बोध कराते हैं, यह माना जा सकता है। उपसर्गों को तो

अनिवार्यतः द्योतक ही मानना होगा अन्यथा 'उपास्यते गुरु' आदि में अकर्मक आस आदि धातु से विहित लट् आदि प्रत्ययो से गुरु आदि के कर्मत्व का अभिधान न हो सकेगा। तात्पर्य यह है कि अभिधाशक्ति से न इव आदि औपम्य के अभिधायक है और न क्यङ् क्यच् आदि। अतः इव अथवा इवार्थ में विहित वति, कल्पप् आदि प्रत्ययों तथा क्यङ् क्यच् आदि प्रत्ययों के औपम्य बोधन की प्रक्रिया में कोई अन्तर नहीं है।

यह कहना भी इस प्रसङ्ग में उचित न होगा कि वत् आदि प्रत्यय सदृश अर्थ में विहित हैं एवं क्यच् क्यङ् आदि आचार अर्थ में। क्योंकि क्यच् आदि भी आचार सामान्य में विहित न होकर सदृश आचार अर्थ में विहित हैं। इसीलिए आचार्य पाणिनि ने इनका विधान उपमा वाचक पद से किया है। अतः क्यच् आदि प्रत्ययान्त पदों के रहने पर **वाचक लुप्ता** उपमा मानना उचित नहीं है।

विश्वनाथ आदि आचार्यों के अनुसार धर्मलुप्ता उपमा के दस प्रकार होने चाहिए—वाक्यगा श्रौती एवं आर्थी, समासगा श्रौती एवं आर्थी, तद्धितगा आर्थी एवं कर्म क्यजन्त, आधार क्यजन्त, क्यङन्त कर्म अर्थ में णमुलन्त एवं कर्तृ-अर्थ में णमुलन्त।

विश्वनाथ के अनुसार उपमान लुप्ता के दो प्रकार हैं—

(१) वाक्यगा उपमान लुप्ता (२) समासगा उपमान लुप्ता। स्मरणीय है कि उनके अनुसार यद्यपि उपर्युक्त दोनों भेदों में श्रौती एवं आर्थी दो प्रभेद हो सकते हैं, किन्तु प्राचीन आचार्यों ने (मम्मट आदि ने) उपर्युक्त दो भेदों को ही स्वीकार किया है। (उपमानानुपादाने वाक्यगाऽथ समासगा। का० प्र० १०.८८) विश्वनाथ की यह मान्यता उचित नहीं है, क्योंकि श्रौती उपमा वहीं होती है, जहां 'इव' 'यथा' इत्यादि उपमा वाचक पदों का प्रयोग किया गया है तथा इव आदि पदों का प्रयोग उपमान वाचक पदों के प्रयोग के बिना सम्भव नहीं है। क्योंकि ये पद उपमान के अनन्तर ही प्रयुक्त होते हैं अन्यथा नहीं। दूसरे शब्दों में ये इवादि पद जिनके अनन्तर प्रयुक्त होते हैं वे पद उपमान के रूप में प्रतीत होते हैं। तात्पर्य यह है कि जिस प्रकार उपमान पद का प्रयोग न होने पर उसके अनन्तर प्रयुक्त होने वाले उपमा वाचक (श्रौती बोधक) इव आदि पदों का प्रयोग सम्भव

न होने से उपमानलुप्ता श्रौती उपमा भेद सम्भव नहीं है, उसी प्रकार उपमान पदों के बिना उनके साथ विहित तद्धित प्रत्यय का होना भी सम्भव नहीं है, अत: तद्धितगा भेद भी उपमान लुप्ता में सम्भव न होगा। फलत: इसमें (उपमान लुप्ता में) केवल दो प्रकार (समासगा आर्थी एवं वाक्यगा आर्थी) ही होते हैं।

'तस्याः मुखेन सदृशं रम्यं नास्ते न वा नयनतुल्यम्।'

इस उदाहरण में मुख की एवं नयन की तुल्यता से युक्त वस्तु की सत्ता का पूर्णत: निषेध किया गया है। इतर सदृश की सत्ता का अभाव उपमालङ्कार का विषय न होकर अनन्वय अलङ्कार का विषय है। जबकि उपमानलुप्ता उपमा में उपमान रहने पर भी अनुक्त रहता है। उपमान की असत्ता नहीं रहती। प्रस्तुत पद्य में यदि 'तस्या मुखेन सदृशं रम्यं ज्ञायमानं न चास्ते' कर दिया जाये, तो यह उपमान लुप्ता का उदाहरण हो सकेगा। क्योंकि उस स्थिति में इतर उपमान की ज्ञायमानता का निषेध कथित होगा उपमान की सत्ता का नहीं।

औपम्यवाचक पद का लोप (प्रयोग न) होने पर शाब्दी और आर्थी भेद नहीं हो सकते; क्योंकि इनका वैशिष्टच ही औपम्यवाचक पदों (सदृशार्थक अथवा तुल्यार्थक पदों) के प्रयोग के आधार पर होता है। इसीप्रकार तद्धितगा भेद भी वाचक लुप्तोपमा में नहीं हो सकते हैं, क्योंकि औपम्य के वाचक तद्धित प्रत्यय का प्रयोग होने पर उसे वाचकलुप्ता कैसे कहा जायेगा ? नामधातु में विश्वनाथकृत क्विब्गा भेद का निर्देश भले ही स्वीकरणीय हो सकता है, क्योंकि क्विप् प्रत्यय के सभी वर्णों का एक-एक करके लोप हो जाने से उसका चिह्न भी शेष नहीं रह जाता। 'गर्दभति' इत्यादि पदों से युक्त उदाहरण को उपमेयलुप्ता का उदाहरण नहीं कह सकते, क्योंकि 'निनदन्' पद द्वारा वहां उपमेय का कथन हो रहा है।

स्मरणीय है कि वैयाकरणों के अनुसार आचार अर्थ में सभी (किसी भी) प्रातिपदिकों से विकल्प से क्विप् प्रत्यय की व्यवस्था की गयी है [सर्वप्रातिपदि केभ्यो: क्विब् वा वक्तव्य:। [वा. सि. कौ. ३५४४]। फलत: गर्दभ प्रातिपदिक से सिद्ध 'गर्दभति' पद का अर्थ है 'गदहे की भांति आचरण कर रहा है'। यहां उपमावाचक क्विप् प्रत्यय लुप्त है। इस वाक्य में उपमेयलुप्ता उपमा का सन्देह हो सकता है, किन्तु यहां

धर्मवाचक पद में 'श्रुति परुषं निनदन्' पदसमूहगत 'निनदन्' पद में कर्त्ता अर्थ में विहित श्रूयमाण शतृ प्रत्यय द्वारा उपमेय का कथन हो रहा हैं, अतः उक्त सन्देह उचित न होगा।

धर्मोपमानलुप्ता (अर्थात् जहाँ साधारण धर्म एवं उपमान वाचक पदों का प्रयोग न हो) उपमा समासगता और वाक्यगता भेद से दो प्रकार की है, क्योंकि इव आदि पद उपमान वाचक पद के साथ ही प्रयुक्त होते हैं, अतः उपमान का प्रयोग न होने पर औपम्यार्थ इव आदि पदों के अभाव में श्रौती भेद एवं तुल्य आदि पदों के अभाव में आर्थी भेद नहीं हो सकते। साथ ही इवार्थक एवं तुल्यार्थक ('वति') आदि प्रत्ययों की संभावना न होने से तद्धितगा भेद भी नहीं हो सकते। वाक्यगा धर्मोपमानलुप्ता का उदाहरण 'तस्या मुखेन' इत्यादि पद्य में साधारण धर्मवाचक 'रम्यं' पद के स्थान पर 'लोके' पाठ कर लेने पर हो सकता है, क्योंकि उस अवस्था में धर्मवाचक पद हट जायेगा। उपमानवाचक पद यहाँ नहीं है, यह चर्चा पूर्व पृष्ठों में की जा चुकी है। यह उदाहरण पूर्वांश में वाक्यगता एवं द्वितीयांश में समासगता का उदाहरण हो सकता है। दोनों ही उदाहरणों के लिए पूर्व की भांति 'नास्ते' के स्थान पर 'दृश्यते' पाठ करना होगा। अन्यथा उपमा अलङ्कार की सत्ता सन्दिग्ध होकर अन्वयय की संभावना होगी। उपर्युक्त उदाहरण में केवल उपमेय वाचक एवं औपम्यवाचक पद का प्रयोग हुआ है।

साधारण धर्म एवं औपम्यवाचक इव आदि का प्रयोग न होने पर धर्मवाचक लुप्ता केवल दो प्रकार की होगी—क्विप्‌गता एवं समासगता। इवादि वाचक पदों के अभाव में श्रौती आर्थी आदि भेदों की सम्भावना नहीं है, यह पहले ही स्पष्ट किया जा चुका है। औपम्य-वाचक तद्धित प्रत्यय का भी अभाव होने से तद्धितगा भेद का होना सम्भव न होगा। 'विधवति' इत्यादि उदाहरणों में उपमान 'विधु' उपमेय 'मुखाब्जम्' का शब्दशः प्रयोग है साधारण धर्म अप्रयुक्त है तथा औपम्यवाचक 'क्विप्' का सर्वापहारी लोप (प्रत्येक वर्ण का लोप) हो चुका है, इस प्रकार यह **'क्विप्‌गता धर्मवाचकलुप्तोपमा'** का उदाहरण होगा। कलाप व्याकरण में 'क्विप्' प्रत्यय के स्थान पर 'अयि' प्रत्यय स्वीकृत है, जिसका सर्वापहारी लोप होने से भी यह

उदाहरण धर्म वाचक लुप्तोपमा का उदाहरण कहा जा सकता है।

'मुखाब्जम्' में समासगा वाचक धर्म लुप्ता उपमा अलङ्कार प्रभेद है। यहाँ 'उपमितं व्याघ्रादिभिः सामान्याप्रयोगे' द्वारा समास किया गया है। इस उदाहरण में भी केवल उपमान और उपमेय अभिहित हैं। धर्म और वाचक पद लुप्त है। औपम्य की प्रतीति समास के द्वारा होती है।

उपमेय लुप्ता उपमा केवल क्यच् प्रत्ययान्त प्रयोगों में ही संभव है। इसे—

अरातिविक्रमालोकविकस्वरविलोचनः ।
कृपाणोदग्रदोर्दण्डः सः सहस्रायुधीयति ॥'

पद्य में देखा जा सकता है।

इस पद्य में 'सहस्रायुधीयति' पद 'सहस्रायुधम् (कार्त्तवीर्यम्) इव आत्मानम् आचरति' विग्रह करते हुए 'सहस्रायुध' प्रातिपदिक से 'उपमानादाचारे' सूत्र से नामधातुक क्यच् प्रत्यय करके निष्पन्न है। इसका अर्थ होगा 'सहस्रार्जुन के समान आचरण करने वाला'। यहाँ उपमान सहस्रार्जुन के उपमेय का वाचक कोई संज्ञा पद प्रयुक्त नहीं है। अतः इसे उपमेयलुप्ता का उदाहरण माना गया है। यहाँ वाचकलुप्ता उपमा प्रकार की कल्पना नहीं की जा सकती, इस विषय पर प्रसंगतः पूर्व पृष्ठों में विचार किया जा चुका है। यहाँ यह आशंका हो सकती है कि इस पद्य में जब 'सः' पद द्वारा उपमेय अभिहित है तो इसे उपमेय लुप्ता का उदाहरण कैसे माना जा सकता है? इसका समाधान यह है कि यद्यपि यहां 'सः' पद वाच्य वह राजा विशेष हो सकता है, जिसकी कल्पना उपमेय के रूप में हो रही है, किन्तु वह उपमेय नहीं हो सकता; क्योंकि यहाँ 'सः' पद का अभिधेय कर्म विशेष है। कर्ता के रूप में उपमेय की स्वीकृति होने पर सहस्रायुध प्रातिपदिक से क्यच् प्रत्यय का विधान ही सम्भव न होगा। क्योंकि क्यच् प्रत्यय उपमानभूत प्रातिपदिक से उसी स्थिति में होता है, जब वह कर्म अर्थ में प्रयुक्त हो रहा है। यदि 'सः' पद को उपमेय मानेगें तो 'सहस्रायुध इव आचरति' विग्रह करना होगा। फलतः उपमान कर्म न होने से क्यच् प्रत्यय का विधान न हो सकेगा। अतः 'सहस्रायुधीयति' पद का विग्रह हमें 'सहस्रायुधमिवात्मानमाचरति' ही करना होगा। इस प्रकार यहां

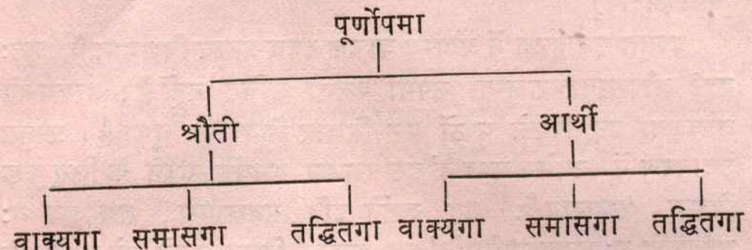
उपमेय आत्मानम् एवं उपमान सहस्रायुध को कर्मकारक में मानना ही उचित होगा। क्योंकि यहां उपमेय 'आत्मानम्' शब्दतः अभिहित नहीं हो रहा है अर्थात् लुप्त है, अतः इसे **उपमेयलुप्ता** उपमा का उदाहरण ही मानना चाहिये। [अत्र यद्यपि विशेषणद्वारोपात्त कर्त्तैवोपमेयः तथापि न तथात्वेन किन्तु कर्मत्वेन। अन्यथा क्यचोऽसङ्गतत्वापत्तेः। [काव्यप्रदीप]

प्रस्तुत उदाहरण में औपम्य वाचक क्यच् प्रत्यय विद्यमान है, अतः यहां औपम्यवाचकलुप्ता उपमा कहना उचित नहीं है। प्रत्यय की वाचकता पर पिछले पृष्ठों पर विचार किया जा चुका है। प्रस्तुत उदाहरण में 'उपमेय लुप्त है' इस पक्ष का समर्थन करने के लिए कुछ विद्वान् 'सहस्रायुधैः सह वर्त्तते इति सहस्रायुधः, तम इव यः आचरति सः सहस्रायुधीयति' इस प्रकार विग्रह करते हुये उपमेय के प्रयोग का भ्रम उत्पन्न कराने वाले 'सः' पद को सहस्रायुधीयति का अवयव कहना चाहते हैं एवं उस स्थिति में विशेष्य का उपादान नहीं माना जा सकता है, अतः यहाँ उपमेयलुप्ता उपमा है, यह समाधान देते हैं। किन्तु यह समाधान उचित नहीं है, क्योंकि क्यच् प्रत्यय कर्म अर्थ में होता है कर्तृ अर्थ में नहीं। कर्ता अर्थ में क्यङ् प्रत्यय विहित होता है, जिसके होने पर नियत रूप से आत्मनेपद का ही प्रयोग होता है परस्मैपद का नहीं। अतः इस सन्दर्भ में यह समाधान प्रशस्त नहीं है। वास्तविक समाधान ऊपर की पंक्तियों में दिया जा चुका है।

उपमा अलङ्कार के चार अंगों में से तीन का लोप हो जाने पर उपमार्थ की प्रतीति समास की स्थिति में ही होती है, अतः वहाँ केवल समासगा उपमा ही होगी। 'राजते मृगलोचना' में त्रिलुप्ता उपमा है। यहाँ 'मृगलोचने इव चंचले लोचने यस्याः' इस विग्रह के अनुसार 'मृग के नेत्रों के समान चंचल नेत्रों वाली नायिका विवक्षित है। इसमें मृगलोचन उपमान है। नायिका के नेत्र उपमेय चंचलता साधारण धर्म एवं समास सादृश्य का बोधक है। प्रस्तुत उदाहरण में उपमावाचक इव आदि, साधारण धर्म **चंचलता** एवं उपमान **मृगनेत्र** अनुक्त है, अतः इसे त्रिलुप्ता उपमा कहा गया है। इस उदाहरण में मृग पद देखकर यहाँ उपमान उक्त है ऐसा भ्रम नहीं होना चाहिये, क्योंकि यहाँ उपमान मृगनेत्र है, मृग नहीं।

गोविन्दठक्कुर के अनुसार यदि यहाँ मृग पद को मृग लोचनों का बोधक मानेगें तो त्रिलुप्ता उपमा नहीं हो सकती, अपितु द्विलुप्ता ही होगी।

इस प्रकार पूर्व पृष्ठों में उपमा के जिन भेदों का विवेचन किया है वे २७ है। इनमें से निम्नलिखित छ भेद पूर्णोपमा में हैं—



लुप्तोपमा के निम्नलिखित इक्कीस भेद हैं—

इनमें धर्मलुप्ता के दस प्रकार हैं : (१) श्रौती समासगता (२) वाक्यगता (३) आर्थी—तद्धितगा (४) समासगा (५) वाक्यगा (६) आधार क्यजन्ता (७) कर्म अर्थ में क्यच् प्रत्ययान्त (८) कर्त्ता अर्थ में क्यङ् प्रत्ययान्त (९) कर्म अर्थ में विहित णमुल् प्रत्ययान्त (१०) कर्त्ता अर्थ में विहित णमुल् प्रत्ययान्त।

उपमानलुप्ता के दो प्रकार होते हैं वाक्यगता, समासगता। वाचकलुप्ता के भी दो प्रकार होंगे समासगता, क्विप् गता।

इसी प्रकार वाचक-धर्म द्विलुप्ता के दो प्रकार होंगे समासगता, क्विप् गता)।

धर्मोषमान द्विलुप्ता के दो प्रकार हैं समासगता, वाक्यगता। इसी प्रकार उपमेयलुप्ता (क्यजन्ता) का एक प्रकार धर्मोपमेय लुप्ता का एक प्रकार एवं त्रिलुप्ता का एक प्रकार होंगे।

उपर्युक्त उपमा भेद आचार्य विश्वनाथ स्वीकृत हैं। ये ही सामान्य रूप से आचार्य मम्मट के द्वारा कुछ अन्तर के साथ स्वीकृत रहे हैं पूर्णोपमा के प्रसंग में मम्मट एवं विश्वनाथ में कोई अन्तर नहीं है। लुप्तोपमा के प्रभेदों में मम्मट केवल उन्नीस (१९) प्रकार स्वीकार करते हैं। जो निम्नलिखित हैं—

धर्मलुप्ता के पांच प्रकार श्रौती एवं आर्थी, वाक्यगा एवं समासगा

तथा आर्थी तद्धितगा। उपमान लुप्ता के दो प्रकार वाक्यगा एवं समासगा। वाचक लुप्ता के छ प्रकार: समासगा, कर्मक्यजन्ता, आधार क्यजन्ता, क्यङन्ता, कर्तृणमुलन्ता एवं कर्मणमुलन्ता वाचक धर्मलुप्ता के दो प्रकार क्विगा एवं समासगा, धर्मोपमान लुप्ता के दो प्रकार समासगा एवं वाक्यगा, वाचकोपमेयलुप्ता का एक प्रकार क्यज्गा एवं त्रिलुप्ता समासगा।

अप्पयदीक्षित एवं पण्डितराज जगन्नाथ ने भी उपमा के अनेक भेद-प्रभेद प्रदर्शित किये हैं। दीक्षित के अनुसार पूर्णोपमा सात प्रकार की है (१) साधारण धर्म के अनुगामितया निर्देश से (२) वस्तु प्रति वस्तुभावेन निर्देश से (३) बिम्बप्रतिबिम्बभावेन निर्देश से (४) श्लिष्टा (५) उपचार युक्ता (६) समासान्तर युक्ता एवं (७) मिश्रा। इसी प्रकार उनके अनुसार लुप्तोपमा के आठ प्रकार हैं—(१) वाचकलुप्ता (२) धर्मलुप्ता (३) उपमानलुप्ता (४) वाचकोपमेयलुप्ता (५) वाचकोपमानलुप्ता (६) धर्मोपमान लुप्ता (७) धर्मवाचकलुप्ता एवं (८) धर्मोपमानलुप्ता।

इनके अतिरिक्त वे कुछ अन्य विशेष भेद भी मानते हैं—(१) वैचित्र्यमात्राश्रिता (२) उक्तार्थोपादानपरा एवं (३) व्यङ्ग्य प्रधाना। व्यङ्ग्य प्रधाना उपमा भी वस्तुव्यङ्ग्या, अलङ्कार व्यङ्ग्या एवं रस-व्यङ्ग्या भेद से तीन प्रकार की है।

पंडित राजजगन्नाथ के अनुसार श्रौती आर्थी उपमालंकार के आदि कुल पचीस भेद सामान्य हैं। पुनः इनमें कुछ विशेष भेद भी हो सकते है जैसे (१) प्रधानवस्तुव्यङ्ग्या (२) प्रधान अलङ्कारव्यङ्ग्या (३) प्रधान रसव्यंग्या (४) उपस्कारक वस्तु व्यंग्या एवं (५) उपस्कारक अलङ्कार व्यंग्या। उनके अनुसार इसके भेद रूपक अलङ्कार के समान भी किये जा सकते हैं। यथा—शुद्ध निरवयवा, मालारूप निरवयवा, समस्त वस्तु विषया सावयवा, एकदेशविवर्तिनी सावयवा, केवल श्लिष्ट परम्परिता, मालारूपा श्लिष्टपरम्परिता, केवल शुद्धपरम्परिता, माला शुद्ध परम्परिता इत्यादि।

व्याकरण शास्त्र में विहित प्रत्ययों के आधार पर उपमा भेदों की सर्वप्रथम कल्पना आचार्य उद्भट के काव्यालङ्कारसार संग्रह में मिलती है—उनका कहना है कि जिस प्रकार यथा इव आदि पदों के प्रयोग

होने पर श्रौती उपमा होती है उसी प्रकार सदृश आदि पदों के प्रयोग से आर्थी उपमा भी हो सकती है। इस प्रकार यह द्विविधा हुई। पुनः संक्षेपवशात् साम्यवाचक पद का प्रयोग न होने पर, साम्य वाचकपद एवं उपमेय का प्रयोग न होने पर, उपमान और उपमेय के वाचक पदों का प्रयोग न होने पर इसके अनेक भेद-प्रभेद हो सकते हैं।

इसी प्रकार समस्त एवं वाक्य (असमस्त) प्रयोगवशात् उपमान क्यच् प्रत्यय, कर्तृ-उपमान क्यङ् प्रत्यय, क्विप् प्रत्यय, णमुल् प्रत्यय, वत् प्रत्यय अथवा कल्पप् आदि प्रत्ययों का प्रयोग होने उपमा पर विविध प्रकार की हो सकती है। अप्पय दीक्षित ने व्याकरण शास्त्र के आधार पर उपर्युक्त किये गये इन भेदों को काव्य शास्त्र के अनुरूप नहीं माना हैं।

उपमा अलङ्कार में साधारण धर्म का कथन तीन प्रकार से होता हैं—(१) एक धर्मिगत (२) बिम्ब-प्रतिबिम्ब भाव से (३) वस्तु प्रति वस्तुभाव से। एक धर्मिगत कथन में एक ही धर्म उपमान और उपमेय में वर्णित होता है एवं एक शब्द द्वारा ही उसका कथन होता है। यथा 'मधुरः सुधावदधरः' में मधुरता सुधा और अधर दोनों का धर्म है एवं एक बार ही कथित है। बिम्ब-प्रतिबिम्ब् में उपमान और उपमेयगत धर्म भिन्न होते हैं, किन्तु उनमें सादृश्य रहता है। उदाहरणार्थ हम निम्नलिखित पद्य को देख सकते हैं :—

'भल्लापवर्जितैस्तेषां शिरोभिः श्मश्रुलैर्महीम्।
तस्तार सरघाव्याप्तैः स क्षौद्रपटलैरिव ॥'

इस पद्य में उपमेय शिर का धर्म है श्मश्रुलत्व, और उपमान क्षौद्र-पटल का सरधाव्याप्तत्व; दोनों धर्म परस्पर सर्वथा भिन्न है, किन्तु दोनों की चाक्षुष प्रतीति एक समान होती है। क्योंकि बिम्ब और प्रतिबिम्ब भिन्न वस्तु होते हुए एक से प्रतीत होते हैं एवं यह प्रतीति उनके सदृश होने से होती है, अतः इस प्रतीति को बिम्बप्रतिबिम्बभाव कहा गया है।

साधारण धर्म के कथन के तृतीय प्रकार वस्तुप्रतिवस्तुभाव में उभयगत धर्म एक होता है एवं उनका कथन दो भिन्न-भिन्न शब्दों द्वारा किया जाता है। इसे हम निम्नलिखित पद्य में देख सकते हैं :—

स्मेरं विधाय नयनं विकसितमिव नीलमुत्पलं मयि सा।
कथयामास कृशाङ्गी मनोगतं निखिलमाकूतम् ॥

प्रस्तुत पद्य में विकास रूप धर्म एक ही है, किन्तु उसका कथन 'स्मेरत्व' एवं 'विकसितत्व' दो शब्दों द्वारा हुआ है। अत: यहां बिम्ब-प्रतिबिम्बभाव माना जाएगा। स्मरणीय है कि दृष्टान्त अलङ्कार में सादृश्य बिम्ब प्रतिबिम्ब भाव से एवं प्रतिवस्तूपमा में वस्तुप्रतिवस्तु-भाव से निबद्ध रहता है। आचार्य रुय्यक ने साधारण धर्म के उपर्युक्त त्रैविध्य की बहुत स्पष्ट शब्दों में व्याख्या की है।

उपर्युक्त भेदों के विवेचन के अतिरिक्त विश्वनाथ ने एकदेश-विवर्तिनी उपमा का भी वर्णन किया है। एकदेशविवर्ति पद का अर्थ है अपने कुछ देशों अर्थात् अवयवों में रहने वाला। इस नाम से भेद की कल्पना रूप कालंकार में की गयी है। यह सावयवरूपक भेद का एक प्रभेद है, जिसमें रूपक अलङ्कार के सभी अवयव प्रयुक्त (वाच्य) न होने के कारण कुछ गम्य होते हैं। उपमा अलङ्कार में एकदेश-विवर्ति भेद की कल्पना सर्वप्रथम विद्यानाथ कृत प्रतापरुद्रयशोभूषण (प्रतापरुद्रीयम्) में मिलती है। प्रतापरुद्र ने रूपक अलङ्कार के समान उपमा में भी समस्तवस्तुविषया एवं एकदेशविवर्तिनी भेदों को स्वीकार किया था। विश्वनाथ ने भी इस सन्दर्भ में उनका (विद्यानाथ का) अनुसरण करते हुए एकदेशविवर्तिनी उपमा को तो स्वीकार क्रिया है किन्तु समस्तवस्तुविषया की चर्चा नहीं की है। विश्वनाथ से उत्तरकालीन आचार्यों में केवल पंडितराज जगन्नाथ ने एकदेशविवर्तिनी भेद स्वीकर किया है, साथ ही उन्होंने विद्यानाथ के समस्तवस्तुविषया उपमा भेद को भी माना है। इन दो भेदों के अतिरिक्त वे रूपक अलङ्कार के अनुसार ही उपमा में भी निरवयवा, माला निरवयवा, केवल श्लिष्टपरम्परिता, माला श्लिष्टपरम्परिता, केवल शुद्ध (अश्लिष्ट) परम्परिता, माला शुद्ध परम्परिता भेदों का भी सोदाहरण वर्णन करते हैं। नञ्राजयशोभूषण के रचयिता अभिनव कालिदास अपरनामा, नरसिंह कवि भी समस्तवस्तुविषया एवं एकदेशविवर्तिनी भेद स्वीकार करते हैं।

विश्वनाथ ने रशनोपमा नाम से एक नवीन भेद का वर्णन किया है। इसमें ग्रथित उपमानों में प्रत्येक उपमान अपने से उत्तरवर्ती उपमेय से सम्बद्ध रहते हैं। रूपक अलङ्कार में इस रशनाभेद की कल्पना सर्वप्रथम रुद्रट ने की थी। रुद्रट के तत्काल उत्तरवर्ती भोज ने भी

उक्त रूपक भेद को स्वीकार किया था। परवर्ती आचार्यों ने रशना-रूपक के उदाहरणों को मालारूपक के उदाहरणों में ही समाहित किया था। आचार्य मम्मट रशनोपमा की कल्पना से परिचित अवश्य थे, किन्तु उन्होंने इस प्रभेद में विद्यमान वैचित्र्य को अत्यन्त सामान्य मानकर उसकी उपेक्षा करते हुए कहा है 'इत्यादिना रशनोपमा च न लक्षिता एवंविधवैचित्र्यसहस्रसंभवात् उक्तभेदानतिक्रमाच्च' और इसी कारण से वे इसे वर्णनीय नहीं मानते।

उपमा अलङ्कार का एक अन्य भेद मालोपमा है, जिसकी सर्वप्रथम चर्चा अलङ्कार शास्त्र के प्रारम्भिक आचार्य दण्डी एवं अग्निपुराण-कार ने की है तथा परवर्ती प्रायः सभी आचार्यों ने उसे स्वीकार भी किया है अथवा उसे मौन स्वीकृति देते हुए अस्वीकार नहीं किया है। मालोपमा अलङ्कार में एक उपमेय के लिए अनेक उपमानों का प्रयोग होता है।

यथा :—

वारिजेनेव सरसी शशिनेव निशीथिनी।
यौवनेनेव वनिता नयेन श्रीर्मनोहरा॥

इस पद्य में उपमेय 'नय' एवं 'श्री' के लिए क्रमशः जल चन्द्रय यौवन एवं सरसी, निशीथिनी तथा वनिता उपमान के रूप में वर्णित है।

उपमान और उपमेय में सामान्यतः उपमेय प्रकृत और उपमान अप्रकृत रहा करता है। किन्तु कभी-कभी उपमान और उपमेय दोनों ही प्रकृत हो सकते हैं।

'हंसश्चन्द्र इवाभाति जलं व्योमतलं यथा।
विमलाः कुमुदानीव तारकाः शरदागमे॥'

इस पद्य में हंस और चन्द्र, जल एवं व्योमतल तथा कुमुद एवं तारक उपमेय एवं उपमान के रूप में प्रयुक्त हुए हैं तथा दोनों ही प्रकृत हैं।

उपर्युक्त भेद प्रभेदों के अतिरिक्त विश्वनाथ ने आक्षेपोपमा नामक उपमा भेद की चर्चा भी की है, जिसका विवेचन हमें अन्यत्र नहीं मिलता। इस प्रभेद में उपमेय के आधार पर अलौकिक उपमान का आक्षेप करना होता है। इसी प्रसङ्ग में उन्होंने प्रतिनिर्देश्योपमा

की भी चर्चा की है, किन्तु उनके अनुसार इन भेदों में विद्यमान चारुत्व इतना सामान्य है कि यदि उस सामान्य चारुत्व को उपमा अलङ्कार का प्रभेद स्वीकार किया जाएगा तो उपमा के सहस्रों भेद करने पड़ सकते हैं ।

मूल लक्षण

भरत

यत्किंचित्काव्यबन्धेषु सादृश्येनोपमीयते ।
उपमा नाम सा ज्ञेया गुणाकृतिसमाश्रया ॥ —नाट्यशास्त्र १६.४१

अग्निपुराण

सादृश्यं धर्मसामान्यम्, उपमारूपकं तथा ।
सहोक्त्यर्थान्तरन्यासाविति स्यात्तु चतुर्विधः ॥
उपमानाम सा यस्यामुपमानोपमेययोः ।
सत्ताचान्तरसामान्ययोगित्वेऽपि विवक्षितम् ॥
—अग्निपुराण ३४४.५-६

दण्डी

यथाकथंचित्सादृश्यं यत्रोद्भूतं प्रतीयते ।
उपमानाम सा·······। —काव्यादर्श २.१४

भामह

विरुद्धेनोपमानेन देशकालक्रियादिभिः ।
उपमेयस्य यत्साम्यं गुणलेशेन सोपमा । —काव्यालंकार २.३०

उद्भट

यच्चेतोहारि साधर्म्यमुपमानोपमेययोः ।
मिथो विभिन्नकालादिशब्दयोरुपमा तु तत् ॥ —काव्या. सारसंग्रह १.१५

वामन

उपमानेनोपमेयस्य गुणलेशतः साम्यमुपमा ॥ —काव्यालंकार ४.२.१

रुद्रट

उभयोः समानमेकं गुणादिसिद्धं भवेद्यथैकत्र ।
अर्थेऽन्यत्र तथा तत् साध्यते इति सोपमा त्रेधा । —काव्यालंकार ८.४

भोज

प्रसिद्धेरनुरोधेन यः परस्परमर्थयोः ।
भूयोवयवसामान्ययोगः सेहोपमा मता । —सरस्वती कण्ठाभरण ४.५

मम्मट

साधर्म्यमुपमाभेदे । —काव्यप्रकाश सू० १२५. का० ८७

रुय्यक

उपमानोपमेययोः साधर्म्ये भेदाभेदतुल्यत्वे उपमा ।

—अलंकार सर्वस्व ११४

वाग्भट

चमत्कारि साम्यमुपमा । —काव्यानुशासन पृ० ३३

हेमचन्द्र

हृद्यं साधर्म्यमुपमा । —काव्यानुशासन ६.१ सू० ११३

शोभाकरमित्र

उपमानोपमेयस्य सादृश्यमुपमा । —अलंकार रत्नाकर ७

जयदेव

उपमा यत्र सादृश्यलक्ष्मी सल्लसति द्वयोः । —चन्द्रालोक ५.११

विद्यानाथ

स्वतःसिद्धेन भिन्नेन संमतेन च धर्मतः ।
साम्यमन्येन वर्ण्यस्य वाच्यं चेदेकदोपमा । —प्रतापरुद्रीयम् ८.१

संघरक्खित

उपमानोपमेय्यानं सधम्मत्तं सियोपमा । —सुबोधालंकार १७७

विद्याधर

विलसति सति साधर्म्ये स्यादुपमानोपमेययोरुपमा । —एकावली ८.१

विश्वनाथ

साम्यं वाच्यमवैधर्म्यं वाक्यैक्य उपमा द्वयोः । —साहित्यदर्पण १०.१४

अमृतानन्दयति

यस्य येनास्ति सादृश्यं यस्मात्कस्मात्प्रकारतः ।
उपमा नाम तस्योक्तिरिववद्वादिभिर्यथा ॥

—अलंकार संग्रह ५.२०-२१

वाग्भट द्वितीय

उपमानेन सादृश्यमुपमेयस्य यत्र सा ।
प्रत्ययाव्ययतुल्यार्थसमासैरुपमा मता ॥ —वाग्भट्टालंकार ४.५०

अप्पयदीक्षित

(१) (क) व्यापार उपमानाख्यो भवेद्यदि विवक्षितः ।
क्रियानिष्पत्तिपर्यन्तमुपमालंकृतिस्तु सा ।

(ख) निरूप्यमाणं कविना सादृश्यं स्वात्मनो न चेत् ।
प्रतिषेधमुपादाय पर्यवस्यति सोपमा ।

(ग) उपमितिक्रियानिष्पत्तिमत्सादृश्यवर्णनमुपमा ।

(घ) स्वनिषेधापर्यवसायि सादृश्यवर्णनमुपमा ।

—चित्र मीमांसा पृ० ६८, ७४, ७४, ७४

(२) वर्ण्योपमानधर्माणामुपमावाचकस्य च ।
एकद्वित्र्यनुपादानैर्भिन्ना लुप्तोपमाष्टधा । —कुवलयानन्द १-७

केशवमित्र

सतिभेदे साधर्म्यमुपमा ।
अलंकारशिरोरत्नं सर्वस्वं काव्यसंपदाम् ।
उपमा कविवंशस्य मातैवेति मति र्मम ।।

—अलंकार शेखर पृ० ३२, ३४

पंडितराजजगन्नाथ

सादृश्यं सुन्दरं वाक्यार्थोपस्कारकमुपमालंकृतिः ।

—रसगंगाधर पृ० १६५

चिरञ्जीव

उपमा यत्र सादृश्यलक्ष्मीरुल्लसति द्वयोः । —काव्यविलास २.१५

नरेन्द्रप्रभसूरि

यदुत्कर्षवतान्येन तत्स्वरूपप्रतीतिकृत् ।
भेदाभेदे मनोहारिसाधर्म्यं वर्ण्यवस्तुनः ।।
सर्वालंकृत्युपादानकारणं सोपमा स्मृता ।।
सर्वत्राप्यत्रासम्बन्धे सम्बन्धइत्यादि रूपः कोप्यतिशयोक्तिपरिमलो विद्यत एव । —अलंकार महोदधि ८.७-८

भावदेवसूरि

साम्यमुपमा बहुविधा ।

—काव्यालंकार संग्रह २ पृ० ६

भट्टदेवशंकर

धर्मोपमानसादृश्योपमेयवाचकै पदैः ।
परिस्फुरति सादृश्यं स्पष्टं पूर्णोपमा हि सा ।। —अलंकार मञ्जूषा १

नरसिंहकवि

साधर्म्यं लोकसिद्धेन भिन्नेन कविसम्मतम् ।
यदैकवाक्यवाच्यं स्यात्प्रकृतस्य मतोपमा ॥
पूर्णलुप्ताप्रकाराभ्यां सा तावद् विविधा भवेत् ।
श्रौतीत्यार्थीतिभेदेन पूर्णा सा द्विविधा मता ॥

—नञ्राजयशोभूषण पृ० १६०

विश्वेश्वर

तत्रैकवाक्यवाच्यं सादृश्यं भिन्नयोरुपमा ।
वाचकधर्मसमत्वप्रतियोग्यनुयोगिनां ग्रहे पूर्णा ॥ —अलंकार मुक्तावली १

श्रीकृष्ण ब्रह्मतन्त्रपरकाल स्वामी

उद्गता भाति साम्यश्रीः समयोर्यत्र सोपमा ।
वाक्यार्थोपस्कारकं यत्सादृश्यं चारु सोपमा ॥ —अलंकार मणिहार १

वेणीदत्त

भिन्नत्वे सति साधर्म्यमुपमानोपमेययोः ।
सत्यमारोपितं वा स्यादुपमा सा प्रकीर्त्तिता ॥ —अलंकार मञ्जरी ४०

उपमान

उपमान प्रमाण मूलक अलङ्कारों में अन्यतम है। दार्शनिकों में केवल प्रत्यक्ष प्रमाण को स्वीकार करने वाले चार्वाक, प्रत्यक्ष और अनुमान को स्वीकार करने वाले वैशेषिक (कणाद के अनुयायी) एवं बौद्ध तथा प्रत्यक्ष अनुमान एवं शब्द इन तीन प्रमाणों को स्वीकार करने वाले सांख्य-योग-दार्शनिकों को छोड़कर प्रायः सभी दार्शनिक उपमान प्रमाण को स्वीकार करते हैं। उनके अनुसार ज्ञात पदार्थ से सादृश्य के आधार पर जहां ज्ञातव्य का ज्ञान कराया जाए, वहां उपमान प्रमाण होता है।[1] इस उपमान प्रमाण का फल संज्ञा और संज्ञी के सम्बन्ध का ज्ञान होना स्वीकार किया जाता है।[2] कणाद तर्क-वागीश के अनुसार उपर्युक्त ज्ञान साधर्म्य के समान ही वैधर्म्य के द्वारा भी हो सकता है[3]। काव्यों में उपर्युक्त प्रकार की योजना कभी कभी चारुत्व बोध के लिए की गयी होती है। तो उसे **उपमान अलंकार** कहते हैं। इस अलङ्कार को भोज अमृतानन्दयोगी अप्पय-दीक्षित एवं भट्ट देवशंकर के अतिरिक्त अन्य आचार्यों ने स्वीकार

नहीं किया है। इनमें भी अप्पयदीक्षित एवं भट्ट देवशंकर पुरोहित ने केवल इसकी स्वीकृति की सूचना दी है, लक्षण उपस्थित नहीं किया है। भोज और अमृतानन्द के अनुसार सदृश से इतर सदृश पदार्थ का ज्ञान उपमान प्रमाण कहा जाता है। यह ज्ञान अनुभूत विषयक भी हो सकता है, और अननुभूत विषयक भी। भोज के अनुसार अभिनय में प्रयुक्त होने वाली मुद्राएं एवं चित्र-कला में प्रयुक्त बिम्ब को उपमान से अभिन्न मानना चाहिए।

मूल लक्षण

(१) प्रज्ञातेन सामान्यात्प्रज्ञापनीयस्य प्रज्ञापनमुपमानम्।

—न्यायभाष्य १.१.६ पृ० १५

(२) यथा गौः एवं गवयः इत्युपमाने प्रयुक्ते······अस्य गवयशब्दः संज्ञा इति संज्ञासंज्ञिसम्बन्धं प्रतिपद्यते इति।

—वही १.१.६ पृ० १५

(३) न केवलं सादृश्यरूपसाधर्म्यज्ञानजन्यैवोपमितिः, वैधर्म्यज्ञानजन्योपमितेरपि सत्त्वात्। —भाषारत्न पृ० १८७

भोज

सदृशात्सदृशं ज्ञानमुपमानं द्विधेह तत्।
स्यादेकमनुभूतेऽर्थेऽननुभूते द्वितीयकम्॥
तथाभूतार्थविज्ञानजनकत्वेन हेतुना।
नास्मादभिनयालेख्यमुद्राबिम्बादयः पृथक्॥

—सरस्वती कण्ठाभरण ३.५०-५१

अमृतानन्दयोगी

सादृश्यात्सदृशज्ञानमुपमानमिहोच्यते।
अनुभूतार्थमननुभूतार्थं द्विविधं यथा॥

—काव्यालंकार संग्रह ५.६०-६१

अप्पयदीक्षित

अष्टौ प्रमाणालङ्काराः प्रत्यक्षप्रमुखाः क्रमात्॥ —कुवलयानन्द १७१

भट्ट देवशंकर पुरोहित

उदाहरण मात्र लक्षण नहीं।

श्रीकृष्णब्रह्मतन्त्रपरकालस्वामी

संज्ञायास्संज्ञिनश्चापि संबन्धप्रत्ययो हि यः ।
सादृश्यज्ञानकरण उपमानं तदुच्यते ।। —अलंकार मणिहार १७७

उपमारूपक

उपमा रूपक अलङ्कार वस्तुतः कोई स्वतन्त्र अलङ्कार नहीं है, यद्यपि भामह ने इसे स्वतन्त्र अलङ्कार के रूप में स्वीकार किया है। भामह स्वीकृत उपमारूपक अलङ्कार उनके अनुसार वहां माना जाता है, जहां उपमान के साथ उपमेय का तद्भाव स्थापित किया जा रहा हो। यह तद्भाव आरोप से भिन्न नहीं है, इसे हम भामह द्वारा उपस्थापित उदाहरण में देख सकते हैं।

'समग्रगगनायाममानदण्डो रथाङ्गिनः ।
पादो जयति सिद्धस्त्रीमुखेन्दुनवदर्पणः ।।

प्रस्तुत पद्य में विष्णु के चरण पर 'आयामदण्ड' एवं नवदर्पण का आरोप किया गया है, भामह के शब्दों में आयाम दण्ड एवं नवदर्पण विष्णु चरण के उपमान हैं, एवं दोनों में तद्भाव का कथन हुआ है। इस प्रकार परवर्त्ती सभी आलङ्कारिकों के अनुसार यहां निरवयव (निरङ्ग) **रूपक अलंकार** होगा। स्मरणीय है कि भामह ने रूपक के केवल दो भेद किये हैं, **समस्तवस्तुविषय** एवं **'एकदेशविवर्त्ति'**। ये दोनों भेद केवल सावयव रूपक में ही हो सकते हैं, निरवयव में नहीं। इस आधार पर यह स्वीकार करना अनुचित न होगा कि भामह **रूपक** की स्थिति सावयव में ही मानते रहे हैं, अतः निरवयव की स्थिति में उन्हें अन्य अलङ्कार की कल्पना करना आवश्यक ही है। और उसे उन्होंने **उपमारूपक** नाम दिया है। वामन भी उपमारूपक की चर्चा करते हैं, किन्तु स्वतन्त्र अलङ्कार के रूप में नहीं केवल संसृष्टि के एक प्रकार के रूप में।

मूल लक्षण

भामह

उपमानेन तद्भावमुपमेयस्य साधयन् ।
यां वदन्त्युपमामेतदुपमारूपकं यथा ।। —काव्यालंकार ३.३५

वामन

उपमाजन्यं रूपकमुपमारूपकम् । (संसृष्टि भेद)

—काव्यालंकार सूत्र ४.३.३२

उपमेयोपमा

उपमेयोपमा अलङ्कार में दो वाक्य होते हैं प्रथम वाक्य में जिन उपमेय और उपमानों का प्रयोग किया होता है द्वितीय वाक्य में उसे परिवर्तित करके अर्थात् उपमेय को उपमान और उपमान को उपमेय के रूप में परिवर्त्तित कर निबद्ध किया जाता है। उपमेय का उपमान के रूप में निबन्धन होने के कारण ही इसे उपमेयोपमा अलङ्कार कहा जाता है। दो से भिन्न तृतीय सदृश वस्तु का निषेध इस अलङ्कार का फल होता है। उपमानान्तर का तिरस्कार न होने पर उपमेयोपमा अलङ्कार नहीं होता, इसे जयरथ ने अत्यन्त स्पष्ट शब्दों में स्वीकार किया है।

इस अलङ्कार का सर्वप्रथम उल्लेख भामह के काव्यालङ्कार में प्राप्त होता है। भामह के उत्तरवर्ती आचार्यों में उद्भट वामन कुन्तक मम्मट रुय्यक शोभाकरमित्र जयदेव विद्यानाथ विश्वनाथ अप्पय-दीक्षित जगन्नाथ नरेन्द्रप्रभसूरि एवं नञ्राजयशोभूषण के लेखक नरसिंह कवि ने इसे स्वीकार किया है। आचार्य भरत दण्डी विष्णु धर्मोत्तर पुराणकार एवं अग्निपुराणकार, शिलामेघसेन रुद्रट वाग्भट हेमचन्द्र संघरक्खित विद्याधर अमृतानन्द शौद्धोदनि केशवमिश्र चिरञ्जीव एवं भावदेवसूरि आदि ने इसे स्वीकृति नहीं दी है, अथवा इसकी चर्चा नहीं की है।

उपमेयोपमा अलङ्कार उपमा आदि अन्य अलङ्कारों से परस्पर सर्वथा भिन्न है, क्योंकि उपमा अलङ्कार में केवल एक वाक्य में औपम्य योजना रहती है एवं वहां इतर तृतीय सदृश के निषेध की विवक्षा नहीं रहती; जबकि उपमेयोपमा में दो वाक्य होते हैं तथा इतर तृतीय का निषेध अनिवार्यतः विवक्षित रहता है। अनन्वय में उपमान और उपमेय एक पदार्थ ही होता है, इतर द्वितीय सदृश के निषेध की विवक्षा उसका प्रधान फल है। जबकि उपमेयोपमा में उपमान और उपमेय दो पदार्थ तो सदृश रहते ही हैं इसमें इतर तृतीय सदृश के

निषेध की विवक्षा भी होती है। यह अलङ्कार रसनोपमा से भी सर्वथा भिन्न है। रसनोपमा में प्रथम वाक्यगत उपमेय द्वितीय वाक्य में उपमान तो हो जाता है, किन्तु द्वितीय वाक्य में उपमेय सर्वथा नवीन होता है प्रथम वाक्यगत उपमान उपमेय के रूप में प्रयुक्त नहीं होता है। साथ ही रसनोपमा में दो से अधिक तीन चार या पांच वाक्य भी हो सकते हैं और प्रत्येक पूर्ववाक्य का उपमेय उत्तर वाक्य में उपमान होता जाता है। यही कारण है तृतीय सदृश पदार्थ के निषेध की विवक्षा यहां नहीं हो सकती। जबकि उपमेयोपमा में प्रथम वाक्यगत उपमेय के उपमान होने पर उस वाक्य में प्रयुक्त उपमान ही द्वितीय वाक्य में उपमेय होता है, अन्य उपमान की संभावना ही उसमें नहीं होती। बल्कि इतर उपमान का निषेध ही अभीष्ट रहता है। रसनोपमा के समान उपमेयोपमा में दो से अधिक तीन या चार वाक्य नहीं हो सकते।

उदाहरण के रूप में हम निम्नलिखित पद्य को देख सकते हैं :—

कमलेव मति र्मतिरिव कमला तनुरिव विभा विभेव तनुः।
धरणीव धृति र्धृतिरिव धरणी सततं विभाति बत यस्य॥

प्रस्तुत पद्य में कमला और मति, तनु और विभा, धरणी और धृति के बीच परस्पर उपमानोपमेय भाव का कथन तृतीय उपमानान्तर के निषेध की विवक्षा से हुआ है, फलतः इनके अधिष्ठाता यस्य पद द्वारा वाच्य राजा के अतिशय उत्कर्ष की प्रतीति इस पद्य से होती है।

मूल लक्षण

भामह

उपमानोपमेयत्वं यत्र पर्यायतो भवेत्।
उपमेयोपमां नाम ब्रुवते तां यथोदिताम्॥ —काव्यालंकार ३.३७

उद्भट

अन्योऽन्यमेव यत्र स्यादुपमानोपमेयता।
उपमेयोपमामाहुस्तां पक्षान्तरहानिगाम्।
—काव्यालंकार सार संग्रह ५.१४

वामन

क्रमेण (अर्थस्योपमानोपमेयत्वम्) उपमेयोपमा ।

—काव्यालंकार सूत्रवृत्ति ४.३.१५

कुन्तक

सामान्यान्न व्यतिरिक्ता लक्षणानन्यथा स्थितेः ।
उपमेयोपमा नाम साम्यमात्रावलम्बिनी ।

—वक्रोक्ति जीवित ३.३२

मम्मट

……विपर्यास उपमेयोपमा तयोः । —काव्यप्रकाश सू० १३६

रुय्यक

द्वयोः पर्यायेण तस्मिन्नुपमेयोपमा । —अलंकार सर्वस्व ॥१३॥

शोभाकर मित्र

परस्परमुपमानोपमेयत्वमुपमेयोपमा । —अलंकार रत्नाकर ॥११॥

जयदेव

पर्ययेण द्वयोस्तच्चेदुपमेयोपमा मता । —चन्द्रालोक १.१३

विद्यानाथ

पर्यायेण द्वयोस्तस्मिन्नुपमेयोपमा मता । —प्रतापरुद्रीयम् ८.४५

विद्याधर

यद्युभयोः पर्यायात्स्यादुपमानोपमेयत्वम् ।
सन्निहितवाक्यभेदे, सत्युपमेयोपमा द्विधा ॥ —एकावली ८ ३

विश्वनाथ

पर्ययेण द्वयोरेतदुपमेयोपमा मता । —साहित्य दर्पण १०.२७

जगन्नाथ

तृतीयसदृशव्यवच्छेदबुद्धिफलकवर्णनविषयीभूतं परस्परमुपमानोपमेय-भावापन्नयोरर्थयोः सादृश्यं सुन्दरम् उपमेयोपमा ।

—रस गंगाधर पृ० ३५६

नरेन्द्रप्रभसूरि

उपमेयोपमा भिन्नवाक्यस्थेव्यत्यये तयोः । —अलंकार महोदधि ८.१५

भट्टदेव शंकर पुरोहित

द्वयोश्चेदुपमानत्वोपमेयत्वप्रकल्पनम् ।
पर्यायेण वदन्त्येनामुपमेयोपमां बुधाः ॥ —अलंकार मंजूषा ४ पृ० १२

अप्पयदीक्षित

(१) अन्योन्येनोपमाबोध्या बोध्या व्यक्त्यन्तरेण वा।
एक धर्माश्रया या स्यात् सोपमेयोपमा मता॥

—चित्र मीमांसा १४०

(२) सदृशस्य तृतीयस्य व्यवच्छेदाय यद् भवेत्।
अन्योन्येनोपमेयत्वं सोपमेयोपमा मता॥

—कुवलयानन्द पृ० १४३

विश्वेश्वर

उपमायां पूर्वस्यां प्रतियोग्यनुयोगिनौ यौ तु।
तौ विपरीतौ परतश्चेदुपमेयोपमा त्वेषा॥

—अलंकार मुक्तावली ६

श्रीकृष्णब्रह्मतन्त्र परकाल स्वामी

उपमेयोपमा सा स्यादुपमानोपमेययोः।
पूर्वयोर्वैपरीत्यं चेत्परतः पुनरुच्यते॥ —अलंकार मणिहार २४

वेणीदत्त

उपमानोपमेयत्वमुपमेयोपमानता।
यदा मिथो भवेदेवमुपमेयोपमा तदा॥ —अलंकारमंजरी ॥४७॥

उभयन्यास

उभयन्यास अलंकार अर्थान्तरन्यास के समान समर्थ्य समर्थक भावमूलक अलंकार है। इसकी सर्वप्रथम चर्चा रुद्रट ने की है एवं वाग्भटालंकारकार वाग्भट ने इसका समर्थन किया है। भोज इसमें अलंकारत्व स्वीकार करके भी **अर्थान्तरन्यास** अलंकार से पृथक् मानने की आवश्यकता नहीं समझते। अर्थात् उनके अनुसार **उभयन्यास अलंकार अर्थान्तरन्यास** अलंकार में ही अन्तर्भूत हो जाता है। **अर्थान्तरन्यास** अलंकार में प्रस्तुत सामान्य अथवा विशेष अर्थ का सामान्य अथवा विशेष अर्थान्तर द्वारा समर्थन किया जाता है। यही स्थिति **उभयन्यास अलंकार** में भी रहती है। अधिकांश आलंकारिकों के अनुसार **अर्थान्तरन्यास** अलंकार में दोनों अर्थों में उपमान और उपमेय भाव अवश्य रहता है। **उभयन्यास अलंकर** में यह उपमानोपमेय भाव नहीं रहता, यही दोनों अलंकारों का परस्पर वैशिष्ट्य है।

मूल लक्षण

रुद्रट

सामान्यावप्यर्थौ स्फुटमुपमाया: स्वरूपतोऽपेतौ।
निर्दिश्येते यस्मिन्नुभयन्यास: स विज्ञेय:। —काव्यालंकार ८.४५

भोज

प्रोक्तो यस्तूभयन्यासोऽर्थान्तरन्यास एव स:।
—सरस्वती कण्ठाभरण ४.७१

वाग्भट्ट प्रथम

सामान्यं सामान्येन यत्समर्थ्यते स उभयन्यास:।
—काव्यानुशासन पृ० ४४

उल्लास

उल्लास—अलंकार को जयदेव अप्पयदीक्षित, पंडितराज जगन्नाथ परकालस्वामी एवं चिरञ्जीव ने ही स्वीकार किया है, अन्य आलङ्कारिकों ने नहीं। जयदेव एवं चिरञ्जीव के अनुसार जहां अन्य के गुण (महिमा) के कारण किसी अन्य में दोष का वर्णन किया जाए वहां **उल्लास अलंकार** होता है। जब कि अप्पयदीक्षित एवं पण्डितराज जगन्नाथ के अनुसार यदि अन्य के दोष से किसी अन्य में दोष, गुण से गुण, गुण से दोष अथवा दोष से गुण का वर्णन किया जाए, तो इन चारों स्थितियों में **उल्लास अलंकार** माना जाएगा।

'तदभाग्यं धनस्यैव यन्नाश्रयति सज्जनम्'

पद्य में सज्जन की महिमा से धन में दोष का वर्णन हुआ है। अत: यहां **उल्लास अलंकार** होगा।

मूल लक्षण

जयदेव

उल्लासोऽन्यमहिम्ना चेद् दोषो ह्यन्यत्र वर्ण्यते। —चन्द्रालोक ५.९७

अप्पयदीक्षित

एकस्य गुणदोषाभ्याम् उल्लासोऽन्यस्य तौ यदि॥ —कुवलयानन्द १३३

जगन्नाथ

अन्यदीयगुणदोषप्रयुक्तमन्यस्य गुणदोषयोराधानमुल्लास:।
—रसगंगाधर भाग ३. पृ० ३७

चिरञ्जीव

उल्लासोऽन्यमहिम्ना चेद् दोषो ह्यन्यत्र वर्ण्यते ॥ —काव्यविलास २.५२

श्रीकृष्णब्रह्मतन्त्र परकाल स्वामी

यदन्यगुणदोषाभ्यामन्यस्य गुणदोषयोः ।
आधानं वर्ण्यते प्राहुरुल्लासालंकृतिं तु ताम् ॥

'—अलंकार मणिहार १३७

उल्लेख

उल्लेख अलंकार की कोई चर्चा आचार्य भरत से मम्मट के मध्य में नहीं मिलती। रुय्यक के अलङ्कार सर्वस्व में प्रथम बार सुस्पष्ट एवं सुव्यवस्थित विवेचन देखकर यह कल्पना करना अस्वाभाविक न होगा कि इस अलङ्कार के सम्बन्ध में रुय्यक के पूर्व भी विवेचन होता रहा है। रुय्यक के अनन्तर हेमचन्द्र संघरक्खित वाग्भट द्वितीय अमृतानन्द योगिन् शौद्धोदनि तथा केशवमिश्र को छोड़कर सबने ही इसे स्वीकार किया है।

इस अलङ्कार में सादृश्य मूलक अभेद आरोप अथवा ताद्रूप्यरञ्जन नहीं रहता, अतः इसे रूपक में अन्तर्हित नहीं कह सकते। भ्रान्त-प्रतीति का निबन्ध न होने से यह भ्रान्तिमान् से भी भिन्न है, तथा अभेदाध्यवासान योजना इसमें नहीं होती, अतः यह अतिशयोक्ति अलङ्कार से भी भिन्न एक स्वतंत्र अलङ्कार माना जाता है।

ग्रहीता अथवा विषय के भेद से उल्लेख अलङ्कार दो प्रकार का है। जहां कोई वस्तु विशेष भिन्न-भिन्न ग्रहीताओं द्वारा रुचिभेद के कारण भिन्न-भिन्न रूप से ग्रहण की जा रही हो, वहां प्रथम प्रकार का उल्लेख अलङ्कार होता है।

उदारण के रूप में हम निम्नलिखित पद्य को देख सकते हैं :—

प्रिय इति गोपवधूभिः शिशुरिति वृद्धैरधीश इति देवैः।
नारायण इति भक्तै र्ब्रह्मेत्यग्राहि योगिभि र्देवः।

प्रस्तुत पद्य में एक ही विष्णु का भिन्न-भिन्न ग्रहीताओं द्वारा अपनी-अपनी रुचि के अनुसार गोपियों द्वारा प्रिय के रूप में, वृद्धजनों द्वारा शिशु के रूप में, देवताओं द्वारा स्वामी के रूप में, भक्तों द्वारा नारायण के रूप में एवं योगिजनों द्वारा ब्रह्म के रूप में ग्रहण किया

जा रहा है। इस प्रकार एक वस्तु का ग्रहीता के भेद से अनेक प्रकार से ग्रहण के कारण यहां प्रथम प्रकार का उल्लेख अलङ्कार है। चित्रमीमांसा में उल्लेख एवं भ्रान्तिमान् में एक और अन्तर बताया गया है वह है निमित्त भेद। अर्थात् भ्रान्तिमान् में प्रकृत में अप्रकृत की प्रतोति के मूल में केवल एक ही निमित्त होता है। जबकि उल्लेख में प्रत्येक भिन्न प्रतीति का निमित्त भिन्न होता है। यथा भ्रान्तिमान् के उदाहरण में अतिसादृश्य के कारण भिन्न प्रतीति होती है जबकि उल्लेख के उदाहरण में भिन्न-भिन्न प्रतीति के लिए रुचि अर्थित्व आदि अनेक कारण हो सकते हैं। अतः यहां भ्रान्तिमान् की सम्भावना उचित नहीं है।

ऐसे स्थलों में अतिशयोक्ति की सम्भावना भी नहीं कर सकते। क्योंकि अतिशयोक्ति जिसका पूर्व पृष्ठों में वर्णन अभी किया जा चुका है, के पांच प्रकार हैं, उनसे एक प्रकार ऐसा है, जहां किसी वस्तु में कवि प्रतिभावश भेद किया जाता है, जबकि वस्तुतः भेद होता नहीं है (अभेद में भेदरूपा)। उदाहरणार्थ—

अन्यदेवाङ्गलावण्यम् अन्याः सौभाग्यसम्पदः।
तस्याः पद्मपलाशाक्ष्याः सरसत्वमलौकिकम्।

यहां कामिनी का लौकिक सौन्दर्य यद्यपि एक ही है तथापि उसे भिन्न और अलौकिक बताते हुए भिन्न रूप से अध्यवसित किया गया है, जबकि पूर्वोदाहृत पद्य में गोपियों द्वारा भगवान् को प्रिय के रूप में ग्रहण करने में भिन्न रूप से ग्रहण नहीं है क्योंकि उनमें वह प्रियत्व, भी तात्विक है, कवि प्रतिभावश गोपियों द्वारा भगवान पर अध्यवसित नहीं। इस प्रसंग में स्मरणीय है कि उल्लेख सदा इतर अलंकार संकीर्ण रहता है। तात्पर्य यह है कि उल्लेख एक स्वतंत्र अलङ्कार न होकर इतर अलङ्कारों पर आश्रित अलङ्कार है। 'वृद्धैश्च' इत्यादि में भिन्नत्वाध्यवसायमूलक अतिशयोक्ति आश्रित उल्लेख है। तो भी ग्रहीतृ भेद से भेद उल्लेख का विशिष्ट चारुत्व है।' वज्रपञ्जरमिति शरणागतैः अम्बरविवरमिति वातिकैः।' इत्यादि में केवल अतिशयोक्ति न होकर रूपक मिश्रित है। स्मरणीय है कि 'वज्रपंजरम्, इत्यादि में रुय्यक रूपकसंकीर्ण उल्लेख मानते हैं, जबकि विश्वनाथ

रूपक न मानकर भ्रान्तिमान् अलंकार की संकीर्णता स्वीकार करते हैं, उनके अनुसार श्रीकण्ठ में वज्रपञ्जर की प्रतीति भ्रान्ति के कारण होती है।

प्रस्तुत प्रसङ्ग में भ्रान्तिमान् की संकीर्णता मानने का विश्वनाथ का मत उचित नहीं प्रतीत होता है, क्योंकि यहां भ्रम अनुभूति न होकर सादृश्यमूलक अभेद का चमत्कार है। इस प्रसङ्ग में विश्वनाथ ने रूपक अलङ्कार गौणी लक्षणा से अभिन्न है यह हृदय में रखकर गौणी लक्षणा में वाचस्पति मिश्र का उद्धरण देते हुए प्रकृत एवं अप्रकृत में भेद की अनिवार्यता की ओर संकेत किया है। वस्तुतः प्रकृत पर अप्रकृत का आरोप अर्थात् दोनों में अभेद आरोप रूपक में रहता है। प्रस्तुत प्रसङ्ग में भी श्रीकण्ठ जनपद का नामोल्लेख करते हुए ग्रहीतृ-भेद से उस पर अम्बरविवर आदि का अभेद आरोप किया गया है। यहां उसी आरोपित अभेद की प्रतीति होती है, भ्रान्त प्रतीति नहीं, तथा पृष्ठभूमि में श्रीकण्ठ जनपद एवं अम्बरविवर में भेद बोध होता ही है। इस प्रकार वाचस्पति मिश्र द्वारा गौणी लक्षणा के लिए स्वीकृत भेद प्रतीति पुरस्सर अभेद आरोप यहां भी स्पष्ट विद्यमान है, अतः रूपक मानने में वाचस्पति मिश्र की यह मान्यता कहीं बाधक नहीं है।

'तपोवनमित्यादि द्वारा श्रीकण्ठ जनपद के वर्णन में उल्लेख परिणाम अलङ्कार से संकीर्ण है। क्योंकि श्रीकण्ठ जनपद मुनिजनों और वेश्याओं के लिए तपोवन एवं कामायतन के रूप में व्यवहार में प्रयुक्त है, अर्थात् यहां व्यवहार समारोप है।

ऊपर जिन उदाहरणों को देखा गया है उनमें अनेक अलंकारों से संकीर्ण गृहीत भेद मूलक उल्लेख अलङ्कार रहा है। इसके विपरीत :—

'गाम्भीर्येण समुद्रोऽसि गौरवेणासि पर्वतः' इत्यादि पद्य द्वितीय प्रकार के उल्लेख का अर्थात् विषयभेद प्रयुक्त उल्लेख अलङ्कार का उदाहरण है। अर्थात् इसमें एक प्रकृत मध्यम पुरुष वाच्य राजा का विषय भेद से अनेकधा ग्रहण किया गया है। इस स्थल में उल्लेख रूपक संकीर्ण है। क्योंकि यहां प्रकृत राजा पर गाम्भीर्य और गौरव को हेतु मानकर क्रमशः समुद्र और पर्वत का आरोप किया गया है। विषय भेद प्रयुक्त उल्लेख सदा रूपक संकीर्ण रहता हो, ऐसी बात नहीं है।

'गुरुर्वचसि' 'पृथुरुरसि' 'अर्जुनो यशसि' में उल्लेख के उदाहरणों में रूपक की संकीर्णता नहीं है। यहां प्रकृत मध्यम पुरुष वाच्य राजा पर गुरु पृथु एवं अर्जुन का अभेदारोप नहीं है, अर्थात् राजा और गुरु आदि में आरोपित अभेद की प्रतीति नहीं हो रही है, अपितु वह प्रतीति निश्चय कोटि की हो रही है अतः उसे अध्यवसित प्रतीति कह सकते हैं, तथा अध्यवसित की प्रधानता होने पर अतिशयोक्ति अलङ्कार होता है। जबकि रूपक में आरोप की प्रधानता आवश्यक है। अतिशयोक्ति के पांच भेद में से यहां भेदों में अभेद का अध्यवसान हो रहा है तथा अभेद अध्यवसान का मूल गुरु आदि पदों का श्लिष्ट होना हेतु है। इस प्रकार गुरुर्वचसि आदि उल्लेख के उदाहरणों में श्लेष मूलक अभेद में भेदरूपा अतिशयोक्ति अलङ्कार भी है।

इस प्रकार हम कह सकते हैं कि उल्लेख अलङ्कार सदा ही किसी न किसी अलङ्कार से संकीर्ण रहा करता है। अन्य अलङ्कारों की छाया से रहित उल्लेख के उदाहरण मिलना संभव नहीं है।

मूल लक्षण

रुय्यक

एकस्यापि निमित्तवशादनेकधा ग्रहणमुल्लेखः। —अलंकार सर्वस्व १६

शोभाकर मित्र

एकस्यानेकधा कल्पनमुल्लेखः। —अलंकार रत्नाकर ॥३४॥

जयदेव

बहुभिर्बहुधोल्लेखादेकस्योल्लेखिता मता। —चन्द्रालोक ५.२३

विद्यानाथ

अर्थयोगरुचिश्लेषैरुल्लेखनमनेकधा।
ग्रहीतृभेदादेकस्य स उल्लेखः सतां मतः॥ —प्रतापरुद्रीयम् ८.७२

संघरक्खित

तत्तन्निमित्तभेदादेकमनेकैरनेकधा यत्र।
उल्लिख्यते स धीरैरुल्लेलः कथ्यतेऽन्वर्थः। —सुबोधालंकार ८

विश्वनाथ

क्वचिद् भेदाद् ग्रहीतॄणां विषयाणां तथा क्वचित्।
एकस्यानेकधोल्लेखो यः स उल्लेख उच्यते।
—साहित्यदर्पण १०.३७

अप्पयदीक्षित—

१. (क) निमित्तभेदादेकस्य वस्तुनो यदनेकधा।
उल्लेखनमनेकेन तमुल्लेखं प्रचक्षते।।
—चित्र मीमांसा पृ० २२५

(ख) गृहीतृभेदाभावेऽपि विषयाश्रयभेदतः।
एकस्यानेकधोल्लेखमप्युल्लेखम्प्रचक्षते। वही पृ० २३०

२. बहुभिर्बहुधोल्लेखादेकस्योल्लेख इष्यते।
एकेन बहुधोल्लेखेऽप्यसौ विषयभेदतः।
— कुवलयानन्द २२, २३

पंडितराज जगन्नाथ

(१) एकस्य वस्तुनो निमित्तवशाद् यद्यनेकैर्ग्रहीतृभिरनेकप्रकारकं ग्रहणं तदुल्लेखः। —रसगंगाधर पृ० ६१४

(२) यत्रासत्यपि ग्रहीत्रनेकत्वे विषयाश्रयसमानाधिकरणादीनां सम्बन्धिनामन्यतमानेकत्वप्रयुक्तमेकस्य वस्तुनोनेकप्रकारत्वम्।
—रसगंगाधर पृ० ६६४

चिरञ्जीव

बहुभिर्बहुधारोपादेकस्यानेकधा ग्रहः। — काव्यविलास ८.१७

नरेन्द्रप्रभसूरि

उल्लेखो विविधाद् हेतोरेकस्यानेकधा ग्रहः। —अलंकार महोदधि ८.१७

भावदेवसूरि

उल्लेखोऽयं यदेकस्यानेकधा प्रतिभासनम्।
—काव्यालंकार सार संग्रह ६.४५

नरसिंह कवि

अर्थयोगरुचिश्लेषैरुल्लेखनमनेकधा।
ग्रहीतृभेदादेकस्य स उल्लेखः सतां मतः।।
—नञ्राजयशोभूषण

भट्ट देवशंकर पुरोहित

एकेन वाथ बहुभिरेक उल्लिख्यते यदि।
बहुधा सा बुधैः प्रोक्ता ह्युल्लेखालङ्कृतिस्तदा।।
—अलंकार मञ्जूषा १२ पृ० २५

विश्वेश्वर

बहुभिबहुधोल्लेखादेकस्योल्लेख इष्यते ॥ —अलंकार मुक्तावली २०

श्रीकृष्ण ब्रह्मतन्त्र परकाल स्वामी

ग्रहीतृभिरनेकै र्यदेकस्यानेकधा ग्रहः।
रुच्यादिकारणवशात् तमुल्लेखं प्रचक्षते ॥
एकस्य विषयादीनामनेकत्वनिबन्धनम्।
नैकधात्वं ग्रहीत्रैक्येऽप्युल्लेखस्सोऽपि सम्मतः ॥

—अलंकार मणिहार ४४-४५

ऊर्जस्वि अलंकार

रस और भाव अनुचित आलंबन से निबद्ध होने पर क्रमशः रसाभास और भावाभास कहलाते हैं [तदाभासा अनौचित्यप्रवर्त्तिताः। (वृत्ति) तदाभासा रसाभासा भावाभासाश्च । का० प्र० पृ० १२८) ये रसाभास और भावाभास जब गुणीभूत होकर अभिव्यक्त होते हैं, तब इन्हें ऊर्जस्वि अलङ्कार कहा जाता है [अनौचित्यप्रवृत्तानां कामक्रोधादिकारणात्। भावानाञ्च रसानां च बन्ध ऊर्जस्वि कथ्यते। का० सा० सं० ४.४]। दण्डी के अनुसार ऊर्जस्वि अलङ्कार वहां होता है, जहां अहङ्कार या गर्व की अभिव्यक्ति हो अर्थात् गर्वप्रधान आख्यान में ऊर्जस्वि अलङ्कार होता है [ऊर्जस्वि रूढाहंकारम्।' का० द० २.२७८] रूढः अभिव्यक्तः अहंकारः गर्वः यत्र तथोक्तम् आख्यानं गर्वप्रधानमाख्यानम् ऊर्जस्वि। ऊर्जो बलं तदस्यास्तीति योगबलात्। अहङ्कारस्य ऊर्जो धर्मरूपत्वात् तथा व्यपदेशः (का० द० व्याख्या (जीवानन्द) पृ० १६६]। भावदेव सूरि को छोड़कर ऊर्जस्वि अलङ्कार को उन सभी आचार्यों ने स्वीकार किया है, जिन्होंने रसवत् एवं प्रेयस् को स्वीकार किया था। भामह ने इसका लक्षण न देकर उदाहरण मात्र दिया है। शेष आचार्यों में शिलामेघसेन एवं संघरक्खित ने दण्डी का अनुकरण करते हुए इसका लक्षण दिया है। अन्य आचार्य उद्भट का अनुकरण करते हैं।

वनेऽखिलकलासक्ताः परिहृत्य निजस्त्रियः।
त्वद् वैरिवनितावृन्दे पुलिन्दाः कुर्वते रतिम् ॥

इस पद्य में राजवनिता विषयक पुलिन्दकृत रति का निबन्धन

शृंगाराभास (रसाभास) है, जो राजविषयक रतिभाव के अंग के रूप में निबद्ध हैं, अतः यहां उद्भट और उनकी परम्परा का अनुसरण करने वाले आचार्यों के मत में ऊर्जस्वि अलंकार माना जाता है।

मूल लक्षण

दण्डी

ऊर्जस्वि रूढाहंकारं युक्तोत्कर्षं च तत् त्रयम्। —काव्यादर्श २.२७५

भामह

उदाहरण मात्र

शिलामेघसेन

दण्डी अनुकृत २७२

उद्भट

अनौचित्यप्रवृत्तानां कामक्रोधादिकारणात्।
भावानां च रसानां च बन्ध ऊर्जस्वि कथ्यते॥

—काव्यालंकार सार संग्रह ४.५

कुन्तक

ऊर्जस्वि-उदात्ताभिधानं पौर्वापर्यप्रणीतयोः।
अलंकरणयो भूषणत्वं तद्वन्न विद्यते॥

—वक्रोक्तिजीवित ३.१२

रुय्यक

रसभावतदाभासतत्प्रशमानां निबन्धे रसवत् प्रेय ऊर्जस्वि समाहितानि॥

—अलंकार सर्वस्व ८३

शोभाकर मित्र

रसभावतदाभासानां रसाद्यङ्गत्वे रसवत्प्रेयऊर्जस्वीनि।

—अलंकार रत्नाकर १०६

जयदेव

रसभावतदाभासभावशान्तिनिबन्धनाः।
रसवत्प्रेयऊर्जस्विसमाहितमयाभिधाः। —चन्द्रालोक ५.११२

संघरक्षित

दस्सीयते' तिरित्तं तु सूरवीरत्तनं यदि।
वदन्ति विञ्ञूवचनं रूढाहंकारमीदिसं॥ —सुबोधालंकार २८८

विश्वनाथ

रसवत्प्रेयऊर्जस्विसमाहितमितिक्रमात् ।
रसभावरसाभासभावाभासस्य वर्ण्णना ॥ —साहित्यदर्पण १६.९६

अमृतानन्द योगी

रसानामिह चान्येषामुत्कर्षस्तूह्यतां बुधैः ।
अत्यहंकारवद् वाक्यमूर्जस्वीत्युच्यते यथा ॥

—अलंकार संग्रह ५, ३७-३८

अप्पयदीक्षित

रसभावतदाभासभावशान्तिनिबन्धनाः ।
चत्वारो रसवत्प्रेय ऊर्जस्वि च समाहितम् ॥ —कुवलयानन्द १७०

वृत्ति

रसाभासः भावाभासश्च यत्रापरस्याङ्गं तदूर्जस्वि ।

—वही पृ० १८३

नरेन्द्रप्रभसूरि

रसाः भावास्तदा भासाभावशान्त्यादयोऽपि वा ।
यत्रात्मानं गुणीकृत्य धारयन्त्यपराङ्गताम् ॥
अलङ्काराः क्रमात्तस्मिन्नमी कैश्चिदुरीकृताः ।
रसवत्प्रेयऊर्जस्विसमाहितपुरस्सराः ॥

—अलंकार महोदधि ८.८५-८६

भट्टदेवशंकर पुरोहित

अनौचित्येन प्रवृत्तो रसो भावश्च रसाभासोभावाभासश्च यत्रा-पराङ्गतया निबध्यते, तत्रोर्जस्व्यलंङ्कारः ॥

—अलंकार मञ्जूषा पृ० २२७

विश्वेश्वर

रसभावतदाभासे रसवत्प्रेय ऊर्जस्वी ।
भावशमे तु समाहितमुदयेऽन्योऽप्यस्य शबलत्वे ॥

—अलंकार मुक्तावली ५५

श्रीकृष्णब्रह्मतन्त्र परकालस्वामी

भावाङ्गता रसाभासो भावाभासोऽथवाऽश्नुते ।
यदा तदेयमूर्जस्वि नामाऽलंकृतिरुच्यते ॥

—अलंकार मणिहार १७०

ऊह

'ऊह' मीमांसा शास्त्र में सुविदित पारिभाषिक पद है। उसका अर्थ है अनुक्त विभक्ति वचन की कल्पना कर लेना। इसी प्रकार की कल्पना (संभावना) को जयदेव अप्पयदीक्षित चिरञ्जीव एवं भट्ट देवशंकर पुरोहित ने **सम्भावना** नाम से काव्य का अलंकार माना है। भोज इसे ही **ऊह** नाम से एवं शोभाकर **वितर्क** नाम से स्वीकार करते हैं। भोज के अनुसार इसके **सन्देहान्त** एवं **निर्णयान्त** नाम से प्रथम दो भेद हो सकते हैं। इनमें **सन्देहान्त ऊह** मिथ्यात्मक अमिथ्यात्मक एवं मिथ्यामिथ्योभयात्मक भेद से तीन प्रकार का एवं **निर्णयान्त ऊह** भी तत्त्वानुपाती अतत्वानुपाती और तत्त्वातत्त्वोभयानुपाती भेद से तीन प्रकार का हो सकता है।

> **अयं मार्तण्डः किं स खलु तुरगैः सप्तभिरितः**
> **कृशानुः किं सर्वाः प्रसरति दिशो नैष नियतम्।**
> **कृतान्तः किं साक्षान्महिषवहनोऽसाविति चिरं**
> **समालोक्याजौ त्वां विदधति विकल्पान्प्रति भटाः॥**

प्रस्तुत पद्य में प्रकृत राजा के लिए शत्रुभटों द्वारा मार्तण्ड आदि की सम्भावना की गयी है। अतः भोज के अनुसार यहां **ऊह वितर्क** अथवा **सम्भावना** नामक अलङ्कार स्वीकार किया जाता है।

अन्य आलङ्कारिक इसे **अनिश्चयान्त सन्देह** अलंकार स्वीकार करते हैं। (देखें वितर्क सम्भावना)

मूल लक्षण

भोज

> ऊहो वितर्कः सन्देहनिर्णयान्ताधिष्ठितः।
> तत्त्वानुपाती-अतत्त्वानुपाती यश्चोभयात्मकः।
> स निर्णयान्त इतरो मिथ्यामिथ्योभयात्मकः॥

—सरस्वती कण्ठाभरण ३.३९-४०

शोभाकर

> सम्भावितसम्भाव्यमानापोहो वितर्कः।

—अलंकार रत्नाकर ३१

जयदेव

सम्भावनं यदीत्थं स्यादित्यूहोऽन्यप्रसिद्धये । —चन्द्रालोक ५.४६

अप्पयदीक्षित

सम्भावना यदीत्थं स्याद् ऊहोऽन्यस्य सिद्धये । —कुवलयानन्द १२६

चिरञ्जीव

सम्भावनं यदीत्थं स्यादित्यूहे सति जायते । —काव्यविलास २.३०

भट्ट देवशंकर

काव्यकर्त्रा यदीत्थं स्यादित्यूहोऽन्यस्य सिद्धये ।
यत्र प्रक्रियते तत्र संभावनमुदाहृतम् ॥

—अलंकार मञ्जूषा ९७

विश्वेश्वर

सम्भावनं यदीत्थं स्यादित्यूहोऽन्यस्य सिद्धये ।

—अलंकार मुक्तावली २०

श्रीकृष्णब्रह्मतन्त्र परकालस्वामी

सम्भावनं स्याद्यद्येवं स्यादित्यूहोऽन्यसिद्धये । अलंकार मणिहार १३२

एकावली

एकावली शृंखला मूलक अलङ्कारों में अन्यतम है। मालादीपक के समान इस में परस्पर उत्कर्षाधायकता विद्यमान रहती है, अन्तर केवल यह है कि मालादीपक में पूर्व-पूर्व उत्तरोत्तर का उत्कर्षाधायक होता है, जबकि एकावली में उत्तर-उत्तर पूर्व-पूर्व के प्रति उत्कर्षाधायक होता है [उत्तरोत्तरस्य पूर्वं-पूर्वं प्रत्युत्कर्ष हेतुत्वे एकावली। पूर्वस्य पूर्वस्योत्तरोत्कर्षनिबन्धनत्वे तु मालादीपकम् । अ० स० पृ० १९८]। इस अलङ्कार की सर्वप्रथम चर्चा रुद्रट के काव्यालंकार में मिलती है [७.१०९]। रुद्रट के तत्काल उत्तरवर्ती भोज ने इसे परिकर अलंकार में अन्तर्भूत करना चाहा है [एकावलीति या सापि भिन्ना परिकरान्नहि। स० कं० ४.७८]। परवर्ती आलंकारिकों में मम्मट [१३१] रुय्यक [५४] वाग्भट प्रथम, जयदेव [५.८३] नरेन्द्रप्रभ सूरि [८.६४] विद्यानाथ [८.२७०] संघरक्खित [३२७] विद्याधर [८.४६] विश्वनाथ [७८] वाग्भट द्वितीय [४.१३६] अप्पयदीक्षित [कुवल० १०५]पंडितराज जगन्नाथ [रसगं. भाग ३]

पृ० ५६०] चिरञ्जीव [२.४६] भावदेवसूरि [६.४१] एवं नरसिंह कवि [पृ० २१६] इत्यादि ने इसे स्वीकार किया है।

पंडितराज जगन्नाथ के अनुसार पूर्व-पूर्व उत्तरोत्तर के प्रति विशेष्य बन रहा हो, या विशेषण बन रहा हो दोनों स्थितियों में एकावली अलङ्कार होता है। प्रथम प्रकार में जब पूर्व-पूर्व उत्तरोत्तर के प्रति विशेष्य बन रहा हो, उस स्थिति में विशेषणभूत उत्तर पदार्थ कभी स्थापक हो सकता है और कभी अपोहक भी हो हो सकता है। इसप्रकार उनके अनुसार एकावली के तीन प्रकार हो जाते हैं (स च पूर्व-पूर्वस्योत्तरम्प्रति विशेष्यत्वे विशेषणत्वे चेति द्विधा। तत्राद्ये उत्तरोत्तरस्य विशेषणस्य स्थापकत्वापोहककत्वाभ्यां द्वैविध्यम्। रसगं० तृतीय पृ० ५६०।

इस अलङ्कार का एकावली नाम मौक्तिक माला के अनुकरण पर रखा गया है। यह मौक्तिक माला 'एका चासौ अवली च' व्युत्पत्ति के अनुसार एक लड़ी वाली (एकसरा) सत्ताइस मोत्तियों से बनी होती है। (अर्धहारो माणवक एकावल्येकयष्टिका। सैव नक्षत्रमाला स्यात् सप्तविंशतिमौक्तिकैः। अमर कोश ३.१०६) इस अलङ्कार में भी उत्तरोत्तर सम्बन्ध के कारणशृंखला भाव (माल्यत्व) की प्रतीति होती है, यह अलङ्कार की अलङ्कारता है।

सरो विकसिताम्भोजमम्भोजं भृङ्गसङ्गतम्।
भृङ्गा यत्र ससंगीताः संगीतं सस्मरोदयम्॥

पद्य प्रथम प्रकार के एकावली भेद का उदाहरण है। यहां पूर्व-पूर्व विशेष्य है और उत्तर-उत्तर विशेषण। यहां 'विशेषण' पद अंग्रेजी के 'Adjective' के समान्तर मात्र न होकर उस से कुछ भिन्न है। यहां विशेषण का तात्पर्य है कि जिसके संबन्ध के कारण स्वरूप-मात्र से विदित वस्तु में वैशिष्ट्य का बोध हो सके (स्वरूपमात्रेणावगतस्य वस्तुनो तत्सम्बन्धबलेन वैशिष्ट्यमवगम्यते तद् विशेषणम्-विमर्शिनी पृ० १७८)। प्रस्तुत पद्य में विकसित अम्भोजवत्व सर का विशेषण है, भृङ्गसङ्गत अम्भोज का, ससंगीतता भृङ्ग का, स्मरोदय से युक्त होना संगीत का। इस प्रकार यहां पूर्व-पूर्व विशेष्य और उत्तरोत्तर विशेषण है, जो निरन्तर शृङ्खलाभाव से बद्ध है।

यहां स्थापन भाव विशेषणों में है, क्योंकि सरस् आदि में सरस्त्व आदि की विशेषण के माध्यम से स्थापना की गयी है।

न तज्जलं यन्न सुचारु पंकजम्,
न पङ्कजं तद् यदलीनषट्पदम्।
न षट्पदोऽसौ न जुगुञ्ज यः कलम्,
न गुञ्जितं तन्न जहार यन्मनः॥

भट्टिकाव्य इस पद्य (२.१९) में सुचारु पङ्कज जल का विशेषण है, 'अलीनषट्पद' पङ्कज का, गुञ्जन क्रिया षट्पद के वैशिष्ट्य का बोध कराता, तथा मनोहारिता (जहार यन्मनः) गुञ्जन का। इन सभी विशेषणों के निषेध का निषेध यहां किया गया है। अतः यह उदाहरण अपोहन का माना जाएगा।

वाप्यो भवन्ति विमलाः स्फुटन्ति कमलानि वापीषु।
कमलेषु पतन्त्यलयः करोति संगीतमलिषु पदम्।

इस पद्य में विशेष्य उत्तरोत्तर विशेषण के रूप में स्थापित है। क्योंकि इस में प्रथम विशेषण 'विमलाः' वापियों की विशेषता बताता है, तथा विशेष्य वापी की विशेषता कमल बता रहे हैं। कमल (विशेष्य) की विशेषता अलिपतन (विशेषण) बता रहा है। अलि (विशेष्य) की विशेषता संगीत (विशेषण) के कारण है। यह उदाहरण संस्थापन विषयक है।

इस प्रसंग में स्मरणीय है कि विश्वनाथ अपाहन प्रकार पूर्व भेद के समान इस भेद में भी मानते हैं, जबकि जगन्नाथ इसके पक्ष में नहीं है। इसकी चर्चा ऊपर की जा चुकी है। साहित्यदर्पण के टीकाकार रामचरण ने अपोहन का निम्नलिखित उदाहरण दिया है।

पुण्यक्षेत्रं न सर्वत्र पुण्यक्षेत्रे न नास्तिकाः।
नास्तिकेषु न धर्मोऽस्ति न धर्मे दुःखहेतुता॥

मूल लक्षण

रुद्रट

एकावलीति सेयं यत्रार्थपरम्परा यथालाभम्।
आधीयते यथोत्तरविशेषणा स्थित्यपोहाभ्याम्। —काव्यालंकार ७.१०९

भोज

एकावलीति या सापि भिन्ना परिकरान्नहि ।
त्रिविधा सा समुद्दिष्टा शब्दार्थो भयभेदतः ।
—सरस्वती कण्ठाभरण ४-७८

मम्मट

स्थाप्यतेऽपोह्यते वापि यथा पूर्वं परं परम् ।
विशेषणतया यत्र वस्तु सैकावली मता ।
—काव्यप्रकाश ३३१ सू० १९८

रुय्यक

यथापूर्वं परस्य विशेषणतया स्थापनापोहने एकावली ।
—अलंकार सर्वस्व ५४

वाग्भट्ट प्रथम

पूर्वपूर्वार्थनिष्ठानामर्थानामुत्तरोत्तरं विधिनिषेधाभ्यां विरचनैकावली ।
—काव्यानुशासन पृ० ४१

जयदेव

गृहीतमुक्तरीत्यार्थश्रेणिरेकावली मता । —चन्द्रालोक ५.८३

विद्यानाथ

यत्रोत्तरोत्तरेषां स्यात्पूर्वपूर्वं प्रति क्रमात् ।
विशेषणत्वकथनमसावेकावली मता । —प्रतापरुद्रीयम् ८.२७०

संघरक्खित

उत्तरं उत्तरं यत्थ पुब्ब पुब्ब विसेसनं ।
सिया एकावली सायं द्विधा विधिनिसेधतो । —सुबोधालंकार ३१७

विद्याधर

यत्र विशेषणभावं पूर्वं पूर्वं प्रति क्रमेणैव ।
भजति परं परमेषाऽलंकृतिरेकावली कथिता ।। —एकावली ८.४६

विश्वनाथ

पूर्वं पूर्वं प्रति विशेषणत्वेन परम्परम् ।
स्थाप्यतेऽपोह्यते वा चेत्स्यात्तदैकावली द्विधा । —साहित्यदर्पण १०.७८

वाग्भट्ट द्वितीय

पूर्वपूर्वार्थवैशिष्टयनिष्ठानामुत्तरोत्तरम् ।
अर्थानायां या विरचना बुधैरेकावली मता । —वाग्भटालंकार ४.१३६

अप्पयदीक्षित

गृहीतमुक्तरीत्यार्थश्रेणिरेकावलिर्मता ॥ —कुवलयानन्द १०५

पंडितराज जगन्नाथ

सैव शृंखला संसर्गस्य विशेष्यविशेषणभावरूपत्वे एकावली ।

—रसगंगाधर तृतीय ५६०

चिरञ्जीव

गृहीतमुक्तरीत्यार्थश्रेणीरेकावली मता । —काव्यविलास २.४६

नरेन्द्रप्रभसूरि

परं परं यथा पूर्वं स्थाप्यतेऽपोह्यतेऽथवा ।
विशेषणतया यस्यामाहुरेकावलीति ताम् । —अलंकार महोदधि ८.६४

भावदेवसूरि

गृहीतमुक्तरीत्युक्तैः पदैरेकावली भवेत् । —काव्यालंकार संग्रह ६.४१

नरसिंह कवि

यत्रोत्तरोत्तरेषां स्यात्पूर्वं पूर्वं प्रति क्रमात् ।
विशेषकत्वकथनमसावेकावली मता ॥

—नञ्जराज यशोभूषण पृ० २१६

भट्ट देवशंकर

अर्थश्रेणी निबध्येत गृहीतमुक्तरीतितः ।
एकावलीति विज्ञेयालङ्कृतिस्तत्र पण्डितैः ।

—अलंकार मंजूषा ७८

विश्वेश्वर

प्रथमं विशेषणं चेद्विशेष्यमग्रे भवत्यसकृत ।
विरहप्रतियोगी वा तद्वानेकावलिः सोक्ता ॥

—अलंकार मुक्तावली ४७

वेणीदत्त

(१) विशेषणतया पूर्वं पूर्वं प्रति परं परम् ।
स्थाप्यते चेत् तदा प्राज्ञैः प्रथमैकावलीरिता ॥

—अलंकारमञ्जरी २०५

(२) पूर्वपूर्वपदार्थेषु विशेषणतया यदि ।
व्यपोह्यन्ते परपरे द्वितीयैकावली तदा ॥ —वही २०७

ऐतिह्य

ऐतिह्य प्रमाणमूलक अलंकार है। इसे केवल अमृतानन्दयोगी परकालस्वामी एवं अप्पयदीक्षित ने ही स्वीकार किया है, अन्य आलंकारिकों ने नहीं। ऐतिह्य का अर्थ है प्रवाद परम्परा से प्राप्त भूतकालीन विवरण। काव्य में निबद्ध होकर यह अर्थ जब चारुत्व का सृजन करता है, तब उसे **ऐतिह्य अलंकार** कहते हैं।

कल्याणी बत गाथेयं लौकिकी प्रतिभाति मे।
एति जीवन्तमानन्दो नरं वर्षशतादपि॥

यहां अनिर्दिष्ट वक्ता वाली गाथा (प्रवाद परम्परा) का निर्देश हुआ है, अतः यहां **ऐतिह्य अलङ्कार है।**

मूल लक्षण

अमृतानन्दयति

प्रवादपारम्पर्याद्यदनिर्दिष्टप्रवृत्तकम्।
ऐतिह्यमिति विज्ञेयम्प्रमाणं पण्डितैर्यथा॥ —अलंकार संग्रह ५.६५

अप्पयदीक्षित

अष्टौ प्रमाणालंकाराः प्रत्यक्षप्रमुखाः क्रमात्। —कुवलयानन्द १७१

श्रीकृष्णब्रह्मतन्त्र परकालस्वामी

यत्रेतिहोचुरित्याद्यामनिर्दिष्टप्रवक्तृकम्।
पारम्पर्यं प्रवादस्य तत्रैतिह्यमलंकृतिः॥

—अलंकार मणिहार १८२

कल्पितोपमा

कल्पितोपमा अलंकार को केवल वामन एवं रुद्रट ने ही स्वीकार किया है। परवर्ती आचार्यों में किसी ने भी इसकी चर्चा नहीं की है। इनके अनुसार उपमान और उपमेय में किंचित् गुण साम्य रहने पर तो **उपमा अलङ्कार** होता है, किन्तु यदि उनमें अनेक गुणों के कारण साम्य हो तो **कल्पितोपमा अलङ्कार** मानना चाहिए। ये दोनों ही आलङ्कारिक इसे स्वतंत्र अलङ्कार न मानकर **उपमा अलङ्कार** का एक प्रकार मानते हैं।

'मुखमापूर्वकपोलं मृगमदलिखितार्धपत्रलेखं ते।
भाति लसत्सकलकलं स्फुटलाञ्छनमिन्दुबिम्बमिव ।।

प्रस्तुत पद्य में मुख एवं इन्दुबिम्ब में अनेक गुणों के कारण साम्य है, अत: वामन एवं रुद्रट के अनुसार यहां **कल्पितोपमा** अलङ्कार मानना चाहिए।

मूल लक्षण

वामन

गुणबाहुल्यतश्च कल्पिता। —काव्यालंकार सूत्र ४.२-३

रुद्रट

सा कल्पितोपमाख्या यैरुपमेयं विशेषणैर्युक्तम्।
तावद्भिस्तादृग्भिः स्यादुपमानं तथा यत्र ।।

—काव्यालंकार ८.१३

कारक दीपक

दीपक एक प्राचीनतम अलङ्कार है, भरत के नाट्यशास्त्र में भी इसका उल्लेख मिलता है। इस (**दीपक**) अलङ्कार का विवरण यथावसर द्रष्टव्य है। **दीपक** अलंकार के सामान्यत: दो भेद स्वीकार किये जाते है: **क्रियादीपक** एवं **कारक दीपक**। अप्पयदीक्षित ने अन्य आचार्यों द्वारा दीपक के भेद के रूप में स्वीकृत कारकदीपक अलङ्कार को एक स्वतन्त्र अलंकार के रूप में स्वीकार किया है। उन्होंने **समुच्चय** अलंकार के अनन्तर समुच्चय तत्त्व (अनेक तत्त्वों का एकत्र संकलन) के कारण ही इसे स्वतन्त्र अलंकार मानना उचित समझा है। (दीपक-छायापत्त्या कारकदीपकं प्रथमसमुच्चयप्रतिद्वन्द्वीदम्। कुवलयानन्द पृ० १८६)। परकाल स्वामी भी इस अलंकार को स्वतन्त्र अलंकार मानते हैं।

'गच्छत्यागच्छति पुनः पान्थः पश्यति पृच्छति।'

पद्य में एक कारक पद 'पान्थः' अनेक क्रिया पदों के साथ निबद्ध है, अत: इन आचार्यो के अनुसार यहां **कारक दीपक अलङ्कार** होगा। वस्तुत: यह **दीपक** अलंकार का एक प्रकार ही है।

मूल लक्षण

अप्पयदीक्षित

क्रमिकैकगतानां तु गुम्फः कारकदीपकम् ॥ —कुवलयानन्द ११७

श्रीकृष्णब्रह्मतन्त्र परकालस्वामी

क्रमिकाणां क्रियाणां चेदेककारकगामिनाम् ।
गुम्फनं क्रियते तत्तु भवेत्कारकदीपकम् ॥

—अलंकार मणिहार २२३

कारणमाला

कारणमाला पद अन्वर्थ संज्ञा है। इसमें पूर्व पूर्व के प्रति उत्तर-उत्तर कारण के रूप में निबद्ध होता है। इस अलंकार का सर्वप्रथम उल्लेख रुद्रट के काव्यालंकार (७.८४) में मिलता है। भोज (स. कं. ३.१९) मम्मट (का. प्र. १२०) रुय्यक (अ. स. ५३) वाग्भट प्रथम (काव्यानु०) नरेन्द्रप्रभ सूरि (अ. म. ८.६३) जयदेव (चन्द्रा० ५.८५) विद्यानाथ (प्रताप. ८.२६८) विद्याधर (एका० ८.४५) विश्वनाथ (सा० द० १७.७६) पंडितराज जगन्नाथ (रसगं० तृतीय पृ० ५५१) चिरंजीव (का० वि० २.४५) भावदेव सूरि एवं नरसिंह कवि (नञ्राज पृ० २१९) आदि ने समान रूप से इसे स्वीकार किया है। इनमें से भावदेव सूरि ने इसे कारणावली नाम से उद्धृत किया है। जयदेव अप्पय दीक्षित इसे कारणमाला के साथ गुम्फ नाम से भी स्मरण करते हैं। इस अलंकार के स्वरूप के प्रसंग में जयदेव अप्पयदीक्षित एवं पण्डितराज जगन्नाथ आदि आचार्यों की मान्यता है कि चाहे कार्य का कथन पहले करके बाद में कारण का कथन किया जाए, चाहे पहले कारण का निबन्धन किया गया हो और बाद में कार्य का, दोनों स्थितियों में कारणमाला अलंकार हो सकता है। ('गुम्फः कारणमाला स्याद् यथा प्राक् प्रान्तकारणः।' चन्द्रा.५.८५। कुवल. १०४) 'तत्र पूर्वं पूर्वं कारणं परं-परं कार्यमित्येका, पूर्वं पूर्वं कार्यं परम्परं कारणमित्यपरा। (रसगं० तृतीय पृ. ५५२) इस अलंकार में यदि प्रथम वाक्यांश में कारण का पहले कथन किया जाय एवं कार्य का उसके बाद तो सम्पूर्ण वाक्य में इसी क्रम का निर्वाह करना

चाहिए और यदि पहले कार्य का कथन करके तदन्तर कारण का कथन करते हुए उपक्रम किया जाय तो अन्त तक उसका निर्वाह होना चाहिए; क्योंकि इस अलंकार में कार्य-कारण क्रम में ही चारुत्व विद्यमान रहता है। (कार्यकारणक्रम एवात्र चारुत्वहेतुः। अ० स० पृ० १७७) कार्य कारण के उपक्रान्त क्रम का निर्वाह न होने पर न केवल अलंकारत्व समाप्त हो जाता है, अपितु भग्नप्रक्रम (प्रक्रमभेद) दोष भी होता है। (इह च यद्यादौ कारणोक्तिरेव प्रस्तूयते तदा पुनस्तस्य कारणं तस्यापि कारणमिति, तत्कस्यचिदिति तदपि कस्यचिदिति वा कारणमाला युक्ता। यदा तु कार्योक्तिस्तदा तस्य कार्यं तस्यापि कार्यमिति, तत्कस्यचित्कार्यं तदपि कस्यचिदिति वा युक्ता। सर्वथैव वा यः शब्दः कार्यकारणतोपस्थापक आदौ प्रयुक्तः स एव निर्वाह्यः। एवं क्रमेण निबन्धनमाकांक्षानुरूपत्वाद्रमणीयम्। अन्यथा तु भग्नप्रक्रमं स्यात्। रसगं० तृतीय पृ० ५५३) चिरंजीव ने उत्तरोत्तर कार्यों का गुम्फन करने पर गुम्फ नामक एक पृथक् अलंकार स्वीकार किया है। (उत्तरोत्तरकार्याणां धारया गुम्फ उच्यते। का०वि० २.४५)

श्रुतं कृतधियां सङ्गाज्जायते विनयः श्रुतात्।
लोकानुरागो विनयान्न किं लोकानुरागतः ॥

इस पद्य में कृतधी (विद्वज्जनों) जनों की सङ्गति को श्रुत अर्थात् विद्या का, श्रुत को विनय का, विनय को लोकानुराग का कारण कहा गया है, तथा लोकानुराग किसका कारण नहीं है अर्थात् वह सब कुछ का हेतु है, यह स्वीकारा गया है। इस प्रकार प्रत्येक पूर्व को उत्तरोत्तर का कारण कहने से यहां कारणमाला अलंकार है। इस पद्य में कार्य कारण में से उत्तरोत्तर कार्य का निर्देश हुआ है। उत्तरोत्तर कारण निबन्धन के उदाहरण को हम रसगंगाधर गत इस उदाहरण पद्य में देख सकते हैं—

'स्वर्गापवर्गौ खलु दानलक्ष्मी र्दानं प्रसूते विपुला समृद्धिः।
समृद्धिरल्पेतरभागधेयं भाग्यं च शम्भो तव पादभक्तिः ॥'

अर्थात् स्वर्ग अपवर्ग का हेतु दान है, दान का हेतु विपुल समृद्धि है, विपुल समृद्धि भाग्य से प्राप्त होती है और भगवान् शिव की पादसेवा अर्थात् शिव की भक्ति से भाग्य उत्पन्न होता है।

प्रस्तुत उदाहरण में उत्तर-उत्तर पूर्व पूर्व का कारण है, अत: यहां भी कारणमाला अलंकार है।

मूल लक्षण

रुद्रट

कारणमाला सेयं यत्र यथा पूर्वमेति कारणताम्।
अर्थानां पूर्वार्थाद् भवतीदं सर्वमेवेति।

—काव्यालंकार ७.८४

भोज

यस्तु कारणमालेति हेतुसन्तान उच्यते।
पृथक्पृथगसामर्थ्यात्सोप्यहेतो र्न भिद्यते॥

—सरस्वती कण्ठाभरण ३.१९

मम्मट

यथोत्तरं चेत्पूर्वस्य पूर्वस्यार्थस्य हेतुता।
तदा कारणमाला स्यात्............ ।

—काव्यप्रकाश सू० १८६ का० १२०

रुय्यक

पूर्वस्य पूर्वस्योत्तरोत्तरहेतुत्वे कारणमाला।

—अलंकार सर्वस्व ५३

वाग्भट्ट प्रथम

पूर्वस्योत्तरमुत्तरं प्रति हेतुत्वे कारणमाला। —काव्यानुशासन पृ० ४१

हेमचन्द्र

यथोत्तरं पूर्वस्य हेतुत्वे कारणमाला।

—काव्यानुशासन ६.३० सू० १४२

जयदेव

गुम्फ: कारणमाला स्याद्यथा प्राक्प्रान्तकारणै:। —चन्द्रालोक ५.८५

विद्यानाथ

पूर्वं पूर्वं प्रति यदा हेतु: स्यादुत्तरोत्तरम्।
तदा कारणमालारूपमलंकरणमुच्यते॥ —प्रतापरुद्रीयम् ८.२६८

विद्याधर

यद्यत्पूर्वं तत्तद्यथोत्तरं चेत्क्रमेण संश्रयति ।
हेतुत्वं भवति तदा कारणमालेत्यलंकारः । —एकावली ८.४५

विश्वनाथ

परं परं प्रति यदा पूर्वपूर्वस्य हेतुता ।
तदा कारणमाला स्यात्— —साहित्य दर्पण १७.७६

अप्पयदीक्षित

गुम्फः कारणमाला स्याद्यथा प्राक्प्रान्तकारणैः । —कुवलयानन्द १०४

पंडितराज जगन्नाथ

श्रृंखलानुगुणस्य कार्यकारणभावरूपत्वे कारणमाला ।
—रसगंगाधर भाग ३ पृ० ५५१

चिरञ्जीव

उत्तरोत्तरकार्याणां धारया गुम्फ उच्यते । —काव्यविलास २.४५

नरेन्द्रप्रभसूरि

सा तु कारणमाला स्यादुत्तरोत्तरहेतुता ।
पूर्वपूर्वस्य यत् । —अलंकार महोदधि ८.६३

नरसिंह कवि

पूर्वपूर्वं यत्र भजेदुत्तरोत्तरहेतुताम् ।
तत्र कारणमालाख्यमलंकारम्प्रचक्षते ।।
—नञ्राज यशोभूषण पृ० २१६

भट्टदेवशंकर

कृतो गुम्फस्तु कविभिर्यथा प्राक्प्रान्तकारणैः ।
प्रोक्ता कारणमाला साल‌ङ्कारनयगमिभिः ।
—अलंकार मञ्जूषा ।।७७।।

भावदेवसूरि

कारणावली नाम से स्वीकृति । लक्षण नहीं ।

विश्वेश्वर

कारणमाला प्रोक्ता पूर्वे पूर्वे यथोत्तरं हेतौ । —अलंकार मुक्तावली ३८

काव्यार्थापत्ति

काव्यार्थापत्ति को स्वतन्त्र अलंकार स्वीकार करने वाले केवल तीन आचार्य हैं, अप्पयदीक्षित देवशंकर पुरोहित एवं परकाल स्वामी। इनमें पुरोहित प्रमाणमूलक अलंकारों में **अर्थापत्ति** को चर्चा नहीं करते; किन्तु अप्पयदीक्षित अर्थापति को प्रमाणमूलक अलंकारों में भी लक्षण दिये बिना ही उदाहृत करते हैं अर्थात् वे मीमांसकों के अर्थापत्ति प्रमाण के स्वरूप को ही स्वीकार कर काव्य में चारुत्वाधान हेतु निबन्ध होने पर **अर्थापत्ति अलंकार** मानते हैं। साथ ही वे **काव्यार्थापत्ति** को **काव्यलिङ्ग** के समान एक पृथक् अलंकार भी मानते हैं। वे स्वयं कहते है कि **काव्यार्थापत्ति** मीमांसक स्वीकृत अर्थापत्ति से भिन्न है, इसीलिए वे इसे अर्थापत्ति न कहकर **काव्यार्थापत्ति** कहते हैं [तान्त्रिकाभिमतार्थापत्तिव्यावर्त्तनाय काव्येति विशेषणम्। कुवलयानन्द पृ० १६४]। उनके अनुसार जहां विवक्षित अर्थ कैमुतकन्याय से उपस्थित हो वहां **काव्यार्थापत्ति** अलंकार होता है।

'स जितस्त्वन्मुखेनेन्दुः का वार्त्ता सरसीरुहाम्।'

अर्थात् जब तुम्हारे मुख ने चन्द्र को जीत लिया तो कमलों की क्या बात है अर्थात् वे तो अवश्य ही विजित होंगे।' इस कथन में कमलों की क्या बात (का वार्ता सरसीरुहाम्) कहकर सौन्दर्य में तुम्हारा मुख कमलों से भी बढ़ कर है, इस विवक्षितार्थ का बोध कराया गया है। अतः ऐसे स्थलों पर अप्पयदीक्षित एवं भट्टदेवशंकर पुरोहित के अनुसार **काव्यार्थापत्ति अलंकार** माना जाएगा।

मूल लक्षण

अप्पयदीक्षित

कैमुत्येनार्थसंसिद्धिः काव्यार्थापत्तिरिष्यते। —कुवलयानन्द १२०

भट्टदेवशंकर पुरोहित

विवक्षितार्थसंसिद्धिः कैमुत्याद्यत्र जायते।
विबुधैस्तत्र गदिता काव्यार्थापत्त्यलंकृतिः॥ —अलंकार मंजूषा ९२

श्रीकृष्णब्रह्मतन्त्र परकालस्वामी

दण्डापूपिकया यत्रार्थान्तरापतनं भवेत्।
काव्यार्थापत्तिरेषा स्यादलंकारविदां मता। —अलंकार मणिहार १२६

काव्यलिङ्ग

काव्यलिङ्ग अलंकार की सर्वप्रथम चर्चा हमें उद्भट के काव्यालंकार सारसंग्रह में मिलती है। उन्होंने संसृष्टि की भी चर्चा के बाद शास्त्रीय प्रमाणों का काव्य में चमत्कारपूर्ण शैली में निबन्धन पर विचार करते हुए **भाविक**, जिसमें प्रत्यक्षवत् वर्णन होता है, [प्रत्यक्षा इव यत्रार्था दृश्यन्ते भूतभाविनः। अत्यद्भुताः, स्यात्तद्वाचामनाकुल्येन भाविकम् '६.६] **काव्यलिङ्ग** (काव्यहेतु) तथा **काव्यदृष्टान्त**, जिसे परवर्त्ती आलंकारिकों ने केवल दृष्टान्त नाम से स्मरण किया है, का विवरण दिया है उनके अनुसार जब श्रुत अर्थात् कवि वर्णित एक अर्थ अन्य वस्त्वन्तर की स्मृति अथवा अनुभव का हेतु बन जाए तो वहां **काव्यलिङ्ग** अलंकार होता है [श्रुतमेकं यदन्यत्र स्मृतेरनुभवस्य वा, हेतुतां प्रतिपद्येत काव्यलिङ्गं तदुच्यते। का० सा० सं० ६.७]।

'अनुमान प्रक्रिया में निबद्ध हेतु के समान ही काव्य में निबद्ध हेतु साध्य की प्रतीति के साथ ही जब सहृदय हृदय को चमत्कृत करने में भी समर्थ होता है, तभी उसे **काव्यलिङ्ग** कहते हैं, अर्थात् उसे नीरसवस्तुनिष्ठ नहीं होना चाहिए [काव्यलिङ्गं सरसपदार्थनिष्ठमेव भवति, न तु नीरसवस्तुनिष्ठं शास्त्रलिङ्गवदित्युपपन्नम्। लघुवृ० पृ०८४]।

उद्भट के अनन्तर मम्मट ने इस अलंकार की चर्चा की है तथा इसके स्वरूप को स्पष्ट किया है। मम्मट के अनुसार निबद्ध हेतु वाक्यार्थस्वरूप अथवा पदार्थस्वरूप हो सकता है [काव्यलिङ्गं हेतोःवाक्यपदार्थता। का० प्र० ११४]। उनके अनुसार पदार्थ हेतु एक पदार्थ रूप अथवा अनेक पदार्थरूप होने से दो प्रकार का हो सकता है [एवं च हेतोर्वाक्यार्थता, अनेकपदार्थता एकपदार्थता चेति त्रिविधं काव्यलिङ्गमिति तु निष्कर्षः। का० प्र० बालबोधिनी पृ० ७४०]।

परवर्ती आलंकारिकों में रुय्यक [५७] जयदेव [५.३८] विद्यानाथ [८.२१९] नरेन्द्रप्रभ [८.६६-६७] विद्याधर (८.४१) अप्पयदीक्षित (कुव० १२१) जगन्नाथ (रसगं. तृतीय पृ० ५७१) एवं नरसिंह कवि (पृ० २१०) आदि ने इसे स्वीकार किया है। पण्डितराज जगन्नाथ के अतिरिक्त प्रायः सभी आचार्यों ने कुछ शब्दान्तर के साथ मम्मट स्वीकृत लक्षण 'वाक्यार्थ अथवा पदार्थ का हेतु के रूप में निबन्धन' को ही लक्षण के रूप में स्वीकार किया है।

पण्डितराज जगन्नाथ के अनुसार जब विवक्षित अर्थ का प्रकृत के उपपादक के रूप में निबन्धन हो, किन्तु वह अनुमिति का कारण न हो सके, साथ ही सामान्य विशेष भाव से भी युक्त न हो, तो उसे काव्य-लिङ्ग अलंकार माना जाता है (अनुमितिकारणत्वेन सामान्यविशेष-भावाभ्यां चानालिङ्गतः प्रकृतार्थोपपादकत्वेन विवक्षितोऽर्थः काव्य-लिङ्गम्। रसगं० भा० ३ पृ० ५७१)। इनके अतिरिक्त अन्य आचार्य अर्थात् भरत अग्निपुराणकार, दण्डी शिलामेघसेन भामह वामन रुद्रट कुन्तक भोज वाग्भट प्रथम एवं द्वितीय हेमचन्द्र शोभाकर आदि इस अलंकार की कोई चर्चा नहीं करते।

स्मरणीय है कि काव्यलिङ्ग अलंकार में लिङ्ग अर्थात् हेतु गम्य होना चाहिए वाच्य नहीं, अर्थात् हेतु का कथन हेतु के रूप में तृतीया तथा पञ्चमी विभक्ति के साथ नहीं होना चाहिए। हेतु के वाच्य होने अर्थात् हेतु का तृतीयान्त अथवा पञ्चम्यन्त प्रयोग होने पर उसे काव्यलिङ्ग का उदाहरण न माना जा सकेगा। फलतः

प्रजानां विनयाधानाद्रक्षणाद् भरणादपि ।
स पिता पितरस्तासां केवलं जन्महेतवः'

(रघु० १. २४)।

पद्य में काव्यलिङ्ग अलंकार नहीं माना जाता। इसी प्रकार—

भयानकत्वात्परिवर्जनीयो दयाश्रयत्वादसि देव सेव्यः।

इत्यादि पद्य में भी काव्यलिङ्ग अलंकार नहीं माना जाता। क्योंकि यहां भी हेतु का पञ्चम्यन्त निर्देश है एवं हेतु के वाच्य न होकर गम्यमान होने पर ही सौन्दर्यातिशय की प्रतीति होने से आचार्य काव्यलिङ्ग स्वीकार करते हैं। ('गम्यमान हेतुकस्यैव हेतोः सुन्दरत्वेना-लंकारिकैः काव्यलिङ्गताभ्युपगमात्।" रसगं० भाग ३, पृ० ४६६)।

यत्त्वन्नेत्रसमानकान्तिसलिले मग्नं तदिन्दीवरम्,
मेघैरन्तरितः प्रिये तव मुखच्छायानुकारी शशी।
येऽपि त्वद् गमनानुसारिगतयस्ते राजहंसा गताः
त्वत्सादृश्य विनोदमात्रमपि मे दैवेन न क्षम्यते ॥

प्रस्तुत पद्य में चतुर्थ चरणगत वाक्य तुम्हारे सादृश्य से ही मैं विनोद कर लूं इतने को भी यह भाग्य नहीं सहपाता' का हेतु प्रथम

तीन चरणों में निबद्ध तीन वाक्य (१) 'तुम्हारे नेत्रों की समानता रखने वाले इन्दीवर (नीलकमल) जल में मग्न हो गये, (२) 'तुम्हारे मुख के सादृश्य से सम्पन्न चन्द्रमा मेघों में छिप रहा है (३) तथा तुम्हारी गति के समान गति वाले राजहंस भी यहां नहीं रहे,' हैं। अतः यहां काव्यलिङ्ग अलंकार है और वह वाक्यार्थ हेतुक है।

त्वद्वाजिराजिनिर्धूतधूलीपटलपंकिलाम् ।
न धत्ते शिरसा गंगां भूरिभारभिया हरः ॥

इस पद्य में हेतुभूत पूर्वार्ध समस्त होने से एक पद रूप है, जो उत्तरार्ध का साधक है, अतः यहां एकपदार्थहेतुक काव्यलिङ्ग अलंकार है।

पश्यन्त्यसंख्यपथगां त्वद्दानजलवाहिनीम् ।
देव ! त्रिपथगात्मानं गोपयत्युग्रमूर्धनि ॥

इस पद्य में 'त्रिपथगा' (गंगा केवल तीन भागों पर प्रवाहित होने वाली) स्वयं को शिव के शिर में छिपा रही है, इस उत्तरार्ध गत कथन के हेतु के रूप में पूर्वार्ध में 'स्तूयमान राजा की दान जलधारा का असंख्य मार्गों में प्रवाहित होना' का निबन्धन किया गया है। तथा यह हेतु अनेक पदों में है। पूर्व पद्य के समान समस्त होने से एक पद नहीं है, तथा इस पद समूह में पूर्ण क्रिया न होने से इसे वाक्य भी नहीं कह सकते, अतः यहां अनेक पदार्थ हेतुक काव्यलिङ्ग माना जाएगा।

स्मरणीय है कि रुय्यक और विश्वनाथ को छोड़कर प्रायः सभी आलङ्कारिक कार्यकारणभावमूलक अर्थान्तरन्यास को काव्यलिङ्ग का ही विषय मानते हैं और अर्थान्तरन्यास के उन भेदों को नहीं मानते, जो कार्यकारणभाव पर आश्रित हैं, जिसकी विस्तार पूर्वक चर्चा अर्थान्तरन्यास अलंकार के संदर्भ में की जा चुकी है। वहां विश्वनाथ का यह पक्ष भी स्पष्टतः रखा जा चुका है कि इनके अनुसार हेतु तीन प्रकार का हो सकता है ज्ञापक, निष्पादक और समर्थक। इनमें से ज्ञापक हेतु का प्रयोग **अनुमान** अलङ्कार में होता है, निष्पादक का **काव्यलिङ्ग** में और समर्थक का **अर्थान्तरन्यास** में। यहां तात्पर्य यह है कि 'पर्वतो वह्निमान् धूमात्' जैसे न्यायवाक्यों अथवा इस प्रकार के काव्यवाक्यों में विद्यमान धूम आदि हेतु अग्नि आदि

साध्य की सूचना देते हैं, वे अग्नि को उत्पन्न नहीं करते, इस प्रकार के हेतु ज्ञापक हेतु कहे जाते हैं, निष्पादक नहीं। इसके विपरीत पूर्व उद्धृत 'पश्यन्त्यसंख्यपथगाम्' इत्यादि पद्य में निबद्ध 'असंख्य मार्गों में बहती हुई नदी को देखना' इत्यादि हेतु केवल तीन मार्गों में बहने वाली नदी गंगा आदि में लज्जा का उत्पादक है। अतः इस प्रकार के हेतु निष्पादक हेतु कहे जाते हैं, ज्ञापक या समर्थक नहीं। 'पृथ्वी स्थिरा भव' इत्यादि पद्य में सदा से स्थिर पृथिवी के स्थिर होने के विशेष निवेदन आदि का हेतु 'राम द्वारा शिव धनुष चढ़ाया जाना' आदि समर्थक हेतु है। क्योंकि यह न तो धूम की भांति पूर्व से विद्यमान अग्नि की सूचना देता है, और न 'असंख्यपथगा' आदि हेतुओं के समान लज्जा आदि की उत्पत्ति का ही हेतु है।

हेतु का इस प्रकार का त्रिविध विभाजन केवल विश्वनाथ ने ही किया है। स्मरणीय है कि विश्वनाथ के अतिरिक्त सभी आचार्य केवल दो प्रकार के ही हेतु मानते हैं; कारक और ज्ञापक (सिसाधयिषितार्थस्य हेतुर्भवति साधकः। कारको ज्ञापक इति द्वेधा सोऽप्युपजायते। अग्नि पु० ३४४.२६.३०। कारकज्ञापकौ हेतू तौ चानेकविधौ। का० द० २.२३५।......जनको ज्ञापको चेति दुविधाः हेतवो सियुं। सुबो० २५४ इत्यादि। भोज ने हेतु को यद्यपि कारक ज्ञापक अभाव और चित्र भेद से चार प्रकार का स्वीकार किया है (क्रियायाः कारणं हेतुः कारको ज्ञापकश्च सः। अभावश्चित्रहेतुश्च चतुर्विध इहेष्यते। स० कं० ३.१२) तथापि इनमें उन्होंने समर्थक हेतु की कोई गणना नहीं की है। इस प्रसंग में यह स्मरणीय है कि कार्यकारणभाव को अर्थान्तरन्यास का विषय मानते हुए भी रुय्यक विद्यानाथ और विश्वनाथ काव्यलिङ्ग अलंकार को स्वीकार करते हैं, जबकि मम्मट से पूर्व उद्भट को छोड़कर किसी आलंकारिक ने काव्यलिङ्ग की चर्चा नहीं की है और न ही कार्यकारणभाव की स्थिति में अर्थान्तरन्यास अलंकार स्वीकार किया है। परवर्ती आलंकारिकों में भी हेमचन्द्र शोभाकर संघरक्खित, अमृतानन्दयोगिन्, वाग्भट द्वितीय एवं चिरञ्जीव आदि ने भी न काव्यलिङ्ग की चर्चा की है और न अर्थान्तरन्यास में कार्यकारणभाव को समाहित किया है। काव्यलिङ्ग अलंकार के प्रसंग में एक बात और स्मरणीय है कि जिन प्राचीन

आलंकारिकों ने काव्यलिङ्ग अलंकार की चर्चा नहीं की है उनमें भामह को छोड़कर प्राय: सभी ने (अ० पु० ३४४.२९-३०। का० द० २.२३५। सिय० २३८। काव्यालं० ७.८२। स० कं० ३.१२। अ० र० पृ० १३५) हेतु अलङ्कार को स्वीकार किया है। केवल भामह ने हेतु अलङ्कार का उल्लेख करके उसके अलङ्कारत्व का ही निषेध किया है। हेतु अलंकार का वाचक हेतु शब्द और काव्यलिङ्ग पद का अंशभूत लिङ्ग पद परस्पर पर्यायवाची के रूप में सर्वस्वीकृत हैं! उद्‌भट स्वीकृत काव्यलिङ्ग अलंकार के शीर्षक के रूप में प्राय: सभी प्रतियों में काव्यहेतु नाम उपलब्ध होता है। इस आधार पर दोनों अलंकारों का नाम साम्य उनकी एकता के सम्बन्ध में सोचने को विवश करता है। इतना ही नहीं उनके लक्षणों में भी पर्याप्त साम्य है। उदाहरणार्थ उद्‌भट का काव्यलिङ्ग लक्षण 'श्रुतमेकं यदन्यत्र स्मृतेरनुभवस्य वा। हेतुतां प्रतिपद्येत काव्यलिङ्गं तदुच्यते' (का० सा० सं० ६७) तथा शोभाकर के हेतु लक्षण 'परप्रत्यापकं लिङ्गं हेतु:' को देख सकते हैं। यही नहीं शोभाकर ने वृत्ति में दोनों की पर्यायता को स्वीकार भी किया है (लिङ्गेन परप्रत्यापनं परार्थानुमानरूपं काव्यलिङ्गपर्यायो हेत्वलंकार:। अ० र० पृ० १३५)। किन्तु विश्वनाथ अप्पयदीक्षित एवं नरेन्द्रप्रभसूरि ने अर्थान्तरन्यास के साथ ही काव्यलिङ्ग और हेतु अलंकारों को भी स्वीकार किया है। किन्तु इनके अनुसार कारक अथवा ज्ञापक आदि हेतुओं का निबन्धन हेतु न होकर **काव्यलिङ्ग** है और हेतु और हेतुमान् अर्थात् कारण और कार्य का अभेद कथन हेतु अलंकार है, जिसे अनेक आचार्यों के अनुसार भेद में अभेद रूप **अतिशयोक्ति** भेद के अन्तर्गत समाहित किया जा सकता है।

मूल लक्षण

उद्‌भट

श्रुतमेकं यदन्यत्र स्मृतेरनुभवस्य वा।
हेतुतां प्रतिपद्येत काव्यलिङ्गं तदुच्यते॥

—काव्यालंकार सार संग्रह ६.७

मम्मट

...काव्यलिङ्गं हेतोर्वाक्यपदार्थता।

—काव्यप्रकाश सू० १७४ का० ११४

रुय्यक

हेतोर्वाक्यपदार्थत्वे काव्यलिङ्गम् ।: —अलंकार सर्वस्व ५७

जयदेव

स्यात्काव्यलिङ्गं वागर्थो नूतनार्थं समपर्क: । —चन्द्रालोक ५.३८

विद्यानाथ

हेतोर्वाक्यपदार्थत्वे काव्यलिङ्ग निगद्यते । —प्रतापरुद्रीयम् ८.२१६

विद्याधर

वाक्यार्थो यदि हेतुर्भवति पदार्थो वा विशेषणद्वारा ।
द्विविधं कथयन्ति तदालंकारं काव्यलिङ्गमिति । —एकावली ८.४१

विश्वनाथ

हेतोर्वाक्यपदार्थत्वे काव्यलिङ्गं निगद्यते । —साहित्य दर्पण १०.६२

अप्पयदीक्षित

समर्थनीयस्यार्थस्य काव्यलिङ्गं समर्थनम् । — कुवलयानन्द १२१

पंडितराज जगन्नाथ

अनुमितिकारणत्वेन सामान्यविशेषभावाभ्यां चानालिंगित: प्रकृतार्थोपपादकत्वेन विवक्षितोऽर्थ: काव्यलिङ्गम् ।
—रसगंगाधर भा० तृतीय पृ० ५७१

नरेन्द्रप्रभसूरि

पदार्थस्याविशेषेण विशेषणगतिस्पृश: ।
यत्र स्फुरति हेतुत्वं वाक्यार्थस्तु निबद्धयते ॥
हेतुभावं स्पृशन्नेव काव्यलिङ्गं तदुच्यते ।
—अलंकार महोदधि ८.६६-६७

नरसिंह कवि

हेतोर्वाक्यपदार्थत्वे काव्यलिङ्गमुदाहृतम् ।
—नञ्राजयशोभूषण पृ० २१०

भट्टदेवशंकर पुरोहित

वाक्यार्थेन पदार्थेन व्यस्तेनोभयतोऽपि वा ।
समर्थनीयस्यार्थस्य काव्यलिङ्गं समर्थनम् । —अलंकार मञ्जूषा ९३

विश्वेश्वर

वाक्यपदार्थत्वाभ्यां हेतूक्ति: काव्यलिङ्गं स्यात् ।
—अलंकार मुक्तावली ३३

श्रीकृष्णब्रह्मतन्त्र परकालस्वामी

यत्सामान्यविशेषत्वानालीढं स्यात्समर्थनम् ।
समर्थनीयस्यार्थस्य काव्यलिङ्गं तदुच्यते ।

—अलङ्कार मणिहार १२८

वेणीदत्त

वाक्यार्थस्य क्वचित्क्वापि पदार्थस्य विशेषतः ।
यत् कारणस्य कथनं काव्यलिङ्गं तदुच्यते ॥

—अलंकार मंजरी १४२

कैतवापह्नुति

कैतवापह्नुति अलंकार अपह्नवमूलक अलंकार है। इसे जयदेव अप्पयदीक्षित चिरञ्जीव एवं भट्ट देवशंकर पुरोहित ने स्वीकार किया है। उनके अनुसार इसमें व्याज आदि पदों का प्रयोग करके प्रकृत का अपह्नव किया जाता है।

'निर्यान्ति स्मरनाराचाः कान्तादृक्पातकैतवात् ।'

इस पद्य में कैतव पद का प्रयोग करते हुए प्रकृत **'कान्तादृक्पात'** का अपह्नव करके उसके 'स्मरनाराच' होने का कथन किया गया है।

अपह्नुति अलंकार में भी अपह्नव का ही चमत्कार रहता है, किन्तु वह अपह्नव बिना किसी व्याज के होता है, जबकि यहां अपह्नव के लिए व्याज (बहाना) का निबन्धन आवश्यक है। (देखिए अपह्नुति प्रकरण)

मूल लक्षण

जयदेव

कैतवापह्नुतिर्व्यक्तं व्याजाद्यैर्निह्नवे पदैः ॥ —चन्द्रालोक ५.२५

अप्पयदीक्षित

कैतवापह्नुतिर्व्यक्तं व्याजाद्यैर्निह्नवे पदैः । —कुवलयानन्द ३१

चिरञ्जीव

कैतवापह्नुतिर्यत्र व्याजाद्युक्तीर्त्तनं भवेत् । —काव्यविलास २.२१

भट्टदेवशंकर

व्याजाद्यैर्निह्नुतिर्यत्र पदैश्चेत्संनिबध्यते।
कैतवापह्नुतिस्तत्र प्रोक्तालंकारकोविदैः॥ —अलंकार मञ्जूषा १६

क्रम

देखिये-—यथा संख्य अलंकार

क्रमिका

क्रमिका जिसे पाठान्तर से रत्नावली नाम भी दिया जाता है, अलंकार को केवल अप्पयदीक्षित ने स्वीकार किया है। उनके अनुसार जहां प्रकृत से सम्बद्ध अर्थ का विशेष क्रम से (प्रसिद्धि आदि के क्रम से) न्यास किया जाए वहां **क्रमिकाअलङ्कार** स्वीकार किया जाता है।

चतुरास्यः पतिर्लक्ष्म्याः सर्वं स्त्वंज्ञमहीपते !

प्रस्तुत पद्यांश में प्रकृतराजा पर आरोपणीय के रूप में चतुरास्य (ब्रह्मा) लक्ष्मी पति (विष्णु) एवं सर्वज्ञ (शिव) पदों का प्रसिद्धि के क्रम से न्यास किया गया है। अतः यहां **क्रमिका अलङ्कार** माना जाएगा। (देखिये **रत्नावली अलंकार**)।

मूल लक्षण

अप्पयदीक्षित

क्रमिकं प्रकृतार्थानां न्यासं क्रमिकां विदुः। —कुवलयानन्द १४०
(रत्नावलीं विदुः इति पाठ भेदः।)

क्रियातिपत्ति

असम्भाव्यमान अर्थ की कल्पना का काव्य में निबन्धन होने पर **क्रियातिपत्ति अलङ्कार** माना जाता है। इसे केवल शोभाकर ने ही स्वीकार किया है। इस अलंकार की योजना में 'यदि' अथवा उसका समानार्थक कोई अन्य पद अवश्य निबद्ध होता है, यद्यर्थक पद का प्रयोग न होने पर ऐसे स्थलों पर **अतिशयोक्ति अलङ्कार** माना जाएगा। **अतिशयोक्ति में** सिद्ध अध्यवसाय के प्रधान होने पर शाब्द निश्चय रहता है, जबकि **क्रियातिपत्ति** में यदि अथवा यद्यर्थक पद का प्रयोग होने के कारण शाब्दनिश्चय भी नहीं रहता। अर्थ के सम्भाव्यमान होने पर भी **क्रियातिपत्ति अलङ्कार** ही माना जाता है।

**'पुष्पं प्रवालोपहितं यदि स्यान्मुक्ता फलं वा यदि विद्रुमस्थम् ।
ततोऽनुकुर्याद् विषदस्य तस्याः ताम्रौष्ठपर्यस्तरुचः स्मितस्य ।।**

कुमार १.४४

प्रस्तुत पद्य में यदि पद के प्रयोग के साथ असम्भाव्य औपम्य की कल्पना निबद्ध है, अतः यहां **क्रियातिपत्ति अलङ्कार** माना जाता है।

मूल लक्षण

शोभाकर

यद्यर्थोक्तावसम्भाव्यमानस्य क्रियातिपत्तिः ।। —अलंकार रत्नाकर ३६

गुप्तोत्प्रेक्षा

उत्प्रेक्षा एक सर्व स्वीकृत अलंकार है। इसमें आरोप विषय पर आरोप्यमाण का अध्यवसान किया जाता है तथा अध्यवसान व्यापार की प्रधानता रहा करती है। (विशेष विवरण उत्प्रेक्षा प्रकरण में देखें) उत्प्रेक्षा अलंकार के मुख्यतः दो प्रकार स्वीकार किये जाते हैं, वाच्या-उत्प्रेक्षा एवं गम्या उत्प्रेक्षा। वाच्या उत्प्रेक्षा अलंकार में उत्प्रेक्षा बोधक मन्ये शंके ध्रुवम् प्रायः इव आदि पदों का प्रयोग रहता है। उत्प्रेक्षा बोधक पदों का प्रयोग न होने की स्थिति में उत्प्रेक्षा वाच्य न होकर व्यङ्ग्य (गम्य) होती है, अतः इस स्थिति में उस उत्प्रेक्षा को व्यंग्या-उत्प्रेक्षा अथवा गम्या उत्प्रेक्षा कहते हैं, प्रायः सभी आलंकारिकों के अनुसार यह व्यंग्योत्प्रेक्षा (गम्योत्प्रेक्षा) उत्प्रेक्षा का ही एक प्रकार है।

काव्यविलासकार चिरञ्जीव व्यंग्योत्प्रेक्षा को **गुप्तोत्प्रेक्षा** नाम से स्वतन्त्र अलंकार स्वीकार करते हैं।

मूल लक्षण

चिरञ्जीव

व्यञ्जकानामभावे तु गुप्तोत्प्रेक्षां प्रचक्षते ।। —काव्यविलास २.२२

गूढ (गूढोक्ति]

गूढ अथवा गूढोक्ति अलंकार को केवल भोज, शोभाकरमित्र,

अप्पयदीक्षित केशव मिश्र एवं परकाल स्वामी ने स्वीकार किया है। इनमें भोज एवं केशव मिश्र के अनुसार जहां क्रिया कारक सम्बन्ध पाद-अभिप्राय अथवा वस्तु का गोपन निबद्ध हो तो वहां **गूढ अलंकार** होता है। शोभाकर एवं अप्पयदीक्षित अन्य उद्देश्य होने के कारण साकांक्ष पद के उपनिबन्धन होने पर ही **गूढ अलंकार** की सत्ता स्वीकार करते हैं। जो भोज के अभिप्रायगूढ से प्राय: अभिन्न है। शोभाकर के अनुसार गूढोक्ति प्रश्नपूर्विका भी हो सकती है।

"ग्रामतरुणं तरुण्या नववञ्जुलमञ्जरी सनाथकरम्।
पश्यन्त्या भवति मुहुर्नितरां मलिना मुखच्छाया॥"
"दृष्ट्वा पूर्णचन्द्रं प्रोषितपतिकया कस्मात्प्रमुक्ता।
चित्रलिखितस्य हरेश्चक्रे रोषारुणा दृष्टि:॥"

उपर्युक्त पद्यों में प्रथम में तरुणी की मुखछाया की मलिनता के कथन से 'संकेत देकर भी वहां नहीं गई' यह अभिप्राय तथा द्वितीय पद्य में पूर्णिमा चन्द्र को देखकर प्रोषित पतिका नायिका द्वारा विष्णु के चक्र पर रोषारुण दृष्टिपात के कथन द्वारा 'इसने राहु का कण्ठ क्यों काट दिया कि राहु द्वारा निगल लेने पर पुन: चन्द्र बच जाता है' यह अभिप्राय गूढ है। अत: यहां गूढ (गूढोक्ति) अलंकार है। प्रथम पद्य में **प्रश्नरहित** एवं द्वितीय में **प्रश्नपूर्वक गूढ (गूढोक्ति)** निबद्ध है।

मूल लक्षण

भोज—क्रियाकारकसम्बन्धे पादाभिप्रायवस्तुभि:।
गोपितै: षड्विधं प्राहु: गूढं गूढार्थवेदिन:॥

—सरस्वतीकण्ठाभरण २.१५१

शोभाकर—गूढसाकांक्षोपनिबद्धं गूढम्। —अलंकार रत्नाकर १०३

अप्पयदीक्षित—गूढोक्तिरन्योद्देश्यं चेद् यदन्यं प्रति कथ्यते॥

—कुवलयानन्द १५४

केशवमिश्र—गूढं क्रियागुप्तादि। —अलंकार शेखर पृ० ३०

श्रीकृष्ण ब्रह्मतन्त्र परकालस्वामी
गूढोक्तिरितरोद्देश्यमन्यं प्रत्युच्यते यदि॥

—अलंकार मणिहार १५५

गूढोत्तर

गूढोक्ति के समान **गूढोत्तर** में भी कविनिबद्ध वक्ता के कथन में अभिप्राय विशेष निहित रहता है। अन्तर केवल इतना है कि किसी के प्रश्न के उत्तर के रूप में प्रयुक्त साभिप्राय वचन ही **गूढोत्तर अलंकार** कहाता है।

श्रीमाधवे क्षितिपतौ नास्ति चौरभयं यतः ।
पयोधरोन्नतिं दृष्ट्वा वस पान्थ गवां गणे ॥

इस पद्य में रात्रि निवास के लिए पथिक द्वारा उपयुक्त स्थल की जिज्ञासा के उत्तर में कहे गये इस वचन में यदि उन्नत उरोजों को देख कर रमण के लिए अभिलाषा मन में हो तो इस गो निवान स्थल (गोष्ठ) में रुक जाओ। वहां मैं गोदोहन आदि के बहाने बिना बाधा के पहुंच जाऊंगी' यह अभिप्राय अथवा 'यहां के सभी जन पशुतुल्य हैं कोई कुछ न समझेगा, अतः रात्रि में समागम में कोई बाधा न होगी यह अभिप्राय अन्तर्निहित है। अत. यहां **गूढोत्तर अलंकार** है।

इस अलंकार की चर्चा केवल भट्टदेव शंकर पुरोहित ने की है।

मूल लक्षण

भट्टदेवशंकर पुरोहित—किञ्चिदाकूतसहितमुत्तरं यत्र बध्यते ।
तत्रालंकारिकवर्यैः गूढोत्तरमुदाहृतम् ॥
—अलंकार मञ्जूषा ११४

चपलातिशयोक्तिः

अतिशयोक्ति अलंकार को भरत को छोड़कर प्रायः सभी आलंकारिकों ने स्वीकार किया है। लोकातिक्रान्त कथन इसका प्राण है। इस कथन में औपम्य अथवा कार्यकारणभाव का रहना अनिवार्य होता है। [विशेष विवरण के लिए अतिशयोक्ति प्रकरण देखें] अतिशयोक्ति के सामान्यतः पांच प्रकार माने जाते हैं—(१) भेद में अभेद, (२) अभेद में भेद, (३) सम्बन्ध में असम्बन्ध, (४) असम्बन्ध में सम्बन्ध, (५) कारण-कार्य के पौर्वापर्य का विपर्यय।

चपलालिशयोक्ति पूर्वपरिगणित अतिशयोक्ति के प्रकारों से कुछ

भिन्न है, यद्यपि यह कार्यकारणभावमूला अवश्य है। इसमें कारण के रहने पर कालान्तर में होने वाले कार्य का तत्काल में ही निबन्धन होता है। साथ ही क्रमशः दो कारण और दो कार्य होते हैं तथा दोनों कारण-कार्य प्रायः परस्पर विरुद्ध धर्मी होते हैं।

'यामि न यामीति धवे वदति पुरस्तात्क्षणे तन्वङ्ग्याः ।
गलितानि पुरोवलयान्यपराणि तथैव दलितानि ॥'

इस पद्य में प्रियतम द्वारा 'मैं जा रहा हूं' कहने पर तत्काल दुःख से नायिका का क्षीण होना एवं वलयों (कंकणों) का ढीला होकर गिर जाना, तथा उसके अव्यवहित उत्तरकाल में प्रियतम द्वारा 'नहीं जा रहा' यह कहने पर उसी क्षण प्रसन्नता से इतना फूल जाना कि वलय हाथ में न समा सकने के कारण टूट गये, यह अलौकिक कथन हुआ है। अतः यहां **चपलातिशयोक्ति** अलंकार माना जाएगा।

मूल लक्षण

अप्पयदीक्षित—चपलातिशयोक्तिस्तु कार्ये हेतुप्रसक्तिजे। कुवलयानन्द ४२

चित्र अलंकार

चित्र अलंकार वहां स्वीकार किया जाता है, जिस पद्य को पद्म खड्ग आदि के चित्र में अंकित किया जा सके, तथा इस अंकन में कुछ वर्ण एक बार ही अंकित होने पर यथावसर बार-बार पढ़े जाएं। अग्नि-पुराण के अनुसार काव्यगोष्ठियों में कौतूहल का सृजन करने वाली सभी प्रकार की रचनाओं के बन्धवैशिष्ट्य को **चित्र अलंकार** माना जाता है। उसके अनुसार **प्रहेलिका प्रश्न** और **समस्या** आदि अलंकार चित्र अलंकार के भेदों में अन्यतम हैं।

दण्डी ने **चित्र अलंकार** की चर्चा न करके अग्निपुराणकार द्वारा स्वीकृत **प्रहेलिका** की परिभाषा दिये बिना उसके **समागता** आदि सोलह भेदों का परिगणन किया है। आचार्य भोज विश्वनाथ केशव मिश्र आदि ने चित्र अलंकार की चर्चा न करके **प्रहेलिका** अलंकार की स्वतन्त्र रूप में स्वीकृति दी है। आचार्य आनन्दवर्धन और उनके अनुयायियों ने **चित्र** को काव्य के एक भेद के रूप में स्वीकार किया है, किन्तु **चित्र** नाम से उनका तात्पर्य व्यंग्य रहित अथवा स्फुट व्यंग्य रहित अलंकार

(शब्दालंकार अथवा अर्थालंकार) प्रधान काव्य से है, पद्मबन्ध आदि किसी अलंकार विशेष से नहीं (यद्यपि उनके अनुसार पद्मबन्ध आदि भी चित्रकाव्य में ही समाहित माने जाएंगे। संस्कृत काव्यशास्त्र में **चित्र** पद दो अर्थों में प्रयुक्त मिलता है : **चित्रकाव्य** और **चित्र अलंकार**।

चित्र अलंकार का जो स्वरूप अग्नि पुराण में प्राप्त होता वह परिभाषा की दृष्टि से उत्तरकाल में आनन्दवर्धन द्वारा दी गयी परिभाषा से बहुत भिन्न नहीं है, क्योंकि आनन्दवर्धन के अनुसार ध्वनि और गुणीभूत व्यंग्य काव्य से भिन्न काव्य **चित्र** कहलाता है। यह चित्र-काव्य उनके अनुसार **शब्द चित्र** और **अर्थ चित्र** (वाच्य चित्र) भेद से दो प्रकार का है।

चित्र अलंकार का स्वरूप भी हमें दो प्रकार का प्राप्त होता है : एक वह जहां कुछ विचित्र प्रकार की शब्द रचना की गयी होती है; जैसे— च्युताक्षर दत्ताक्षर इत्यादि। इनमें वाक्य गत पदों में कुछ अक्षर छूटे हुए होते हैं और उन्हें पूर्ण करके अर्थ करना होता है यह चित्र का च्युताक्षर प्रकार है। दत्ताक्षर चित्र अलंकार वहां होता है, जहां वाक्य में कुछ अधिक वर्ण प्रयुक्त होते हैं, जिन्हें छोड़कर ही अर्थ करना संभव होता है। प्रहेलिका आदि **चित्र** के कुछ भेदों में अर्थ बोध के लिए बुद्धि को श्रम करना होता है। जिन पद्यों में ओष्ठ आदि किसी एक स्थान अथवा दो स्थानों अथवा तीन स्थानों से उच्चरित होने वाले वर्णों का ही प्रयोग होता है, उनमें **एकस्थान द्विस्थान त्रिस्थान** नामक **चित्र अलंकार** माना जाता है। इस प्रकार की विविध चमत्कारपूर्ण पदरचना से युक्त पद्यों में **चित्र अलंकार** माना जाता है।

इस प्रकार की विशिष्ट पदयोजना के बोधक **चित्रालंकार** पद में **चित्र** शब्द शब्द वैचित्र्य का बोधक है।

पद्मबन्ध आदि द्वितीय प्रकार के **चित्रालंकार** हैं, इनमें पद्म आदि क चित्र बनाकर उनमें पद्यों को लिखा जाता है, तथा अनेक वर्ण एक बार लिखे होने पर भी यथावसर अनेक बार पढ़े जाते हैं।

श्रीकृष्ण ब्रह्मतन्त्र परकाल स्वामी ने पद्मबन्ध आदि चित्र अलंकार के भेदों के साथ ही अव्ययाभास तिङन्ताभास आदि कुछ प्रकारों की भी उद्भावना की है। चित्र अलंकार के इस द्वितीय प्रकार के अनेक

भेदों में गतिबन्ध (गत प्रत्यागत गति चित्र), रथपद गति चित्र, तुरगपद पाठ चित्र गजपद पाठ चित्र, ओङ्कारबन्ध चामरबन्ध आसनबन्ध छत्र-बन्ध तिलकबन्ध दर्पणबन्ध महादेव जागेश्वरबन्ध शंखबन्ध पाञ्चजन्य शंखबन्ध श्रीबन्ध बन्धूक स्वस्तिकबन्ध भद्रावर्त्त स्वस्तिकबन्ध चतुर्महादेव स्वस्तिकबन्ध नन्द्यावर्त्त स्वस्तिकबन्ध नन्दिकावर्त्त स्वस्तिकबन्ध कलशबन्ध वापिकाबन्ध छत्रबन्ध ध्वजबन्ध द्विपताकाबन्ध द्विदल से त्रिंशद्दलपर्यन्तपद्मबन्ध द्वात्रिंशद्दलपद्मबन्ध, शतदलपद्मबन्ध सहस्रदलपद्मबन्ध मेरुबन्ध वृक्षबन्ध पुष्पलताबन्ध कङ्कणबन्ध आदि मुख्य हैं।

चित्र अलंकार के इस द्वितीय प्रकार के उदाहरण के रूप में पं० कृष्ण मूर्ति कृत कंकण बन्ध रामायण को देख सकते हैं। जिसका प्रथम पद्य इस प्रकार है :—

'नेता देवालीनामाशाधानाधीना नेकालोकी-
मास्यानं भाख्पायोगीशं पायादेतं रामेराजा।'

इस पद्य गत बत्तीस वर्णों को कङ्कण की आकृति में उपर्युक्त चित्र के समान लिखा जाता है। गोला आकृति में लिखित उक्त पद्य-गत बत्तीस अक्षरों में अनुलोम क्रम से क्रमशः प्रथम द्वितीय तृतीय चतुर्थ पंचम आदि वर्णों से लेखन प्रारम्भ करके उसके पूर्व के वर्ण पर श्लोक को पूर्ण किया जाये तो कुल बत्तीस श्लोक बनेंगे। इसी प्रकार प्रतिलोम क्रम से (Anti clock wise) बत्तीसवें इकतीसवें तीसवें वर्णों से क्रमशः लेखन प्रारम्भ करके परवर्त्ती वर्ण पर श्लोक को पूर्ण किया जाये तो पुनः बत्तीस पद्य बनेंगे। इन कुल चौसठ पद्यों में सम्पूर्ण रामायण की कहानी का निबन्धन हुआ है।

इसी प्रकार पं० चर्ला भाष्यकार शास्त्री कृत :—

'रामानाथाभारा सारा चारावारागोपाधारा।
धाराधारा भीमाकावा पारावारा सीतारामा॥'

इस पद्य को भी कङ्कण आकृति में लिखा जाता है, तथा प्रत्येक वर्ण से अनुलोम और प्रतिलोम क्रम से लेखन करने पर चौंसठ पद्य बनेंगे। प्रत्येक पद्य में समास श्लेष के कारण दो-दो अर्थ होंगे। इस प्रकार कुल ६४X२=१२८ एक सौ अट्ठाइस पद्यों में सम्पूर्ण रामायण

के कथानक का निबन्धन हुआ है। (विशेष विवरण के लिए लेखक द्वारा सम्पादित एवं इन्दु प्रकाशन दिल्ली द्वारा प्रकाशित **कंकणबन्ध रामायण** देखिये।)

इस प्रकार की रचनाओं का द्वितीय प्रकार का चित्र अलंकार माना जाता है।

मूल लक्षण

अग्नि पुराण

गोष्ठ्यांकुतूहलाध्यायी वाग्बन्धश्चित्रमुच्यते।

—अग्निपुराण ३४३.२२

रुद्रट भङ्ग्यन्तरकृततत्क्रमवर्णनिमित्तानि वस्तुरूपाणि।
साङ्कानि विचित्राणि चरच्यन्ते यत्र तच्चिश्रम्॥

—काव्यालंकार ५.१

भोज वर्णस्थानस्वराकारगतिबन्धान्प्रतीह यः।
नियमस्तद्बुधैः षोढा चित्रमित्यभिधीयते।

—सरस्वती कण्ठाभरण २.१०९

मम्मट

तच्चित्रं यत्र वर्णानां खङ्गाद्याकृति हेतुता॥

—काव्यप्रकाश सू० १२१, का० ८५

रुय्यक

वर्णानां खङ्गाद्याकृति हेतुत्वे चित्रम्। —अलंकार सर्वस्व १०

हेमचन्द्र प्रथम

स्वरव्यञ्जनस्थानगत्या कारनियमच्युतगूढादिचित्रम्।

—काव्यानुशासन द्वितीय सू० १०८, ५.४

शोभाकर

पद्मादिलिपि वर्णवच्चित्रम्। —अलंकार रत्नाकर ८

जयदेव

काव्यवित् प्रवरैश्चित्रं खङ्ग बन्धादिलक्ष्यते। —चन्द्रालोक ५-९

विद्यानाथ

पद्माद्याकारहेतुत्वेचित्रालंकार इष्यते। —प्रतापरुद्रीयम् ७.११

विश्वनाथ

पद्माद्याकार हेतुत्वे वर्णानां चित्र उच्यते। —साहित्य दर्पण १०

वाग्भट्ट द्वितीय

यत्राङ्गसन्धितद्रूपैरक्षरैर्वस्तुकल्पना ।
सत्यां प्रसक्तौ यच्चित्रं, तच्चित्रं चित्रकृच्च यत् ।

—वाग्भटालंकार ४.७

केशवमिश्र

कौतुक विशेषकारि चित्रम् । —अलंकार शेखर पृ० २६

चिरञ्जीव

खङ्गबन्धादयश्चित्राः गतप्रत्यागतादयः । —काव्यविलास २.५६

नरेन्द्रप्रभसूरि

लिप्यक्षराणां विन्यासे खङ्गपद्मादिरूपता ।
यस्मिन्नालोक्यते चित्रात्तच्चित्रमिति गीयते ॥

—अलंकार महोदधि ७.२१

भावदेवसूरि

चित्रं मुरजबन्धादि खङ्गचक्रातपत्रभम् ।

—काव्यालंकार सार संग्रह

नरसिंह कवि

पद्माद्याकारहेतुत्वे वर्णनां चित्रगुच्यते ।

—नञ्जराज यशोभूषण पृ० १५०

परकालस्वामी

प्रश्नः प्रश्नान्तराभिन्नो यदि वाच्यार्थगर्भितः ।
निबद्धयते तं कतिचिच्चित्रप्रश्नाख्यमूचिरे ॥

—अलंकार मणिहार १५३

चित्रोत्तर

जहाँ **प्रश्न** और **उत्तर** एक ही वाक्य में निबद्ध हों अर्थात् जिस वाक्य के उच्चारण से प्रश्न अभिहित हो रहा हो उसी वाक्य से उत्तर का भी अभिधान हो, उसे **चित्रोत्तर** अलंकार कहते हैं।

'केदारपोषणरताः'

इस वाक्य से दारपोषण में अर्थात् कुटुम्ब के भरण पोषण में संलग्न कौन हैं, प्रश्न प्रकट होता है साथ ही उसका उत्तर भी निहित

है कि जो केदार अर्थात् कृषि के पोषण में संलग्न हैं, वे ही भार्या के पोषण में संलग्न है।

चित्रोत्तर अलंकार को केवल अप्पय दीक्षित ने ही स्वीकार किया है।

मूल लक्षण

अप्पयदीक्षित

प्रश्नोत्तरान्तराभिन्नमुत्तरं चित्रमुच्यते ॥ —कुवलयानन्द १५०

छेकानुप्रास (अनुप्रास भेद)

अनुप्रास अलंकार वर्णों की आवृत्ति के कारण उत्पन्न शब्द साम्य पर आश्रित अलंकार है। इसमें कभी किसी वर्ण की एक बार आवृत्ति हो सकती है, और कभी अनेक बार। कभी वाक्य अथवा पद्य के आदि अथवा अन्त्य भाग के वर्णों की आवृत्ति होती है, और कभी वर्ण की आवृत्ति न होकर समान श्रुति वाली ध्वनियों का अनेक बार प्रयोग होता है। इन विविध स्थितियों में से अनेक बार वर्णों की आवृत्ति की स्थिति में वृत्त्यनुप्रास, पदान्त अर्थात् पद्य के चरणों के अन्त्य में वर्ण या वर्णों की आवृत्ति को अन्त्यानुप्रास, तथा समान उच्चरित होने वाली ध्वनियों की आवृत्ति होने पर श्रुत्यनुप्रास स्वीकार किया जाता है। जब एक या एकाधिक वर्णों की दो बार ही आवृत्ति हुआ करती है, अर्थात् आवृत्ति में संख्या नियम अवश्य रहा करता है, वहां प्राचीन आलंकारिकों ने **छेकानुप्रास** अलंकार स्वीकार किया है। किन्तु स्मरणीय है कि जिन आलंकारिकों ने भी **छेकालंकार** को स्वीकार किया है प्रायः उन सभी ने इसे **अनुप्रास** अलंकार का प्रकार भेद हो माना है स्वतन्त्र अलंकार नहीं है।

[द्रष्टव्य—अनुप्रास अलंकार]

छेकापह्नुति

जैसाकि नाम से ही स्पष्ट है, **छेकापह्नुति** अपह्नुति मूलक अलंकार है। इसे केवल जयदेव अप्पयदीक्षित चिरञ्जीव एवं भट्टदेव-शंकर पुरोहित ने स्वीकार किया है। उनके अनुसार जहाँ शंका पूर्वक

तथ्य का अपह्नव किया जाय वहाँ **छेकापह्नुति** अलंकार स्वीकार किया जाता है। भ्रान्तापह्नुति एवं छेकापह्नुति दोनों में ही शंका का निबन्धन अनिवार्यतः होता है किन्तु भ्रान्तापह्नुति में शंका का निबन्धन करके तथ्य को निर्णय पूर्वक निबद्ध करना होता है, जबकि **छेकापह्नुति** में शंका पूर्वक तथ्य का अपह्नव निबद्ध रहता है।

'प्रजल्पन्पदे लग्नः कान्तः किं ? न हि नूपुरः।'

इस पद्य में 'किं कान्तः ?' प्रश्न करके प्रकृत तथ्य का त का निह्नव किया गया है, अतः यहां **छेकापह्नुति** अलंकार माना जाएगा।

मूल लक्षण

जयदेव

छेकापह्नुतिरन्यस्य शंकया तथ्यनिह्नवे। —चन्द्रालोक ५.२७

अप्पयदीक्षित

छेकापह्नुतिरन्यस्य शंकातस्तथ्यनिह्नवे। —कुवलयानन्द ३०

चिरञ्जीव

छेकापह्नुतिरन्यस्य शङ्कया तथ्यनिह्नवे॥ — काव्यविलास २२०

भट्टदेवशंकर

स्वरहस्यस्य कथनं नीयतेऽन्यत्र चेद्धिया।
गोपनाय तदा प्रोक्ता छेकापह्नुत्यलंकृतिः॥ —अलंकार मञ्जूषा १८

छेकोक्ति

जिस प्रकार लोक प्रवाद के अनुकरण को **लोकोक्ति** कहते हैं, उसी प्रकार विद्वत् समाज (छेक) में सुप्रचलित प्रवाद के अनुकरण को **छेकोक्ति** कहते हैं। इसे अलंकार के रूप में केवल **अप्पय दीक्षित** पर-काल स्वामी एवं भट्ट **देवशंकर पुरोहित** इन दो आचार्यों ने स्वीकार किया है।

'भुजङ्ग एव जानीते भुजङ्गचरणं सखे'

अर्थात् 'भुजङ्ग की चाल को भुजङ्ग ही जानता है, इस वाक्य में विद्वज्जनों में सुविदित प्रवाद का निबन्धन काव्य में शोभा के आधार के लिए किया गया है, अतः यहाँ **छेकोक्ति अलंकार** मानना चाहिए।

मूल लक्षण

अप्पयदीक्षित

छेकोक्तिर्यत्र लोकोक्तेः स्यादर्थान्तरगर्भिता ॥ —कुवलयानन्द १५८

श्रीकृष्णब्रह्मतन्त्र परकालस्वामी

स्याच्चेल्लोकोक्तिरन्यार्थगर्भा छेकाक्तिरिष्यते ।

—अलंकार मणिहार १५७

भट्ट देवशंकर पुरोहित

लोकप्रवादानुकृति लोकोक्ति विबुधाः विदुः ।
सार्थान्तरगर्भिता चेच्छेकोक्तिरिति कथ्यते ॥ —अलंकार मंजूषा १२२

जाति

जाति अलंकार स्वभावोक्ति से अभिन्न है। वामन कुन्तक एवं जगन्नाथ को छोड़कर संस्कृत काव्य शास्त्र के प्रायः सभी आचार्यों ने इसे स्वीकार किया है। इनमें से रुद्रट भोज वाग्भट प्रथम एवं द्वितीय हेमचन्द्र ने इसे जाति नाम से अभिहित किया है; भामह ने **जाति** एवं **स्वभावोक्ति** दोनों नामों का प्रयोग किया है, शेष सभी आचार्यों ने **स्वभावोक्ति** नाम से ही इसे लक्षित कराया है।

इसके स्वरूप के सम्बन्ध में सभी आचार्य प्रायः एक मत हैं, उनके अनुसार स्वरूप संस्थान अवस्था क्रिया आदि का यथावस्थ अग्राम्य वर्णन **जाति** अथवा **स्वभावोक्ति अलंकार** कहाता है। (विशेष विवरण के लिए **स्वभावोक्ति अलंकार** देखें।)

मूल लक्षण

रुद्रट

संस्थानावस्थानक्रियादि यद्यस्य यादृशं भवति ।
लोकचिरप्रसिद्धं तत्कथनमनन्यथा जातिः ॥ —काव्यालंकार ७.३०

भोज—नानावस्थासु जायन्ते यानि रूपाणि वस्तुनः ।
स्वेभ्यः स्वेभ्यो निसर्गेभ्यस्तानि जातिं प्रचक्षते ॥
तत्र स्वरूपसंस्थानमवस्थानं तथैव च ।
वेशोव्यापार इत्याद्यैः प्रभेदैर्बहुधा स्थितम् ॥

—सरस्वती कण्ठा भरण ३.७

वाग्भट

यथास्थितवस्तुवर्णनमग्राम्यं जातिः ॥ —काव्यानुशासन पृ० ३२

हेमचन्द्र

स्वभावाख्यानं जातिः । —काव्यानुशासन ६.१५, सू० १२७

वाग्भट

स्वभावोक्तिः पदार्थस्य सक्रियस्य क्रियस्य वा ।
जातिः विशेषतोरम्मा हीनत्रस्तार्भकादिषु ॥

—वाग्भटालंकार ४.४७

तत्कर

समुच्चय अलंकार की चर्चा यथास्थान की जाएगी, उसे ही नञ्राजयशोभूषणकार नरसिंह कवि ने **तत्कर** नाम से स्वीकार किया है। इस अलंकार की सत्ता वहाँ स्वीकार की जाती है जहाँ अनेक स्वतन्त्र कारणों द्वारा 'खलेकपोतन्याय' से मिलकर एक कार्य के करने का निबन्धन किया गया है और वह वर्णन चमत्कार की सृष्टि कर रहा हो। [विशेष विवरण के लिए **समुच्चय** अलंकार देखें।]

मूल लक्षण

नरसिंह कवि

खले कपोतन्यायेन स्वतन्त्रैः बहुकारणैः ।
मिलितैः क्रियते कार्यं यत्रैकं तत्र तत्करः ।

—नञ्राज यशोभूषण पृ० २१५

तद्गुण

तद्गुण अलंकार की उद्भावना आचार्य रुद्रट ने की है। उनके अनुसार यह दो प्रकार का हो सकता है। 'प्रथम वह' जहां गुण साम्य के कारण दो पदार्थों में भेद प्रतीति नहीं होती। [यस्मिन्नेक गुणानामर्थानां योगलक्ष्यरूपणाम् । संसर्गे नानात्वं न लक्ष्यते—तद्गुणः स इति। का० अ० ६.२२]। उनके अनुसार **तद्गुण** का अन्य प्रकार वह है 'जहाँ असमान गुण वाली एक वस्तु अत्यधिक गुण वाली अन्य

वस्तु के संसर्ग के कारण उसके ही गुणों से युक्त हो जाती है [असमानगुणं यस्मिन्नतिबहलगुणेन वस्तुना वस्तु। संसृष्टं तद्गुणतां धत्तेऽन्यस्तद्गुणः स इति। का० अ० ६.२४]। परवर्ती आलंकारिकों ने तद्गुण के उपर्युक्त प्रथम प्रकार को **'सामान्य'** अलंकार के नाम से स्वीकार किया है तथा द्वितीय प्रकार को तद्गुण नाम से। परवर्ती आचार्यों में मम्मट [१०.१३७] रुय्यक [७३] वाग्भट प्रथम, शोभाकर [६७] जयदेव [५.६८] नरेन्द्र प्रभसूरि [८.७६] विद्यानाथ [८.१३७] विद्याधर [८.६५] विश्वनाथ [१०-६०] अप्पय दीक्षित [१४१] जगन्नाथ [रसगं० भाग ३ पृ० ७६१] चिरंजीव [२.५३] एवं नरसिंह कवि [पृ० १६०] आदि ने द्वितीय लक्षण युक्त तद्गुण अलंकार स्वीकार किया है।

तद्गुण अलंकार के दो मुख्य तत्त्व हैं: (१) एक वस्तु के निकट दूसरी वस्तु का होना। (२) प्रकृत वस्तु का अपने गुणों को छोड़कर अन्य गुणों को धारण करना। मम्मट रुय्यक एवं विद्याधर आदि के अनुसार अल्पगुण वाली वस्तु प्रकृत होती है, और द्वितीय अधिक गुण वाली वस्तु अप्रकृत। किन्तु रुद्रट विश्वनाथ जगन्नाथ आदि इस प्रसङ्ग में प्रकृत और अप्रकृत की कोई चर्चा नहीं करते।

जगाद वचनच्छद्म पद्मपर्यन्तपातिनः।
नयन्मधुलिहः श्वैत्यमुदग्रदशनांशुभिः॥

प्रस्तुत पद्य में श्याम भ्रमर अपनी श्यामता को छोड़कर बलभद्र के दांतों की किरणों की श्वेतिमा गुण को प्राप्त कर रहे हैं। इस प्रकार वस्त्वन्तर के गुणों से आक्रान्त होने से यहां **तद्गुण** अलंकार माना जाता है।

इस अलंकार की **तद्गुण** संज्ञा अन्वर्थ की गयी है, क्योंकि यहां एक वस्तु दूसरे [तत् = अप्रकृत अथवा अन्य वस्तु] के गुणों को धारण कर लेती है [तस्य अप्रकृतस्य गुणोऽत्रास्तीति' का. प्र. पृ. ८१०] ['तस्योत्कृष्टगुणस्य गुणा अस्मिन्निति कृत्वा। अ० स० पृ० २१३]।

यहां यह प्रश्न हो सकता है कि यदि **तद्गुण** में एक वस्तु अन्य के गुण से आक्रान्त हो जाती है, अतः उसकी प्रतीति नहीं होती तो **तद्गुण** और **मीलित** में क्या अन्तर है? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि

'मीलित' में एक वस्तु का दूसरी वस्तु के द्वारा मीलन होता है, जब कि **तद्गुण** में दोनों वस्तुएं समान रूप से प्रत्यक्ष होती हैं, केवल एक वस्तु के गुण का स्थानान्तरण अन्य वस्तु में होता है। मीलित में तिरोहित वस्तु न अपने गुणों को छोड़ती है, न अन्य के गुणों को ग्रहण करती है; वह केवल अन्य वस्तु से आच्छादित-सी होती है। इसके अतिरिक्त **मीलित** में दोनों वस्तुओं में मूलतः समानगुण होते हैं, जबकि **तद्गुण** में गुणों की समानता स्वभावतः नहीं होती, इसमें एक वस्तु अपने गुणों को छोड़कर अन्य गुणों को ग्रहण करती है [न चेदं मीलितम्, तत्र हि प्रकृतं वस्तु वस्त्वन्तरेण आच्छादितत्वेन प्रतीयते । इह तु अनपह्नुतस्वरूपमेव प्रकृतं वस्तु वस्त्वन्तरगुणोपरक्ततया प्रतीयते, इत्यनयोर्भेदः । अ० स० पृ० २१३। मीलिते प्रकृतस्य वस्तुनो वस्त्वन्तरेणाच्छादनम् । इह तु वस्त्वन्तरगुणेनाक्रान्तता प्रतीयते इति भेदः। सा० दर्पण पृ. ६१२]।

तद्गुण अलंकार सामान्य अलंकार से भी पूर्णतः पृथक् है, क्योंकि **सामान्य अलंकार** में वस्तु अपने गुणों को नहीं छोड़ती, किन्तु गुणों की समानता के कारण उनमें भेद ग्रहण सम्भव नहीं हो पाता; जबकि **तद्गुण** में एक वस्तु अपने गुणों को छोड़कर अन्य वस्तु के गुणों से उपरक्त होती है, तथा वे गुण वस्तु के निज गुणों के सदृश नहीं होते [मीलिते धर्मिण एवाग्रहः सामान्येऽपरित्यक्तगुणस्यैवापृथक्प्रतिभासः। इह तु गुणमात्रस्यैवाभिभवः धर्मिणः पृथग्भासश्चेति भेदः। का० प्र० प्रदीपोद्योत पृ० १३७]।

भ्रान्तिमान् अलंकार से भी **तद्गुण अलंकार** सर्वथा भिन्न है। **भ्रान्तिमान्** में दृश्यमान वस्तु की स्मर्यमाण वस्तु के रूप में भ्रान्त प्रतीति होती है, जबकि तद्गुण में दोनों ही वस्तुएं दृश्यमान होती हैं, कोई भी स्मिर्यमाण नहीं होती। साथ ही यहां प्रतीति में भ्रान्ति का प्रवेश नहीं रहता [भ्रान्तिमति स्मर्यमाणस्यारोपोऽत्र गृह्यमाणस्येति भेदः। भ्रान्तेर्निबद्धत्वाभावाच्च। का० प्र० प्रदीपोद्योत पृ० १३८]।

इस प्रसङ्ग में एक प्रश्न यह भी हो सकता है कि **मीलित सामान्य तद्गुण** में यदि इतना अन्तर है कि एक में एक वस्तु से अन्य वस्तु आच्छादित होती है, दूसरे में गुण साम्य के कारण भेद ग्रहण सम्भव नहीं हो पाता तथा तीसरे में एक के गुण से दूसरे का गुण आच्छादित

होता है, तो इन तीनों अलंकारों को पूर्णोपमा और लुप्तोपमा के
समान परस्पर अभिन्न **भेदाग्रह** नाम से एक अलंकार के अन्तर्गत ही
क्यों न स्वीकार किया जाए ? इस आशंका का समाधान है तीनों का
पृथक्-पृथक् चारुत्वातिशय।……जिस प्रकार रूपक परिणाम और
अतिशयोक्ति में अभेद तत्त्व के तीनों में समान रूप से विद्यमान रहने
पर भी उन अलंकारों में अनुभूत होने वाले परस्पर चारुत्त्व विशेष के
कारण इन्हें अभेद नाम से एक अलंकार न मानकर पृथक्-पृथक् अलं-
कार ही स्वीकार किया जाता है, उसी प्रकार इन तीनों अलंकारों को
स्वतन्त्र अलंकार मानने में कोई आपत्ति नहीं होनी चाहिए [ननु
भेदाग्रह एवं मीलित-सामान्य-तद्‌गुण साधारण एकोऽलंकारोऽस्तु किम-
लंकारत्रयेण ?……न चावान्तरभेदसत्त्वान्नैकालंकारत्वमुपपद्यते इति
वाच्यम्, लुप्तोपमादितः पूर्णोपमादेः पृथगलंकारतापत्तेः । तस्माद्
भेदाग्रहस्य त्रयो मीलितादयोऽवान्तरभेदा इति युक्तम्, न तु पृथग-
लंकारा इति चेत् उच्यते, एवं तर्हि अभेदोप्येक एवालंकारोऽस्तु।
तदवान्तरभेदा रूपकपरिणामातिशयोक्तिप्रमुखा इत्यपि शक्यते
वक्तुम्। विच्छित्तिभेदस्तु प्रकृतेऽपि तुल्यः। रसगं० तृतीय पृ० ७७३

मूल लक्षण

रुद्रट—यस्मिन्नेकगुणानामर्थानां योगलक्ष्यरूपाणाम्।
संसर्गे नानात्वं न लक्ष्यते तद्‌गुणः स इति ॥ —काव्यालंकार ९.२२
असमानगुणं यस्मिन्नतिबहलगुणेन वस्तुना वस्तु।
संसृष्टं तद्‌गुणतां धत्तेऽन्यस्तद्‌गुणः स इति ॥ —वही ९.२४

मम्मट

स्वमुत्सृज्यगुणं योगाद् अत्युज्वलगुणस्य यत्।
वस्तु तद्‌गुणतामेति भण्यते स तु तद्‌गुणः ॥
—काव्यप्रकाश का० १३७

रुय्यक

स्वगुणपरित्यागादत्युत्कृष्टगुणस्वीकारस्तद्‌गुणः ॥
—अलंकार सर्वस्व ७३

वाग्भट प्रथम

यत्र वस्तुस्वगुणमुत्सृज्यान्यगुणयोगात्तद्‌गुणतामेति स तद्‌गुणः।
—काव्यानुशासन पृ० ४५

शोभाकर

अन्यधर्मस्वीकारस्तद्गुणः। —अलंकाररत्नाकर ६७

जयदेव

तद्गुणः स्वगुणत्यागादन्यतः स्वगुणोदयः। —चन्द्रालोक ५.९८

विद्यानाथ

तद्गुणः स्वगुणत्यागादन्योत्कृष्टगुणाहृतिः। —प्रतापरुद्रीयम् ८.१३७

विद्याधर

अधिकगुणाङ्गीकरणं स्वगुणत्यागेन तद्गुणः कथितः। —एकावली ८.६५

विश्वनाथ

तद्गुणः स्वगुणत्यागादत्युत्कृष्टगुणग्रहः॥ —साहित्यदर्पण १०.९०

अप्पयदीक्षित

तद्गुणः स्वगुणत्यागादन्यदीयगुणग्रहः॥ —कुवलयान्द १४१

पंडितराजजगन्नाथ

स्वगुणत्यागपूर्वकं स्वसन्निहितवस्त्वन्तरसम्बन्धिगुणग्रहणं तद्गुणः।
—रसगंगाधर भाग ३. पृ० ७६१

चिरञ्जीव

तद्गुणः स्वगुणे म्लाने त्वन्यतः स्वगुणोदयः। —काव्यविलास २.५३

नरेन्द्रप्रभसूरि

तद्गुणः स्वगुणत्यागाद् योगेऽधिकगुणस्य यत्।
धत्ते तद्गुणतां वस्तु॥ —अलंकार महोदधि ८.७९

नरसिंहकवि

तद्गुणस्वगुणत्यागादन्योत्कृष्टगुणोदयः। —नञ्राजयशोभूषण पृ० १९०

भट्ट देवशंकर पुरोहित

(i) अन्यगुणग्रहोन्यस्य स्वगुणत्यागतस्तु यः।
तद्गुणालङ्कृतिः प्रोक्तोल्लासालङ्कारतः पृथक्॥
—अलंकार मञ्जूषा पृ० १०८

(ii) पुनः स्वगुणसम्प्राप्तिः पूर्वरूपमुदाहृतम्।
पूर्वरूपममुं केचिदामनन्तीह तद्गुणम्॥ —वही १०९

वेणीदत्त

स्वगुणं यत्परित्यज्य पदार्थः प्रतिपद्यते।
अत्युत्कृष्टं परगुणं तद्गुणः स प्रकीर्त्तितः॥ —अलंकार मञ्जरी २२९

विश्वेश्वर

परकीयगुणातिरोहितगुणस्य भानं तद्‌गुणः प्रोक्तः ।

—अलंकार मुक्तावली ५०½

श्रीकृष्णब्रह्मतन्त्रपरकालस्वामी

स्वगुणस्य परित्यागात्तद्‌गुणोऽन्यगुणग्रहः । —अलंकार मणिहार १४३

तन्त्र

तन्त्र अलंकार समुच्चय का प्रतियोगी अलंकार है। **समुच्चय में** एक कार्य के साधनार्थ अनेक कारण 'खले कपोतन्यायेन' समुच्चित हो जाते हैं, जबकि **तन्त्र** में एक प्रयत्न करने पर अनेक फल समुच्चित होते हैं। इस अलंकार को केवल शोभाकर ने ही स्वीकार किया है।

आनन्दनं मम लोचनानां सुखनिर्वृत्तिरपि हृदयस्य।
अङ्गानाममृतवर्षो भविष्यति मम वल्लभे दृष्टे ॥

इस पद्य में भावि वल्लभदर्शनरूप एक प्रयत्न के द्वारा भावी नेत्रों का आनन्दित होना, हृदय का सुख से पूर्ण तृप्त होना एवं अङ्गों के लिए अमृत की वर्षा होना इन तोन फलों की एक साथ निष्पत्ति निबद्ध है। अतः इस प्रकार के स्थलों में **तन्त्र अलंकार** माना जाएगा।

मूल लक्षण

शोभाकर मित्र

नानाफलप्रयुक्तः प्रयत्नः तन्त्रम् । —अलंकार रत्नाकर ८६ पृ० १४८

तिरस्कृति

तिरस्कृति अलंकार की चर्चा अलंकार मणिहारकार के अतिरिक्त किसी आचार्य ने नहीं की है। उनके अनुसार दोष के साथ सम्बन्ध के कारण जहां गुण भी दोष बनकर तिरस्कार योग्य बन जाता है, वहाँ **तिरस्कृति** अलंकार होता है।

मूल लक्षण

श्रीकृष्ण ब्रह्मतन्त्रपरकाल स्वामी

गुणस्य दोषसम्बन्धाद् दोषश्चेत्सा तिरस्कृतिः। —अलंकारमणिहार १३६

तुल्य

तुल्य अलंकार को केवल शोभाकर ने स्वीकार किया है। उनके अनुसार एक दोष की निवृत्ति होने पर तुल्य दोषान्तर का उदय अथवा एक गुण का उदय होने पर तुल्य गुणान्तर की निवृत्ति का निबन्धन होने पर अन्वर्थ अभिधान युक्त **तुल्य अलंकार** होता है।

देव ! त्वद्गुणवर्णनेन सुखयत्याखण्डलं नारदः
तत्र श्रोत्रकटु क्वणन्ति मधुपास्तत्पारिजातस्रजि ।
वार्यन्ते यदि चाप्सरोभिरभितस्ते चामराडम्बरैः
उद्वेलद्भुजवल्लिकङ्कणक्वणत्कारस्तदा दुःश्रवः ॥

इस पद्य में नारद द्वारा गुणवर्णन के प्रसङ्ग में दोषरूप भ्रमर गुंजन का निवारण करने पर कंकण क्वणनरूप तुल्य दोष का उदय होने से ऐसे काव्यों में **तुल्य अलंकार** होगा।

तुल्य अलंकार में निवृत्त दोष के तुल्य दोषान्तर का उदय अथवा एक गुण के समुदित होने पर तुल्य गुणान्तर की निवृत्ति होने पर **पर्याय** अलंकार की शंका (पर्याय एवं तुल्य में अभेद की शंका) न होनी चाहिए, क्योंकि समुदित दोषान्तर में पूर्वदोष से एवं निवृत्त गुणान्तर से समुदित गुण की तुल्यता का ही चारुत्व यहां प्रधानतया विवक्षित रहता है, जबकि **पर्याय** में तुल्यता का चारुत्व अविवक्षित रहता है एवं पर्यायता का चारुत्व विवक्षित रहता है। इसी प्रकार एक दोष निवारण आदि के प्रयत्न की निष्फलता मानकर **विचित्र अलंकार** से अभेद की आशंका न करनी चाहिए, क्योंकि विचित्र में प्रयत्न की निष्फलता विवक्षित रहती है, जबकि **तुल्य** में पूर्व दोष की निवृत्ति हो जाने से प्रयत्न निष्फल नहीं होता।

मूल लक्षण

शोभाकर

निवृत्तावन्योदयः तुल्यत्वम् ॥ —अलंकार रत्नाकर ६९

तुल्ययोगिता

तुल्ययोगिता अलंकार का विवेचन नाट्यशास्त्र, विष्णुधर्मोत्तर पुराण, अग्नि पुराण में नहीं मिलता है, तथा रुद्रट हेमचन्द्र, शौद्धो-

दनि तथा केशवमिश्र इत्यादि कुछ आलंकारिकों ने इसका विवेचन नहीं किया है । इनके अतिरिक्त काव्यशास्त्र के प्रायः सभी आचार्यों ने इस अलंकार को स्वीकार किया है । आचार्य दण्डी के अनुसार जब स्तुति अथवा निन्दा के लिए किसी भी उत्कृष्ट गुण वाले पदार्थ के साथ समता करते हुए कथन किया जाता है, तो वहाँ **तुल्ययोगिता अलंकार** होता है । इसी भाव को भामह ने कुछ दूसरे शब्दों में व्यक्त किया है कि 'गुण साम्य की विवक्षा से समान कार्य अथवा समान क्रिया वाले न्यून (उपमेय) की विशिष्ट (उपमान) के साथ क्रियाकारित्व का कथन तुल्ययोगिता है । उपर्युक्त दोनों ही लक्षणों में यह स्पष्ट नहीं है कि यह तुल्यकथन दो प्रस्तुत और अप्रस्तुत का किया जाता है । यदि यहां विवक्षित और न्यून पदों से उपमेय तथा गुणोत्कृष्ट तथा विशिष्ट शब्दों से उपमान अर्थ स्वीकार करें जैसा कि उनके व्याख्याकारों ने किया है तो यह लक्षण उत्तरकाल में दीपक अलंकार के स्वीकृत लक्षण से सर्वथा अभिन्न होगा ।

तुल्ययोगिता अलंकार के लक्षण को व्यवस्थित रूप देने में उद्भट का महत्त्वपूर्ण योगदान है । उनके अनुसार 'उपमान और उपमेय की उक्ति से शून्य अप्रस्तुतों अथवा प्रस्तुतों का साम्याभिधायि कथन तुल्ययोगिता अलंकार है । इनके अनुसार यह साम्य कथन या तो प्रस्तुतों के बीच होना चाहिये, अथवा अप्रस्तुतों के बीच । यह नहीं कि एक प्रस्तुत हो और दूसरा अप्रस्तुत । उत्तरकालीन प्रायः सभी आचार्यों ने यह एक मत से स्वीकार किया है कि इस अलंकार में तुल्ययोगिता का कथन या तो प्रस्तुत पदार्थों के मध्य में होना चाहिये या अप्रस्तुत पदार्थों के मध्य । परवर्ती सभी आलंकारिकों ने प्रायः इस भेदक वैशिष्ट्य को स्वीकार किया है । आचार्य रुय्यक ने **तुल्ययोगिता** के स्वरूप को और भी अधिक स्पष्ट किया है । उनके अनुसार 'औपम्य के गम्यमान होने पर प्रस्तुतों अथवा अप्रस्तुतों का समान धर्म से सम्बन्ध होने पर **तुल्ययोगिता** अलंकार होता है, किन्तु यह औपम्य पदार्थगत होना चाहिये, वाक्यार्थगत नहीं । रुय्यक के इस लक्षण में तीन विशेष तत्त्व है ।

(१) औपम्य का गम्य होना (उद्भट ने साम्य का अभिधान माना था ।)

(२) औपम्य का पदार्थगत होना तथा

(३) समान धर्म तथा समान क्रिया से सम्बन्ध।

इस तृतीय तत्त्व को मम्मट ने 'सकृद्धर्म' पद से अभिहित किया था। परवर्ती आलंकारिकों में शोभाकर विद्यानाथ अप्पयदीक्षित नरेन्द्रप्रभसूरि एवं नरसिंह ने रुय्यक का ही अनुसरण किया है। प्राचीन आलंकारिकों में वामन तथा संघरक्खित ने भामह का तथा शिलामेघसेन एवं भोज ने दण्डी का अनुसरण किया था। कुन्तक ने तुल्ययोगिता को अस्फुट उपमा मानते हुए उपमा में ही अन्तर्भाव करना चाहा है। जयरथ एवं पंडितराज जगन्नाथ ने प्रस्तुत और अप्रस्तुत के मध्य समान धर्म कथन, जो दीपक का स्वरूप है, को तुल्ययोगिता के लक्षण में समाविष्ट करते हुए दोनों अलंकारों (तुल्ययोगिता एवं दीपक) को परस्पर अभिन्न माना है।

विश्वनाथ ने अपने लक्षण में औपम्य के गम्य होने की कोई चर्चा नहीं की है। इससे यह अनुमान किया जा सकता है वे प्रस्तुत अथवा अप्रस्तुतों में औपम्य का गम्य होना आवश्यक नहीं मानते। इस अलंकार के नामकरण के सम्बन्ध में विद्याधर का कहना है कि तुल्य धर्म से योग अर्थात् सम्बन्ध होने के कारण ही इसे तुल्ययोगिता नाम दिया गया है।

तुल्ययोगिता अलंकार के भेद-प्रभेदों के सम्बन्ध में भी प्राचीन और नवीन आलंकारिकों में मौलिक मतभेद है। दण्डी के अनुसार इसके दो भेद होते हैं। (१) स्तुत्यर्था (२) निन्दार्था। शिलामेघसेन तथा अमृतानन्द यति ने दण्डी का ही अनुसरण किया है। आचार्य उद्भट ने सर्वप्रथम इसका विभाजन अस्तुत और अप्रस्तुत के आधार पर किया है। मम्मट ने उद्भट का अविकल अनुकरण किया है। आचार्य रुय्यक ने उक्त दोनों भेदों में गुण सम्बन्ध एवं क्रिया सम्बन्ध के आधार पर दोनों भेदों में दो-दो उपभेद स्वीकार किये हैं। उनके अनुसार **तुल्ययोगिता** के चार प्रकार हो जाते हैं। विद्याधर, नरेन्द्रप्रभसूरि आदि आचार्यों ने रुय्यक का ही अनुगमन किया है।

नरसिंह कवि ने द्रव्यगुण एवं कर्म तथा उनके अभावों को धर्म (६ प्रकार के धर्म) मानकर प्रस्तुत और अप्रस्तुत में उनके धर्म का निर्देश होने से बारह प्रकार की तुल्ययोगिता के भेदों की संभावना

व्यक्त की है। विद्याधर ने तुल्ययोगिता के चार भेद मानते हुए भी रुय्यक के क्रियाभि सम्बन्ध के स्थान पर तुल्यसम्बन्ध को भेदक माना है। अर्थात् उनके अनुसार (१) प्रकृतों में तुल्य धर्म (२) प्रकृतों में तुल्य सम्बन्ध (३) अप्रकृतों में तुल्य धर्म (४) अप्रकृतों में तुल्यसम्बन्ध के आधार पर तुल्ययोगिता के चार प्रकार होते हैं। विद्यानाथ ने **तुल्ययोगिता अलंकार** में क्रिया सम्बन्ध को स्वीकार नहीं क्रिया है। इस प्रकार उनके अनुसार **तुल्ययोगिता** के केवल दो प्रकार ही होंगे। विश्वनाथ ने रुय्यक का अनुसरण करते हुए **तुल्ययोगिता** अलंकार के चार भेद स्वीकार किये हैं।

तुल्ययोगिता अलंकार के समान ही **दीपक अलंकार** में भी औपम्य-गम्य रहता है। दीपक अलंकार एक प्राचीनतम अलंकार है। भरत ने जिन केवल चार अलंकारों को स्वीकार किया था, दीपक उनमें अन्यतम है। पंडितराज जगन्नाथ के अतिरिक्त सभी आलंकारिकों ने इसे निर्विवाद रूप से स्वीकार किया है। विमर्शिनीकार जयरथ की मान्यता भी पंडितराज जगन्नाथ से अभिन्न ही है। इन दोनों आचार्यों ने भी **दीपक अलंकार** की सत्ता को अस्वीकार नहीं किया है; किन्तु उनका कहना है कि **तुल्ययोगिता** और दीपक में जो चारुत्व है, वह सर्वथा समान है। दोनों में ही औपम्य गम्यमान होना चाहिए, दोनों में ही अनेक पदार्थों को एक धर्म से अभिसम्बद्ध होना चाहिए, तथा यह धर्म गुणरूप या क्रियारूप होना चाहिए। अन्तर केवल इतना है कि **तुल्ययोगिता** में एक धर्म से सम्बद्ध पदार्थ या तो दोनों ही प्रस्तुत होने चाहिए या दोनों ही अप्रस्तुत। यदि इन दो या अधिक पदार्थों में एक प्रस्तुत तथा दूसरा अप्रस्तुत हो तो वहां **तुल्ययोगिता** अलंकार न होकर **दीपक अलंकार** होगा।

पण्डितराज जगन्नाथ ने और भी स्पष्ट शब्दों में **तुल्ययोगिता** एवं **दीपक अलंकारों** को पृथक्-पृथक् मानने का विरोध किया है। उनका कहना है कि यदि चमत्कार भेद के बिना भी केवल स्थिति भेद में ही पृथक् अलंकार स्वीकार करेंगे तो तुल्ययोगिता में भी प्रकृतत्व और अप्रकृतत्व की विशेषता के आधार पर दो पृथक् पृथक् अलंकार मानने की समस्या उत्पन्न होगी। अतः **तुल्ययोगिता** में ही जिस प्रकार प्रकृत और अप्रकृत में अन्यतर के रहने पर दो भेद

स्वीकार किये जाते हैं, उसी प्रकार एक पदार्थ के प्रकृत और द्वितीय पदार्थ के अप्रकृत रहने पर तुल्ययोगिता में एक तृतीय भेद स्वीकार करना चाहिए। इस स्थिति में **दीपक अलंकार** के स्वतन्त्र अलंकार मानने की अपेक्षा न होगी। इन तीन भेदों के मुख्य तत्त्व निम्नलिखित होंगे :—

१. दो या अधिक प्रकृत पदार्थों के धर्मों का एक बार कथन।

२. अप्रकृत पदार्थों के धर्मों का एक बार कथन।

३. प्रकृत और अप्रकृत पदार्थों के धर्मों का एक बार कथन।

मूल लक्षण

दण्डी

विवक्षितगुणोत्कर्षे यत्समीकृत्य कस्यचित् ।
कीर्त्तनं स्तुतिनिन्दार्थं सा मता तुल्ययोगिता ।। —काव्यादर्श २.२३०

भामह

न्यूनस्यापि विशिष्टेन गुणसाम्यविवक्षया।
तुल्यकार्यक्रियायोगादित्युक्ता तुल्ययोगिता। —काव्यालंकार ३.२७

शिलामेघसेन

दण्डी अनुकृत २१३

उद्‌भट

उपमानोपमेयोक्तिशून्यैरप्रस्तुतैर्वचः ।
साम्याभिधायि प्रस्तावभाग्भिः वा तुल्ययोगिता ।।
—काव्यालंकार सार संग्रह ५.७

वामन

विशिष्टेन साम्यार्थमेककालक्रियायोगः तुल्ययोगिता ।।
—काव्यालंकार सूत्रवृत्ति ४.३.२६

भोज

अन्ये सुखनिमित्ते च दुःखहेतौ च वस्तुनि।
स्तुतिनिन्दार्थमेवाहुस्तुल्यत्वे तुल्ययोगिताम् ।।
—सरस्वती कण्ठाभरण ४.५७

कुन्तक

तथैव तुल्ययोगिता सा भवत्युपमा स्फुटा ।। —वक्रोक्तिजीवित ३.३२

मम्मट

नियतानां सकृद्धर्मः सा पुनस्तुल्ययोगिता ।

—काव्यप्रकाश सू० १५८ का० १०४

रुय्यक

औपम्यस्य गम्यत्वे पदार्थगतत्वेन प्रस्तुतानाम् अप्रस्तुतानां समानधर्माभि-
सम्बन्धे तुल्ययोगिता ।। —अलंकार सर्वस्व २३

शोभाकर मित्र

सकृद्धर्मस्यनिर्देशेऽप्रस्तुतानां प्रस्तुतानां वा तुल्ययोगिता ।

—अलंकार रत्नाकर १४

जयदेव

क्रियादिभिरनेकस्य, तुल्यता तुल्ययोगिता । —चन्द्रालोक ५.४६

विद्यानाथ

प्रस्तुतानां तदन्येषां केवलं तुल्यधर्मतः ।
औपम्यं गम्यते यत्र सा मता तुल्ययोगिता ।। —प्रतापरुद्रीयम् ८.१७१

संघरक्खित

गुणयुत्ते हि वत्थूहि समं कत्वान कस्सचि ।
संकित्तनं भवति यं सा मता तुल्ययोगिता ।। —सुबोधालंकार ३०४

विद्याधर

औपम्यगम्यतायां प्रकृतानां तुल्यधर्मसम्बन्धे ।
अप्रकृतानामथवा चतुर्विधा तुल्ययोगिता ज्ञेया ।। —एकावली ८.१५

विश्वनाथ

पदार्थानां प्रस्तुतानामन्येषां वा यदा भवेत् ।
एकधर्माभिसम्बन्धः स्यात्तदा तुल्ययोगिता ।।

—साहित्यदर्पण १०.४७-४८

अमृतानन्द यति

यत्प्रसिद्धगुणैः साम्यकथनं यस्य कस्यचित् ।
स्तुत्या वा निन्दया तुल्ययोगिता सा मता यथा ।।

—अलंकार सार संग्रह ५४३

वाग्भट (द्वितीय)

उपमेयं समीकर्त्तुमुपमानेन योज्यते ।
तुल्यैककालक्रियया यत्र सा तुल्ययोगिता ।। —वाग्भटालंकार ४.८८

अप्पयदीक्षित

(क) वर्ण्यानामितरेषां वा धर्मैक्यं तुल्ययोगिता।

(ख) हिताहिते वृत्तितौल्यमपरा तुल्ययोगिता।

(ग) गुणोत्कृष्टैः समीकृत्य वचोऽन्या तुल्ययोगिता॥

—कुवलयानन्द ४४,४६,४७

पंडितराज जगन्नाथ

प्रकृतानामप्रकृतानामेव वा गुणक्रियादिरूपैकधर्मान्वयात्तुल्ययोगिता।

—रस० भा० ३. पृ० ३६

चिरञ्जीव

वर्ण्यानां तुल्यधर्मत्वे कथिता तुल्ययोगिता। —काव्यविलास २.२६

नरेन्द्रप्रभसूरि

प्रस्तुतानां क्वचिद् यस्यां क्वचिदप्रस्तुतात्मनाम्।
गुणक्रियाभ्यां तुल्याभ्यां योगः स्यात्तुल्ययोगिता॥

—अलंकार महोदधि ८.३२

भावदेवसूरि

तुल्यत्वे सत्यनेकस्य क्रियाद्यैस्तुल्ययोगिता। —अलंकार संग्रह ६,२२

नरसिंह कवि

प्रकृतानामुतान्येषां तुल्यधर्मानुबन्धतः।
औपम्यं यदि गम्येत सा मता तुल्ययोगिता।

—नञ्राजयशोभूषण पृ० १६७

भट्ट देवशंकर पुरोहित

(१) वर्ण्यानां वर्ण्ययोर्वापीतरेषां वान्ययोरपि।
गुणक्रियादिभिः साम्यकरणे तुल्ययोगिता॥

(२) हिते वाप्यहिते यत्र तुल्यवृत्तित्ववर्णनम्।
क्रियते तत्र गदिताप्यपरा तुल्ययोगिता॥

—अलंकार मंजूषा २६-३०

वेणीदत्त

अप्रस्तुतानां वस्तूनां प्रस्तुतानामथापि वा।
एक धर्माभिसम्बन्धे कथिता तुल्ययोगिता॥ —अलंकार मंजरी ६७

विश्वेश्वर

प्रकृतानां तादृक्त्वे भिन्नानां वापि तुल्ययोगित्वम्॥

—अलंकार मुक्तावली २३

श्रीकृष्णब्रह्मतन्त्र परकालस्वामी

वर्ण्यानामेव वाऽन्येषामेव वा धर्म एककः।
उचितो वर्ण्यते यत्र तत्र स्यात्तुल्ययोगिता। —अलंकार मणिहार ६३

दीपक

इस अलंकार के दीपक नामकरण के सम्बन्ध में आचार्यों का कहना है कि जिस प्रकार दीपक (दिया) एक स्थान पर रखा हुआ अन्यत्र भी प्रकाशित करता है, उसी प्रकार इस अलंकार में एकत्र अप्रस्तुत में निर्दिष्ट धर्म अन्यत्र भी (अन्य अप्रस्तुतों को भी) भासित करता है। इस प्रकार लौकिक दीपक के सादृश्य पर (देहली दीपक न्याय से) इस अलंकार को भी दीपक कहा गया है। यह एकत्र निर्दिष्ट होने वाला धर्म कहीं क्रियारूप होता है और कहीं कारकरूप। इस आधार पर दीपक अलंकार के दो भेद किये जाते हैं : **क्रियादीपक** और **कारक दीपक**। क्रिया दीपक में एक क्रियारूप धर्म अनेक कारकों से सम्बद्ध रहता है, जबकि **कारक दीपक** में क्रियाएं अनेक होती हैं और उनको सम्बद्ध करने वाला कारक एक होता है।

बलावलेपादधुनापि पूर्ववत् प्रबाध्यते तेन जगज्जिगिषुणा।
सतीव योषित्प्रकृतिश्च निश्चला पुमांसमभ्येति भवान्तरेष्वपि।।

इस पद्य में निश्चल प्रकृति और अप्रस्तुत सती स्त्री में अनुगमन रूप एक क्रिया का निबन्धन हुआ हैं, अतः यहाँ **क्रिया दीपक** माना जाता है।

दीपक अलंकारों के भेदों की कल्पना में प्राचीन आलंकारिकों में तीन मत प्रचलित हैं। आचार्य दण्डी इस अलंकार में आवृत्ति हेतु विवक्षित धर्म को जाति गुण द्रव्य एवं क्रिया के रूप में चार प्रकार का मान कर दीपक अलंकार के चार प्रकार मानते हैं। सियवसलकुर के लेखक शिलामेघसेन दण्डी का ही अनुसरण करते हैं।

भामह अनेक वृत्ति धर्म का वाक्य में आदि मध्य और अन्त में प्रयोग के आधार पर दीपक अलंकार के तीन भेद करते हैं। उद्भट वामन विद्यानाथ संघरक्खित वाग्भट (द्वितीय) एवं नरेन्द्रप्रभसूरि पूर्णतया भामह का अनुगमन करते हैं।

रुद्रट ने भामह स्वीकृत भेदों को स्वीकार करते हुए प्रत्येक में क्रिया कारक भेद से दो-दो भेद किये हैं। इस प्रकार उनके अनुसार **दीपक अलंकार** के ६ प्रकार हो जाते हैं। क्रिया दीपक को दण्डी ने भी **दीपक अलंकार** का भेद माना था। दण्डी स्वीकृत जाति द्रव्य गुण भेदों को रुद्रट ने कारक दीपक भेद में ही समाहित कर लिया है।

रुय्यक वाग्भट (द्वितीय) एवं नरेन्द्रप्रभसूरि आदि आचार्य रुद्रट का ही अनुगमन करते हैं। मम्मट रुद्रट प्रस्तावित केवल क्रियादीपक एवं **कारक दीपक** भेदों को ही स्वीकार करते हैं। इस प्रकार उनके अनुसार **दीपक अलंकार** के केवल दो ही भेद हैं। विद्याधर अमृतानन्द एवं विश्वनाथ मम्मट का ही अनुगमन करते हैं। यद्यपि अमृतानन्द योगी कारक और क्रिया दीपक के स्थान पर क्रमशः **सुबन्त** और **तिङन्त दीपक** नाम देते हैं।

भोज ने इन परम्पराओं से भिन्न अपनी एक स्वतन्त्र मान्यता स्थापित की थी। उनके अनुसार वाक्य में एकत्र विद्यमान क्रिया जाति द्रव्य एवं गुण जब समस्त वाक्य में उपकारक होते हैं उस समय **दीपक अलंकार** होता है। उसकी प्रथमतः तीन स्थितियाँ हैं: **अर्थावृत्ति पदावृत्ति** एवं **उभयावृत्ति**। इन भेदों के अतिरिक्त उन्होंने **संपुट रशना** और **माला** भेदों को भी स्वीकार किया है। इतना ही नहीं उदाहरण प्रस्तुत करते हुए उन्होंने भामह स्वीकृत **आदि दीपक** का भी उदाहरण प्रस्तुत किया है।

भोज के **अर्थावृत्ति पदावृत्ति** एवं **उभयावृत्ति** दीपक-भेदों को किसी परवर्त्ती आचार्य ने स्वीकार नहीं किया है। स्मरणीय है कि दण्डी ने **आवृत्ति** नाम से एक स्वतन्त्र अलंकार माना था, तथा भोज द्वारा प्रस्तावित अर्थावृत्ति आदि भेदों को आवृत्ति अलंकार के भेद के रूप में ही स्वीकार किया था। शिलामेघसेन संघरक्खित अमृतानन्दयोगी आदि आचार्यों ने आवृत्ति को एक स्वतन्त्र अलंकार माना है, तथा जयदेव अप्पयदीक्षित तथा चिरंजीव आदि ने उसे **आवृत्ति दीपक** नाम से स्मरण किया है।

परवर्त्ती आलंकारिकों में मम्मट केशवमिश्र आदि आचार्य भोज स्वीकृत **माला दीपक** को **दीपक अलंकार** के भेद के रूप में स्वीकार करते हैं। नरेन्द्रप्रभसूरि के अनुसार कुछ आचार्य **वस्तुमात्र दीपक** को भी

दीपक का एक प्रकार मानते हैं। केशवमिश्र के अनुसार **दीपक अलंकार के माला** आदि अनन्त भेद हो सकते हैं, जबकि साहित्य दर्पणकार ने इन विविध भेदों के चारुत्व में कोई अन्तर न होने से इन्हें स्वीकार नहीं करना चाहा है। इसे किसी परवर्ती आलंकारिक ने भी स्वीकार नहीं किया है। स्मरणीय है कि दण्डी ने आवृत्ति नामक से एक स्वतंत्र अलंकार स्वीकार किया था तथा भोज द्वारा प्रस्तावित अर्थावृत्ति आदि भेद उनके द्वारा आवृत्ति के ही भेद माने गये हैं। शिलामेघसेन संघरक्खित अमृतानन्दयति आदि ने स्वतंत्र आवृत्ति नामक अलंकार माना है तथा जयदेव अप्पयदीक्षित तथा चिरञ्जीव उसे आवृत्ति दीपक नाम से स्मरण करते हैं। परवर्ती आलंकारकों में मम्मट केशवमिश्र आदि भोज स्वीकृत माला दीपक को दीपक भेद के रूप में स्वीकार करते हैं। नरेन्द्रप्रभसूरि के अनुसार कुछ आचार्य वस्तुमात्र दीपक भी स्वीकार करते हैं। केशवमिश्र के अनुसार दीपक अलंकार मालादीपक आदि भेद से अनन्त प्रकार का है। किन्तु विश्वनाथ को इन विविध भेदों के चारुत्व में अन्तर नहीं प्रतीत होता।

मूल लक्षण

भरत

नानाधिकरणार्थानां शब्दानां सम्प्रदीपकम्।
एकवाक्येन संयुक्तं तद्दीपकमिहोच्यते॥ —नाट्यशास्त्र १६.५३

दण्डी

जातिक्रियागुणद्रव्यवाचिनैकत्र वर्त्तिना।
सर्ववाक्योपकारश्चेत्तमाहुर्दीपकम् यथा॥ —काव्यादर्श २.९७

भामह

आदिमध्यान्तविषयं त्रिधा दीपकमिष्यते।
एकस्यैव वैचित्र्यावस्थत्वादिति तद्भिद्यते त्रिधा॥
अमूनि कुर्वतेऽन्वर्थामस्याख्यामर्थदीपनात्॥
—काव्यालंकार २.२५-२६

—१५६

शिलामेघसेन— दण्डी अनुकृत

उद्भट—आदिमध्यान्तविषयाः प्राधान्येतरयोगिनः।
अन्तर्गतोपमा धर्माः यत्र तद्दीपकं विदुः।
—काव्यालंकारसार संग्रह १.१४

वामन

उपमानोपमेयवाक्येष्वेका क्रियादीपकम् ।

—काव्यालंकार सूत्रवृत्ति ४.३.१८

रुद्रट

यत्रैकमनेकेषां वाक्यार्थानां क्रियापदं भवति ।
तद्वत्कारकपदमपि तदेतदिति दीपकं द्वेधा ।। —काव्यालंकार ७.६४

भोज

क्रियाजातिगुणद्रव्यवाचिनैकत्र वर्त्तिना ।
सर्ववाक्योपकारश्चेत् दीपकं तन्निगद्यते ।

—सरस्वती कण्ठाभरण ४.७६

कुन्तक

औचित्यावहमम्लानं तद्विदाह्लादकारणम् ।
अशक्तं धर्ममर्थानां दीपयद् वस्तुदीपकम् ।। —वक्रोक्ति जीवित

मम्मट

सकृद्वृत्तिस्तु धर्मस्य प्रकृताप्रकृतात्मनाम् ।
सैव क्रियासु वह्वीषु कारकस्येति दीपकम् ।

—काव्यप्रकाश सू० १५६, का० १०३

रुय्यक

प्रस्तुताप्रस्तुतानां तु (समानधर्माभिसम्बन्धे) दीपकम् ।

—अलंकार सर्वस्व १२४

वाग्भट प्रथम

आदिमध्यवर्त्तिनैकेन जातिक्रियागुणद्रव्यरूपिणा पदार्थेन यत्रार्थसंगतिस्तद्दीपकम् । —काव्यानुशासन पृ० ३५

हेमचन्द्र

प्रकृताप्रकृतानां धर्मैक्यं दीपकम् । —काव्यानुशासन ६.७ सू० ११६

शोभाकर मित्र

मिश्राणां दीपकम् ।

सकृद्धर्मोपादाने प्रस्तुतानां मिश्रत्वे आर्थ औपम्यं दीपकम् ।

अलंकार रत्नाकर १५

जयदेव

प्रस्तुताप्रस्तुतां च तुल्यत्वे दीपकं मतम् । —चन्द्रालोक ५.५१

विद्यानाथ

प्रस्तुताप्रस्तुतानाम् तु सामस्त्ये तुल्यधर्मतः।
औपम्यं गम्यते यत्र दीपकं तन्निगद्यते ॥ प्रतापरुद्रीयम् ८.१७४

संघरक्खित

एकत्थवत्तमानंपि सब्ब वाक्योपकारकं।
दीपकं नाम तं चादि मज्झन्त विसयं तथा। —सुबोधालंकार २३०

विद्याधर

मिलितानां तु तथैतेषां दीपकमित्युच्यते षोढा। —एकावली ८.१६

विश्वनाथ

अप्रस्तुतप्रस्तुतयोर्दीपकं तु निगद्यते।
अथ कारकमेकं स्यादनेकासु क्रियासु चेत्। —साहित्यदर्पण १०,४८-४६

अमृतानन्दयति

सुबन्तं वा तिङन्तं वा पदमेकत्र संगतम्।
सर्वोपकारकं स्याच्चेत्तदाहुर्दीपकं यथा॥ —अलंकार संग्रह ५.२३

वाग्भट्ट द्वितीय

आदिमध्यान्तवर्त्येकपदार्थेनार्थसंगतिः।
वाक्यस्य यत्र जायेत तदुक्त दीपकं यथा। —वाग्भटालंकार ४.६६

अप्पयदीक्षित

वदन्ति वर्ण्यावर्ण्यानां धर्मैक्यं दीपकं बुधाः। —कुवलयानन्द ४८

केशवमिश्र

समस्तवाक्योपकारकत्वं दीपकम्। अलंकार शेखर पृ० ३७

पंडितराज जगन्नाथ

प्रकृतानामप्रकृतानां चैकसाधारणधर्मान्वयो दीपकम्।
रसगंगाधर भाग ३ पृ० ४६

चिरञ्जीव

अवर्ण्यानां च वर्ण्यानां धर्मैक्ये सति दीपकम्॥ —काव्यविलास २.३०

नरेन्द्रप्रभसूरि

धर्मो यद् दीपयत्येकः प्रस्तुताप्रस्तुतान्बहून्।
क्रियाः वा भूयसीरेकं कारकं तत्तु दीपकम्॥ —अलंकार महोदधि ८.३६

भावदेवसूरि

प्रकृतेतरधर्माणां तुल्यत्वे सति दीपकम्। —काव्यालंकार संग्रह ६.१५

नरसिंह कवि

प्रकृतानां चेतरेषामौपम्यं गम्यते यदि ।
समानधर्मसम्बन्धाद्दीपकं तत्तु षड्विधम् ।।

—नञ्राजयशोभूषण पृ० १६८

विश्वेश्वर

प्रकृताप्रकृतानां यद्येकान्वयितास्ति दीपकं तत्स्यात् ।

—अलंकार मुक्तावली २२

श्रीकृष्णब्रह्मतन्त्र परकालस्वामी

तद्दीपकं स्याद्यद्वर्ण्यावर्ण्ययोरेकधर्मता ।। —अलंकार मणिहार ६५

दृष्टान्त

दृष्टान्त अलंकार की चर्चा हमें सर्वप्रथम आचार्य उद्‌भट के काव्यालंकार सारसंग्रह में मिलती है। इनके अनुसार प्रस्तुत अर्थ के प्रतिपादन (पुष्टि) के लिए सुस्पष्ट सदृश अर्थ (प्रतिबिम्ब) का निर्देश इस अलंकार में किया जाता है, किन्तु इसमें यथा इव आदि उपमा-वाचक पदों का प्रयोग नहीं होता। उद्‌भट के टीकाकार इन्दुराज ने **दृष्टान्त** के स्थान पर **काव्य दृष्टान्त** पद का प्रयोग किया है। परवर्ती आलंकारिकों में वामन हेमचन्द्र संघरक्खित शौद्धोदनि केशवमिश्र एवं पंडितराज जगन्नाथ को छोड़कर शेष सभी आलंकारिकों ने इसे स्वीकार किया है। उद्‌भट ने यद्यपि इस अलंकार के लक्षण में प्रति-बिम्बन शब्द का प्रयोग किया था, तथापि उस समय लक्षण में बिम्ब-प्रतिबिम्बभाव के रूप में इसे ग्रहण किया था इसमें सन्देह है। उद्‌भट के तत्काल उत्तरवर्ती रुद्रट कुन्तक के दृष्टान्त लक्षण में प्रतिबिम्बन की कोई चर्चा नहीं है। मम्मट ने पुनः लक्षण में प्रतिबिम्बन शब्द का प्रयोग किया है। रुय्यक ने प्रतिबिम्बन का स्पष्ट रूप से बिम्बप्रतिबिम्ब-भाव के रूप में व्याख्यान किया है। भोज ने दृष्टान्त अलंकार को स्वतन्त्र रूप से स्वीकार न कर साम्य अलंकार के भेद के रूप में स्वीकार किया है।

जैसा कि प्रतिवस्तूपमा अलंकार के प्रकरण में स्पष्ट किया जाएगा कि प्रतिवस्तूपमा में प्रस्तुत और अप्रस्तुत में वस्तुप्रतिवस्तु भाव होता है तथा दो वाक्यों के बीच औपम्य गम्यमान रहता है।

दृष्टान्त अलंकार में भी दो वाक्यों में औपम्य गम्यमान रहता है; किन्तु दोनों में अन्तर यह है कि दृष्टान्त में बिम्ब प्रतिबिम्बभाव से साधारण धर्म का निर्देश होता है, प्रतिवस्तूपमा की भांति वस्तुप्रति-वस्तुभाव से नहीं। प्रतिवस्तूपमा में कवि की दृष्टि दो धर्मियों के साधारण धर्म के वस्तुत: एक होने की ओर केन्द्रित होती है। पर दृष्टान्त में धर्म और धर्मी का पूरा वर्णन एक बिम्ब बनकर उभरता है। इस प्रकार यहाँ धर्म और धर्मी का ही बिम्ब प्रतिबिम्ब अभीष्ट रहता है। विमर्शिनीकार के अनुसार प्रतिवस्तूपमा में बिशेष कथन की कामना से प्रकृत अर्थ के सदृश अप्रकृत का निबन्धन किया जाता है, जबकि दृष्टान्त में प्रतीति को विशद सुस्पष्ट करने के लिए और अस्पष्टता को दूर करने के लिए सदृश प्रकृत का उपादान किया जाता है कि ऐसा वृत्तान्त अन्यत्र भी विद्यमान है। फलत: दृष्टान्त में अस्पष्टता के निराकरण के अतिरिक्त प्रकृत के लिए अप्रकृत का कोई उपयोग नहीं होता।

विमर्शिनीकार ने दृष्टान्त के अन्य अलंकारों से भेद की चर्चा करते हुए 'केचित्' पद से उपक्रम करते हुए किन्हीं दो आचार्यों का अभिमत दिया है कि वे दृष्टान्त में समर्थ्य समर्थक भाव स्वीकार करते हैं, जो अन्य अलंकारों से इसका भेदक है। किन्तु उनके अनुसार यह पक्ष ठीक नहीं है। क्योंकि दो सदृश विशेष पदार्थों में समर्थ्य समर्थक भाव नहीं हो सकता। यदि कदाचित् समर्थ्य समर्थक भाव स्वीकार किया जा सके तो इसे अर्थान्तरन्यास अलंकार से पृथक् करना संभव नहीं होगा।

जयरथ के अनुसार कुछ आचार्य आर्थ औपम्य में सामान्य का शुद्ध सामान्य रूप प्रतिवस्तूपमा में तथा बिम्बप्रतिबिम्ब भाव के रूप में दृष्टान्त में रहता है, इस आधार पर भेद करते हैं। किन्तु यह भेदक तत्त्व भी ठीक नहीं है। क्योंकि इस स्थिति में औपम्य रूप उपमा का सामान्य लक्षण यहाँ भी विद्यमान होने से इसे उपमा से पृथक सिद्ध करना कठिन होगा। साथ ही यदि सामान्य धर्म के स्वरूप में यत्किञ्चित् भेद के आधार पर अलंकार भेद मानना चाहें तो सभी अलंकारों के भेद प्रभेदों को स्वतन्त्र अलंकार मानना आवश्यक

हो जाएगा। वस्तुतः इस अलंकार में दोनों वाक्यों में परस्पर निरपेक्षता रहती है केवल प्रकृत के अर्थ की विस्पष्टता इस अलंकार का प्रयोजन है।

मूल लक्षण

उद्भट

इष्टस्यार्थस्य विस्पष्टप्रतिबिम्बनं निदर्शनम्।
यथेवादिपदैः शून्यं बुधैः दृष्टान्त उच्यते।

—काव्यालंकार सार संग्रह ६.८

रुद्रट

अर्थविशेषः पूर्वं यादृङ् न्यस्तो विवक्षितेतरयोः।
तादृशमन्यं न्यस्येद् यत्र पुनः सोऽत्र दृष्टान्तः। —काव्यालंकार ८६.४

भोज

साम्य अलंकार में अन्तर्भाव। देखिये साम्य अलंकार

कुन्तक

वस्तुसाम्यं समाश्रित्य यदन्यस्य प्रदर्शनम्।
दृष्टान्तनामालंकारः सोऽयमत्राभिधीयते॥ —वक्रोक्ति जीवित ३.३८

मम्मट

दृष्टान्तः पुनरेतेषां सर्वेषां प्रतिबिम्बनम्।

—काव्यप्रकाश सू० १५५ का० १०८

रुय्यक

तस्यापि बिम्बप्रतिबिम्बभावतया निर्देशे दृष्टान्तः।

—अलंकार सर्वस्व सूत्र २६

वाग्भट्ट (प्रथम)

प्रस्तुतार्थप्रसिद्ध्यै निदर्शनं दृष्टान्तः। —काव्यानुशासन पृ० ४१

शोभाकर मित्र

प्रतिबिम्बेन दृष्टान्तः। —अ० रत्ना० १७

जयदेव

चेद् बिम्बप्रतिबिम्बत्वं दृष्टान्तस्तदलंकृतिः। —चन्द्रालोक ५.५४

विद्यानाथ

यत्र वाक्यद्वये बिम्बप्रतिबिम्बतयोच्यते।
सामान्यधर्मो वाक्यज्ञैः स दृष्टान्तो निगद्यते। —प्रतापरुद्रीयम् ८.१८३

विद्याधर

बिम्बप्रतिबिम्बत्वं यद्युपमानोपमेययोर्भवति ।
धर्मस्यापि तदानीं दृष्टान्तः कथ्यते द्विविधः ॥ —एकावली ८.१८

विश्वनाथ

दृष्टान्तस्तु सधर्मस्य वस्तुनः प्रतिबिम्बनम् ॥ —सा० द, १०.५०

वाग्भट (द्वितीय)

अन्वयख्यापनं यत्र क्रियया स्वतदर्थयोः ।
दृष्टान्तं तमिति प्राहुरलंकारं मनीषिणः । —वाग्भटा० ४.८२

अप्पयदीक्षित

चेद्बिम्बप्रतिबिम्बत्वं दृष्टान्तस्तदलंकृतिः । —कुवलया० ५२

पंडितराज जगन्नाथ

प्रकृतवाक्यार्थघटकानामुपमादीनां साधारणधर्मस्य च बिम्बप्रतिबिम्बभावे दृष्टान्तः । —रसगं० भा० ३ पृ० ११३

चिरञ्जीव

चेद् बिम्बप्रतिबिम्बत्वं दृष्टान्तालंकृतिस्तदा । —काव्यविलास १.३०

नरेन्द्रप्रभसूरि

दृष्टान्तोऽसौ विशेषाङ्के यद्वा सामान्यशालिनी ।
वाक्ये धारयते यस्मिन्नन्योन्यप्रतिबिम्बनम् ॥ —अलं० महो० ३६

भावदेवसूरि—केवल उदाहरण

नरसिंह कवि

यत्र वाक्यद्वये बिम्बप्रतिबिम्बतयोच्यते ।
सामान्यधर्मो वाक्यज्ञैः स दृष्टान्तो निरुच्यते । —नञ्राज० पृ० १६६

श्रीकृष्णब्रह्मतन्त्र परकाल स्वामी

बिम्बत्वप्रतिबिम्बत्वापन्नधर्मादिकं द्वयोः ।
वाक्यार्थयोश्चेदौपम्यमार्थं दृष्टान्त ईर्यते ॥ —अलं० मणि० ६८

विश्वेश्वर

साधारणस्य साम्यप्रतियोग्यनुयोगिनो यत्र ।
निर्देशः स्यात् बिम्बप्रतिबिम्बतया स दृष्टान्तः । —अलं० मुक्ता० २१

भट्ट देवशंकर

वर्ण्यावर्णीयधर्माणां चेद् बिम्बप्रतिबिम्बना ।
भासते सा बुधैः प्रोक्ता दृष्टान्तालंकृतिस्तदा । —अलं मञ्जूषा ३४

बेणीदत्त

गम्यते यदि सादृश्यं प्रणिधानवशाद् द्वयोः ।
दृष्टान्तनामालंकारस्तदा विद्भिरुदीर्यते ।। —ग्रलं० मञ्ज० ९१

दैवक

दैवक अलंकार को केवल भावदेवसूरि ने स्वीकार किया है। उनके अनुसार जहाँ काव्य में **दैव (भाग्य)** का निबन्धन चारुत्व का सृजन कर रहा हो, तो वहां **दैवक अलंकार** मानना चाहिए।

दवभीत्यां वनं हित्वा लीलासरसि पद्मिनी ।
तत्र दग्धा हिमेनालि ! [सावश्यं भावि दैवकम् ।।]

प्रस्तुत पद्य में दावानल के भय से वन छोड़कर लीला सरोवर में जाकर रहने वाली पद्मिनी का दैववश विनाश निबद्ध होने से इसमें अथवा इस प्रकार के काव्यों में भावदेवसूरि के अनुसार **दैवक अलंकार** मानना चाहिए।

मूल लक्षण

भावदेवसूरि

अवश्यं भावि दैवकम् । —काव्यालंकार सार संग्रह ६.३६

निदर्शना

निदर्शना अलंकार प्राचीनतर अलंकारों में से एक है। इसका उल्लेख विष्णुधर्मोत्तर पुराण में भी मिलता है। उक्त पुराण के अनुसार उपमान के साथ वस्तु अर्थात् वाक्यार्थ का दर्शन होने पर **निदर्शना** अलङ्कार होता है। दण्डी के अनुसार किसी कार्यान्तर में प्रवृत्त होने पर आनुसङ्गिक रूप से अन्य फल की उपलब्धि अर्थात् अन्य कार्य की सिद्धि होने पर **निदर्शना** अलंकार होता है। जैसे सूर्य उदित होता हुआ कमलों को भी शोभा प्रदान कर देता है, जिससे यह विदित होता है कि ऋद्धियां सुहृज्जनों की कृपा का फल है। दण्डी के इस निदर्शना लक्षण का समर्थन शिलामेघसेन एवं संघरक्षित को छोड़कर किसी भी परवर्ती आचार्य ने नहीं किया है।

भामह ने इव आदि उपमावाचक पदों के बिना अर्थात् औपम्य

के गम्यमान होने पर कार्य के माध्यम से ही विशिष्ट अर्थ का प्रदर्शन निदर्शना अलंकार माना है। वामन ने इस अलंकार के प्रसंग में भामह का ही अनुगमन किया है। उद्भट ने इस अलंकार की चर्चा **विदर्शना** नाम से की है। उनके अनुसार वस्तु सम्बन्ध के अभाव में भी जहां सम्बन्ध की कल्पना करते हुए उपमानोपमेय भाव का निबन्धन किया जाता है वहां **विदर्शना** अलंकार होता है। मम्मट रुय्यक आदि आचार्यों ने स्वरूप निर्देश के प्रसंग में उद्भट का अनुसरण करते हुए भी **विदर्शना** नाम स्वीकार न करके **निदर्शना** नाम से ही इसको लक्षित कराया है।

इस अलंकार को भरत अग्नि पुराणकार रुद्रट कुन्तक वाग्भट (द्वितीय) शौद्धोदनि केशवमिश्र और भावदेवसूरि के अतिरिक्त प्रायः सभी आचार्यों ने स्वीकार किया है।

दृष्टान्त अलंकार के समान ही निदर्शना अलंकार में भी औपम्य गम्यमान रहता है। साथ ही इसमें भी दो वाक्यार्थों में बिम्बप्रतिबिम्ब भाव रहा करता है। अन्तर केवल यह है कि **दृष्टान्त अलंकार** में बिम्बप्रतिबिम्ब भाव युक्त दोनों वाक्य परस्पर निरपेक्ष भाव से काव्य में निबद्ध रहते हैं, जब कि निदर्शना अलंकार में प्रकृत (उपमेय) वाक्यार्थ पर अप्रकृत (उपमान) वाक्यार्थ का आरोप किया जाता है, और इसी कारण दोनों वाक्य समानधिकरण अर्थात् समान विभक्ति में रहते हैं। उनमें (पदार्थ की स्थिति में उन पदार्थों में) अन्वय की भावना नहीं होने पर उन वाक्यार्थों में सम्बन्धानुपपत्तिमूला अन्यथा सम्बन्धोपपत्तिमूला निदर्शना होती है।

निदर्शना और दृष्टान्त में विश्वनाथ के अनुसार एक अन्तर यह भी है कि निदर्शना में पहले बिम्ब प्रतिबिम्ब भाव का आक्षेप होता है, तब वाक्यार्थ पर्यवसित होता है; जबकि दृष्टान्त में पहले वाक्यार्थों की प्रतीति होती है, तथा उसके बाद बिम्ब प्रतिबिम्बभाव का ज्ञान होता है।

मूल लक्षण

भामह—क्रिययैव विशिष्टस्य तदर्थस्योपदर्शनात्।
ज्ञेया निदर्शना नाम यथेववतिभि विना। —काव्यालंकार ३.३३

उद्‌भट्ट

अभवन्वस्तुसम्बन्धो भवन्वा यत्र कल्पयेत् ।
उपमानोपमेयत्वं कथ्यते सा विदर्शना ।

—काव्यालंकार सार संग्रह ५.१०

मम्मट

.........................निदर्शना ।
अभवन्वस्तुसम्बन्ध उपमापरिकल्पकः ।।
स्वस्वहेत्वन्वयस्योक्तिः क्रियर्यैव च सा परा ।।

—काव्यप्रकाश का० ९७-९८, सू० १४९-१५०

रुय्यक

संभवताऽसंभवता वा वस्तुसम्बधेन गम्यमानं प्रतिबिम्बकरणं निदर्शना ।

—अलंकार सर्वस्व २७

हेमचन्द्र

इष्टसिद्ध्यै दृष्टान्तो निदर्शनम् । —काव्यानुशासन सू० ११८,६-६

शोभाकर मित्र

असति सम्बन्धे निदर्शना । —अलंकार रत्नाकर १८

जयदेव

वाक्यार्थयोः सदृशयोरैक्यारोपो निदर्शना । —चन्द्रालोक ५-५६

विद्यानाथ

असंभवद्धर्मयोगादुपमानोपमेययोः ।
प्रतिबिम्बक्रिया गम्या यत्र सा स्यान्निदर्शना ।। —प्रतापरुद्रीयम्

संघरक्खित

अत्थन्तरं साधयता किंचि तं सदिसं फलं ।
दस्सियते असन्तं वा सन्तं वा तं निदस्सनं ।। —सुबोधालंकार ३०६

विद्याधर

प्रतिबिम्बनस्य करणं संभवता यत्र वस्तुयोगेन ।
गम्यत्वमसंभवता वा निदर्शना सा द्विधा भिमता । —एकावली ८-.६

विश्वनाथ

सम्भवन्वस्तुसम्बन्धोऽसम्भवन् वापि कुत्रचित् ।
यत्र बिम्बानुबिम्बत्वं बोधयेत्सा निदर्शना ।

—साहित्य दर्पण १०.५१

अमृतानन्द यति

अर्थान्तरमुपन्यस्य किञ्चित्तत्सदृशं यदा ॥
सदसद् वा निदर्श्येत निदर्शनमिदं यथा ॥

—अलंकार संग्रह ५-४६-४७

अप्पयदीक्षित

(क) वाक्यार्थयोः सदृशयोरैक्यारोपो निदर्शना ॥
(ख) पदार्थवृतिमप्येके वदन्त्यन्यां निदर्शनाम् ॥
(ग) अपरा बोधनं प्राहुः क्रिययाऽसत्सदर्थयोः ॥

—कुवलयानन्द ५३,५४,५५

पंडितराज जगन्नाथ

उपात्तयोरर्थयोरार्थाभेद औपम्यपर्यवसायी निदर्शना।

—रसगंगाधर भा. तृतीय पृ० १२२

चिरञ्जीव

वाक्यार्थयोः सदृशयोरैक्यारोपे निदर्शना। —काव्यविलास २.३०

नरेन्द्रप्रभसूरि

वस्तुनोर्योग्यताभावात् सम्बन्धः क्वाप्यसम्भवन् इवार्थाय प्रकल्पेत यस्यां सा स्यान्निदर्शना। —अलंकार महोदधि ८.३४

नरसिंह कवि

(१) अन्यधर्मस्य सम्बन्धाऽसंगतौ वस्तुनोर्द्वयोः।
प्रतिबिम्बनमाक्षिप्तं यत्र तत्र निदर्शना ॥
(२) उपमानक्रियाया उपमेये स्वसदृशक्रियान्तरबोधनमपि निदर्शना विशेषः। —नञ्राजयशोभूषण पृ० २००

वेणीदत्त

उपमाकल्पकं वाक्यं यत्रासंभविनोर्द्वयोः।
शब्दार्थयोः प्रकथनं तत्रैका स्यान्निदर्शना ॥
उपमाकल्पकं वाक्यं यत्रासंभवतो द्वयोः।
अर्थयोस्तत्र भवति द्वितीया तु निदर्शना ॥

—अलंकार मञ्जरी ७४, पृ० १५

भट्टदेव शंकर पुरोहित

वाक्यार्थयोः सदृशयोरभेदो यत्र वर्ण्यते।
तत्र निदर्शना प्रोक्तालङ्कारनयगामिभिः ॥ —अलंकार मञ्जूषा ३५

विश्वेश्वर

उपमापर्यवसन्नो यत्रार्थोऽन्योन्यमन्वयानर्हः ।
यच्च क्रियया कारणकार्यान्वयधीर्निदर्शना सोक्ता ॥

—अलंकार मुक्तावली १७

श्रीकृष्णब्रह्मतन्त्र परकालस्वामी

उपात्तयोरर्थयोश्चेदार्थभेदः प्रकीर्त्यते ।
औपम्यपर्यवसितो भवेत्सेयं निदर्शना ॥ —अलंकार मणिहार ६६

निन्दास्तुति

निन्दास्तुति अलंकार में निन्दा के व्याज से निबद्ध स्तुति चारुत्व का बोध कराती है। अधिकांश आलंकारिकों ने इसे **व्याजस्तुति** नाम से स्वीकार किया है [देखें **व्याजस्तुति** प्रकरण]। केवल विष्णु धर्मोत्तर पुराणकार एवं काव्यविलासकार चिरञ्जीव ने **निन्दा-स्तुति** नाम दिया है। संघरक्षित ने व्याज वर्णन (व्याजवण्णन) नाम से इसकी चर्चा की है। विष्णुधर्मोत्तर पुराण के अनुसार निन्दा व्याज से स्तुति के समान ही स्तुति के रूप से यदि निन्दा की गयी है तो वहां भी **निन्दास्तुति** अलंकार होता है। चिरञ्जीव इस स्थिति में **निन्दास्तुति** नाम न देकर **स्तुतिनिन्दा** नाम देना पसन्द करते हैं।

मूल लक्षण

व्यास

स्तुतिरूपेण या निन्दा निन्दास्तुतिरिहोच्यते ।
निन्दास्तुतिस्तथैवोक्ता निन्दारूपेण या स्तुतिः ॥

—विष्णुधर्मोत्तरपुराण १४.१४

चिरञ्जीव

निन्दास्तुतिरलंकारो निन्दाव्याजेन या स्तुतिः ॥

—काव्यविलास २.३८

संघरक्षित

थुतिं करोति निन्दन्तो वि यं तं व्याजबण्णनम् ।
दोसाभासा गुणा एव यन्ति संनिधिं अत्र हि । —सुबोधालंकार २८१

नियम

मीमांसा शास्त्र में कार्याकार्य की व्यवस्था देने वाले श्रुति वचनों को स्वरूप भेद से तीन प्रकार का माना है विधि, नियम और परिसंख्या। सर्वथा अप्राप्त कार्य की व्यवस्था देने वाले वचनों को **विधि**, पाक्षिक रूप से प्राप्त कार्य की एकत्र पक्ष में व्यवस्था देने वाले वचनों को **नियम** तथा एकत्र विधान द्वारा अन्यत्र निषेध की व्यवस्था देने वाले वचनों को **परिसंख्या** कहा जाता है।

'विधिरत्यन्तमप्राप्तौ नियमः पाक्षिके सति।
तत्र चान्यत्र च प्राप्तौ परिसंख्येति गीयते॥

काव्य में इस प्रकार के व्यवस्था वचनों के निबन्धन को **विधि नियम** एवं **परिसंख्या अलंकार** के नामों से स्मरण किया जाता है। इस प्रकार अन्य निषेधार्थ व्यवस्था वचन का निबन्धन **नियम अलंकार** कहा जाएगा। **नियम अलंकार** को शोभाकर के अतिरिक्त किसी अन्य आलंकारिक ने स्वीकार नहीं किया है। उनके अनुसार शाब्द एवं आर्थ भेद से यह दो प्रकार का हो सकता है।

मूल लक्षण

शोभाकर

अन्यनिषेधार्थोऽपि विधिर्नियमः। —अलंकार रत्नाकर ८३
(अप्राप्तार्थांशप्रापणरूपान्यनिषेधार्थपर्यवसायि तु विधानं नियमः)

निरुक्ति

किसी पद से अर्थ तक पहुंचने के लिए प्रकृति प्रत्यय की कल्पना हेतु किये गये विग्रह वाक्य को **निरुक्ति** कहते हैं। भट्टदेवशंकर अप्ययदीक्षित एवं परकाल स्वामी ने काव्य में चारुत्व की आधायक इस प्रकार की कल्पना के निबन्ध को **निरुक्ति** अलंकार के नाम स्वीकार किया है। इनके अतिरिक्त अन्य किसी आचार्य ने निरुक्ति अलंकार को स्वीकृति नहीं दी है। इनके अनुसार प्रकृति प्रत्यय आदि के योग की कल्पना करके नाम पदों में अन्यार्थत्व की प्रकल्पना को **निरुक्ति अलंकार** कहा जाता है।

'ईदृशैश्चरितैर्जाने सत्यं दोषाकरो भवान्'

इस पद्य में कोई नायिका योगतः निशाकर अर्थ के वाचक 'दोषाकर' पद का 'दोषाणांम् आकरः' इस विग्रह को कल्पना करके 'इस प्रकार के अर्थात् पीड़ादायक तुम्हारे चरित्र से पता चलता है कि तुम सत्य ही दोषाकर हो' कहते हुए चन्द्रमा को उपालम्भ देती है। इस प्रकार निरुक्ति के चारुत्वाधायक होने से इन आचार्यों के अनुसार यहां **निरुक्ति अलंकार** माना जाएगा।

मूल लक्षण

अप्पयदीक्षित

निरुक्तियोगतो नाम्नामन्यार्थत्वप्रकाशनम् ॥ कुवलयानन्द १६४

भट्ट देवशंकर पुरोहित

अर्थान्तरं प्रकल्प्यैव संज्ञाशब्दस्य योगतः ।
यत्किंचिद् वर्ण्यते तत्र निरुक्तिः स्यादलंकृतिः ॥

—अलंकार मञ्जूषा ४२८

श्रीकृष्णब्रह्मतन्त्रपरकाल स्वामी

सा निरुक्तिर्योगतो यन्नाम्नोऽर्थान्तरकल्पनम् ॥

—अलंकार मणिहार १६२

निश्चय

निश्चय अलंकार की उद्भावना शोभाकरमित्र की सूझ है। उनके अनुसार क्रिया अथवा नञ् द्वारा विहित अथवा आशंकित अर्थ का निषेध करना निश्चय कहलाता है। उनके अनुसार इस अलंकार में विशेष अर्थ की प्रतीति अनिवार्य रूप से रहा करती है। **निश्चय अलंकार** तीन प्रकार का है: (१) क्रिया द्वारा विहित का निषेध, (२) नञ् अथवा नञर्थक पद द्वारा विहित का निषेध, तथा (३) आशंकित का निषेध।

विश्वनाथ ने **निश्चय अलंकार** के लक्षण के प्रसंग में न तो निषेध्य के विधान प्रकार अर्थात् क्रिया अथवा नञ् द्वारा विहित अथवा आशंकित होने की चर्चा की है और न विशेषार्थ प्रतीति की ओर कोई स्पष्ट संकेत किया है। विश्वनाथ का यह निश्चय

अपह्नुति के ठीक विपरीत है, जिसमें प्रकृत का निषेध करके अन्य की स्थापना की जाती है, जबकि शोभाकर मित्र का निश्चय **आक्षेप अलंकार** के पर्याप्त निकट है। दोनों में अन्तर यह है कि **आक्षेप अलंकार** में निषेध का आभास होता है एवं **निश्चय अलंकार** में पूर्ण निषेध होता है।

'वदनमिदं न सरोजं नयने नेन्दीवरे एते।
इह सविधे मुग्धदृशो भ्रमर मुधा किं परिभ्रमसि ॥'

इस पद्य में भ्रान्तियुक्त मधुकर के भ्रमण के द्वारा मुख पर आशंकित इन्दीवरत्व का निषेध किया गया है, जिससे मुख में सौन्दर्यातिशय की प्रतीति होती है। यहां मुख आदि ही प्रकृत है, जिनका स्थापन अन्य सरोज आदि का निषेध करते हुए किया गया है।

हृदि विसलताहारो नायं भुजंगमनायकः
कुवलयदलश्रेणी कण्ठे न सा गरलद्युतिः।
मलयजरसो, नेदं भस्म, प्रियारहिते मयि
प्रहर न हरभ्रान्त्याऽनङ्ग ! क्रुधा किमु धावसि ॥

इस पद्य में हर की भ्रान्ति से प्रहार करने के लिए 'धावन' क्रिया के कथन द्वारा अभिहित भुजलता के भुजंगमत्व का, कुवलय दल पर गरलद्युतित्व का, मलयज रज के लिए भस्मत्व का निषेध करते हुए प्रकृत विसलता-हार आदि का स्थापन किया गया है। इस प्रकार यहां **निश्चय अलंकार** का द्वितीय प्रकार है।

अन्य अलंकारों से निश्चय अलंकार की पृथक्ता के प्रसंग में स्मरणीय है कि **सन्देह अलंकार** के **निश्चयान्त सन्देह** नामक भेद में निश्चय का निबन्धन होने से दोनों में अभेद की आशंका हो सकती है; किन्तु उसका समाधान यह है कि **सन्देह** अलंकार में उभय प्रकारक ज्ञान एक आश्रय में ही रहा करता है; जबकि प्रस्तुत **निश्चय अलंकार** के उदाहरण में सरोजत्व आदि विषयक भ्रान्ति भ्रमर में है एवं मुख आदि का निश्चय नायक में हैं। भ्रमर के भ्रान्ति युक्त होने के कारण ही वह मुख को कमल समझता हुआ मुख की ओर आकृष्ट होता हुआ निबद्ध किया गया है।

इसी प्रकार यहां प्रकृत में **अप्रकृत** की भ्रान्ति होने से यहां **भ्रान्तिमान्** अलंकार होने का भी सन्देह हो सकता है। किन्तु वस्तुतः यहां **भ्रान्तिमान्** अलंकार है नहीं। क्योंकि भ्रान्तिमान् अलंकार वहां होता है जहां वाक्यगत चमत्कार भ्रान्ति पर आश्रित हो। प्रस्तुत पद्य में चमत्कार भ्रान्ति पर आश्रित न होकर नायक के तद्विषयक निषेध कथन में है। इसके साथ ही भ्रमर पतन अथवा भ्रमर में भ्रान्ति की विवक्षा न होने पर भी केवल प्रेयसी की चाटु के लिए भी अप्रकृत का निषेध करके प्रकृत की स्थापना की संभावना हो सकती है, और उस स्थिति में भी **निश्चय** अलंकार हो सकता है, जबकि उस स्थिति में भ्रान्तिमान् की सम्भावना किञ्चित् मात्र भी न होगी। अतः निश्चय अलंकार भ्रान्तिमान् और निश्चयान्त सन्देह से सर्वथा भिन्न है।

निश्चय अलंकार का **रूपक ध्वनि** में भी अन्तर्भाव नहीं किया जा सकता, क्योंकि रूपक ध्वनि में आरोप के आधार पर मुख को कमल के रूप में निर्धारित किया जाता है, जबकि निश्चय अलंकार में कमल के रूप में निर्धारण का ही स्पष्ट निषेध निबद्ध होता है।

निश्चय अलंकार का अन्तर्भाव **अपह्नुति अलंकार** में भी नहीं कर सकते क्योंकि अपह्नुति में प्रकृत का निषेध होता है, तथा यहाँ प्रकृत का स्थापन। अतः दोनों में अभेद स्वीकार नहीं किया जा सकता।

निश्चय अलंकार भी अन्य अलंकारों के समान कवि प्रतिभोत्थापित सन्देह या भ्रान्ति के निवारण पूर्वक प्रकृत के स्थापना के वैचित्र्य पर निर्भर है। अतः लौकिक वाक्य 'यह सीप है रजत नहीं' इत्यादि में निश्चय का निबन्धन होते हुए भी **निश्चय अलंकार** नहीं माना जाएगा, क्योंकि इस वाक्य में वाग्वैचित्र्य का सर्वथा अभाव है।

मूल लक्षण

शोभाकर मित्र

विहितस्याशंकितस्य वा विशेषावगमाय निषेधो निश्चयः।

—अलं० रत्ना० ४७

विश्वनाथ

अन्यन्निषिध्य प्रकृतस्थापनं निश्चयः। —सा० द० १०.३६

परभाग

परभाग अलंकार को केवल शोभाकर मित्र ने ही स्वीकार किया है। उनके अनुसार स्वरूपमात्र से अवगत वस्तु का सदृश-वस्त्वन्तर के सहचार के अवसर पर उससे भिन्नता की प्रतीति होना **परभाग अलंकार** कहाता है। क्योंकि सदृश वस्त्वन्तर से भेद की अनुभूति दोनों वस्तुओं के सामान्य धर्म के ज्ञान के साथ उसके विशेष धर्म का ज्ञान होने पर ही हो सकती है, अतः विशेष अंश का विवेक ही इस अलंकार का जीवातु है।

परभाग अलंकार के चार प्रकार हो सकते है—सद्वस्त्वन्तर से सद्वस्तु का भेद विवेक, असद् वस्त्वन्तर से सद् वस्तु का भेद विवेक, असद् वस्त्वन्तर से असद् वस्तु का भेद विवेक, एवं वस्त्वन्तर की तुच्छता की प्रतीति।

दृश्यन्ते मानसोत्तंसाः कलहंसाः यदि क्वचित्।
गतौ चरणयोस्तस्याः प्रेक्ष्यते यावदन्तरम्॥

प्रस्तुत पद्य में हंसदर्शन होने पर ही कामिनी की गति वैशिष्ट्य की प्रतीति की सम्भावना का निबन्धन होने से शोभाकर के अनुसार यहाँ और इस प्रकार के काव्यों में **परभाग अलंकार** माना जाएगा।

मूल लक्षण

शोभाकर

अनुभूतस्यार्थस्यारोपलब्धौ परभागः। —अलं० रत्ना० १००

~~परभाग~~ परिकर

परिकर अधिक प्राचीन अलंकार नहीं है। इसकी सर्वप्रथम उद्भावना आचार्य **रुद्रट** ने की थी और विशेषणों के साभिप्रायत्व को इसका लक्षण स्वीकार किया था [साभिप्रायैः सम्यग्विशेषणैः वस्तु यद् विशिष्येत। द्रव्यादिभेदभिन्नं चतुर्विधः परिकरः सः। का० अ०

७.७२]। परवर्ती आलंकारिकों में इसे भोज [स० क० ४.७४-७८] मम्मट [का० प्र० ११८] रुय्यक [अ० स० ३२] शोभाकर [अ० र० ४५] जयदेव [चन्द्रा० ५.३६] विद्यानाथ [प्रताप ८.१६४] विद्याधर [एका० ८.२४] विश्वनाथ, अप्पयदीक्षित [कुव० ६२] चिरंजीव [का० वि० २.२४] तथा नरसिंह कवि [नञ्राज० पृ० २०३] ने स्वीकार किया है। उपर्युक्त आलंकारिकों में रुद्रट, मम्मट एवं विद्याधर ने इस अलंकार का लक्षण करते हुए विशेषण पद को बहुवचन में प्रयुक्त किया है, जिसका तात्पर्य यह हो सकता है कि ये अनेक विशेषणों के साभिप्राय होने पर ही **परिकर अलंकार** मानना चाहते हैं, यदि कदाचित् एक ही साभिप्राय विशेषण प्रयुक्त है, तो वहाँ **परिकर** अलंकार नहीं होना चाहिए। मम्मट एवं जयरथ तो स्पष्ट रूप से स्वीकार करते हैं कि विशेषणों का अनेकत्व आवश्यक है।" विशेषणैर्यत्साकूतैरुक्तिः परिकरस्तु सः [का० प्र० का० ११८] यद्यप्यपुष्टार्थस्य दोषताभिधानात्तन्निराकरणेन पुष्टार्थस्वीकारः कृतः, तथाप्येकनिष्ठत्वेन बहूनां विशेषणानामेवमुपन्यासे वैचित्र्यमित्यलंकारमध्ये गणितः । [का० प्र० वृत्ति पृ० ७६३] । विशेषणानां चात्र बहुत्वमेव विवक्षितम् । अन्यथा ह्यपुष्टार्थस्य दोषत्वाभिधानात् तन्निराकरणेन स्वीकृतस्य पुष्टार्थस्यायं विषयः स्यात् । एवमेवंविधानेकविशेषणोपन्यासुद्वारेण वैचित्र्यातिशयः सम्भवतीत्यस्यालंकारस्यालंकारत्वम् [विमर्शिनी पृ० १२०]।

इनके अतिरिक्त प्रायः अन्य सभी आलंकारिक लक्षण वाक्य में विशेषण पद का एकवचन में ही प्रयोग करते हैं, अतः यह मानने में कोई आपत्ति नहीं होनी चाहिए कि उनके मत में विशेषणों के बहुत्व का महत्त्व नहीं है। साथ ही गोविन्द ठक्कुर, नागेश एवं पण्डितराज जगन्नाथ ने स्पष्ट शब्दों में विशेषण बहुत्व को अनावश्यक बताया था। उनके अनुसार एक साभिप्राय विशेषण के रहने पर भी परिकर अलंकार हो सकता है "तादृशैकविशेषणोपन्यासेऽपि अलंकारत्वमुचितम् । अपुष्टार्थत्वविरहस्य निर्विशेषणतयाऽप्युपपत्तेरर्थसिद्धत्वाभावात्, वैचित्र्यस्य चानुभवसिद्धत्वात् [काव्यप्रदीप १०८]। यथा नित्ये सन्ध्यावन्दनादौ दोषाभावस्याङ्गवैकल्येऽपि सिद्धौ साङ्गतत्करणं फलातिशयायैव, तथा दोषाभावस्य विशेषणानुपादानेऽपि

सम्भवेन साभिप्रायैकविशेषणनिबन्धनश्चमत्कारो दुरपह्नव इति भावः। किं च "सुधांशु कलितोत्तंसस्तापं हरतु वः शिवः" इत्यादौ यत्र सुधांशुकलितोत्तंस इति विशेषणाभावेऽपि तापहरणसामर्थ्यस्य सामर्थ्यातिशयेनाप्युपपत्तेस्तद्विशेषणानुपादानेऽपि न क्षतिस्तत्र तद्विशेषणोपादानमधिकचमत्कारायैवेति बोध्यम्। [उद्योत पृ० १०८]।

पण्डितराज जगन्नाथ विशेषणबहुत्व आवश्यक नहीं मानते हैं उनका कहना है कि यह कल्पना करना कि निष्प्रयोजन विशेषण का प्रयोग तो अपुष्टार्थत्व दोष कहा जाता है, अतः स प्रयोजन (साभिप्राय) विशेषण तो दोषाभाव मात्र है, अलंकार नहीं। और इसीलिए विमर्शिनीकार जयरथ आदि का यह कहना कि इस अलंकार में विशेषण का बहुत्व विवक्षित है, फलतः अनेक साभिप्राय विशेषणों के रहने पर ही वैचित्र्य उत्पन्न होता है, केवल एक विशेषण रहने पर केवल दोषाभाव मात्र होगा अलंकार नहीं, इत्यादि उचित नहीं है। विशेषणों का अनेकत्व व्यंग्याधिक्य का आधायक होने से वैचित्र्य विशेष का आधायक भले ही हो किन्तु यह बहुत्व इस अलंकार के स्वरूप के रूप में स्वीकार नहीं किया जा सकता। उदाहरणार्थ—

वाचिक्षालितकालियाहितपदे स्वर्लोककल्लोलिनि।
त्वं तापं तिरयाधुना भवभयव्यालावलीढात्मनः'॥

पद्य में एक विशेषण ही चमत्कार के लिए पर्याप्त है।

इसी प्रकार—

अयि लावण्यजलाशय तस्याहा हन्त मीननयनायाः।
दूरस्थे त्वयि किं वा कथयामो विस्तरेणालम्॥

इस पद्य में भी एक विशेषण ही सम्पूर्ण वाक्यार्थ में चमत्कार उत्पन्न करने के लिए पर्याप्त है।

'ननु निष्प्रयोजनविशेषणोपादानेऽपुष्टार्थदोषस्योक्तत्वात् सप्रयोजनविशेषणं दोषाभावमात्रं कष्टत्वाद्यभाववद् भवितुमर्हति, नत्वलंकार इति। अत्र विमर्शिनीकारादय आहुः—'विशेषणानां बहुत्वमत्र विवक्षितम्। साभिप्रायविशेषणगतबहुत्वकृत एव चात्र वैचित्र्यातिशयः। एकविशेषणं तु दोषाभावमात्रस्यावकाशः' इति। तदसत्। विशेषणानेकत्वं हि व्यंग्याधिक्याधायकत्वाद् वैचित्र्यविशेषा-

धायकमस्तु नाम। न तु प्रकृतालंकारशरीरमेव तदिति शक्यं वक्तुम्। 'वीचिक्षालितकालियाहितपदे इत्यादि, प्रागुक्ते एकस्यैव विशेषणस्य चमत्कारितया अनपह्नवनीयत्वात्। 'अयि लावण्यजलाशय तस्या हाहन्त मीननयनायाः। दूरस्थे त्वयि किंवा कथयामो विस्तरेणालम्॥ अत्रैकैकविशेषणमात्रेणैव सकलवाक्यार्थसंजीवनाच्च [रसगं० भा० ३ पृ० २८५]।

भोज इस अलंकार का दूसरा नाम एकावली कहते हैं। क्योंकि उनके अनुसार अन्य आचार्यों द्वारा स्वीकृत एकावली अलंकार परिकर से भिन्न नहीं है [एकावलीति या सापि भिन्ना परिकरान्नहि स० कं० ४.७८]।

परिकर भेद :—परवर्ती आलंकारिकों में अप्पयदीक्षित के अतिरिक्त किसी आलंकारिक ने इसके भेद प्रभेद की कल्पना नहीं की है। इसके उद्भावक आचार्य रुद्रट ने द्रव्य गुण क्रिया एवं जाति भेद से इसके चार भेद बताये थे। भोज ने क्रिया, कारक, सम्बन्धि, साध्य, दृष्टान्त तथा वस्तुभेद से प्रथम ६ भेद करते हुए उनमें व्याकरण पर आश्रित कृत् अव्यय आदि उन्नीस अन्य भेद गिनाए हैं। अतः उनके अनुसार यह अलंकार पच्चीस प्रकार का हो सकता है। इसके अतिरिक्त उपर्युक्त भेदों में भी शब्द अर्थ और शब्दार्थोभय भेद से तीन तीन भेद हो सकते हैं। अतः उनके मत में परिकर अलंकार के पचहत्तर भेदों की कल्पना की जा सकती है। अप्पयदीक्षित ने इसके प्रथम एक विशेषण और अनेक विषेषण भेद करते हुए एक विशेषण परिकर में भी एक अभिप्रायगर्भ पदार्थरूप एवं भिन्न अभिप्रायगर्भ वाक्यार्थ रूप दो प्रभेद किये हैं।

परिकर अलंकार में विशेषण साभिप्राय होता है। किन्तु यदि विशेषण के स्थान पर विशेष्य ही साभिप्राय हो तो विद्याधर, अप्पयदीक्षित एवं चिरंजीव के अनुसार परिकरांकुर नामक स्वतन्त्र अलंकार होता है [तादृक् किमपि विशेष्यं साभिप्रायत्वमश्नुते यत्र। परिकरांकुर नामालंकारः कीर्त्तितः कविभिः। एकावली ८.२५], साभिप्राये विशेष्ये तु भवेत्परिकरांकुरः। कुव० ६३ एवं काव्य वि० २.२४]। उद्योतकार नागेश ने परिकर के लक्षण में विशेषण पद को विशेषण और विशेष्य दोनों का उपलक्षण माना है अतः उनके अनुसार वह

परिकर से भिन्न नहीं हैं [अत्र विशेषणैरित्युपलक्षणं विशेष्यस्यापि। तेन साभिप्राये विशेष्येऽप्ययम्। यथा 'चतुर्णाम्' इत्यत्र। अत्र चतुर्भुज इति विशेष्यं पुरुषार्थचतुष्टयदानसामर्थ्याभिप्रायगर्भम्। बाहुलकलभ्य कर्मल्युडन्तकरणल्युडन्तविशेषणशब्दयोरेकशेषो वा उक्तिरित्यस्यार्थकथनमित्येवार्थः। एतेन 'साभिप्राये विशेष्ये परिकरांकुरो नामभिन्नोऽलङ्कार इत्यपास्तम्'॥ उद्योत पृ० १०८]।

इस अलंकार के उदाहरण के रूप में कुमारसंभवगत निम्नलिखित पद्य देख सकते हैं—

तव प्रसादात्कुसुमायुधोऽपि सहायमेकं मधुमेव लब्ध्वा।
कुर्यां हरस्यापि पिनाकपाणेः धैर्यच्युतिं के मम धन्विनोऽन्ये॥
[कु० सं० ३.१०]

इस पद्य में 'कुसुमायुध' पद साभिप्राय है और इस पद का चमकार पद्य को चमत्कृत कर रहा है।

इसी प्रकार :—

"अङ्गराज ! सेनापते ! राजवल्लभ ! द्रोणोपहासिन् ! कर्ण ! साम्प्रतं रक्षैनं भीमाद् दुःशासनम्"। [वेणीसंहार ३.४०]

इस वाक्य में विशेष्य कर्ण के लिए प्रयुक्त हो रहे अङ्गराज आदि विशेषण विशेष प्रयोजन के लिए निबद्ध किये गये हैं। अतः यहां भी परिकर अलंकार होगा।

मूल लक्षण

रुद्रट

साभिप्रायैः सम्यग्विशेषणैर्वस्तु यद्विशिष्येत।
द्रव्यादिभेदभिन्नं चतुर्विधः परिकरः स इति। —काव्यालंकार ७.७२

भोज

क्रियाकारकसम्बन्धिसाध्यदृष्टान्तवस्तुषु।
क्रियापदाद्युपस्कारमाहुः परिकरं बुधाः॥
क्रियायथा समासेन, तथा कृत्तद्धितादिभिः।
विशेष्यते तदाहुस्तं क्रियापरिकरं परम्॥
क्रियाविशेषणं कैश्चित् संबोधनमपीष्यते।
सम्बन्धिभिः पदैरेव लक्ष्यन्ते लक्षणादयः॥

उपमारूपकादीनां शब्दार्थोभयभङ्गिभिः।
साधर्म्योत्पादनं यत्तमन्ये परिकरं विदुः।
एकावलीति या सापि भिन्ना परिकरान्नहि।

—सरस्वती कण्ठाभरण ४.७४-७८

मम्मट

विशेषणैर्यत्साकूतैरुक्तिः परिकरस्तु सः।

—काव्यप्रकाश सू० १८३ का० ११८

रुय्यक

विशेषणसाभिप्रायत्वं परिकरः। —अलंकार सर्वस्व ३२

वाग्भट (प्रथम)

साभिप्रायविशेषणैर्भक्तिः परिकरः। —काव्यानुशासन पृ० ४२

शोभाकरमित्र

साभिप्रायत्वं परिकरः॥ —अलंकार रत्नाकर ४५

जयदेव

अलंकारः परिकरः साभिप्राये विशेषणे॥ —चन्द्रालोक ५.३६

विद्यानाथ

यत्राभिप्रायगर्भा स्याद् विशेषणपरम्परा।
तत्राभिप्राये विदुषामसौ(यं) परिकरो मतः। —प्रतापरुद्रीयम् ८.१६४

विद्याधर

विलसति विशेषणानां प्रतीयमानार्थगर्भता यत्र।
सहृदयहृदयाह्लादी परिकरनामा स निर्दिष्टः। —एकावली ८.२४

विश्वनाथ

उक्तैर्विशेषणैः साभिप्रायैः परिकरो मतः। —साहित्य दर्पण १०.५७

अप्पयदीक्षित

अलंकारः परिकरः साभिप्राये विशेषणे। —कुवलयानन्द ६२

पंडितराज जगन्नाथ

विशेषणानां साभिप्रायत्वं परिकरः। —रसगंगाधर भाग ३ पृ० २८०

चिरञ्जीव

अलंकारः परिकरः साभिप्राये विशेषणे। —काव्यविलास २.२४

नरेन्द्रप्रभसूरि

परिकरः साभिप्रायविशेषणः। —अलंकार महोदधि ८.४०

रिंनसह कवि

अलंकारः परिकरः साभिप्राये विशेषणे ।

—नञ्राजयशोभूषण पृ० २०३

विश्वेश्वर

साभिप्रायविशेषणविन्यासे परिकरः प्रोक्तः ॥

—अलंकार मुक्तावली ३६

श्रीकृष्णब्रह्मतन्त्र परकालस्वामी

साभिप्राये परिकरोऽलंकारःस्याद्विशेषणे । —अलंकार मणिहार ७६

भट्ट देवशंकर पुरोहित

साभिप्रायं पदं यत्र विशेषणविशेष्ययोः ।
अलंकारौ परिकरपरिकरांकुरौ मतौ ॥ —अलंकार मञ्जूषा ४१

वेणीदत्त

प्रत्याय्यते विशेष्यस्य यत्रोत्कर्षो विशेषणैः ।
अलंकारः परिकरः सुधीभिः सोऽभिधीयते ॥

—अलंकार मञ्जरी १५६

परिकराङ्कुर

काव्यरचना में विशेषण के साभिप्राय अर्थात् उसमें वाच्यार्थ के अतिरिक्त कुछ अभिप्राय विशेष निहित रहने पर रुद्रट और उनके उत्तरवर्त्ती प्रायः सभी आलंकारिक **परिकर अलंकार** स्वीकार करते हैं [परिकर प्रकरण देखें]। जहां कहीं विशेष्य के प्रयोग में अभिप्राय विशेष निहित होता है, वहां **परिकराङ्कुर** अलंकार माना जाता है। इस अलंकार की उद्‌भावना एकावलीकार विद्याधर ने की है, तथा अप्पयदीक्षित भट्ट देवशंकर परकाल स्वामी विश्वेश्वर एवं चिरञ्जीव ने भी इसे स्वीकार किया है।

मूल लक्षण

विद्याधर

तादृक् किमपि विशेष्यं साभिप्रायत्वमश्नुते यत्र ।
स परिकरांकुरनामालंकारः कीर्त्तितः कविभिः ॥

—एकावली ८.२५

अप्पयदीक्षित

साभिप्राये विशेष्ये तु भवेत्परिकरांकुरः ॥ —कुवलयानन्द ६३

चिरञ्जीव

साभिप्राये विशेष्ये तु भवेत्परिकरांकुरः ॥ —काव्यवि० २.२४

भट्ट देवशंकर पुरोहित

साभिप्रायं पदं यत्र विशेषणविशेष्ययोः ।
अलंकारौ परिकरपरिकरांकुरौ मतौ । —अलं० मञ्जू० ४१

विश्वेश्वर

विशेष्यार्थकपदस्य साभिप्रायत्वं परिकरांकुरः ।
—अलं० मुक्ता० पृ० ४४

श्रीकृष्णब्रह्मतन्त्रपरकालस्वामी

विशेष्यं यदि साकूतं भवेत्परिकरांकुरः । —अलं० मणि० ७६

परिणाम

परिणाम अलंकार का सर्वप्रथम उल्लेख हमें रुय्यक के अलंकार सर्वस्व में मिलता है। डा० रामचन्द्र द्विवेदी के अनुसार क्योंकि रुय्यक के किसी टीकाकार ने ऐसा कोई संकेत नहीं दिया है कि उन्होंने (रुय्यक ने) इस अलंकार का स्वरूप निरूपण सर्वप्रथम किया है, अतः सम्भव है कि किसी अज्ञात आलंकारिक ने, अलंकार सार अथवा अलंकार भाष्य के लेखक ने सर्वप्रथम इसकी उद्भावना की हो। रुय्यक से परवर्ती आलंकारिकों में प्रायः सभी ने (शोभाकरमित्र जयदेव विद्यानाथ विद्याधर विश्वनाथ अप्पयदीक्षित जगन्नाथ चिरञ्जीव नरेन्द्रप्रभसूरि एवं नरसिंह कवि आदि ने इसे स्वीकार किया है। वाग्भट हेमचन्द्र संघरक्खित अमृतानन्द योगी शौद्धोदनि केशव मिश्र तथा भावदेव सूरि ने इसकी कोई चर्चा नहीं की है।

जिस प्रकार **उपमा अलंकार** में जब उपमेय को उपमान के सदृश कहा जाता है तो सादृश्य प्रतीति के कारण उपमेय का उपमान के द्वारा उपरंजन होता है, उसी प्रकार रूपक अलंकार में आरोप विषय और आरोप्यमाण के बीच अभेद की कल्पना करते हुए आरोप्यमाण द्वारा आरोप विषय का आरोप के माध्यम से उपरञ्जन किया जाता है और आरोप के फलस्वरूप आरोपित विषय की आरोप्य-

माण के रूप में अभिन्न प्रतीति **रूपक अलंकार** का चरम लक्ष्य रहा करता है। यह तद्रूपारोप, जयदेव के शब्दों में ताद्रूप्यरञ्जन, **रूपक अलंकार** को **उपमा** आदि अन्य सादृश्य मूलक अलंकारों से पृथक् करता है।

परिणाम अलंकार में भी **रूपक अलंकार** के समान प्रकृत आरोप-विषय पर अप्रकृत आरोप्यमाण का आरोप होता है। रूपक और परिणाम के आरोपों में अन्तर यह है कि **रूपक** में प्रकृत आरोप विषय पर अप्रकृत आरोप्यमाण के रूप का आरोप होता है, जबकि **परिणाम** में प्रकृत आरोप विषय पर अप्रकृत आरोप्यमाण के कार्य का समारोप होता है। फलतः प्रकृतार्थ में उसकी उपयोगिता भी होती है। रूपक में प्रकृत और अप्रकृत (विषय और विषयी) में अभेद की प्रतीति परमार्थ है, जबकि परिणाम में वह आरोप्यमाण के रूप में प्रयोग का विषय बन जाता है (ताद्रूप्यप्रतीतिमात्रप्रसिद्धचर्थम प्रकृतंप्रकृतरूपापन्नं भवति रूपके। परिणामे तु प्रकृतोपयोगानन्तरमा-रोपविवक्षेति—संजीवनी पृ० ६१)

इस प्रसंग में आचार्यों में दो मत हैं: परिणाम अलंकार में प्रकृत अप्रकृत के रूप में अर्थात् आरोपविषय आरोप्यमाण के रूप में परिणत होता है, अथवा अप्रकृत (आरोप्यमाण) प्रकृत (आरोपविषय) के रूप में परिणत होता है। रुय्यक और विश्वनाथ आदि आचार्य आरोप्यमाण का प्रकृत रूप में परिणमन मानकर उसका उपयोग स्वीकार करते हैं (परिणामे तु प्रकृतात्मतया आरोप्यमाणस्योपयोगः इति प्रकृतमारोप्य-माणत्वेन परिणमति। अलं. सर्वस्व पृ० ६०)। जबकि अलंकार सर्वस्व पर संजीवनी व्याख्या के लेखक विद्याचक्रवर्ती के अनुसार प्रकृत अप्रकृत के रूप को ग्रहण करके अवस्थान्तर को प्राप्त करता है (स्वरूपाद-प्रच्युतस्यैव प्रकृतस्याप्रकृतरूपोपग्राहित्वलक्षणावस्थान्तरापत्तिरेव। संजीवनी पृ० ६१)

तीर्त्वा भूतेशमौलिस्रजममरधुनीमात्मनासौ तृतीयः।
तस्मै सौमित्रिमैत्रीमयमुपहृतवान् आतरं नाविकाय॥

इत्यादि पद्य में सौमित्रिमैत्री (लक्ष्मण की मित्रता) प्रकृत है जिस पर सामानाधिकरण्येन प्रयुक्त अप्रकृत 'आतर' (नाव से नदी पार

करने का शुल्क) के कार्य का समारोप करते हुए नाविक को आतर के रूप में प्रदान किया है।

रूपक अलंकार के समान परिणाम अलंकार भी कभी-कभी 'अधिकारूढ वैशिष्ट्य' हो सकता है।

वनेचराणां वनितासखानां दरीगृहोत्संगनिषक्तभासः।
भवन्ति यत्रौषधयो रजन्यामतैलपूराः सुरतप्रदीपाः॥

पद्य में आरोपविषय औषधियां आरोप्यमाण प्रदीप के रूप में परिणत हो रहे हैं तथा औषधियां बिना तेल डाले ही प्रकाश कर रहे हैं, जबकि प्रदीप में तेल डालने की अपेक्षा होती है। अतः इस पद्य में अधिकारूढ वैशिष्ट्य परिणाम अलंकार है।

उपर्युक्त कालिदासीय पद्य को विश्वनाथ ने परिणाम के उदाहरण के रूप में प्रस्तुत किया है, किन्तु इसमें विश्वनाथ प्रदत्त परिणाम का लक्षण घटित नहीं होता। क्योंकि विश्वनाथ के अनुसार आरोप्यमाण को आरोप विषय के रूप में परिणत होना चाहिए और आरोप विषय के रूप में प्रकृत में उसे उपयोगी होना चाहिए। प्रस्तुत उदाहरण में आरोप्यमाण प्रदीप के रूप में दरीगृह में प्रकृत प्रकाशन कार्य के लिए उपयोगी हो रहा है उनके औषधि होने में, कोई चारुत्व नहीं है, जैसा कि 'स्मितस्योपायनं दत्तं दूरादभ्यागतस्य मे' इत्यादि में उपायन के स्मितरूप होने में रहता है।

शोभाकर जयरथ एकावलीकार विद्याधर के परिणाम लक्षण के स्वीकार करने पर जहाँ विषय आरोप्यमाण के रूप में परिणत होकर प्रकृत कार्य के लिए उपयोगी होता है, वहां निर्विवाद रूप से अधिकारूढ वैशिष्ट्य परिणाम अलंकार हो सकता है, विद्यानाथ अप्पय दीक्षित अथवा जगन्नाथ के मत में नहीं, क्योंकि वे भी रुय्यक और विश्वनाथ के मत से अभिन्न ही अपना मत रखते हैं। उनकी दृष्टि में ऐसे स्थलों में रूपक अलंकार होना चाहिए अधिकारूढ वैशिष्ट्य **परिणाम** अलंकार नहीं।

वस्तुतः यहां रूपक अलंकार मानना उचित न होगा, क्योंकि यहां आरोप विषय औषधि का आरोप्यमाण प्रदीप के रूप में ताद्रूप्यरञ्जन अथवा अभेद आरोप मात्र नहीं है, अपितु उसमें आरोप्यमाण का कार्य प्रकाशकत्व ही कवि विवक्षित है। अतः यहाँ **रूपक** अलंकार से भिन्न

अलंकार मानना उचित होगा। ऐसी स्थिति में यह अधिक उचित होगा कि परिणाम अलंकार के लक्षण में प्रचलित दोनों परम्पराओं को समन्वित करके परिणाम का लक्षण किया जाए। उस स्थिति में 'जहां आरोप्यमाण आरोपविषय के रूप में अथवा आरोपविषय आरोप्यमाण के रूप में परिणत होकर प्रकृत कार्य में उपयोगी हो, वह **परिणाम अलंकार** है' यह लक्षण बनेगा।

मूल लक्षण

रुय्यक

आरोप्यमाणस्य प्रकृतोपयोगित्वे परिणामः। —अलं० सं० १६

शोभाकर मित्र

प्रकृतोपयोगित्वे परिणामः। —अलं० र० २८

जयदेव

परिणामोऽनयोर्यस्मिन् अभेदः पर्यवस्यति। —चन्द्रा० ५.२२

विद्यानाथ

आरोप्यमाणमारोपविषयतया स्थितम्।
प्रकृतस्योपयोगित्वे परिणाम उदाहृतः। —प्रताप० ८.८०

विद्याधर

तं परिणामं द्विविधं कथयन्त्यारोप्यमाणरूपतया।
परिणमति विषयः प्रस्तुतकार्योपयोगाय। —एका० ८.७०

विश्वनाथ

विषयात्मतयाऽऽरोप्ये प्रकृतार्थोपयोगिनि।
परिणामो भवेत्तुल्यातुल्याधिकरणे द्विधा। —सा० ७.१०,३४

अप्पयदीक्षित

आरोप्यमाणस्य प्रकृतात्मनोपयोगित्वे परिणामः।
—चित्रमीमांसा पृ० १६४

परिणामः क्रियार्थश्चेद् विषयी विषयात्मना। —कुवल० १.२१

पंडितराज जगन्नाथ

विषयी यत्र विषयात्मतयैव प्रकृतोपयोगी न स्वातन्त्र्येण सः परिणामः॥
—रसगं० भा० ३.

चिरञ्जीव

परिणामो भवेद्रूप्याद् रूपके व्यवधानगे। —काव्य वि० २.१८

नरेन्द्रप्रभसूरि

परिणाम: स विषयो यत्र धत्तेऽन्यरूपताम् । —अलं० महो० ८.१३

नरसिंह कवि

आरोपमूर्त्या विषय: परिणामं भजेद्यदि ।
प्रकृतस्योपयोगाय परिणाम: स तु द्विधा ।।

वृत्ति-विषय: प्रस्तुतकार्योपयोगायारोप्याकारे परिणमति तत्र परिणामालंकार: । —नञ्राज० पृ० १७२

विश्वेश्वर

उपमेयात्मना यत्रोपमानं तत्क्रियाक्षमम् ।
भवेद् यदि तदा प्रोक्त: परिणामो बुधैरिह ।

—अलं० मंजू० १९९ पृ० २४

परिवृत्ति

परिवृत्ति एक प्राचीन अलंकार है। दण्डी ने काव्यादर्श में हमें इसकी सर्वप्रथम चर्चा की है। परवर्त्ती अलंकारिकों में शौद्धोदनि अमृतानन्द योगी एवं केशवमिश्र को छोड़कर प्राय: सभी ने इस अलंकार को स्वीकार किया है।

इस अलंकार के लक्षण के रूप में यह बिना किसी मतभेद के स्वीकार किया जाता है कि 'जहाँ सम न्यून अथवा अधिक के साथ विनिमय का निबन्धन हो वहां परिवृत्ति अलंकार होता है।' भामह **परिवृत्ति अलंकार** में **अर्थान्तरन्यास** का होना आवश्यक मानते हैं (विशिष्टस्य यदा दानमन्यापोहेन वस्तुन: । अर्थान्तरन्यासवती परिवृत्तिरसौ यथा। काव्या. ३.४१)। भोज ने विनिमय के साथ ही व्यत्यय के होने पर भी **परिवृत्ति** अलंकार माना है। उनके अनुसार—

कुमुदवनमपश्रि श्रीमदम्भोजषण्डम्
त्यजति मुदमुलूक: प्रीतिमांश्चक्रवाक: ।
उदयमहिमरश्मि र्याति शीतांशुरस्तं
हत विधिललितानां ह्रीविचित्रो विपाक: ।।

इस पद्य में यद्यपि विनिमय नहीं है, क्योंकि कुमदवन इत्यादि ने शोभा आदि कुछ को छोड़कर अन्य कुछ को प्राप्त नहीं किया है। तथापि भोज के अनुसार यहां **परिवृत्ति** अलंकार स्वीकार किया

जाता है (अत्र कुमुदवनादीनामपश्रीमत्वादिकं यच्चाम्भोजषण्डादीनां श्रीमत्वादिकं मुख्यमेव प्रातर्लभ्यते सेयं व्यत्ययवती मुख्या नाम परिवृत्तिः । सर. कं. पृ. १४३)

परवर्त्ती अलंकारिकों ने **परिवृत्ति** में न तो भामह स्वीकृत अर्थान्तरन्यास की अनिवार्यता स्वीकार की है, और न भोज स्वीकृत व्यत्यय को ही लक्षण के रूप में स्वीकार किया है। शोभाकर मित्र विनिमय के अन्तर्गत ही कृत कार्य के बदले प्रतिकृति अर्थात् बदले में उपकार अथवा अपकार का वर्णन मान कर उसे भी **परिवृत्ति** की सीमा के अन्दर स्वीकार करते हैं। अतः उनके अनुसार किसी कार्य के बदले में उपकार अथवा अपकार का वर्णन होने पर **परिवृत्ति अलंकार** होगा (क्वचित्तु कृते प्रतिकृरिति उभयरूपो विनिमयः परिवृत्तिः। अलं. र. पृ. १५५)

इसके अतिरिक्त आचार्य मम्मट ने 'लतानामेतासाम्' इत्यादि तथा 'नानाविधैः प्रहरणैः' इत्यादि दो ऐसे उदाहरण प्रस्तुत किये हैं, जिनमें विनिमयकर्त्ता दो हैं, एक केवल देने वाला और एक केवल लेने वाला। इसके विपरीत रुय्यक ने 'उरु दत्वा' इत्यादि, 'किमित्यपास्ताभरणानि यौवने.' इत्यादि तथा 'तस्य च प्रवयसोः' इत्यादि तीन ऐसे उदाहरण प्रस्तुत किये है, जिनमें एकवस्तु का त्याग करके इतरवस्तु का आदान हुआ है, किन्तु दाता और प्रतिगृहीता की कल्पना का निबन्ध नहीं है। दूसरे शब्दों में मम्मट द्वारा दिये गये उदाहरणों में विनिमय वस्तुओं का तो हुआ है, किन्तु दो विनिमयकर्ताओं की कल्पना नहीं है। रुय्यक द्वारा दी गयी **परिवृत्ति** लक्षण की व्याख्या से भी यही ध्वनि निकलती है (विनिमयोऽत्र किञ्चित्त्यक्त्वा कस्यचिदादानम् (अलं, सर्व. पृ. १६१)।

शोभाकर ने इसे कुछ और अधिक स्पष्ट किया है—(अन्यत्र दानपूर्वमेवादानं विनिमयः। इह तु क्वचित्त्यागपूर्वकमपि। अलं. रत्न. पृ. १५५)। दान और आदान में दाता और ग्रहीता के रूप में दो व्यक्तियों की सम्भावना अवश्य रहती है, किन्तु त्यागपूर्वक आदान में द्वितीय कर्त्ता की अपेक्षा नहीं होती।

पंडितराज जगन्नाथ ने रुय्यक एवं शोभाकर के पक्ष का खण्डन करते हुए स्वीकार किया है कि **परिवृत्ति** में दाता के साथ

ग्रहीता का होना भी आवश्यक है। केवल किसी वस्तु का त्याग करके अन्य का आदान मात्र, जिसमें अन्य कर्त्ता अथवा भिन्न व्यक्ति के रूप में परिग्रहीता निबद्ध नहीं है, होने पर **परिवृत्ति अलंकार** नहीं माना जाएगा। (अत्र परस्मै स्वकीययत्किञ्चिद्वस्तुत्यागमात्रम्, ...एवं स्थिते 'विनिमयोऽत्र किञ्चित्त्यक्त्वा कस्यचिदादानम्' इत्यलंकारसर्वस्वकृता यल्लक्षणं कृतम्, यच्च 'किमित्यपास्ताभरणानि यौवने धृतं त्वया वार्धकशोभि वल्कलम्' इत्युदाहृतं तदुभयमप्यसदेव। रसगं भा. ३ पृ. ६३९)।

परिवृत्ति अलंकार में विनिमय कल्पित होता है, वास्तविक नहीं, विनिमय के वास्तविक होने पर अलंकार न कहा जाएगा (एषु दानादिव्यवहारः कविकल्पित एव, न तु वास्तवः। यत्र वास्तवस्तत्र नालंकारः। यथा—क्रीणन्ति प्रविकचलोचनाः समन्तान्मुक्ताभिर्बदरीफलानि यत्र बालाः'.........'किशोरभावं परिहाय रामा बभार कामानुगुणां प्रणालीम्' इत्यत्र.........पूर्वावस्था त्यागपूर्वकमुत्तरावस्था ग्रहणस्य वास्तवत्वेन अनलंकारत्वात्। रसगं. भा. ३ पृ. ६३९)।

दत्वा कटाक्षमेणाक्षी जग्राह हृदयं मम।
मया तु हृदयं दत्वा ग्रहीतो मदनज्वरः॥

इस पद्य के पूर्वार्ध में कटाक्षदान के बदले नायिका द्वारा प्रेमी-हृदय के ग्रहण का कथन हुआ है। इसमें दाता और आदाता दोनों का निबन्धन है, अतः इस अंशः में निर्विवाद रूप से **परिवृत्ति** अलंकार होगा। उत्तरार्ध में प्रेमी हृदय देकर मदनज्वर ग्रहण करता है। यहाँ अधिक देकर न्यून का ग्रहण वर्णित है। यहां हृदय के देने लेने में दाता और आदाता दोनों अभिहित है। किन्तु मदन ज्वर का ग्रहीता तो प्रेमी है, किन्तु उसका प्रदान करने वाला कौनहै यह विचारणीय है।

तस्य च प्रवयसो जटायुषः स्वर्गिण किमिव शोच्यतेऽधुना।
येन जर्जरकलेवरव्ययात्क्रीतमिन्दुकिरणोज्वलं यशः॥

इस पद्य में जराजीर्ण शरीर देकर चन्द्रकिरणों के सदृश शुभ्र यश के लिये जाने का वर्णन है। यहां न्यून वस्तु का अधिक वस्त के साथ विनिमय किया गया है।

मूल लक्षण

दण्डी

अर्थानां यो विनिमयः परिवृत्तिस्तु सा स्मृता । —काव्यादर्श २.३२१

भामह

विशिष्टस्य यदा दानमन्न्यापोहेन वस्तुनः ।
अर्थान्तरन्यासवती परिवृत्तिरसौ यथा ।। —काव्या० ३.४१

उद्भट

समन्यूनविशिष्टैस्तु कस्यचित्परिवर्त्तनम् ।
अर्थानर्थस्वभावं यत्परिवृत्तिरभाणि सा । —काव्या० ५.१६

वामन

समविसदृशाभ्याम् परिवर्तनं परिवृत्तिः । —काव्या० सू० वृ० ४.३.६

रुद्रट

युगपद्दानादाने अन्योऽन्यं वस्तुनोः क्रियेते यत् ।
क्वचिदुपचर्येते प्रसिद्धितः सेति परिवृत्तिः । —काव्या० ७.७७

भोज

व्यत्ययो वस्तुनो यस्तु यो वा विनिमयो मिथः ।
परिवृत्तिरिहोक्ता सा काव्यालंकार लक्षणे ।। —सर० कं० ३.२६

कुन्तक

विनिवर्त्तनमेकस्य यत्तदन्यस्य पूर्ववत् । —वक्रोक्ति जीवित ३.३३

मम्मट

परिवृत्तिः विनिमयो योऽर्थानां स्यात्समासमैः ।
—का० प्र० सू० १७२ का० ११३

रुय्यक

समन्यूनाधिकानां समाधिकन्यूनैर्विनिमयः परिवृत्तिः ।
—अलंका० सर्व० ६२

वाग्भट्ट (प्रथम)

समेनासमेन वा व्यत्ययः परिवृत्तिः । —काव्यानु० पृ० ४०

हेमचन्द्र

पयार्यविनिमयौ परिवृत्तिः । —काव्यानु० ६.२२ सू० १३४

शोभाकर मित्र

विनिमयः परिवृत्तिः । —अलं० रत्ना० ६०

जयदेव

परिवृत्तिर्विनिमयो न्यूनाभ्यधिकयोर्मिथः। —चन्द्रा० ५.६२

विद्यानाथ

समन्यूनाधिकानां च यदा विनिमयो भवेत्।
साकं समाधिकन्यूनैः परिवृत्तिरिसौ मता॥ —प्रताप० ८.२६४

संघरक्खित

यस्स कस्सचि दानेन यस्स कस्सचि वत्थुनो।
विसिठ्ठस्य यमादानं परिवुत्तीति सा मता। —सुबोधालंकार ३२७

विद्याधर

अधिकन्यूनसमानां न्यूनाधिकतुल्यवस्तुभिर्यत्र।
विनिमय एषा कथिता परिवृत्तिः कोविदैस्त्रिविधा। —एकावली ८.५२

विश्वनाथ

परिवृत्ति विनिमयः समन्यूनाधिकैः भवेत्॥

—सा० द० १०.८०

वाग्भट्ट (द्वितीय)

परिवर्त्तनमर्थेन सदृशासदृशेन वा।
जायतेऽर्थस्य यत्रासौ परिवृत्तिर्मता यथा। वाग्भटालं० ४.११२

अप्पयदीक्षित

परिवृत्तिर्विनिमयो न्यूनाभ्यधिकयोर्मिथः। —कुवलयानन्द ११२

पंडितराज जगन्नाथ

परकीयं यत्किंचिद्वस्त्वादानविशिष्टं परस्मै स्वकीययत्किञ्चिद्वस्तु समर्पणं परिवृत्तिः। —रसगंगाधर भा० ३ पृ० ६३६

चिरञ्जीव

परिवृत्तिर्विनिमयश्चेन्न्यूनाधिकयोर्मिथः। —काव्यविलास २.४८

नरेन्द्र प्रभसूरि

समन्यूनाधिकानां तु यस्यां विनिमयो भवेत्।
अर्थैः समाधिकन्यूनैः परिवृत्तिं गृणन्ति ताम्। —अलं, महो० ८.६९

भावदेवसूरि

परिवृत्तिर्विनिमयो न्यूनाभ्यधिकयोर्मिथः। —काव्या० सं० ६.२२

नरसिंह कवि

परिवृत्ति विनिमयोऽधिकाल्पसमगस्त्रिधा। —नञ्राज० पृ० २१८

भट्ट देवशंकर

स्तोकवस्तुव्ययेनापि ग्रहोऽभ्यधिकवस्तुनः ।
वर्ण्यते, तत्र गदिता परिवृत्तिरलङ्कृतिः ॥

—अलकार मञ्जूषा ८४

वेणीदत्त

यः समैरसमैर्वाऽपि गुणैर्विनिमयो भवेत् ।
परिवृत्तिमलङ्कारं तं काव्यज्ञाः प्रचक्षते ॥ —अलंकार मञ्जरी १३५

विश्वेश्वर

सदृशासदृशैरर्थैरर्थानां विनिमयस्तु परिवृत्तिः ।

—अलंकार मुक्तावली ३२

परिसंख्या

परिसंख्या पद काव्यशास्त्र में मीमांसाशास्त्र से गृहीत है । मीमांसाशास्त्र में इस पद के स्वीकृत अर्थ को समझने के लिए **विधि** एवं **नियम** पदों का अर्थ भी समझना आवश्यक है। विधि नियम एवं परिसंख्या तीनों पद मीमांसा शास्त्र में परिभाषिक पद हैं, अतः इन पदों का प्रयोग उस शास्त्र में विशेष अर्थ में होता है।

विधि वह व्यवस्था है, जिसके द्वारा सर्वथा अप्राप्त व्यवस्था का विधान किया जाता है। अर्थात् जिस व्यवस्था का विधान अन्य किन्हीं वचनों से नहीं हो रहा है ऐसी व्यवस्था (क्रिया) का बोध जिसके द्वारा होता है, वे वाक्य विधिवाक्य कहे जाते हैं। 'अग्निहोत्रं जुहुयात् स्वर्गकामः' अर्थात् 'जो व्यक्ति स्वर्ग की कामना करता है, उसे अग्निहोत्र करना चाहिए।' यह व्यवस्था विधि कहलाती है, क्योंकि अग्निहोत्र की कर्त्तव्यता का विधान किन्हीं अन्य वचनों द्वारा नहीं किया गया है (अत्यन्ताप्राप्तप्रापणं विधिः। यथाग्निहोत्रं जुहुयात्। अष्टकाः कर्त्तव्याः' इत्यादि । मिताक्षराटीका-याज्ञवल्क्यस्मृति। 'इह कस्यचिदर्थस्य नियमेनाज्ञातस्य विधिः'। विमर्शिनी पृ. १९५)। क्योंकि 'स्वर्गकामो यजेत' इत्यादि वाक्य अप्राप्त का विधान करते हैं, अतः इन्हें **विधिवाक्य** कहा जाता है।

अन्य विधिवाक्यों द्वारा प्राप्त दो अथवा अधिक में एक का विधान करते हुए जहाँ अन्य का निषेध किया जाता है उसे नियम

कहा जाता है। उदाहरणार्थ हम 'समे देशे यजेत' वाक्य को लें। यहाँ यज्ञ करने का विधान 'यजेत स्वर्गकामः' इत्यादि वाक्यों से प्राप्त है। यजन क्रिया किसी देश अर्थात् भूमिखण्ड पर की जा सकती है। यह भूमिखण्ड सम (समतल) भी हो सकता है और विषम अर्थात् ऊँचा-नीचा भी। इस प्रकार यह यज्ञ के अधिकरण भूमिखण्ड के विषय में पाक्षिकता है, अर्थात् सम और विषम दोनों ही प्रकार के भूमिखण्ड पर यजन क्रिया की प्राप्ति है 'समे देशे यजेत' इस वाक्य द्वारा विषम भूमिखण्ड में यजन क्रिया का निषेध तथा समभूमिखण्ड में उसके करने का विधान किया गया है। ऐसे वाक्य जहाँ पूर्वतः प्राप्त पाक्षिक व्यवस्था में एकत्र विधान किया जाए, नियम वाक्य कहे जाते हैं ('प्राप्तस्याप्राप्तपक्षान्तराप्रापणं=नियमः'। मिताक्षरा 'क्रियमाणो यदर्थान्तरनिषेधार्थमपि पर्यवस्यति तदा नियमः। विमर्शिनी पृ. १९५)

विधि और निषेध में अन्तर को हम इस प्रकार भी समझ सकते हैं कि विधि का केवल एक कार्य है व्यवस्था की स्थापना करना, जबकि नियम व्यवस्था की स्थापना के साथ निषेध भी करता है (विधिः पुनरज्ञातज्ञापनमात्रपर्यवसितः एव भवति। तेन नियमे 'व्रीहीन् अवहन्ति' इत्यादावधातमात्रपर्यवसायित्वमेव। दलनादेरपि निषेध्यत्वेन पर्यवसानात्। नापि निषेधमात्र एव तात्पर्यम् अवघाताभावे विध्यनिष्पत्तेः। विमर्शिनी। "नियमः व्रीहीन् अवहन्ति, समे देशे यजेत इत्यादिः पुरोडाशनिर्माणफलोपधायकतावच्छेदककोटिप्रविष्टायाः वितुषतायाः सम्पादकत्वेन अवहननस्य प्राप्तेः नखविदलन-समवधानकात्मवृत्तित्वेन, यागाधिकरणतया समदेशप्राप्ते विषमदेशसमवधानकालावृत्तित्वेन च पाक्षिकत्वात्। रसगं. भा. ३. पृ. ३४३)

'नियमार्थश्रुतिः (मीमांसा सूत्र ४.२.२४) का भाष्य करते हुए शबर स्वामी की यही मान्यता है (सर्वे देशाः प्राप्नुवन्ति, न तु समुच्चयेन। यदा समः, तदा न विषमः। यदा न प्राप्तः, पक्षो विधिं प्रयोजयति अतो विषमचिकीर्षायामपि समो विधीयते।" शाबर भाष्य मी. सू. ४.२.२४)

इस प्रकार **नियम** एक साथ ही निषेध और विधान दोनों कार्य साथ साथ करता है। मीमांसा शास्त्र में स्वीकृत **परिसंख्या विधि**

और **नियम** दोनों से ही भिन्न है। अनेकत्र प्राप्त का निषेध **परिसंख्या** का प्रयोजन है। **परिसंख्या** में विधायकता किञ्चिन्मात्र भी नहीं रहती। विधि प्रतिपादित के भी न करने से अपुण्य होता है। नियम प्रतिपादित के भी न करने से अपुण्य होता है, तथा नियम द्वारा निषिद्ध के करने से भी अपुण्य होता है। **परिसंख्या** में केवल निषेध की विवक्षा होती है, अतः निषेध का पालन न करने से भी अपुण्य होता है; किन्तु उसमें विधि रूप से पालनीय कुछ होता ही नहीं, जिसके न करने से अपुण्य की सम्भावना की जाए।

"पञ्च पञ्चनखाः भक्ष्याः", 'इमाम् अगृभ्णन् रशनाम् ऋतस्य' 'इत्यश्वाभिधानीमादत्ते' इत्यादि परिसंख्या वाक्य हैं। इनमें से प्रथम वाक्य बुभुक्षा की स्थिति में शशक (खरगोश—Rabit) श्वान(कुत्ता) शल्लकी (साही—Porcupine) आदि के मांस खाने की इच्छा की स्थिति में उपर्युक्त परिसंख्या वाक्य व्यवस्था देता है कि पञ्चनख प्राणियों में शशक आदि केवल पांच का ही मांस खाया जा सकता है, श्वान आदि का नहीं। यहां जिस प्रकार **विधि** प्रतिपादित क्रिया के न करने से अपुण्य होता है, उसी प्रकार पञ्चनख का भक्षण न करने में अपुण्य नहीं होता। अपितु यहां परिगणित पञ्चनखों से भिन्न के भक्षण का निषेध विवक्षित है; अतः इससे भिन्न का मांस खाने में अर्थात् निषेध का पालन न करने में अपुण्य होता है (भक्ष्यनियमेनाभक्ष्यप्रतिषेधो गम्यते। पञ्चपञ्चनखाः भक्ष्याः इत्युक्ते गम्यते 'एतदतोऽन्येऽभक्ष्याः इति। महाभाष्य भा. १ पृ. ८)। 'एकस्यानेकत्र प्राप्तस्यान्यतो निवृत्त्यर्थमेकत्र पुनर्वचनं परिसंख्या। तथा 'पञ्च पञ्चनखाः भक्ष्याः इत्यत्र यदृच्छया श्वादिषु शशकादिषु च भक्षणं प्राप्तं पुनः शशकादिषु श्रूयमाणं श्वादिभ्यो निवर्त्तयति'। मितक्षरा। "क्रियमाणोऽर्थान्तरनिषेधमात्रार्थमेव यत्र पर्यवस्यसि सा **परिसंख्या**। तेन 'पञ्च पञ्चनखाः भक्ष्याः' इत्यादावन्यपञ्चनखभक्षणनिषेधमात्रतात्पर्यमेव। नपुनरेतत्पञ्चनख भक्षणकर्त्तव्यताऽपि। तथात्वे हि पञ्चानां पञ्चनखानाम् अभक्षणे प्रत्यवायप्रसङ्गो नियमादस्य भेदो वा न स्यात्।" विमर्शिनी पृ. १९५)।

इसी प्रकार 'इमामगृभ्णन्' इत्यादि वाक्य में 'रशना' (लगाम) रूप लिङ्ग (चिह्न) के द्वारा अश्व एवं गर्दभ नामक पशुओं का ग्रहण

करना प्राप्त होता है। किन्तु 'अश्वाभिधानीमादत्ते' परिसंख्या वाक्य द्वारा गर्दभ के ग्रहण का निषेध हो जाता है।

इस प्रकार संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि सर्वथा अप्राप्त व्यवस्था का विधान **विधि** वाक्य से होता है। पाक्षिक व्यवस्था होने पर **नियम** वाक्य व्यवस्थापक होता है। तथा अनभीष्ट की प्राप्ति होने पर निषेध के लिए **परिसंख्या** वाक्यों का प्रयोग होता है। कहा भी है:—'विधिरत्यन्तमप्राप्तौ नियमः पाक्षिके सति । तत्र चान्यत्र च प्राप्तौ परिसंख्येति गीयते। (विमर्शिनी पृ. १६४—१६५ में उद्धृत)।

मीमांसा शास्त्र से गृहीत इस **परिसंख्या** पद में अलंकार के संदर्भ में नियम और परिसंख्या दोनों का भाव संगृहीत है। यहां पाक्षिक प्राप्ति तथा युगपत्प्राप्ति रूप अवान्तर वैशिष्ट्य की विवक्षा नहीं रहती है (नियमोऽप्यस्मिन्दर्शने निरुक्तलक्षणाक्रान्तत्वात् परिसंख्यैषा पाक्षिक-प्राप्तिर्युगपत्प्राप्तिरूपस्यावान्तरविशेषस्याविवक्षणात्। रसगं. भा. ३ पृ. ६४१)।

अलंकार के सन्दर्भ में परिसंख्या पदार्थ एवं नियम पदार्थ को अभिन्न मानकर अन्यतर पद से व्यवहार करने की परम्परा अलंकार शास्त्र में कोई नवीन नहीं है। वैयाकरण भी दोनों को अभिन्न मान कर व्यवहार करते हैं:—'पञ्च पञ्चनखा भक्ष्या इत्यस्य नियम-त्वेन भाष्ये व्यवहृतत्वात्। अन्यनिवृत्तिरूपफलेनैक्याच्च नियमपदेन परिसंख्यापि व्याकरणे गृह्यते इति संक्षेपः (परमलघुमंजूषा पृ. २८)।

परिसंख्या अलंकार में कहीं वस्तु से भिन्न वस्तु का शाब्द व्यवच्छेद किया होता है और कहीं आर्थ। यह व्यवच्छेद प्रश्नपूर्वक भी हो सकता है और बिना प्रश्न के भी हो सकता है। इस प्रकार परिसंख्या प्रश्नपूर्विका शाब्द प्रश्नपूर्विका आर्थ, प्रश्न रहिता शाब्द तथा प्रश्न रहिता आर्थ भेद से चार प्रकार की हैं। (सा चैषा प्रश्नपूर्विका तदन्या वेति प्रथमं द्विधा। प्रत्येकं च वर्जनीयत्वेऽस्य शाब्दत्वार्थ-त्वाभ्यां द्वैविध्यमिति चतुः प्रभेदाः।

'किं भूषणं सुदृढमत्र यशो न रत्नम्, किं कार्यमार्यचरितं सुकृतं न दोषः।
किं चक्षुरप्रतिहतं धिषणा न नेत्रम्, जानाति कस्त्वदपरः सदसद्विवेकम्॥

(का० प्र० ७६६ सुभाषितावलि २५३७)

पद्य में पहले प्रश्न का निबन्धन है तदनन्तर उत्तर का। वास्तव में 'आभूषण क्या है ?' यह प्रश्न होने पर लोक में 'रत्न आदि' उत्तर प्राप्त होता है, किन्तु स्मृति पुराण आदि से उत्तर मिलता है 'यश'। और यही उत्तर समुचित एवं विवेक पूर्ण उत्तर है। इस प्रकार आभूषण आदि के रूप में यश आदि सहित रत्न आदि की प्राप्ति होने पर प्रस्तुत वाक्य द्वारा 'यशः' की आभूषणता का विधान होने से यहाँ परिसंख्या अलंकार है। व्यवच्छेद्य का शब्दतः कथन होने से यहां **शाब्द प्रश्नपूर्विका परिसंख्या** मानी जाएगी।

'किमाराध्यं सदा पुण्यं कश्च सेव्यः सदागमः
को ध्येयो भगवान् विष्णुः किं काम्यं परमं पदम्।'

इस पद्य में व्यवच्छेद्य 'पाप' 'असत्समागम' 'इतर देवता' तथा 'धन' का शब्दतः कथन नहीं हुआ है, तथा प्रश्नपूर्वक ही परिसंख्यान हुआ है, अतः यहां **प्रश्नपूर्विका आर्थी परिसंख्या** है।

भक्तिर्भवेन विभवे व्यसनं शास्त्रे न युवतिकामास्त्रे।
चिन्ता यशसि न वपुषि प्रायः परिदृश्यते महताम् ॥

(अलं. सं. १९४)

इस पद्य में प्रश्न के बिना ही परिसंख्यान किया गया है, तथा व्यवच्छेद्य 'विभव' 'युवतिकामास्त्र' एवं 'वपुष' का शब्दतः उपादान होने से यहां **अप्रश्नपूर्विका शाब्दी परिसंख्या** है।

बलमार्त्तभयोपशान्तये विदुषां सत्कृतये बहुश्रुतम्।
वसु तस्य न केवलं विभो र्गुणवता परमं प्रयोजनम् ॥

(रघु० ८. ३१)

इस पद्य में प्रश्न का निबन्धन नहीं हुआ है, साथ ही बल एवं बहुश्रुतत्व के साथ क्रमशः व्यवच्छेद्य 'परपीड़न' एवं विवाद आदि शब्दतः कथित नहीं है। अतः यहाँ **अप्रश्नपूर्विका आर्थी परिसंख्या** अलंकार माना जाएगा।

स्मरणीय है कि पाक्षिक होने पर एक का निषेध करते हुए एक की विधि मीमांसा शास्त्र के अनुसार **नियम** की सीमा में आती है। उपर्युक्त उदाहरणों में से 'किमाराध्यम्' इत्यादि पद्य में आराध्य के रूप में पुण्य और अपुण्य की पाक्षिक प्राप्ति है, जो **नियम**

का क्षेत्र है, इसे भी यहां परिसंख्या में ही समाहित किया गया है। प्रस्तुत अलंकार के वाचक **परिसंख्या** पद में 'परि' 'वर्जन' अर्थ में (अपपरी वर्जने। पाणि. अष्टा. १.४.८८) तथा 'संख्या' पद 'विचार' अर्थ में प्रयुक्त है। यह भी स्मरणीय है कि अन्य अलंकारों के समान ही **परिसंख्या** के उपादान तत्त्व कवि प्रतिभा प्रसूत होने चाहिए वास्तविक नहीं। (अत्र यत्र कविप्रतिभानिर्मिता इतरव्यावृत्तिस्तत्रा-लंकारता। उद्योत)।

मूल लक्षण

रुद्रट

पृष्टमपृष्टं वा सद्गुणादि यत्कथ्यते क्वचित्तुल्यम्।
अन्यत्र तु तदभावः प्रतीयते सेति परिसंख्या॥ —काव्यालं० ७.७९

मम्मट

किञ्चित्पृष्टमपृष्टं वा कथितं यत्प्रकल्पते।
तादृगन्यव्यपोहाय परिसंख्या तु सा स्मृता॥
—का० प्र० सू० १९५ का० ११९

रुय्यक

एकस्यानेकत्र प्राप्तावेकत्र नियमनं परिसंख्या। —अलं० सर्व० ६३

वाग्भट्ट (प्रथम)

पृष्टमपृष्टं वा यदन्यव्यवच्छेदपरतयोच्यते सा परिसंख्या।
— काव्या० पृ० ४१

हेमचन्द्र

दृष्टेऽदृष्टे वा अन्यापोहपरोक्तिः परिसंख्या।
— काव्यानुशासन ६.२९ सू० १४१

शोभाकर मित्र

प्राप्तस्य परिसंख्या
(सर्वप्रकारं प्राप्तस्य विधानमर्थान्तरनिषेधमात्रतत्परं परिसंख्या)
—अलं० रत्ना० ८४

विद्यानाथ

एकस्य वस्तुनः प्राप्तावनेकत्रैकदा यदि।
एकत्र नियमः सा हि परिसंख्या निगद्यते। —प्रताप० ८.२३१

विद्याधर

एकस्यानेकत्र प्राप्तावेकत्र यो भवेन्नियमः।
ख्याता सा परिसंख्या संख्यावद्भिश्चतुर्भेदा। —एकावली

विश्वनाथ

प्रश्नादप्रश्नतो वापि कथिता वस्तुनोभवेत्।
तादृगन्यव्यपोहश्चेच्छाब्द आर्थोथवा तदा॥ —परि० सा०द०१०.८१

वाग्भट्ट (द्वितीय)

यत्र साधारणं किञ्चिदेकत्र प्रतिपाद्यते।
अन्यत्र तन्निवृत्यै सा परिसंख्योच्यते यथा॥ —वाग्भटालंकार ४.१४२

अप्पयदीक्षित

परिसंख्या निषिध्यैकमेकस्मिन्वस्तुयन्त्रणम्। —कुलवया० ११३

पंडितराज जगन्नाथ

सामान्यतः प्राप्तस्यार्थस्य कस्माच्चिद्विशेषाद् व्यावृत्तिः परिसंख्या।
रसगं० भा० ३ पृ० ६४१

चिरञ्जीव

परिसंख्या निषिद्धार्थनिषेधः श्लेषतोऽन्यतः। —काव्यवि० २.४६

नरेन्द्रप्रभसूरि

एकस्यानेकसम्बन्धसम्भवे यन्नियन्त्रणम्।
एकस्मिन्नितरत्यागात् परिसंख्यां तु तां विदुः॥ —अलं० महो० ८.७०

भावदेवसूरि

परिसंख्यातु वस्तूक्तिरेक त्रान्यत्रस्यवर्जनात्। —काव्यालं० संग्रह ६.४३

नरसिंह कवि

वस्तुष्वेकमनेकेषु प्राप्तं नियम्यते।
एकत्रैव भवेत्तत्र परिसंख्या चतुर्विधा॥ —नञ्रा० पृ० २१२

भट्टदेवशंकर

तत्र चान्यत्र चासन्नं वस्तु यत्र नियन्त्र्यते।
परिसङ्ख्येति गदितालङ्कृतिस्तत्र तान्त्रिकैः॥ —अलं० मं० ८५

विश्वेश्वर

पृष्टमपृष्टं प्रोक्तं यद्व्यग्यं वापि वाच्यं वा।
फलतीतर व्यपोहं परिसंख्या स तु संख्याता॥ —अलं० मुक्ता० ३६

श्रीकृष्णब्रह्मतन्त्र परकालस्वामी

एकस्यानेकसंप्राप्तौ यदेकत्र नियन्त्रणम् ।
परिसंख्येति तत् प्राहुरलंकाराध्वगामिनः । —अलंकार मणिहार १२०

वेणीदत्त

यदन्यस्य समानस्य व्यवच्छेदाय जायते ।
कथनं परिसङ्ख्यां तामाहुः काव्यविशारदाः ॥ —अलं० मञ्ज० १३५

पर्यस्तापह्नुति

अपह्नुति अलंकार को प्रायः सभी आचार्यों ने स्वीकार किया है। इसमें प्रकृत का निषेध करके अन्य की सिद्धि की जाती है। **पर्यस्तापह्नुति** अलंकार में प्रकृत वस्तु के धर्म का निषेध अन्यत्र उसका आरोप करने के लिए किया जाता है।

'नायं सुधांशुः किन्तर्हि सुधांशुः प्रेयसीमुखम्'

पद्य में प्रकृत सुधांशु में सुधांशुत्व का निषेध प्रेयसीमुख में सुधांशुत्व का आरोप करने के लिए किया गया है। यदि इसी पद्य में 'सुधांशुः प्रेयसीमुखम्' के स्थान पर 'व्योमगंगासरोरुहम्' कर दिया जाये तो सुधांशुत्व सहित सुधांशु का निषेध कर के सुधांशु के स्थान पर व्योमगंगासरोरुह का साधन होगा, फलतः उस स्थिति में पर्यस्तापह्नुति न होकर शुद्ध **अपह्नुति अलंकार** माना जाएगा। **पर्यस्तापह्नुति** को स्वतन्त्र अलंकार के रूप में केवल जयदेव अप्पयदीक्षित चिरञ्जीव एवं भट्ट देवशंकर पुरोहित ही स्वीकार करते हैं।

मूल लक्षण

जयदेव

पर्यस्तापह्नुतिर्यत्र धर्ममात्रं निषिध्यते । —चन्द्रालोक ५.२५

अप्पयदीक्षित

अन्यत्र तस्यारोपार्थः पर्यस्तापह्नुतिस्तु सः । —कुवलयानन्द २८

चिरञ्जीव

पर्यस्तापह्नुतिर्यत्र धर्मिमात्रं निषिध्यते । —काव्यविलास २.२०

भट्ट देवशंकर

अन्यत्र तस्यारोपार्थं क्रियते धर्मनिह्नवः ।
पर्यस्तापह्नुतिः सा हि पूर्ववद् द्विविधा मता ॥ —अलंकार मंजूषा १६

पर्याय

पर्याय अलंकार की उद्भावना रुद्रट ने की है। उनके अनुसार पर्याय दो प्रकार का हो सकता है। विवक्षित अर्थ के प्रतिपादन में समर्थ अर्थ से ऐसे अर्थ का कथन होना जो न सदृश है, न उसका उत्पादक और न उत्पाद्य, **पर्याय** अलंकार का एक प्रकार है। अन्य आलंकारिकों ने इसे **पर्यायोक्ति** नाम दिया है। रुद्रट के अनुसार **पर्याय अलंकार** का द्वितीय प्रकार वह है, जहां एक वस्तु पर्याय क्रम से अनेकत्र रहे, अथवा अनेक वस्तुएं पर्याय क्रम से एकत्र रहें।

भोज ने भी **पर्याय अलंकार** का लक्षण किया है किन्तु वह अन्य आलंकारिकों के **पर्यायोक्त** का स्थानीय है, **पर्याय** का नहीं। आचार्य मम्मट ने **पर्याय अलंकार** वहां स्वीकार किया है, जहाँ एक वस्तु पर्याय क्रम से अनेकत्र वर्णित हो। अथवा अनेक वस्तुएं पर्याय क्रम से एकत्र वर्णित हों, वहाँ भी **पर्याय अलंकार** होता है। पर्याय अलंकार के इसी लक्षण को परवर्ती प्रायः सभी आलंकारिकों ने स्वीकार किया है। पाणिनि के अनुसार (३.३.३६) पर्याय शब्द 'एकैक क्रम' अर्थ के लिए प्रयुक्त होता है। इससे भिन्न 'समय बीतना' आदि अर्थों में पर्याय पद केवल क्रम के निर्वाह अर्थ में ही प्रयुक्त होता है। **पर्याय-अलंकार** में इसी अर्थ विशेष को आधार के रूप में स्वीकार किया गया है (अतएव क्रमाश्रयणात्पर्याय इत्यन्वर्थमभिधानम्। अलं. सर्व. पृ. १६६। तद्वति तच्छब्दोपचारात् अर्शादित्वात् पर्यायवान् पर्याय इत्यन्ये। एकावली-तरला पृ. ३०५)।

एकत्र अनेक के अथवा अनेकत्र एक के पर्याय क्रम से रहने का वर्णन होने पर भी **पर्याय अलंकार** केवल वहीं होगा, जहां यह क्रमिकता कवि की प्रतिभा से प्रसूत हो। वास्तविक होने की स्थिति में, 'पुरा यत्र स्रोतः पुलिनमधुना त त्र सरिताम्' (उत्तर रामचरित) आदि पद्यों में पर्याय अलंकार न होगा (यत्राधाराधेयतत्सम्बन्धक्रमेषु क्वचिदपि कविकल्पनापेक्षा तत्रैवायमलंकारः। यत्र तु सर्वांशे लोक-सिद्धत्वं न तत्र कश्चिदलंकारः। रसगं. भा. ३ पृ.६३५)।

भेद-प्रभेद:– आचार्य मम्मट **पर्याय अलंकार** के केवल दो प्रकार मानते हैं, जबकि आचार्य रुय्यक अनेकत्व के संहत और असंहत दो

भेद तथा आधार और आधेय में अनेकत्व को स्थिति में पुनः दो दो भेद करते हुए कुल चार भेद मानते हैं (तत्रानेकोऽसंहतरूपः संहतरूपश्चेति द्विविधः। तच्च द्वैविध्यम् आधाराधेयगतमिति चत्वारोऽस्य भेदाः। अलं. स. पृ. १६०)

शोभाकर आधार और आधेय के परस्पर वैलक्षण्य अवैलक्षण्य के कारण चार भेद करते हैं (अस्य (पर्यायस्य) चाधाराधेयरूपतया द्विभेदस्याधाराणाम् आधेयानां च परस्परं वैलक्षण्यमवैलक्षण्यं चेति द्वैधे चत्वारो भेदाः। अलं. रत्ना. पृ. १५७)। अप्पयदीक्षित शुद्ध संकोच और विकास भेद से तीन पर्याय भेद स्वीकार करते हैं। उनके अनुसार ये भेद अनेक में एक के रहने के कथन में स्वीकार किये गये हैं। एक में अनेक होने पर भी पर्याय अलंकार हो सकता है। इस प्रकार इनके अनुसार भी पर्याय के चार प्रकार हो सकते हैं (कुव. पृ. १८०—१८३)। इस प्रकार पर्याय अलंकार के विभाजन के सन्दर्भ में मम्मट रुय्यक शोभाकर एवं अप्पयदीक्षित की परस्पर भिन्न मान्यताएं हैं। विद्यानाथ जगन्नाथ एवं नरसिंह मम्मट का अनुसरण करते हुए केवल दो भेद ही मानते हैं, जबकि नरेन्द्र प्रभसूरि एवं विश्वनाथ रुय्यक का अनुसरण करते हैं।

स्थिताः क्षणं पक्ष्मसु ताडिताधराः
पयोधरोत्सेधनिपातचूर्णिताः।
वलीषु तस्याः स्खलिताः प्रपेदिरे
क्रमेण नाभिं प्रथमोदबिन्दवः॥

(कुमार सं. ५.२४)

इस पद्य में वर्षा की प्रथम बिन्दु आधेय हैं एवं पक्ष्म (पलकें) अधर पयोधर उदरावलि एवं नाभि अनेक आधार हैं, इन अनेक आधारों में उदक बिन्दु का पर्यायक्रम से रहना (गिरना) कथित है। यहां आधेय असंहतरूप है, एक है और कथित है। इस प्रकार यहां प्रथम प्रकार **पर्याय अलंकार** है।

विचरन्ति विलासिन्यो यत्र श्रोणीभरालसाः।
वृककाकशिवास्तत्र धावन्त्यरिपुरे तव॥

इस पद्य में अरिपुर आधार है, जिसमें शत्रु विलासिनी वृक काक

और शिवा अर्थात् शृगालिनी अनेक आधेय हैं, तथा विलासिनी आदि आधेय असंहत है। इस प्रकार यहां द्वितीय प्रकार का **पर्याय अलंकार** है।

विसृष्टरागादधरान्निवर्तितः
स्तनाङ्गरागादरुणाच्च कन्दुकात्।
कुशाङ्कुरादानपरिक्षताङ्गुलिः
कृतोऽक्षसूत्रप्रणयी तया करः ॥
(कुमार. ५.११)

इस पद्य में आधार रूप एक ही हाथ को पर्यायक्रम से अनेक आधारों से सम्बद्ध कहा गया है। क्योंकि वह पहले अधर रंजन में, स्तनों पर अङ्गराग लगाने में, कन्दुक क्रीड़ा में संलग्न था, और अब कुश उत्पाटन में तथा रुद्राक्ष की माला धारण करने में संबद्ध है, यह कहा जा रहा है।

ययोरारोपितस्तारो हारस्तेऽरिवधूजनैः।
निधीयन्ते तयोः स्थूलाः स्तनयोरश्रुबिन्दवः ॥

इस पद्य में भी आधार 'उरोज' हैं, जिन पर संहत हार तथा अश्रु-बिन्दु (आधेय) पर्यायक्रम से वर्णित हैं।

यहां यह स्मरण रखना चाहिए कि विशेष अलंकार में एक आधेय वस्तु अनेक आधार में एक काल में विद्यमान रहती है (सा. द. १०.७३), जबकि पर्याय में एक आधेय वस्तु एक काल में नहीं बतायी जाती, बल्कि पर्यायक्रम से भिन्न भिन्न काल में वर्णित होती हैं। उदाहरणार्थ—'कानने सदुद्देशे' इत्यादि पद्य में राजा एक ही काल में अनेक स्थानों में वर्णित हैं, जबकि 'स्थिताः क्षणं पक्ष्मसु' इत्यादि पद्य में जलबिन्दु अनेक काल में अनेक स्थानों पर वर्णित नहीं है, बल्कि पर्यायक्रम से उनका पक्ष्म पयोधर त्रिवलि एवं नाभि में होना वर्णित है।

पर्याय एवं **परिवृत्ति** अलंकार भी परस्पर अत्यन्त भिन्न हैं। पर्याय में एक वस्तु अनेक आधार में पर्यायक्रम से रहती है, अथवा एक आधार में अनेक वस्तुएं पर्यायक्रम से रहती हैं, जबकि परिवृत्ति में एक वस्तु को छोड़कर अन्य वस्तु का प्राप्त होना वर्णित होता है।

अर्थात् इसमें (परिवृत्ति में) विनिमयगत चमत्कार रहता है, जैसा कि बालभारतगत निम्नलिखित पद्य में हम देख सकते हैं:—

श्रोणीबन्धस्त्यजति तनुतां सेवते मध्यमाग:
पद्भ्यां मुक्तास्तरलगतयः संश्रिता लोचनाभ्याम्।
धत्ते वक्षः कुचसचिवतामद्वितीयं च वक्त्रम्
तद् गात्राणां गुणविनिमयः कल्पितो यौवनेन॥

प्रस्तुत पद्य में श्रोणीबन्ध आदि ने तनुता आदि को छोड़ा, किन्तु उसके बदले में उन्हें किसी वस्तु की उपलब्धि नहीं हुई है; अतः यहाँ **पर्याय अलंकार** है। जबकि 'दत्वा दर्शनमेते मत्प्राणाः वरतनु त्वया क्रीताः। किन्वपहरसि मनो यद् ददासि रणरणकमेतदसत्।' (काव्या. ७.७८) इस पद्य में वरतनु! पद द्वारा सम्बोध्य नायिका द्वारा दर्शन देकर बदले में प्राण लेना तथा मन का अपहरण करके बदले में रणरणक देना कथित है। इस प्रकार इस पद्य में **पर्याय अलंकार** न होकर **परिवृत्ति अलंकार** होगा।

मूल लक्षण

रुद्रट

(१) वस्तु विवक्षितवस्तुप्रतिपादनशक्तमसदृशं तस्य।
यदजनकमजन्यं वा तत्कथनं यत्स पर्यायः॥
(२) यत्रैकमनेकस्मिन्ननेकमेकत्र वा क्रमेण स्यात्।
वस्तु सुखादिप्रकृतिः क्रियते वान्यः स पर्यायः॥

—काव्यालं० ७.४२, ७.४४

भोज

मिषं यदुक्तिभङ्गिमा विसरो यः स सूरिभिः।
निराकांक्षोऽथ साकांक्षः पर्याय इति गीयते। —सर० कण्ठा० ४.८०

मम्मट

एकं क्रमेणानेकस्मिन्पर्यायः।
अन्यस्ततोऽन्यथा। —का० प्र० सू० १८०, १८१

रुय्यक

एकमनेकस्मिन्ननेकमेकस्मिन्क्रमेण पर्यायः।
एकस्मिन्नाधारेऽनेकमाधेयम् स द्वितीयः। —अलं० सर्व० ६०,६१

वाग्भट्ट (प्रथम)

एकमनेकस्मिन्क्रमेण भवति [स पर्यायः । —काव्यानु० पृ० ४४

शोभाकर मित्र

क्रमेणैकमनेकत्रान्यथा वा पर्यायः । —अलं० रत्ना० ६१

जयदेव

पर्यायश्चेदनेकत्र स्यादेकस्य समन्वयः । —चन्द्रालोक ५.६१

विद्यानाथ

क्रमेणैकमनेकस्मिन्नाधारे वर्त्तते यदि ।
एकस्मिन्नथवानेकं पर्यायालंकृतिर्मता । —प्रताप० ८.२५७

विद्याधर

एकस्मिन्यदनेकं क्रमादनेकत्र वा भवत्येकम् ।
तमलंकारनिरूपणनिपुणाः पर्यायमब्रुवन् । —एकावली ८.५१

विश्वनाथ

क्वचिदेकमनेकस्मिन्ननेकं चैकगं क्रमात् ॥
भवति क्रियते वा चेत्तदा पर्याय इष्यते । —सा० द० १०.७९-८०

अप्पयदीक्षित

(१) पर्यायो यदि पर्यायेणैकस्यनेकसंश्रयः ॥
(२) एकस्मिन्यद्यनेकं वा पर्यायः सोऽपि संमतः । —कुव० ११०,१११

पंडितराज जगन्नाथ

क्रमेणानेकाधिकरणमेकमाधेयमेकः पर्यायः ।
क्रमेणानेकमाधेयमेकमधिकरणपरः । —रसगं० तृतीय पृ० ६२५

चिरञ्जीव

पर्यायश्चेदनेकस्य स्यादेकेन समन्वयः । —काव्यविलास २.४८

नरेन्द्रप्रभसूरि

पर्यायोऽनेकमेकस्मिन् क्रमात् तद्व्यत्ययोऽपि यत् ।—अलं० महो० ८.५६

नरसिंह कवि

क्रमादेकमनेकस्मिन्ननेकमपि यत्र वा ।
एकस्मिन्वर्त्तते तत्र पर्यायालंकृतिं विदुः । —नञ्राज० पृ० २१६

विश्वेश्वर

एकमनेकमनेकैकस्मिन् क्रमशोऽस्ति चेत्स पर्यायः ।
—अलंकार मुक्तावली ३५

भट्ट देवशंकर

(अ) पर्यायेण यदेकस्य वस्तुनोऽनेकवस्तुनि।
गमनं वर्ण्यते सा हि पर्यायालङ्कृतिर्मता ॥
(आ) अनेकवस्तुनो यत्र भवनं त्वेकवस्तुनि।
वर्ण्यते तत्र गदिता पर्यायालङ्कृतिः परा।

—अलंकार मञ्जूषा ८२, ८३

वेणीदत्त

सम्बन्धः स्यादनेकत्र क्रमेणैकस्य वस्तुनः।
यस्तं पर्यायनामानमलङ्कारं प्रचक्षते। —अलंकार मञ्जरी १५३

पर्यायोक्ति

पर्यायोक्त प्राचीनतर अलंकारों में से एक है। नाट्यशास्त्र एवं विष्णुधर्मोत्तर पुराण में इसकी चर्चा नहीं है, किन्तु दण्डी भामह, शिलामेघ उद्भट आदि प्रायः सभी प्राचीन अलंकारिकों ने इसका विवेचन प्रस्तुत किया है। किन्तु वामन रुद्रट भोज विद्याधर शौद्धोदनि एवं केशवमिश्र ने इसकी कोई चर्चा नहीं की है।

दण्डी के अनुसार 'इष्ट अर्थ का अभिधान न करके उसकी प्रतीति के लिए प्रकारान्तर से कथन करना' **पर्योक्त** या **पर्यायोक्ति** अलंकार कहलाता है [का० द० २.२९५]।

भामह और अग्निपुराणकार ने दण्डी की अपेक्षा अल्प शब्दों में इसी तथ्य को कहा है अर्थात् उनके अनुसार अन्य प्रकार से अभिधान **पर्यायोक्त अलङ्कार** कहाता है। (अ० पु० ३४५.१८, काव्या० ३८)।

उद्भट ने इसे कुछ अधिक स्पष्ट करते हुए लक्षण में इतना और जोड़ दिया है कि वाच्यवाचक व्यापार से रहित अन्य प्रकार से कथन इस अलंकार में रहता है। [का० सा० सं० ४६]। उनके अनुसार **पर्यायोक्त अलंकार** की स्थिति में वाक्य में प्रयुक्त पदों के विवक्षित अर्थ एवं व्यंग्य अर्थ दोनों समान ही होते हैं, केवल कथन के प्रकार में भेद होता है।

स्मरणीय है कि भामह और उद्भट ध्वनि काव्य को स्वीकार नहीं करते; उनके अनुसार ध्वनि के उदाहरणों को पर्यायोक्त अलंकार का ही उदाहरण माना जाएगा। ['ननु पर्यायोक्तशब्देन प्रकारान्तरेण

उच्यमानत्वात्प्रतीयमानं वस्तु अभिधीयते। तच्चेह प्रतीयमानं प्रधानत्वादलंकार्यतया वक्तुं युक्तं नत्वलंकृतितया। अतः कथं तस्यालंकारव्यपदेशः? उच्यते। प्रधानमपि गुणानां सौन्दर्यहेतुत्वादलंकृतौ साधनत्वं भजति। दृश्यते हि लोके व्यपदेशः स्वाम्यलंकरणकाभृत्या इति। अतोऽत्रापि प्रतीयमानस्य सत्यपि प्रधानत्वे स्वगुणभूतवाच्यसौन्दर्यसाधकतमत्वादलंकारव्यपदेशो न विरुध्यते।' का० सा० सं० वृ० ६.८ पृ० ८६। 'एवमेतद् व्यञ्जकत्वं पर्यायोक्तादिष्वन्तर्भावितम्'। वही पृ० ९३]।

अभिनवगुप्त ने भी प्रासङ्गिक रूप से **पर्यायोक्त अलंकार** में भामह आदि के मत में व्यंग्यार्थ की उपर्युक्त स्थिति को स्वीकार किया है [अतएव पर्यायेण प्रकारान्तरेण अवगमात्मना व्यंग्येनोपलक्षितं सद्-यदभिधीयते तदभिधीयमानमुक्तमेव सत् पर्यायोक्तमेताभिधीयते इति लक्षणपदम्, पर्यायोक्तमिति लक्ष्य पदम्; अर्थालंकारत्वं सामान्यलक्षणं चेति सर्वं युज्यते। ध्वन्या० लोचन पृ० ४६]।

आचार्य मम्मट ने भी **पर्यायोक्त अलंकार** के लक्षण के प्रसंग में उद्भट का ही अनुगमन किया है। [(वृत्ति) वाच्यवाचकभाव व्यतिरिक्तेनावगमनव्यापारेण यत्प्रतिपादनं तत् (पर्यायेण भङ्ग्यन्तरेण कथनात्) पर्यायोक्तम्। [का० प्र० पृ० ७४३-४४]। इनके अनुसार भी **पर्यायोक्त** में वाच्य एवं व्यंग्य अर्थ एक होता है। अतएव यहां चारुत्व विशेष व्यंग्य अर्थ में न होकर कथन के प्रकार में रहता है। स्मरणीय है कि मम्मट व्यंग्यार्थप्रधान ध्वनि काव्य को स्वतन्त्र रूप से एक काव्य प्रकार के रूप में स्वीकार करते हैं; जब कि उद्भट के मत में उसका (ध्वनि काव्य का) कोई स्थान नहीं है। मम्मट के अनुसार ऐसे स्थलों में व्यंग्यार्थ की प्रधानता होने पर वह काव्य ध्वनि कहलाएगा। अन्यथा वहाँ **पर्यायोक्त अलंकार** माना जाएगा। उपर्युक्त सभी मतों में पर्यायोक्त का अर्थ है—"भङ्ग्यन्तरेण कथन'।

रुय्यक के अनुसार व्यंग्य अर्थ का प्रकारान्तर से कथन पर्यायोक्त कहाता है [गम्यस्यापि पर्यायेणाभिधानं पर्यायोक्तम्। अ० स० पृ० १४१], क्योंकि इसके लिए कवि कार्य का शब्दतः कथन करता है तथा वह कार्य अविनाभाव-सम्बन्ध के कारण कारण की प्रतीति आक्षेप द्वारा कराता है। इस प्रकार वह कारण गम्य होकर भी

वाच्यायमान रहता है। इस प्रकार गम्य अर्थ का भी प्रकारान्तर से कथन हो जाता है [अभिधीयमानं हि कार्यं तदविनाभावित्वात्स्वसिद्धये कारणमाक्षिपतीति गम्यमपि तद् वाच्यायमानमिति, यदेव गम्यते तस्यैव भङ्ग्यन्तरेणाभिधानम्। विमर्शिनी पृ० १४१]।

एकावलीकार ने इस तथ्य को स्पष्ट रूप से स्वीकार किया है कि पर्यायोक्त में कार्य के माध्यम से कारण का अभिधान किया जाता है [कार्योपनिबन्धनद्वारेण यत्र कारणमभिधीयते तत्र पर्यायोक्तम्। एका० पृ० २६८]। इनके अनुसार एक अर्थ एक समय में ही वाच्य भी हो व्यंग्य भी हो, यह नहीं हो सकता, अतः इसमें प्रस्तुत कार्य का कथन करते हुए गम्य कारण का कथन किया जाता है। इस प्रकार रुय्यक एवं विद्याधर की मान्यता जहाँ प्रसिद्ध पूर्ववर्ती उद्भट, मम्मट आदि की मान्यता से विरुद्ध है, वहीं इस मान्यता में पर्यायोक्त की सीमा भी पर्याप्त रूप से संकुचित हो जाती है।

पण्डितराज जगन्नाथ उद्भट की मान्यता का अनुसरण करते हैं। उनके अनुसार यह अलंकार निम्नलिखित परिस्थितियों में अन्यतम के रहने पर भी हो सकता है—वाच्य कारण द्वारा कार्य गम्य हो अथवा वाच्य कार्य द्वारा कारणगम्य हो अथवा कार्यकारणभाव से रहित अन्य वस्तु द्वारा प्रस्तुत गम्य हो रहा हो [अयं चालंकारः क्वचित्कारणेन वाच्येन कार्यस्य गम्यत्वे, क्वचित् कार्येण कारणस्य, क्वचिदुभयोदासीनेन सम्बन्धिमात्रेण सम्बन्धिमात्रस्य चेति विपुल विषयः। रसगं० भा. ३ पृ. ३७०]। विश्वनाथ इस प्रसंग में रुय्यक का अनुसरण करते हैं। उदाहरण के रूप में कुछ पद्यों को देखना उचित होगा।

स्पृष्टास्ता नन्दने शच्याः केशसंभोगलालिताः।
सावज्ञं पारिजातस्य मञ्जर्यो यस्य सैनिकैः॥

प्रस्तुत पद्य में हयग्रीव द्वारा स्वर्ग विजयरूप प्रस्तुत कारण की व्यञ्जना सैनिकों द्वारा तिरस्कारपूर्वक पारिजातमञ्जरी के स्पर्शरूप कार्य के द्वारा हो रही है। कार्य द्वारा कारण की व्यञ्जना की योजना का प्रयोजन इस विशिष्ट वर्णन भङ्गिमा का चारुत्वातिशय युक्त होना है। यहाँ यह प्रश्न हो सकता है कि प्रस्तुत पद्य में कार्य के द्वारा कारण की प्रतीति हो रही है, अतः इसे अप्रस्तुत प्रशंसा अलंकार क्यों न स्वीकार किया जाए। इस शंका का समाधान यह है कि इसमें कोई

संदेह नहीं कि अप्रस्तुत प्रशंसा का एक प्रकार यह भी है, जिसमें कार्य से कारण की प्रतीति होती है; किन्तु वहां वह कार्य अप्रस्तुत रहता है; जब कि यहाँ वर्णनीय हयग्रीव के प्रभावतिशय के बोधन के कारण विजय रूप कारण की भाँति तिरस्कार सहित मञ्जरी स्पर्श इत्यादि-रूप कार्य भी प्रस्तुत है। अतः कार्य के अप्रस्तुत न होने के कारण यहाँ **अप्रस्तुत प्रशंसा** अलंकार न होकर **पर्यायोक्त** ही होगा।

इस प्रसङ्ग में स्मरणीय है कि कार्य से कारण की प्रतीति में केवल दो स्थितियाँ हो सकती हैं : कार्य प्रस्तुत हो अथवा कार्य अप्रस्तुत हो। इनमें से जहाँ वर्णनीय होने से कारण की भाँति कार्य में भी प्रस्तुत रूपता रहती है, जैसा कि प्रस्तुत उदाहरण में है, वहाँ कार्य के माध्यम से कारण पर्याय से कथित होता है, अतः वहाँ **पर्यायोक्त अलंकार** होगा।

इस अलंकार में कारण की अपेक्षा कार्य में अतिशय सौन्दर्य रहता है, अतः उसी का वर्णन किया जाता है, जैसा कि उपर्युक्त 'स्पृष्टास्ताः' इत्यादि पद्य में हुआ है और जहां कारण के प्रस्तुत होने पर अप्रस्तुत कार्य का वर्णन किया जाता है, वहां **अप्रस्तुतप्रशंसा** अलंकार होता है, जैसा कि "इन्दुर्लिप्त इवाञ्जनेन" इत्यादि पद्य में हमने देखा है।[1] इस पद्य में इन्दु आदि स्पष्टतः अप्रकृत है, क्योंकि उनके प्रतियोगीभूत मुख आदि प्रकृत है। इसलिए इस पद्य में चन्द्रमा आदि का काजल से पुता होने आदि के अप्रस्तुत कार्य से प्रस्तुत मुख आदि के सौन्दर्य, जो सहृदय के हृदय को आह्लादित करता है, की प्रतीति होती है, अतः इसमें **अप्रस्तुत प्रशंसा अलंकार** है।

इस प्रकार जहां वाच्य अर्थ समान अर्थान्तर के उपस्कारक के रूप में व्यंग्यार्थ की प्रतीति का हेतु होता है, वहां **पर्यायोक्त** अलंकार होता है और जहाँ अप्रस्तुत अर्थ अप्रस्तुत होने के कारण प्रस्तुत अर्थान्तर की प्रतीति में अपने को ही समर्पित कर देता है, वहाँ **अप्रस्तुत प्रशंसा** अलंकार होता है। [इह यत्र कार्यात्कारणं प्रतीयते तत्र कार्यं प्रस्तुतमप्रस्तुतञ्चेति द्वयी गतिः। यत्र प्रस्तुतत्वं कार्यस्य कारणवत्तस्यापि वर्णनीयत्वात्तत्र कार्यमुखेन कारणं पर्यायेणोक्तमिति तदेव

---

१. देखिये इसी ग्रन्थ का अप्रस्तुत प्रशंसा अलंकार प्रकरण पृ. ५८-७० ।

वर्णितम् ।······यत्र पुनः कारणस्य प्रस्तुतत्वे कार्यमप्रस्तुतं वर्ण्यते तत्र स्पष्टैवाप्रस्तुतप्रशंसा । यथा इन्दुर्लिप्त 'इवाञ्जनेन' इत्यादौ । अत्र हि इन्द्वादयः स्फुटमेवाप्राकरणिकाः । तत्प्रतिच्छन्दभूतानां मुखादीनां प्राकरणिकत्वात् ।······एवं च यत्र वाच्योऽर्थोऽर्थान्तरं तादृशमेव स्वोपस्कारकत्वेनागूरयति तत्र पर्यायोक्तम् । यत्र पुनः स्वात्मानमेवाप्रस्तुतत्वात् प्रस्तुतमर्थान्तरं प्रति समर्पयति तत्राप्रस्तुतप्रशंसेति निर्णयः। अ० स० पृ० १३५-१३६]। इस प्रकार उपर्युक्त 'स्पृष्टाः' इत्यादि पद्य में पर्यायोक्त अलंकार ही होगा, अप्रस्तुतप्रशंसा नहीं ।

इसी प्रकार

अनेन पर्यासयताश्रुबिन्दून् मुक्ताफलस्थूलतमान् स्तनेषु ।
प्रत्यर्पिताः शत्रुविलासिनीनामुन्मुच्यसूत्रेण विनैव हाराः ॥

पद्य में जिस प्रकार वर्ण्य राजा के द्वारा शत्रुओं का मारण, जो कि यहां कारण है, जिस प्रकार प्रस्तुत है, उसी प्रकार शत्रुमारण का कार्य मारे गये शत्रुओं की स्त्रियों का रोदन एवं आँसू बहाना भी उक्त राजा के प्रभावातिशय के बोधक होने के कारण प्रस्तुत हैं। इस प्रकार यहाँ भी पर्यायोक्त अलंकार है । प्रस्तुत पद्य रघुवंश (६.२८) से संकलित है । किन्तु रघुवंश के प्रायः सभी मुद्रित संस्करणों में उपर्युक्त पाठ ही प्राप्त है, जबकि विश्वनाथ के साहित्य दर्पण में चतुर्थ चरणगत उन्मुच्य सूत्रेण पदों के स्थान पर आक्षेप सूत्रेण पाठ प्राप्त होता है ।

राजन् राजसुता न पाठयति मां देव्योऽपि तूष्णीं स्थिताः ।
कुब्जे भोजय मां कुमार सचिवै र्नाद्यापि किं भुज्यते ।
इत्थं राजशुकस्तवारिभवने मुक्तोऽध्वगैः पंजरात् ।
चित्रस्थानवलोक्य शून्यवलभावेकैकमाभाषते ॥

प्रस्तुत पद्य में 'वर्णनीय राजा की विजय यात्रा को सुनकर शत्रु राजा राजधानी छोड़कर भाग गये' यह अर्थ गम्य है, जिसे उसके कार्य पञ्जर-मुक्त शुक के कथन के माध्यम से व्यक्त किया गया है। आचार्य मम्मट ने प्रस्तुत पद्य को अप्रस्तुत प्रशंसा अलंकार के उदाहरण के रूप में प्रस्तुत किया है। उनका कहना है कि इस पद्य में प्रस्थान के लिए उद्यत आपको जानकर सहसा ही आपके शत्रु भाग

गये। इस प्रकार की विवक्षा होने से कारण के प्रस्तुत होने पर कार्य का कथन किया गया है, अतः यहाँ अप्रस्तुत प्रशंसा अलंकार है (अत्र प्रस्थानोद्यतं भवन्तं ज्ञात्वा सहसैव त्वदरयः पलाय्यगताः इति कारणे प्रस्तुते कार्यमुक्तम्। का० प्र० पृ० ६७९)।

इसके विपरीत रुय्यक इस पद्य में **पर्यायोक्त अलंकार** ही मानते हैं (राजन् राजसुताः इत्यत्र पर्यायोक्तमेव। अ० स० पृ० १३६)। रुय्यक के अभिमत को स्पष्ट करते हुए विद्याचक्रवर्त्ती का कहना है कि क्योंकि यहां राजशुक-वृत्तान्त भी नायक के प्रताप का अङ्ग होने के कारण प्रकृत है, अतः यहाँ **पर्यायोक्त** ही मानना चाहिए (तत्र राजशुकवृत्तस्यापि नायकप्रतापाङ्गतया प्रकृतत्वात् पर्यायोक्तमेव बोद्धव्यम्। संजीवनी पृ० १९६)।

प्रस्तुत पद्य में पर्यायोक्त अथवा अप्रस्तुत प्रशंसा के होने का निर्णय इस बात पर निर्भर है कि राजशुक वृत्तान्त को प्रस्तुत वृत्तान्त माना जाता है अथवा अप्रस्तुत वृत्तान्त। रुय्यक इसे प्रस्तुत मानते हैं एवं मम्मट अप्रस्तुत। वस्तुतः यहां यदि शत्रुपलायन के अनेक कार्यों में अन्यतम 'शुकाभाषण' को प्रस्तुत स्वीकार किया जाता है, तो अन्य कार्यों को भी प्रस्तुत ही मानना अपेक्षित होगा। उस स्थिति में सभी कार्यों को प्रस्तुत मान लेने पर अप्रस्तुत को खोज पाना कठिन होगा। अतः शुकाभाषण इत्यादि कार्यों को अप्रस्तुत मानना ही उचित है, जो मम्मट का पक्ष है। प्रस्तुत प्रसङ्ग में विश्वनाथ ने दोनों पक्षों को निष्पक्ष भाव से प्रस्तुत कर स्वयं को तटस्थ रखना ही उचित समझा है। अथवा यह भी कहा जा सकता है कि विश्वनाथ लक्षण के प्रयोग में रुय्यक के अनुयायी हैं। अतः यहाँ भी रुय्यक का पक्ष ही उनका पक्ष है।

मूल लक्षण

अग्नि

पर्यायोक्तं यदन्येन प्रकारेणाभिधीयते। —अग्निपुराण ३४५.१८

दण्डी

अर्थमिष्टमनाख्याय साक्षात्तस्यैव सिद्धये।
यत्प्रकारान्तरख्यानं पर्यायोक्तं तदिष्यते॥ —काव्यादर्श २.२९५

भामह

पर्यायोक्तं यदन्येन प्रकारेणाभिधीयते । —काव्यालंकार ३.८

शिलामेघसेन

दण्डी अनुकृत २८५

उद्भट

पर्यायोक्तम् यदन्येन प्रकारेणाभिधीयते ।
वाच्यवाचकवृत्तिभ्यां शून्येनावगमात्मना । —काव्य० सार सं० ४.६

रुद्रट

पर्याय नाम से स्वीकृत । (देखें पर्याय अलंकार) —काव्यालं० ७.४२

भोज

पर्याय नाम से स्वीकृत (देखे पर्याय अलंकार)—सर०कं०४.८२. पृ०२२९

कुन्तक

यद् वाक्यान्तरवक्तव्यं तदन्येन समर्थ्यते ।
येनोपशोभानिष्पत्त्यै पर्यायोक्तं तदुच्यते । —वक्रोक्ति जीवित ३.२४

मम्मट

पर्यायोक्तं विना वाच्यवाचकत्वेन यद्वचः ।
—काव्यप्रकाश सू० १७५ का० ११५

रुय्यक

गम्यस्यापि पर्यायेणाभिधानं पर्यायोक्तम् । —अलं० स० ३६

वाग्भट (प्रथम)

ध्वनिताभिधानं पर्यायोक्तिः । —काव्यानु० पृ० ३६

हेमचन्द्र

व्यङ्ग्यस्योक्तिः पर्यायोक्तम् । —काव्यानु० ६.६ सू० १२१

शोभाकरमित्र

सापेक्षत्वादुपादानेनान्यप्रतीतिर्भङ्ग्यन्तरेण वा ऽभिधानं पर्यायोक्तम् ।
—अलं० रत्ना० ४६

जयदेव

कार्याद्यैः प्रस्तुतैरुक्तैः पर्यायोक्तिम्प्रचक्षते । —चन्द्रालोक ५.६८

विद्यानाथ

कारणं गम्यते यत्र प्रस्तुतात्कार्यवर्णनात् ।
अप्रस्तुतत्वेन सम्बद्धं तत्पर्यायोक्तमुच्यते ॥ —प्रताप० ८.२१२

संघरक्खित

अवत्वा भिमतं तस्स सिद्धिया दस्सनञ्ञथा ।
वदन्ति तं परियायवुत्तीति सुचि बुद्धियो । —सुबोधालंकार २७६

विद्याधर

यत्र व्यंग्यस्य सतो हेतोः कार्याभिधानभङ्गीभिः ।
स्यादभिधानं सुधियः पर्यायोक्तं विदुस्तदिदम् । —एका० ८.२६

विश्वनाथ

पर्यायोक्तं यदा भङ्ग्या गम्यमेवाभिधीयते । —सा० द० १०.६०

अमृतानन्द यति

इष्टमर्थमनाख्याय साक्षात्तस्यैव सिद्धये ।
यत्प्रकारान्तराख्यानं पर्यायोक्तं मतं यथा । —अलं० सं० ५.३८-३६

वाग्भट्ट (द्वितीय)

अतत्परतया यत्र जल्प्यमानेन वस्तुना ।
विवक्षितं प्रतीयेत पर्यायोक्तिरियं यथा । —वाग्भटालं० ४.१०८

अप्पयदीक्षित

पर्यायोक्तं तु गम्यस्य वचो भंग्यन्तराश्रयम् ।
पर्यायोक्तं तदप्याहुः यद् व्याजेनेष्टसाधनम् । —कुवल० ६८, ६६

पंडितराज जगन्नाथ

विवक्षितस्य भंग्यन्तरेण प्रतिपादनं पर्यायोक्तम् ।
—रसगं० भा० ३ पृ० ३५४

चिरञ्जीव

फले प्रकटीभूते पर्यायोक्तिस्तु कारणे । —काव्यवि० २.३७

नरेन्द्रप्रभसूरि

प्रस्तुतत्वे द्वयोः कार्यात्कारणं यत्र गम्यते ।
पर्यायेणोच्यमानत्वात्पर्यायोक्तं तदुच्यते । —अलं० महो० ८.४५

भावदेव सूरि

पर्यायोक्तिर्यत्र कार्यं भंग्यन्तरत उच्यते । —काव्या० सं० ६.२७

नरसिंह

(१) कारणं गम्यते यत्र प्रस्तुतात्कार्यवर्णनात् ।
अप्रस्तुतत्वेन सम्बद्धं तत्पर्यायोक्तमुच्यते ।

(२) गम्यस्यैव भंग्यन्तरेण वा कथनं पर्यायोक्तम् ।

(३) पर्यायोक्तं तदप्याहुः यद् व्याजेनेष्टसाधनम् ॥

—नञ्राज० पृ० २००, २०८

देवशंकर पुरोहित

(१) गम्यं विवक्षितं यत्र भंग्यन्तरेण सूच्यते।
पर्यायोक्तालंकृतिः सा बुधैस्तत्र प्रकीर्त्तिता।
(२) व्याजेन केनचित्स्वेष्टसिद्धिर्यत्र हि गम्यते।
पर्यायोक्तं तदप्याहुः परेऽलंकारकोविदाः॥

—अलं० मं० ४५-४६

विश्वेश्वर

पर्यायोक्तं कथितं वाच्यस्यैवान्यभंग्योक्तिः। —अलं० मु० ३३

परकाल स्वामी

पर्यायोक्तं त्वन्यभंग्या कथितं चेद्विवक्षितम्।
व्याजेन रमणीयेन यदि स्वस्य परस्य वा।
साध्यतेऽभीप्सितं तच्च पर्यायोक्तं विदु र्बुधाः।

—अलं० मणि० ८७-८८

वेणीदत्त

व्यञ्जनागम्य एवार्थो यत्र भंग्याभिधीयते।
काव्यज्ञास्तदलंकारं पर्यायोक्तं प्रचक्षते॥ —अलं० मं० १४४

पिहित

पिहित अलंकार को केवल रुद्रट वाग्भट (प्रथम) जयदेव अप्पय-दीक्षित, चिरञ्जीव एवं भट्टदेवशंकर पुरोहित ने स्वीकार किया है। इस अलंकार के स्वरूप के सम्बन्ध में आलंकारिक आचार्यों को दो वर्गों में रखा जा सकता है। रुद्रट एवं वाग्भट को एक वर्ग में तथा जयदेव अप्पयदीक्षित आदि को द्वितीय वर्ग में। रुद्रट और वाग्भट के अनुसार एक आधार में विद्यमान दो आधेय गुणों में अन्यतर अपनी प्रबलता के कारण यदि दूसरे को तिरोहित (आच्छादित) कर ले तो वहां **पिहित अलंकार** स्वीकार किया जाता है। यथा—

प्रियतमवियोगजनिता कृशता कथमिव तवेयमङ्गेषु।
लसदिन्दुकलाकोमलकान्तिकलापेषु लक्ष्यते ॥

इस पद्य में कामिनीगत कृशता का तिरोधान सौन्दर्य (कान्ति)

द्वारा निबद्ध हुआ है। अतः रुद्रट वाग्भट (प्रथम) के अनुसार यहाँ **पिहित अलंकार** होगा।

जयदेव आदि के अनुसार इसके गुप्त वृत्तान्त को मैने जान लिया है, यह प्रगट करने के लिए जहां विशिष्ट चेष्टा की गयी हो, वहाँ **पिहित अलंकार** होता है।

पद्मालयामन्दिरतः समागतं निरीक्ष्य कृष्णां हृदि लग्नयावकम्।
सा सूचयन्तीव रतिश्रमं हरेश्चकार राधा व्यजनं विचक्षणा॥

इस पद्य में कृष्ण के पद्मालया (लक्ष्मी) के साथ किये गये गुप्त विहार को जानकर राधा द्वारा व्यजन करके उसके ज्ञात होने की सूचना देने यहां निबद्ध है।

मूल लक्षण

रुद्रट

यत्रातिप्रबलतया गुणः समानाधिकरणमसमानम्।
अर्थान्तरं पिदध्यादाविर्भूतमपि तत् पिहितम्॥

—काव्यालंकार ९.५०

वाग्भट (प्रथम)

एकत्राधारे यत्राधेयद्वयस्यैकेनैकं विधीयते तत्पिहितम्।

—काव्यानुशासन पृ० ४३

जयदेव

पिहितं परवृत्तान्तज्ञातुरन्यस्य चेष्टितम्॥ —चन्द्रालोक ५.१०४

अप्पयदीक्षित

पिहितं परवृत्तान्तज्ञातुः साकूतचेष्टितम्॥ —कुवलयानन्द १५२

चिरञ्जीव

पिहितं परवृत्तान्तज्ञानज्ञापकचेष्टितम्॥ —काव्यविलास ५.५५

भट्टदेवशंकर पुरोहित

परवृत्तान्तविदा यत्र चेष्टाकूतसमन्विता।
क्रियते तत्र गदिता पिहितालंकृतिर्बुधैः॥

—अलंकार मंजूषा ११७ पृ० २०५

परकालस्वामी

परवृत्तज्ञसाकूतचेष्टितं पिहितं मतम्। —अलं० मणि० १५४

पूर्व

पूर्व अलंकार को केवल रुद्रट एवं वाग्भट (प्रथम) इन दो आलंकारिकों ने स्वीकार किया है। रुद्रट के अनुसार यह औपम्यमूलक और अतिशयमूलक दो प्रकार का हो सकता है। (१) एक काल में जहां दो सदृश (उपमानोपमेयभाव विशिष्ट) अर्थों की उत्पत्ति है, किन्तु उपमेय का प्रथम निबन्धन होने से चारुत्व विशेष की प्रतीति होती है, वहां **पूर्व अलंकार** होता है।

काले जलदकुलाकुलदशदिशि पूर्वं वियोगिनीवदनम्।
गलदविरलसलिलभरं पश्चादुपजायते ॥

प्रस्तुत पद्य में 'वर्षाकाल में आकाश के सदृश वियोगिनीवदन भी अविरल सलिल स्रवण करने वाला हो गया, इस कथन में उपमेय वियोगिनी वदन का पहले जल लुप्त होना कहा गया है; अतः यहां **औपम्यमूलक पूर्व अलंकार है।**

अतिशयमूलक पूर्व अलंकार में कारण की उपस्थिति से पूर्व ही कार्य के प्रादुर्भाव का निबन्धन किया जाता है। मम्मट रुय्यक आदि आचार्यों के अनुसार इस स्थिति में कारणकार्यपौर्वापर्यविपर्यमूलक **अतिशयोक्ति** अलंकार माना जाता है। काव्यानुशासनकार वाग्भट ने **पूर्व** अलंकार में औपम्य अथवा अतिशय पर आश्रित भेद की कल्पना नहीं की है, किन्तु उन्होंने जो उदाहरण प्रस्तुत किया है, उसके आधार पर कहा जा सकता है कि वे रुद्रट के अतिशयमूलक **पूर्व** को ही स्वीकार करते हैं, जो वस्तुतः **अतिशयोक्ति** का ही एक प्रकार है।

मूल लक्षण

रुद्रट **औपम्यमूलक**

यत्रैकविधावर्थौ जायेते यौ तयोरपूर्वस्य।
अभिधानं प्राग्भवतः सतोऽभिधीयेत तत्पूर्वम्॥ —काव्यालंकार ८.९७

अतिशयमूलक

यत्रातिप्रबलतया विवक्ष्यते पूर्वमेव जन्यस्य।
प्रादुर्भावः पश्चाज्जनकस्य तु तद् भवेत् पूर्वम्॥ —वही ९.३

वाग्भट्ट (प्रथम)

अर्वाचीनस्यार्थस्य पृथगभिधानं पूर्वम्। —काव्यानुशासन पृ० ४३

पूर्वरूपता

पूर्वरूप अथवा **पूर्वरूपता** अलंकार की उद्भावना जयदेव ने की है। उनके अनुसार परिस्थिति भिन्न हो जाने पर भी पूर्व अवस्था का ही अनुवर्त्तन होने पर **पूर्वरूप अलंकार** माना जाता है।

'दीपे निर्वापिते ह्यासीत्काञ्ची रत्नैरहर्महः।

इस पद्य में दीप के निर्वापित हो जाने पर भी प्रकाश का बना रहना निबद्ध होने से यहां **पूर्वरूप अलंकार** मानना चाहिए। अप्पयदीक्षित ने जयदेव द्वारा स्वीकृत **पूर्वरूप** को स्वीकार करने के साथ ही पुनः अपने रूप की प्राप्ति को **पूर्वरूप अलंकार** माना है। चिरञ्जीव एवं विश्वेश्वर ने जयदेव का अनुसरण करते हुए प्रथम प्रकार के ही **पूर्वरूप अलंकार** को स्वीकार किया है। मम्मट आदि आलंकारिकों के अनुसार उपर्युक्त स्थितियों में **तद्गुण अलंकार** मानना चाहिए। (तद्गुण प्रकरण देखें)

मूल लक्षण

जयदेव

यद् वस्तुनोन्यथारूपं तथा स्यात् पूर्वरूपता ॥ — चन्द्रालोक ५.९९

अप्पयदीक्षित

पुनः स्वगुणसम्प्राप्तिः पूर्वरूपमुदाहृतम् ॥
पूर्वावस्थानुवृत्तिश्च विकृते सति वस्तुनि ॥
—कुवलयानन्द १४२-१४३

चिरञ्जीव

रूपं चेदन्यथाभूतं तथा स्यात्पूर्वरूपता ॥ —काव्यविलास २.५२

विश्वेश्वर

पुनः स्वगुणसम्प्राप्तिर्विज्ञेया पूर्वरूपता ॥ — अलंकार मुक्तावली ५०.१/२

प्रतिप्रसव

प्रतिप्रसव अलंकार को केवल शोभाकर मित्र ने स्वीकार किया है, उनके अनुसार स्वगुण की पुनः प्राप्ति का निबन्धन **प्रतिप्रसव-अलंकार** कहाता है।

विभिन्नवर्णा गरुडाग्रजेत सूर्यस्य रथ्या परितः स्फुरन्त्या।
रत्नै पुन र्यत्र रुचां रुचं स्वामानिन्यिरे वंशकरीरनीलैः ॥

(शिशु. ४. १४)

प्रस्तुत पद्य में अरुण की कान्ति से अन्तरित होने के कारण चली गयी कान्ति की पुनः प्राप्ति का निबन्धन होने से **प्रतिप्रसव अलंकार** माना जाएगा।

मूल लक्षण

शोभाकर

प्रत्यापत्तिः प्रतिप्रसवः ॥ —अलंकार रत्नाकर ८५

प्रतिभा

प्रतिभा अलंकार को भी केवल शोभाकर मित्र ने स्वीकार किया है, उनके अनुसार प्रभावान्तर से अनवगत किन्तु उन उन प्रस्ताव-नाओं के साथ सम्भाव्यमान अर्थ की प्रतिभावशात् कल्पना करने को **प्रतिभा अलंकार** माना जाता है।

स्वर्गस्त्री यदि तत्कृतार्थमभवच्चक्षुःसहस्रं हरेः।
नागी चेन्न रसातलं शशभृता शून्यं मुखेऽस्याः मतिः॥

इत्यादि पद्य में लोकोत्तर सौन्दर्य की आगार स्वर्गस्त्री (अप्सरा) के होने पर ही इन्द्र के सहस्रनेत्र की कृतार्थता की संभावना कवि प्रतिभावश की गयी है, इसी प्रकार द्वितीय चरण में लोकोत्तर सौन्दर्य-शाली नागी के होने पर ही रसातल में उसके मुखचन्द्र की सम्भावना करके चन्द्र के अभाव का अभाव कवि प्रतिभावश कल्पित किया गया है। इस प्रकार शोभाकर के अनुसार यहां **प्रतिभा अलंकार** मानना चाहिए।

मूल लक्षण

शोभाकर

संभाव्यमानस्य (कल्पनम्) प्रतिभा ॥ —अलंकार रत्नाकर ३५

प्रतिमा

प्रसिद्ध अर्थान्तर से सम्बद्ध कार्यकारित्व आदि धर्मों के उपनिबन्धन से आर्थ औपम्य की प्रतीति होने पर शोभाकर के अनुसार **प्रतिमा अलंकार** माना जाता है। इस अलंकार को केवल **शोभाकर** मित्र ने ही स्वीकार किया है। उनके अनुसार इव आदि का प्रयोग न होने के कारण यह **उपमा अलंकार** से, दो धर्मियों का सामानाधिकरण्येन प्रयोग न होने से यह **रूपक अलंकार** से, दोनों अर्थात् उपमान और उपमेय का उपादान होने के कारण यह **अतिशयोक्ति** से, धर्मों में सम्बन्ध का अभाव न होने के कारण यह **निदर्शना अलंकार** से, धर्मों का प्रकृत और अप्रकृत अनेक से सम्बन्ध का उपनिबन्धन न होने के कारण यह **तुल्ययोगिता** आदि **अलंकारों** से भिन्न है यह स्वीकार करना चाहिए।

'अङ्गे पुलकमधरं सवेपितं जल्पितं ससीत्कारम्।
सर्वं शिशिरेण कृतं यत्कर्त्तव्यं प्रियतमेन ॥'

इस पद्य में प्रियतम कृत पुलक आदि के सदृश शिशिरकृत पुलक आदि का निबन्धन होने से प्रियतम और शिशिर में आर्थ औपम्य की प्रतीति होती है, अतः यहां **प्रतिमा अलंकार** माना जाता है।

मूल लक्षण

शोभाकर

अन्यधर्मयोगादार्थमौपम्यं प्रतिमा ॥ —अलंकार रत्नाकर १३

प्रतिवस्तूपमा

प्रतिवस्तूपमा अलंकार औपम्य आश्रित प्राचीनतम अलंकारों में है। भरत विष्णुधर्मोत्तरपुराणकार और अग्निपुराणकार के अतिरिक्त प्रायः सभी परवर्ती अलंकारिकों ने इसे स्वीकार किया है। इस अलंकार (प्रतिवस्तूपमा) अलंकार में औपम्य दो वाक्यों के बीच रहा करता है, जबकि तुल्ययोगिता और दीपक में पदार्थगत होता है, साथ ही गम्यमान भी रहता है। वाक्यगत औपम्य दृष्टान्त और निदर्शना में भी विद्यमान रहता है, किन्तु इन तीनों अलंकारों में फिर

भी परस्पर भेद है और यह भेद औपम्य के निर्देश के प्रकार के आधार पर हुआ करता है।

साधारण धर्म का निर्देश सामान्यतः तीन प्रकार का होता है:— अनुगामी रूप से, वस्तुप्रतिवस्तुभाव से और बिम्बप्रतिबिम्ब भाव से। जब साधारण धर्म उपमान और उपमेय में एक रूप से निर्दिष्ट रहता है, तब उसे अनुगामी अथवा एकरूपतया निर्देश कहलाता है। जब एक अर्थ वस्तु रूप से उपमेय में निर्दिष्ट होता है और अन्य अर्थ उपमान में प्रतिवस्तु के रूप में निर्दिष्ट होता है, तब उस निर्देश को वस्तुप्रतिवस्तुभाव से निर्देश कहते हैं इस निर्देश में साधारण धर्म यद्यपि उपमान और उपमेय में एक ही रहता है, किन्तु उसका निर्देश दो भिन्न भिन्न शब्दों द्वारा होता है। यदि उपमान और उपमेय में दो भिन्न धर्म होते हैं, किन्तु उन दोनों धर्मों के बीच सादृश्य होता है, तो उस निर्देश को बिम्बप्रतिबिम्बभाव से निर्देश समझना चाहिए (साधारणधर्मस्य क्वचिदनुगामितया एकरूपेण निर्देशः। क्वचिद् वस्तुप्रतिवस्तुभावेन पृथङ् निर्देशः। पृथङ् निर्देशे सम्बन्धिभेदमात्रम् प्रतिवस्तूपमावत्, बिम्बप्रतिबिम्बभावो वा दृष्टान्तवत्। अलं. सर्व. पृ. ४२)। अनुगामितया उभयाभिसम्बन्धार्हतया। 'मुखं चन्द्र इव हृद्यम्' इत्येकेनैव रूपेण हृद्यत्वादेः साधारणधर्मस्य निर्देशः क्रियते इत्येकं वैचित्र्यम्। अथ वस्तुप्रतिवस्तुभावेन पृथङ् निर्देश इति द्वितीयम्। एकोऽर्थो वस्तुत्वेनोपमेयगतः, अन्योऽर्थस्तूपमानगतः प्रतिवस्तुत्वेन निर्दिश्यते। यदा पुनः 'अंसार्पितलम्बहारो सनिर्झरो गिरिरिव' इत्यादौ साधर्म्यं धर्मिद्वारकं तदा द्वयोरैकात्म्यभावान्न वस्तुप्रतिवस्तुभावोऽपितु बिम्बप्रतिबिम्बभावः। अलं. स. संजीविनी पृ. ४१—४२)

प्रतिवस्तूपमा अलंकार में औपम्य का निर्देश वस्तुप्रतिवस्तुभाव से होता है, जबकि दृष्टान्त में उसका निर्देश बिम्बप्रतिबिम्बभाव से किया जाता है तथा निदर्शना में यह औपम्य वस्तु सम्बन्ध से गम्यमान रहता है। वाक्यार्थगत औपम्य की समानता होते हुए भी यही तीनों अलंकारों का भेदक तत्त्व है।

प्रतिवस्तूपमा अलंकार का सर्वप्रथम विवेचन हमें दण्डी के काव्यादर्श में **उपमा** अलंकार के अन्तर्गत मिलता है। भामह और संघरक्खित ने भी **प्रतिवस्तूपमा** अलंकार को उपमा के भेद के रूप में ही स्वीकार

किया था। **प्रतिवस्तूमा** को **उपमा** से अलग एक स्वतन्त्र अलंकार के रूप में मानने का श्रेय आचार्य उद्‌भट को है। उन्होंने इस अलंकार का प्रथम वर्ग में ही अर्थात् केवल आठ अलंकार मानने वाले आचार्यों के मत में भी स्वीकृत माना है। साथ ही उन्होंने **दृष्टान्त अलंकार** को भी इससे पृथक् माना है।

रुद्रट ने प्रतिवस्तूपमा अलंकार को उभयन्यास अलंकार के नाम से वर्णित किया है, किन्तु भोज के अनुसार उभयन्यास तो अर्थान्तर-न्यास से अभिन्न है। परवर्त्ती आलंकारिकों में वामन मम्मट रुय्यक शोभाकर जयदेव विद्यानाथ विद्याधर वाग्भट अप्पयदीक्षित चिरञ्जीव नरेन्द्रप्रभ सूरि तथा नरसिंह कवि आदि ने उद्‌भट का अनुगमन करते हुए इसे स्वतन्त्र रूप से स्वीकार किया है।

प्रतिवस्तूपमा शब्द में वस्तु शब्द वाक्यार्थ का वाचक है तथा इस अलंकार में प्रति वाक्यार्थ में साम्य होता है। अतः इस नाम को अन्वर्थ संज्ञा कहना अनुचित न होगा (वस्तुशब्दस्य वाक्यार्थवाचित्वे प्रतिवाक्यार्थमुपमा साम्यमित्यन्वर्थाश्रयणात्। अलं. सं. पृ॰ ११९)

विश्वनाथ ने उद्‌भट आदि के समान प्रतिवस्तूपमा को स्वतन्त्र अलंकार तो माना है। किन्तु रुय्यक की भांति इसमें वस्तुप्रतिवस्तुभाव से साधारण धर्म के निर्देश की शब्दशः कोई चर्चा नहीं की है। किन्तु इनके द्वारा दिये गये उदाहरणों को देखकर यह कहा जा सकता है कि वस्तुप्रतिवस्तुभाव का नाम न लेकर भी वे दृष्टान्त को इससे पृथक् करने के लिए उसमें (दृष्टान्त में) वस्तुओं का प्रतिबिम्ब अर्थात् साधा-रण धर्म का बिम्ब प्रतिबिम्ब भाव से निर्देश अनिवार्यतः मानते हैं।

मूल लक्षण

दण्डी

वस्तुकिंचिदुपन्यस्य न्यसनात्तत्सधर्मणः।
साम्यप्रतीतिरस्तीति प्रतिवस्तूपमा यथा॥ —काव्यादर्श २.४६

भामह

समानवस्तुन्यासेन प्रतिवस्तूपमोच्यते।
यथेवानभिधानेऽपि गुणसाम्यप्रतीतितः। —काव्यालंकार २.३४

उद्भट

उपमानसन्निधाने च साम्यवाच्युच्यते ।

बुधैर्यत्र उपमेयस्य च कविभिः सा प्रतिवस्तूपमा गदिता ।

—काव्यलंकार सारसंग्रह १.२२

वामन

उपमेयोक्तौ समानवस्तुन्यासः प्रतिवस्तु ।

—काव्यालंकारसूत्र वृत्ति २.३.२

भोज—द्रष्टव्य साम्य अलंकार

मम्मट

...............प्रतिवस्तूपमा सा ।

सामान्यस्य द्विरेकस्य यत्र वाक्यद्वये स्थितिः ।

—काव्यप्रकाश सू० १५४ का० १०१.२

रुय्यक

वाक्यार्थगतत्वेन सामान्यस्य वाक्यद्वये पृथङ्निर्देशे प्रतिवस्तूपमा ।

अलंकार सर्वस्व पृ० ९४

शोभाकर मित्र

वाक्यद्वयेऽसकृत्प्रतिवस्तूपमा । —अलंकार रत्नाकर १६

जयदेव

वाक्ययोरर्थसामान्ये प्रतिवस्तूपमा मता । —चन्द्रालोक ५.५३

विद्यानाथ

यत्र सामान्यनिर्देशः पृथग्वाक्यद्वये यदि ।

गम्यौपम्याश्रिता सा स्यात्प्रतिवस्तूपमा मता ॥ —प्रताप० ८.१७८

विद्याधर

वाक्यार्थगतत्वेन स्यात्सामान्यं पृथग्विनिर्दिष्टम् ।

यस्यां द्वेधा तज्ज्ञैः सा प्रतिवस्तूपमा समाम्नाता । —एकावली ८.१७

विश्वनाथ

प्रतिवस्तुपमा सा स्याद्वाक्ययोर्गम्यसाम्ययोः ।

एकोऽपि धर्मः सामान्यो यत्र निर्दिश्यते पृथक् । —सा. द. १०.४९-५०

वाग्भट्ट (द्वितीय)

अनुपात्ताविवादीनां वस्तुना प्रतिवस्तुना ।

यत्र प्रतीयते साम्यं प्रतिवस्तुपमा तु सा । —वाग्भटालंकार ४.७१

अप्पयदीक्षित

वाक्ययोरेकसामान्ये प्रतिवस्तूपमा मता। —कुवलयानन्द ५१

पंडितराज जगन्नाथ

वस्तुप्रतिवस्तुभावापन्नसाधारणधर्मक वाक्यार्थयोरार्थमौपम्यं प्रतिवस्तूपमा। —रसगंगाधर भा० ३ पृ० ८६

चिरञ्जीव

पृथगुद्दिष्टसामान्ये प्रतिवस्तूपमा मता ॥ —काव्यविलास २.३१

नरेन्द्रप्रभ सूरि

यत्रैकमन्यपर्यायं सामान्यं वाक्ययोर्द्वयोः।
पृथक्पृथक्प्रयुज्येत प्रतिवस्तुपमा तु सा ॥
—अलंकार महोदधि ८.३५

नरसिंह कवि

यत्र वाक्यद्वये वस्तुप्रतिवस्तुतया भवेत्।
समानधर्मनिर्देशः प्रतिवस्तूपमा मता ॥
—नञ्जराजयशोभूषण पृ० १९९

भट्टदेवशंकर पुरोहित

उपमानोपमेयत्वशालिनोर्वाक्ययोर्द्वयोः।
पृथक् समानधर्मैक्यै प्रतिवस्तूपमा मता ॥ —अलंकार मञ्जूषा ३३

विश्वेश्वर

एकोऽपि द्विरुपात्तस्तां प्रतिवस्तूपमामाहुः ॥ —अलंकार मुक्तावली २०

श्रीकृष्णब्रह्मतन्त्र परकालस्वामी

सादृश्यावसिते वाक्यद्वये चेद्धर्म एककः।
द्विरुपात्तो भवेत्सा तु प्रतिवस्तूपमोच्यते ॥ —अलङ्कार मणिहार ६७

वेणीदत्त

प्रतिवस्तूपमां विद्यादुपमानोपमेययोः ।
वाक्ययोरेकधर्मश्चेद् विभिन्नपदबोधितः ॥ —अलंकार मंजूषा ३३

प्रतिषेध

जहाँ चारुत्वातिशय के लिए प्रसिद्ध निषेध अर्थात् भेद का कथन निबद्ध हो वहां **'प्रतिषेध अलंकार'** माना जाता है। इस अलंकार को केवल अप्पयदीक्षित एवं भट्ट देवशंकर पुरोहित ने स्वीकार किया है।

'न द्यूतमेतत्कितव ! क्रीडनं निशतैः शरैः ।।'

शकुनि के प्रति कहे गये इस वचन में युद्ध से द्यूत के सुविदित भेद का (युद्ध से द्यूत भिन्न है, इस कथन का) निषेध करते हुए निबन्धन किया गया है, अतः यहां **प्रतिषेध अलंकार** है।

मूल लक्षण

अप्पयदीक्षित

प्रतिषेधः प्रसिद्धस्य निषेधस्यानुकीर्त्तनम् ।। —कुवलयानन्द १६५

भट्टदेवशंकर पुरोहित

निषेधः सुप्रसिद्धो हि मुखेनाप्यनुकीर्त्तितः।
प्रतिषेधः पृथग्भूतो बाधितप्रतिषेधतः ।। —अलंकार मंजूषा १२६

श्रीकृष्णब्रह्मतन्त्र परकालस्वामी

प्रतिषेधः प्रतीतस्य प्रतिषेधस्य वर्णनम् । —अलंकार मणिहार १६३

प्रत्यनीकन्यास एवं प्रतीकन्यास

प्रतीकन्यास तथा **प्रत्यनीकन्यास** की चर्चा सरस्वती कण्ठाभरण-कार भोज ने की है; उनके अनुसार ये अर्थान्तरन्यास अलंकार से अभिन्न हैं। सरस्वती कण्ठाभरण में प्राप्त संकेत से यह अनुमान करना अस्वाभाविक न होगा कि कुछ प्राचीन आचार्य इन्हें स्वीकार करते रहे हैं, जिनके ग्रन्थ आज हमें प्राप्त नहीं हैं।

मूल लक्षण

भोज

..............अर्थान्तरन्यास एव सः।
स प्रत्यनीकन्यासश्च प्रतीकन्यास एव च ।।

—सरस्वती कंठाभरण ४.७१

प्रतीप

व्यतिरेक की भांति **प्रतीप अलंकार** भी औपम्याश्रित वैपरीत्यमूलक अलंकारों में अन्यतम है। इसके दो प्रकार हैं: प्रसिद्ध उपमान की उपमेय के रूप में एवं उपमेय की उपमान के रूप में कल्पना का निबन्ध **प्रतीप अलंकार** का प्रथम प्रकार है। उपमान का निष्फलत्व कथन **प्रतीप**

अलंकार का द्वितीय प्रकार है। इन में प्रथम प्रकार को अर्थात् उपमान और उपमेय के विपर्यास को दण्डी ने स्वतन्त्र अलंकार न मान कर **विपर्यासोपमा** नाम से उपमा का एक प्रकार माना है (तवाननमिवोन्निद्रमरबिन्दमभूदिति । सा प्रसिद्धेः विपर्यासात् विपर्यासोपमेष्यते । (का. द. २१७)

दण्डी के द्वारा **विपर्यासोपमा** के उदाहरण के रूप में उद्धृत उपर्युक्त पद्य एवं विश्वनाथ द्वारा प्रतीप के उदाहरण के रूप में उद्धृत "यत्वन्नेत्रसमानकान्तिसलिले मग्नं तदिन्दीवरम्" इत्यादि पद्य में समान रूप से प्रसिद्ध उपमान इन्दीवर एवं अरबिन्द पदवाच्य कमल को उपमेय तथा प्रसिद्ध उपमेय आनन एवं नेत्र को उपमान के रूप में निबद्ध किया गया है। चिरञ्जीव ने भी दण्डी के **विपर्यासोपमा** नामक **उपमा** भेद को एवं रुद्रट आदि के **प्रतीप अलंकार** को **प्रतीपोपमा** नाम से स्वतन्त्र अलंकार माना है (उपमानोपमेयत्वे स्यात्प्रतीपोपमा तदा। का. वि. २.१३)

प्रतीप अलंकार की उद्भावना आचार्य रुद्रट ने की है, उनके अनुसार जहां उपमेय की स्तुति अथवा उपमान की निन्दा की जाये, वहां **प्रतीप अलंकार** होता है (काव्यालं. ८.७६)। उत्तरकालीन आचार्यों में **प्रतीप** का जो स्वरूप स्थिर हुआ है, उसके अनुसार **प्रतीप अलङ्कार** में उपमान को उपमेय बताकार तथा उपमेय को उपमान बताकर योजना की जाती है, अथवा कैमर्थ्यभाव से उपमान का तिरस्कार किया जाता है। **प्रतीप** के इस स्वरूप को सर्वप्रथम मम्मट ने स्पष्ट किया है (अस्य धुरं सुतरामुपमेयमेव वोढुं प्रौढमिति कैमर्थ्येन यद् उपमानमाक्षिप्यते, तदपि तस्यैवोपमानतया प्रसिद्धस्य उपमानान्तरविवक्षयाऽनादरार्थमुपमेयभावः कल्प्यते तदुभयरूपं प्रतीपम्। का. प्र. वृत्ति पृ. ४३५)

रुय्यक वाग्भट (प्रथम) शोभाकरमित्र जयदेव नरेन्द्रप्रभसूरि विद्यानाथ विद्याधर विश्वनाथ अप्पयदीक्षित पंडितराज जगन्नाथ चिरञ्जीव भावदेवसूरि नरसिंह कवि विश्वेश्वर पंडित एवं भट्ट देवशंकर पुरोहित ने इस सन्दर्भ में सामान्य रूप से मम्मट का ही अनुसरण किया है।

इन आचार्यों में जयदेव चिरञ्जीव एवं भावदेवसूरि के **प्रतीप** के

भेद की चर्चा नहीं की है। रुय्यक नरेन्द्रप्रभ सूरि विद्यानाथ विद्याधर एवं विश्वनाथ उपमेय एवं उपमान में विपर्यय तथा उपमान के कैमर्थ्य के आधार पर **प्रतीप अलङ्कार** के दो प्रकार स्वीकार करते हैं। उपमान के अपकर्ष के वर्णन का एक प्रकार यह भी है कि उपमान को असामान्य गुण से युक्त कहना, जिससे उसका इतना उत्कर्ष प्रकट हो कि वह अतुलनीय प्रतीत होने लगे, किन्तु पुनः उसके सदृश ही अन्य उपमेय की योजना करना (यत् असामान्यगुणयोगात् नोपमानभावमप्यनुभूतपूर्वि तस्य तत्कल्पनायामपि भवति प्रतीपमिति प्रत्येतव्यम्। का. प्र. वृ. पृ. ४३६—३७) । उत्कृष्टगुणयोगाद्यदुपमानभावमपि न सहते तस्योपमाभावत्वं कल्पितं प्रतीपमेव । अलं. स. पृ. २१०)। विश्वनाथ ने भी 'उक्त्वा चात्यन्तमुत्कर्षमत्युत्कृष्टस्य वस्तुनः। कल्पितेप्युपमानत्वे प्रतीपं केचिदूचिरे ।' (सा. द. १०.८८) परिभाषा द्वारा इसे एक स्वतन्त्र **प्रतीप** प्रकार के रूप में मतान्तर निर्देशपूर्वक स्वीकार किया है।

शोभाकरमित्र **प्रतीप अलङ्कार** के पाँच प्रकार स्वीकार करते हैं, जिनमें तीन पूर्वोक्त से अभिन्न हैं। इनके अतिरिक्त उनके द्वारा स्वीकृत दो अन्य भेद हैं: (१) जहाँ उपमेय ही उपमान के वर्णन में समर्थ है, अतः उपमान का प्रयोग न करना, तथा (२) उपमान के न्यून गुण के होने के कारण उसकी अवरता का प्रतिपादन (क्वचिदुपमेयस्यैवोपमानभारोद्वहनसामर्थ्येनानुपयोगात् ।............... अर्थान्तरस्य तु न्यूनगुणत्वेन तत्कार्यकरणे (नैरर्थक्याद्) अवरतापादनाद्वेति । अलं. र. पृ. २९)।

पंडितराज जगन्नाथ प्रतीप के पाँच प्रकारों की ही चर्चा करते हैं, किन्तु वे मम्मट रुय्यक स्वीकृत भेदों के अतिरिक्त उपमेय के अद्वितीयगुणोत्कर्ष के अपहरण के लिए द्वितीय उपमान का निबन्धन होने पर एक अतिरिक्त प्रकार, तथा सादृश्य निषेध का निबन्धन होने पर द्वितीय अतिरिक्त प्रकार स्वीकार करते हैं (प्रसिद्धौपम्यवैपरीत्येन वर्ण्यमानमौपम्यमेकं प्रतीपम् । तद् वैपरीत्ये च तदुपमानोपमेययोरुपमेयोपमानत्वकल्पनया,..............उपमानोपमेययोरन्यतरस्य किञ्चिद्गुणप्रयुक्तमद्वितीयमुत्कर्षम् प्रतिहर्त्तुं द्वितीयप्रदर्शनेनोल्लासमानं सादृश्यमपरं द्विविधम् । उपमानस्य कैमर्थ्यं चतुर्थम् । सादृश्यविघटनं

पंचमम्। रसगं. भा. ३. पृ. ६६२—६६३)

यत्त्वन्नेसमानकान्तिसलिले मग्नं तदिन्दीवरम्
मेघैरन्तरितः प्रिये तव मुखच्छायानुकारी शशी।
येऽपि त्वद्गमनानुसारिगतयस्ते राजहंसाः गताः
त्वत्सादृश्यविनोदमात्रमपि मे दैवेन न सह्यते ॥

इस पद्य में सुविदित उपमान इन्दीवर आदि का उपमेय के रूप में निबन्धन होने से उपमान का अपकर्ष प्रतीत होता है। क्योंकि सर्व स्वीकृत कवि परम्परा के अनुसार उपमान को उपमेय से उत्कृष्ट गुण वाला होना चाहिए, अतएव सुविदित उपमान का उपमेय के रूप में निबन्धन होने से उपमान के अपकर्ष की प्रतीति होती है। फलतः यहाँ **प्रतीप अलङ्कार** है।

तद्वक्त्रं यदि मुद्रिता शशिकथा हा हेम सा चेद् द्युतिः
तच्चक्षु र्यदि हारितं कुवलयैस्तच्चेत्स्मितं का सुधा।
धिक्कन्दर्पधनु र्भ्रुवौ यदि च ते किं वा बहु ब्रूमहे।
यत्सत्यं पुनरुक्त वस्तुविमुखः सर्गक्रमो वेधसः॥

(बालरा. २.१७)

इस पद्य में 'मुख आदि चन्द्रमा आदि के प्रयोजन को पूर्ण करने में समर्थ हैं, अतः चन्द्रमा आदि का होना निष्फल है' यह कथन विवक्षित है। यहां यह प्रश्न हो सकता है कि सादृश्य के विद्यमान रहने के कारण ऐसे स्थलों पर उपमा अलङ्कार क्यों न स्वीकार किया जाए? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि उपमा अलंकार में उपमेय को उपमान के सदृश बताते हुए उपमान गत उत्कर्ष से उपमेय को भी उत्कृष्ट बताने का प्रयत्न होता है, जबकि प्रतीप में उपमान के अपकर्ष की विवक्षा से या तो उपमान और उपमेय का विपर्यास करके निबन्धन होता है, अथवा उपमान के निष्फलत्व का कथन होता है (उपमा प्रकारत्वं चानयो र्न वाच्यम् उपमानस्याक्षेपादुपमेयत्वकल्पनाच्च। नहि तत्र (उपमायां) तदस्तीति ततोऽनयोः सुप्रत्यय एव भेदः। ……
…………एवमौपम्यान्तरेण नैतदलंकारद्वयम् (प्रतीपस्य भेदद्वयं भवतीत्यवगन्तव्यम्। विमर्शिनी पृ. २०८)

प्रतीप अलंकार के समान **व्यतिरेक अलंकार** में भी उपमान की

अपेक्षा उपमेय की उत्कृष्टता विवक्षित रहती है; तथापि दोनों अलंकार परस्पर अभिन्न नहीं है। कारण यह है कि प्रतीप में उपमेय का उत्कर्ष इस कारण प्रतीत होता है, कि उपमान और उपमेय में विपर्यय कर दिया जाता है एवं उपमेय और उपमान में विसादृश्य का कथन नहीं होता, जबकि व्यतिरेक में उपमान और उपमेय में विपर्यय का कथन नहीं होता, साथ ही उपमेय में उत्कर्ष की प्रतीति के लिए उसमें विशिष्ट गुणों का कथन किया जाता है, जो एक प्रकार से विसादृश्य कहा जा सकता है (उपमानादुपमेयस्य गुणविशेषवत्वेन उत्कर्षो व्यतिरेक:। प्रतीपादिवारणाय तृतीयान्तं वैधर्म्यपदम्। तत्र (प्रतीपे) चोपमानतामात्रकृत एवोत्कर्ष: न वैधर्म्यकृत:, साधर्म्यस्यैव प्रत्ययात्। अधिकगुणवत्त्वमात्रम्, उपमानगतापकर्षमात्रं वा न व्यतिरेकस्वरूपम्, तयोरुपमेयोत्कर्षाक्षेपमन्तरेणासुन्दरत्वात्। अत एव न सादृश्याभावमात्रम् उपमानादुपमेयस्यापकर्षेऽपि तत्सम्भवात्। रसगं. भा. ३ पृ. १५१)

मूल लक्षण

रुद्रट

यत्रानुकम्प्यते सममुपमाने निन्द्यते वापि।
उपमेयमतिस्तोतुं दुरवस्थमिति प्रतीपं स्यात्॥ —काव्यालंकार ८.७६

मम्मट

आक्षेप उपमानस्य प्रतीपमुपमेयता।
तस्यैव यदि वा कल्प्या तिरस्कारनिबन्धनम्॥

—काव्यप्रकाश सू० २०१ का० १३३

रुय्यक

उपमानस्याक्षेप: उपमेयता कल्पनं वा प्रतीपम्। —अलंकार सर्वस्व ७०

वाग्भट्ट (प्रथम)

निन्दा समता वोपमानेनोपमेयस्य, भङ्ग्या स्तुति र्वा प्रतीपम्।

—काव्यानुशासन पृ० ४३

शोभाकर

अधिकगुणस्यानादर: प्रतीपम्। —अलंकार रत्नाकर २४

जयदेव

प्रतीपमुपमानस्य हीनत्वमुपमेयत:। —चन्द्रालोक ५.९६

विद्यानाथ

आक्षेप उपमानस्य कैमर्थक्येन कथ्यते ।
यद्वोपमेयभावः स्यात् तत्प्रतीपमुदाहृतम् ॥ —प्रतापरुद्रीयम् ८.२१४

विद्याधर

उपमानस्याक्षेपः स्यादुपमेयत्वकल्पनं यद्वा ।
यत्र प्रतीपमेतद्विबुधैरभिधीयते द्विविधम् ॥ —एकावली ८.६२

विश्वनाथ

प्रसिद्धस्योपमानस्योपमेयत्वप्रकल्पनम् ।
निष्फलत्वाभिमानं वा प्रतीपमिति कथ्यते ।
उक्त्वा चात्यन्तनुत्कर्षमत्युत्कृष्टस्य वस्तुनः ।
कल्पितेऽप्युपमानत्वे प्रतीपं केचिदूचिरे ॥
—साहित्यदर्पण १०.८८

अप्पयदीक्षित

(१) प्रतीपमुपमानस्योपमेयत्वप्रकल्पनम् ।
(२) अन्योपमेयलाभेन वर्ण्यस्यानादरश्च तत् ।
(३) वर्ण्योपमेयलाभेन तथान्यस्याप्यनादरः ।
(४) वर्ण्येनान्यस्योपमायाः अनिष्पत्तिवचश्च तत् ।
(५) प्रतीपमुपमानस्य कैमर्थ्यमपि मन्वते ॥
—कुवलयानन्द ११२-११६

जगन्नाथ

(१) प्रसिद्धौपम्यवैपरीत्येन वर्ण्यमानमौपम्यमेकं प्रतीपम् ।
(२) उपमानोपमेययोरन्यतरस्य किञ्चिद् गुणप्रयुक्तमद्वितीयतयोत्कर्षं प्रतिहर्त्तुं द्वितीयप्रदर्शनेनोल्लास्यमानं सादृश्यमपरम् ।
(३) उपमानस्य कैमर्थ्यं चतुर्थम् ।
(४) सादृश्यविघटनं पञ्चमम् ।
—रसगंगाधर भा० ३ पृ० ६९२-६९३

चिरञ्जीव

प्रतीपमुपमानस्य हीनत्वमुपमेयतः । —काव्यविलास २.५१

नरेन्द्रप्रभसूरि

तत्प्रतीपं यदाक्षेपः कैमर्थ्यादुपमानगः ।
तिरस्काराय तस्यैव तच्च क्वाप्युपमेयता ॥ —अलंकार महोदधि ८.७६

भावदेवसूरि

प्रतीपमुपमायां यदुपमेयप्रकृष्टता ॥

—काव्यालंकार सारसंग्रह ६.४७

नरसिंह कवि

पञ्च प्रतीपान्युपमानमृषात्वम् अन्यस्य वर्ण्यत्वमपार्थता च।
वर्ण्यस्य वा निस्समताभिमाननिवारणञ्चान्यतरोपमोक्त्या ॥

—नञ्राज यशोभूषण पृ० २०७

भट्टदेवशंकर पुरोहित

(१) विषयिण्युपमेयत्वं कल्प्यते जनरञ्जनम्।
प्रतीपं तद् बुधैः प्रोक्तं प्रतीपोक्त्या प्रसिद्धितः ॥५॥
(२) अवर्ण्यस्योपमेयस्य लाभेन या तिरस्क्रिया।
वर्ण्यस्य क्रियते तत्र प्रतीपं तदपि स्मृतम् ॥६॥
(३) लाभाद् वर्ण्योपमेयस्योपमाने या तिरस्क्रिया।
प्रतीपं तदपि प्रोक्तं प्रसिद्धस्य तिरस्कृतेः ॥७॥
(४) उपमेयेन वर्ण्येनोपमानिष्पत्तिकीर्त्तनम्।
अवर्ण्यस्योपमानस्य प्रतीपं तदपि स्मृतम् ॥८॥
(५) कैमर्थ्यमुपमानस्य मन्यते जनरञ्जनम्।
प्रतीपं तदपि प्रोक्तमुपमानाक्षेपकं परैः ॥९॥

—अलंकार मंजूषा ५-९

वेणीदत्त

आक्षेप उपमानस्य प्रतीपः प्रथमो मतः।
द्वितीयस्तु तिरस्कारफला तस्योपमेयता ॥
वैयर्थ्यमुपमानस्य किमर्थमिदमेष यः।
आक्षेपः स तृतीयोऽपि प्रकारस्तस्य कीर्त्तितः ॥

—अलंकार मञ्जरी २१६-२१७

विश्वेश्वर

उपमानानर्थक्यं प्रतीपमस्योपमेयत्वम् ॥ —अलंकार मुक्तावली ४९

श्रीकृष्णब्रह्मतन्त्रपरकाल स्वामी

प्रतीपमुपमानस्य वर्ण्या चेदुपमेयता।
अवर्ण्यस्योपमेयस्य लाभाद्वर्ण्यतिरस्कृतिः ॥ —अलंकार मणिहार २८

प्रतीपोपमा

प्रतीपोपमा अलंकार को इस नाम से केवल जयदेव एवं चिरञ्जीव ने स्वीकार किया है। उनके अनुसार जहाँ उपमान को उपमेय के रूप में एवं उपमेय को उपमान के रूप में निबद्ध किया गया हो, वहाँ **प्रतीपोपमा अलंकार** मानना चाहिए। उपर्युक्त स्थिति में ही अप्पयदीक्षित ने **प्रतीपोपमा** नाम न देकर **प्रतीप अलंकार** नाम दिया है। मम्मट रुय्यक विद्यानाथ आदि आलंकारिक **प्रतीपोपमा** की स्थिति में **प्रतीप अलंकार** का एक प्रकार विशेष मानते है। (देखें प्रतीप अलंकार प्रकरण)

मूल लक्षण

मम्मट

[आक्षेपः] उपमानस्य प्रतीपमुपमेयता।
तस्यैव यदि वा कल्प्या तिरस्कारनिबन्धना ॥
—काव्यप्रकाश सू० २०१ का० १३३

रुय्यक

उपमानस्य [आक्षेपः] उपमेयताकल्पनं वा प्रतीपम्।
—अलंकार सर्वस्व ७

जयदेव

विख्यातस्योपमानस्य यत्र स्यादुपमेयता।
इन्दुर्मुखमिवेत्यादौ स्यात्प्रतीपोपमा तदा ॥ —चन्द्रालोक ५.१४

अप्पयदीक्षित

प्रतीपमुपमानस्योपमेयत्वप्रकल्पनम् ॥ —कुवलयानन्द १२

विद्यानाथ

यद्वोपमेयभावः स्यात्प्रतीपमुदाहृतम् ॥ —प्रतापरुद्रीयम् ८.२१४

चिरञ्जीव

उपमानोपमेयत्वे स्यात्प्रतीपोपमा तदा ॥ —काव्यविलास २.१६

देवशंकर पुरोहित

विषयिण्युपमेयत्वं कल्प्यते जनरञ्जनम्।
प्रतीपं तद् बुधैः प्रोक्तं प्रतीपोक्त्या प्रसिद्धितः ॥ —अलंकार मंजूषा ५

प्रत्यक्ष

प्रत्यक्ष सभी दार्शनिकों द्वारा निर्विवाद रूप से स्वीकृत प्रमाण है। इन्द्रियों (पाँच ज्ञानेन्द्रियां एवं मनस्) और अर्थ के सन्निकर्ष से उत्पन्न ज्ञान प्रत्यक्ष कहाता है। (विशेष विवरण के लिए हमारे अन्य ग्रन्थ 'भारतीय न्यायशास्त्र एक अध्ययन' पृ. १५३ से १७५ देखें)। काव्य में चारुत्व हेतु के रूप में प्रत्यक्ष का निबन्धन होने पर **प्रत्यक्ष अलंकार** कहाता है। इसे भोज अमृतानन्द योगी अप्पयदीक्षित परकाल स्वामी एवं भट्टदेवशंकर पुरोहित ने स्वीकार किया है। इनमें से अप्पयदीक्षित ने लक्षण दिये बिना ही इसको स्वीकार कर उदाहरणमात्र प्रस्तुत किया है। जबकि भट्टदेवशंकर पुरोहित ने **प्रमाण नामक** एक अलंकार मान कर उसके भेद के रूप में **प्रत्यक्ष** को स्वीकार किया है।

मूल लक्षण

भोज

प्रत्यक्षमक्षजं ज्ञानं मानसं चाभिधीयते।
स्वानुभूति भवं चैवमुपचारेण कथ्यते ॥

—सरस्वती कंठाभरण ३.४५

अमृतानन्दयोगी

इन्द्रियाणामर्थयोगे यज्ज्ञानमुपजायते।
तत्प्रत्यक्षं समाख्यातं मनसा चेन्द्रियाणि षट्।
इन्द्रियोत्पन्नविज्ञानं प्रत्यक्षालंकृतिर्यथा।
निर्वृत्तिर्मनसो वृत्तिरिन्द्रियैरुपनीयते ॥

—अलंकार संग्रह ५.५४-५७

अप्पयदीक्षित

अष्टौ प्रमाणालंकाराः प्रत्यक्षप्रमुखाः क्रमात् ॥ —कुवलयानन्द १७१

परकालस्वामी

अर्थानामिन्द्रियाणाञ्च सन्निकर्षेण यद् भवेत्।
ज्ञानं तदाहुः प्रत्यक्षं चारुचेत्तदलंकृतिः ॥ —अलं० मणि० १७५

भट्टदेवशंकर पुरोहित

प्रमा तज्जनकं यत्र कविभिः सन्निबध्यते।
प्रमाणालंकृतिस्तत्र चतुर्धा सा प्रकीर्त्तिता ॥

प्रत्यनीक

प्रत्यनीक अलंकार का सर्वप्रथम विवेचन हमें रुद्रट के काव्यालंकार (८.४२) में मिलता है। परवर्ती आलंकारिकों में कुन्तक हेमचन्द्र संघरक्खित अमृतानन्द योगी वाग्भट (द्वितीय) शौद्धोदनि केशवमिश्र तथा भावदेवसूरि को छोड़कर सभी ने इसे स्वीकार किया है। भोज ने इसे स्वतन्त्र अलंकार न मान कर **विरोध अलंकार** से अभिन्न माना है (विरोधस्तु पदार्थानां परस्परमसङ्गतिः। असंगतिः प्रत्यनीकमधिकं विषमश्च सः। स. कं. ३.२४)। इस अलंकार की प्रत्यनीक संज्ञा अन्वर्थ है। जिस प्रकार प्रतिपक्षी की अनीक (सेना) को जीतने में असमर्थ होने पर उसका प्रतिनिधि मानते हुए उसके किसी सम्बन्धी का अपकार किया जाए तो उससे शत्रु के उत्कर्ष की प्रतीति होती है। उसी प्रकार की योजना होने पर काव्य में प्रत्यनीक अलंकार माना जाता है (अनीकं सैन्यं तस्य प्रतिनिधिः प्रत्यनीकम्। तत्सादृश्यात् अलंकारोऽपि प्रत्यनीकमिति व्यपदेशमलभत। यथा अनीकमभिभवितुमनीश्वरेण केनापि तत्प्रतिनिधिभूतमन्यद् व्यामोहादभिभूयते। तथा अत्र बलवति परिपन्थिनि तदीयमल्प बलंकोऽपि परिमन्थयति इत्यर्थः। अत्र च प्रत्यर्थिप्रकर्षः प्रयोजनम्। (एका. पृ. ३१६) इसमें प्रस्तुत वर्ण्य के अतिरिक्त उसके प्रत्यर्थी, प्रत्यर्थी के साथ सम्बद्ध अन्य, जिसका परिमथन किया जाता है, का वर्णन होता है।

मध्येन तनुमध्या मे मध्यं जितवतीत्ययम्।
इभकुम्भौ भिनत्त्यस्या कुचकुम्भनिभौ हरिः॥

इस पद्य में प्रस्तुत वर्ण्य हरि (सिंह) कर्त्ता के रूप में वर्णित है। मध्य (कटि) की तनुता (पतलेपन) में वह तनुमध्या (पतली कमर वाली) से नहीं जीत पाता, अतएव वह उसके कुच कुम्भों के सदृश (सादृश्य सम्बन्ध द्वारा सम्बद्ध) गज के कुम्भ स्थलों को विदीर्ण करता है। इस प्रकार यहां प्रत्यर्थी के सम्बन्धी के परिमथन के कारण प्रत्यर्थी के प्रकर्ष की प्रतीति हो रही है, अतः यहां **प्रत्यनीक अलंकार** है।

प्रत्यर्थी से सम्बद्ध वस्तु के बीच सम्बन्ध अनेक प्रकार के हो सकते हैं। इन सम्बन्धों को दो भागों में विभक्त किया जा सकता है:

साक्षात् सम्बन्ध एवं परम्परया सम्बन्ध। यहां 'साक्षात्' से तात्पर्य उस सम्बन्ध से है जहाँ प्रत्यर्थी एवं सम्बद्ध एक दूसरे के साथ संबन्धित होने के कारण सुख दुःख के भागी है तथा 'परम्परया' से तात्पर्य उन सम्बन्धों से है, जिनके कारण सम्बन्ध तो अवश्य कहा जा सकता है, किन्तु वह सम्बन्ध दोनों सम्बन्धियों के सुख दुःख का हेतु नहीं बनता। कामिनी कुच और कुम्भ तथा गजकुम्भ में सादृश्य सम्बन्ध पूर्वोक्त प्रकार का ही है अर्थात् परम्परया सम्बन्ध है। इसके विपरीत—

त्वं निर्जितमनोहररूपः सा च सुन्दर, भवत्यनुरक्ता।
पञ्चभिर्युगपदेव शरैस्तां तापयत्यनुशयादिव कामः॥

पद्य में नायक नायिका का सम्बन्ध ऐसा है कि वे परस्पर एक दूसरे के सुख दुःख का भी अनुभव करते हैं। काम जितमनोभव नायक को नहीं जीत पाता, अतः उससे संबद्ध अर्थात् नायक पर अनुरक्ता नायिका को ही पीड़ित करता है। फलतः इस प्रकार के स्थलों पर साक्षात् सम्बन्धमूलक **प्रत्यनीक अलंकार** माना जाता है।

पंडितराज जगन्नाथ 'मध्येन तनुमध्या' इत्यादि पद्य में **प्रत्यनीक अलंकार** न मानकर **हेतूत्प्रेक्षा** अलंकार स्वीकार करते हैं। किन्तु वास्तविकता यह है कि यहाँ और इस प्रकार के स्थलों पर **उत्प्रेक्षा** के होते हुए भी मुख्य चारुत्व उत्प्रेक्षागत न होकर सम्बन्धि परिमथन में है। अतः ऐसे स्थलों पर **प्रत्यनीक अलंकार** मानना ही उचित है।

मूल लक्षण

रुद्रट

वक्तुमुपमेयमुत्तममुपमानं तज्जिगीषया यत्र।
तस्य विरोधीत्युक्त्या कल्प्येत प्रत्यनीकं तत्॥ —काव्यालंकार ८.९२

मम्मट

प्रतिपक्षमशक्तेन प्रतिकर्तुं तिरस्क्रिया।
या तदीयस्य तत्स्तुत्यै प्रत्यनीकं तदुच्यते॥ काव्यप्रकाश सू० १६६.१२६

रुय्यक

प्रतिपक्षप्रतीकाराशक्तौ तदीय तिरस्कारः प्रत्यनीकम्। —अलं. सर्व. ६६

शोभाकर

प्रतिपक्षादिसम्बन्धिस्वीकारः प्रत्यनीकम्। —अलंकार रत्नाकर ४०

जयदेव

प्रत्यनीकं बलवतः शत्रोः पक्षे पराक्रमः । —चन्द्रालोक ५.६५

विद्यानाथ

बलिनः प्रतिपक्षस्य प्रतीकारे सुदुष्करे ।
यस्तदीयतिरस्कारः प्रत्यनीकं तदुच्यते ॥ —प्रतापरुद्रीयम् ८.२५३

विद्याधर

बलिनं जेतुमनीशः कोऽपि तदीयं कृशं तिरस्कुरुते ।
अन्यं कमपि जघन्यो यत्राहुः प्रत्यनीकमिदम् ॥ —एकावली ८.६१

विश्वनाथ

प्रत्यनीकमशक्तेन प्रतीकारे रिपो र्यदि ।
तदीयस्य तिरस्कारस्तस्यैवोत्कर्षसाधकः ॥ —साहित्यदर्पण १०.८६

अप्पयदीक्षित

प्रत्यनीकं बलवतः शत्रोः पक्षे पराक्रमः । —कुवलयानन्द ११६

जगन्नाथ

प्रतिपक्षसम्बन्धिनस्तिरस्कृतिः प्रत्यनीकम् । —रसगं. भाग ३ पृ. ६६६

चिरञ्जीव

प्रयत्नीकं बलवतः शत्रोः पक्षे पराक्रमः । —काव्यविलास २.५१

नरेन्द्रप्रभसूरि

प्रतिपक्षं प्रतिक्षेप्तुमशक्तो तत्प्रशान्तये ।
यस्तदीयतिरस्कारः प्रत्यनीकं तदीरितम् ॥ —अलंकार महोदधि ८.७५

नरसिंह कवि

बलिनः प्रतिपक्षस्य प्रतीकारे सुदुष्करे ।
यत्तदीय तिरस्कारः प्रत्यनीकं तदुच्यते ॥ —नञ्राजयशोभूषण पृ. २१६

भट्टदेवशंकर पुरोहित

क्रियेत बलिनः शत्रोः पक्षे यदि पराक्रमः ।
प्रत्यनीकं तदा प्रोक्तमलङ्कारविदांवरैः ॥ —अलंकार मंजूषा ६१

वेणीदत्त

प्रतिपक्षोत्कर्षफला प्रतिपक्षाश्रितस्य या ।
तिरस्क्रिया प्रत्यनीकं भाषन्ते काव्यकोविदः ॥ —अलंकारमंजरी १६६

विश्वेश्वर

आत्मापकारजनकप्रत्यपकारासमर्थेन ।

तत्सम्बन्ध्यपकारे प्राज्ञतमैः प्रत्यनीकमित्युक्तम् ।। —अलं. मुक्तावली ४५

श्रीकृष्णब्रह्मतन्त्र परकालस्वामी

बलिनि प्रतिपक्षे वा तत्पक्षे वा तिरस्कृतिः ।

तत्प्रतिद्वन्द्विसाह्यं वा प्रत्यनीकमितीर्यते ।। — अलंकार मणिहार १२५

प्रत्यादेश

प्रत्यादेश अलंकार को केवल शोभाकर मित्र ने ही स्वीकार किया है। उनके अनुसार किसी हेत्वन्तर से स्थित का अन्यथाकरण **प्रत्यादेश** कहा जाता है। स्थिति के प्रवृत्ति और निवृत्ति के भेद से प्रथम दो प्रकार है। इनमें भी पुनः प्रवृत्त और प्रवर्त्तित तथा निवृत्त और निवर्त्तित भेद से दो दो प्रकार हो जाते हैं। फलतः प्रत्यादेश के चार प्रकार हो सकते है।

अङ्गानि प्रतनुकानि किमपि गुरूकरोति मधुविलासः ।
हृदयानि पुनर्लघूकरोति मानगुरुकाण्यपि प्रियाणाम् ।।

प्रस्तुत पद्य में मधुविलास रूप हेतु द्वारा अङ्गलघुत्व का अन्यथाकरण अङ्गगुरुत्व एवं मानवश हृदय के गुरुत्व का अन्यथाकरण लघुत्व निबद्ध होने से **प्रत्यादेश अलंकार** माना जाएगा।

मूल लक्षण

शोभाकर

स्थितस्यान्यथापत्तिः प्रत्यादेशः । —अलंकार रत्नाकर ७४

प्रत्यूह

प्रत्यूह विशेषोक्ति का सजातीय अलंकार है। **विशेषोक्ति** में समस्त कारणों के रहने पर भी फल का अदर्शन निबद्ध होता है। **प्रत्यूह** में भी कारणों के रहने पर फल का अदर्शन होता है, अन्तर केवल इतना है कि **विशेषोक्ति** में फलाभाव के लिए कोई निमित्त निबद्ध नहीं होता, जबकि **प्रत्यूह** में उसके लिए निमित्तान्तर का निबन्धन अनिवार्य है।

त्वत्सेनाभटसिंहनादमभितः श्रुत्वा जगज्जांघिकम्
मूर्च्छां कामपि लेभिरे सरभसं सर्वे ककुष्कुम्भिनः ।
यत्तु स्थैर्यलवं मुमोच न जवादैरावत कारणम्
तत्रोड्डामरवीचिचक्रमुखरः पूर्वाश्रयो वारिभिः ॥

प्रस्तुत पद्य में स्तूयमान राजा की सेना के वीरों के सिंह नाद को सुनकर जहां सभी दिग्गज मूर्च्छित हो गये, किन्तु ऐरावत की स्थिरता में किञ्चित् मात्र भी विकार नहीं आया। इस विकार रूप फल के अभाव के निमित्त के रूप में यहां वहां पर विद्यमान आकाश गङ्गा की लहरों के आवर्त्त से उत्पन्न जल के तीव्र कलकल के कारण भटों के सिंहनाद का सुनाई न पड़ना, निबद्ध है। इस प्रकार यहां **प्रत्यूह अलंकार** माना जाएगा।

मूल लक्षण

शोभाकर

प्राप्तस्य प्रतिबन्धः प्रत्यूहः । —अलंकार रत्नाकर सू. ७३

प्रतिबन्धवशायाते फलाभावे विरोधधीः ।
यत्रास्ति तेन प्रत्यूहो विशेषोक्तेः पृथक्कृतः ॥ —वही १२६

प्रश्नोत्तर

प्रश्नोत्तर अलंकार को भोज वाग्भट द्वितीय (वाग्भटालंकार) एवं विद्याधर केवल तीन आलंकारिकों ने स्वीकार किया है। **भोज** एवं वाग्भट के अनुसार जहां प्रश्न के साथ अभीष्ट उत्तर गूढ अथवा व्यक्त रूप से निबद्ध रहता है, वहां **प्रश्नोत्तर अलंकार** होता है। भोज के अनुसार वह अन्तः प्रश्न, बहिः प्रश्नः, बहिरन्तः प्रश्न, जाति प्रश्न, पृष्ट प्रश्न एवं उत्तर प्रश्न भेद से छ प्रकार का हो सकता है। जबकि वाग्भट के अनुसार वह व्यक्त प्रश्नोत्तर, गूढ प्रश्नोत्तर, व्यक्ताव्यक्त (व्यक्त-गूढ) तथा इन भेदों में से एक से अधिक भेदों के एकत्र होने पर संकर प्रश्नोत्तर भेद से वह चार प्रकार का होता है।

एकावलीकार विद्याधर के अनुसार जहाँ दो वक्ताओं के वार्तालाप की योजना प्रश्नपूर्वक उत्तर का निबन्धन करते हुए की जाती है, वहां **प्रश्नोत्तर अलंकार** स्वीकार करना चाहिए। भोज के अनुसार

इस प्रकार की योजना को **वाकोवाक्य अलंकार** कहा जाता है (उक्ति-प्रत्युक्तिमद् वाक्यं वाकोवाक्यं विदु र्बुधाः । द्वयोर्वक्त्रोस्तदिच्छन्ति बहूनामपि संगमे ।। सरस्वतीकण्ठाभरण २.१४७ पृ. ११५) भोज के अनुसार यह ऋजु-उक्ति, वक्र-उक्ति, गूढप्रश्नोक्ति गूढउत्तरोक्ति एवं चित्रोक्ति भेद से पांच प्रकार होते हैं। विद्याधर ने स्वयं यह स्वीकार किया है कि उनके द्वारा स्वीकृत **प्रश्नोत्तर** को अन्य आचार्य वाकोवाक्य के नाम से स्मरण करते हैं (इदं तु मतान्तरे वाकोवाक्यमिति प्रसिद्धम् । एकावली पृ. ३२५) ।

मूल लक्षण

भोज

यस्तु पर्यनुयोगस्य निर्भेदः क्रियते पदैः ।
विदग्धगोष्ठ्यां वाक्यै र्वा तं हि प्रश्नोत्तरं विदुः ।।

—सरस्वती कण्ठाभरण २.१५२

विद्याधर

यत्र प्रश्नपुरस्सरमुत्तरमुभयो र्मिथः समुल्लसति ।
प्रश्नोत्तरिका संज्ञं तमलंकारं बिदुर्बधाः ।। —एकावली ८.६८

वाग्भट्ट (द्वितीय)

प्रश्ने यत्रोत्तरं व्यक्तं गूढं वाप्यथवोभयम् ।
प्रश्नोत्तरम्·························।। —वाग्भटालंकार ४.१४४

प्रसङ्ग

प्रसङ्ग अलंकार को केवल शोभाकर मित्र ने स्वीकार किया है उनके अनुसार कार्यान्तिर करने की इच्छा के बिना ही जहां किसी एक निमित्त से कार्यान्तर (फलान्तर) की निष्पत्ति हो तो वहां **विशेष अलंकार** स्वीकार किया जाता है, (फलान्तरस्य निष्पत्तिः चिकीर्षाविरहेऽपि या, स विशेषः । अलंकार रत्नाकर पृष्ठ १५०) और यदि कार्यान्तिर सम्पादन की इच्छा भी साथ साथ विद्यमान हो, तो वहाँ विशेष अलंकार न मानकर **प्रसङ्ग अलंकार** स्वीकार किया जाता है। क्योंकि ऐसे स्थलों पर प्रसङ्गतः अन्य प्रयोजन (अर्थ) की निष्पत्ति होती है; अतः इस अलंकार का **प्रसङ्ग** अभिधान अन्वर्थ है।

मूल लक्षण

शोभाकर

प्रसङ्गादन्यार्थः प्रसङ्गः ॥ —अलंकार रत्नाकर ८७

प्रस्तुताङ्कुर

प्रस्तुतवर्ण्यमान के द्वारा जहां अन्य अभिमत प्रस्तुत की व्यञ्जना हो रही हो, वहां **प्रस्तुताङ्कुर अलंकार** माना जाता है। इसे केवल अप्पयदीक्षित एवं नरसिंह कवि ने स्वीकार किया है।

अन्यासु तावदुपमर्दसहासु भृङ्ग !
लोलं विनोदय मनः सुमनो लतासु।
बालामजातरजसं कलिकामकाले
व्यर्थं कदर्थयसि किं नवमल्लिकायाः ॥

प्रस्तुत पद्य में उद्यान में विचरण करते हुए भृङ्ग को उपालम्भ वाच्य है, एवं प्रौढकामिनीजनों के रहते हुए बालिका को रति हेतु बाधित करते हुए विद्यमान कामीजन के प्रति किसी विदग्धा का उपालम्भ व्यङ्ग्य अर्थ है। इस प्रकार प्रस्तुत से अन्य प्रस्तुत अर्थ की व्यञ्जना होने से **प्रस्तुताङ्कुर अलंकार** मानना चाहिए।

मूल लक्षण

अप्पयदीक्षित

प्रस्तुतेन प्रस्तुतस्य द्योतने प्रस्तुताङ्कुरः। —अलंकार रत्नाकर ६७

नरसिंह कवि

प्रस्तुतेन प्रस्तुतस्य द्योतने प्रस्तुताङ्कुरः। —नञ्जराजयशोभूषण पृ. २०७

श्रीकृष्णब्रह्मतन्त्र परकालस्वामी

प्रस्तुतस्य प्रस्तुतेन व्यञ्जने प्रस्तुताङ्कुरः। —अलंकारमणि ८७

प्रहर्षण

प्रहर्षण अलंकार को केवल भोज अप्पयदीक्षित पंडितराज जगन्नाथ नरेन्द्रप्रभसूरि विश्वेश्वर श्रीकृष्ण ब्रह्मतन्त्रपरकाल स्वामी एवं भट्टदेव शंकर पुरोहित ने स्वीकार किया है। इन आलंकारिकों के अनुसार बिना यत्न के वाञ्छित अर्थ की सिद्धि अथवा वाञ्छित अर्थ

से अधिक अर्थ की प्राप्ति का काव्य में निबन्धन होने पर **प्रहर्षण अलंकार** होता है ।

तिरस्कृतो रोषवशात्परिष्वजन्प्रियो मृगाक्ष्या शयितः पराङ्मुखः ।
किं मूर्च्छितोऽसाविति कान्दिशीकया कयाचिदाचुम्ब्य चिराय सस्वजे ।।

इस पद्य में प्रिय को प्रेयसी का आसमन्तात् चुम्बन एवं चिरकाल तक आलिङ्गन, जो वाञ्छित से अधिक की प्राप्ति रूप है, का निबन्धन होने से यहां **प्रहर्षण अलंकार** माना जाता है ।

मूल लक्षण

भोजदेव

वाञ्छितादधिकप्राप्तिरयत्नेन प्रहर्षणम् । —चन्द्रालोक ५.४७

अप्पयदीक्षित

उत्कण्ठितार्थसंसिद्धिर्विना यत्नं प्रहर्षणम् ।
वाञ्छितादधिकार्थस्य संसिद्धिश्च प्रहर्षणम् ।
यत्नादुपायसिद्ध्यर्थात् साक्षाल्लाभः फलस्य च ।

—कुवलयानन्द १२६-१३१

जगन्नाथ

साक्षादुद्देश्यक यत्नमन्तरेणाप्यभीष्टार्थलाभः प्रहर्षणम् ।

—रसगंगाधर भाग ३ पृ. ७२६

नरेन्द्रप्रभसूरि

वाञ्छितार्थाधिकप्राप्तिरयत्नेन प्रहर्षणम् । —अलंकार महोदधि २.२५

भट्ट देवशंकर पुरोहित

विना यत्नेन संसिद्धिरुत्कण्ठाविषयस्य वा ।
प्रहर्षणमिति प्रोक्तालङ्क्रिया सा बुधैरिह ।। —अलंकार मंजूषा १००

विश्वेश्वर

इष्टार्थादधिकार्थप्राप्तिः प्रहर्षणम् । —अलंकार मुक्तावली पृ. ४७

श्रीकृष्ण ब्रह्मतन्त्र परकालस्वामी

विना यत्नादभीष्टार्थसिद्धिः स्याच्चेत्प्रहर्षणम् ।
अभीप्सितार्थादधिकलाभश्च प्रहर्षणम् ।। —अलं. मणि. १३४

प्रहेलिका

जैसा कि **चित्र अलंकार** प्रकरण में कहा जा चुका है कि अग्नि पुराण में प्रहेलिका एवं च्युताक्षर दत्ताक्षर आदि प्रहेलिका के भेदों को **चित्र अलंकार** के एक प्रकार विशेष के रूप में ही चित्रित किया था, किन्तु दण्डी ने लक्षण न करते हुए भी **समागत वञ्चिता** आदि सोलह प्रकार की प्रहेलिकाओं का परिगणन किया है। भोज विश्वनाथ एवं केशवमिश्र ने इसकी भेद प्रभेदों के साथ चर्चा की है, किन्तु विश्वनाथ ने इसे रस विरोधी मानते हुए अलंकार कोटि में रखना उचित नहीं समझा। इस अलंकार में चमत्कार गुह्यार्थता का होता है।

दण्डी के अनुसार प्रहेलिका के निम्नलिखित सोलह भेद हो सकते हैं:—समागता वञ्चिता व्युत्कान्ता प्रमुषिता समानरूपा परुषा संख्याता प्रकल्पिता नामान्तरिता निभृता समानशब्दा संमढा योगमालिका एकछत्राश्रिता उभयच्छत्रा एवं संकीर्णा।

भोज के अनुसार इसके छः प्रकार हैं: च्युताक्षरा दत्ताक्षरा मुष्टि बिन्दुमती एवं अर्थवती। केशवमिश्र भी भोज स्वीकृत इन्हीं छः भेदों को मानते हैं। इनके अतिरिक्त वे बहिः और अन्तर भेद से दो प्रकार प्रश्न को भी प्रहेलिका मानते हैं।

मूल लक्षण

अग्नि पुराण

द्वयोरप्यर्थयोर्गुह्यमानशब्दा प्रहेलिका ।
सा द्विधार्थी च शाब्दी च तत्रार्थी चार्थबोधतः।
शब्दावबोधतः शाब्दीं प्राहुः षोढा प्रहेलिकाम्।

—अग्नि० ३४३.२८

भोज

प्रहेलिका सकृत्प्रश्नः सापि षोढा। —२.१४९

क्रीडागोष्ठी विनोदेषु तज्ज्ञैराकीर्णमन्त्रणे।
परव्यामोहने चापि सोपयोगाः प्रहेलिकाः॥

—सरस्वती कण्ठाभरण २.१४९-१५०

विश्वनाथ

रसस्य परिपन्थित्वान्नालंकारः प्रहेलिका ।
उक्तिवैचित्र्यमात्रं साच्युतदत्ताक्षरादिका ॥—साहित्यदर्पण १०.१३-१४

केशवमिश्र

प्रहेलिकासक्तप्रश्नः । सा च षोढा —अलंकार शेखर पृ. ३०, ३१

प्रेयस्

प्रेयस् अलंकार की उद्भावना अथवा चर्चा हमें सर्वप्रथम रसवत् अलंकार के समान काव्यादर्श में मिलती है, तथा इसके स्वीकर्त्ता आचार्य भी पूर्णतः **रसवत्** के समान ही हैं।

इस अलंकार की **प्रेयस्** संज्ञा अन्वर्थ है, अर्थात् प्रकृष्ट जनों को प्रिय होने के कारण अथवा इसमें प्रकृष्ट प्रियत्व होने के कारण इसे प्रेयस् कहा जाता है (प्रेयः प्रियतराख्यानम्। का. द. २. २७५)। अप्रधान (गुणीभूत) स्थिति में भावों का निबन्धन **प्रेयस् अलंकार** कहाता है (रत्यादिकानां भावानामनुभावादिसूचनैः। यत्काव्यं बध्यते सद्भिः तत्प्रेयस्वदुदाहृतम्। का. सा. सं. ४.२। रसभाव तदाभासानां रसाद्यंगत्वे रसवत्प्रेय ऊर्जस्वीनि। अलं. र. १०६)।

प्रस्तुत प्रकरण में 'भाव' पद पारिभाषिक हैं। मम्मट के अनुसार देव आदि विषयक रति (नायक-नायिका विषयक रति रस है, भाव नहीं) तथा परिपुष्ट व्यभिचारी 'भाव' कहे जाते हैं (रतिर्देवादिविषया व्यभिचारी तथाञ्जितः, भावः प्रोक्तः। का. प्र. का. ३५)। मम्मट की इस भाव की परिभाषा में रति पद में रति हास शोक आदि नवों स्थायिभाव भावक्षेत्र में ही आते हैं। फलतः रसावस्था को अप्राप्त हास इत्यादि भी भाव ही कहे जाते हैं। (रतिरिति स्थायिभावोपलक्षणम्। देवादिविषये रसप्राप्तरसावस्थोपलक्षणम्। तेन देवादिविषया सर्वा, कान्ताविषयाप्यपुष्टा रतिः, हासादयश्चाप्राप्तरसावस्थाः प्राधान्येन व्यंजितो व्यभिचारी च इत्यवधातव्यम्। का० प्रदीप पृ० १०६)।

इस प्रकार भाव की चार स्थितियां हैं (१) देव आदि विषयक रति, (२) कान्ता विषयक अपुष्ट रति, (३) रसावस्था को अप्राप्त हास

आदि, तथा (४) परिपोष को प्राप्त व्यभिचारिभाव इनमें से द्वितीय स्थिति अर्थात् कान्ता विषयक (नायक-नायिका विषयक) अपुष्ट रति-भाव रसवत् अलंकार का विषय है। शेष तीनों अवस्थाओं में भाव यदि अप्रधान होकर (गुणीभूत होकर) व्यक्त हों, तो वहाँ **प्रेयस् अलंकार** होता है।

आमीलितालसविवर्त्तिततारकाक्षीम्
मत्कण्ठबन्धनदरश्लथबाहुवल्लीम् ।
प्रस्वेदवारिकणिकाचितगण्डबिम्बां
संस्मृत्य तामनिशमेति न शान्तिमन्तः ।।

इस पद्य में प्रथम तीन चरणों में सम्भोग शृंगार की व्यंजना हो रही है, जो कि चतुर्थ चरणगत स्मरण व्यभिचारिभाव के अंग के रूप में पर्यवसित हो रहा है। और यह व्यभिचारिभाव भी अपुष्ट विप्रलम्भ का ही अंग है, तथा विप्रलम्भ पूर्णतया परिपुष्ट नहीं हो रहा है, अतः यहां **प्रेयस् अलंकार** माना गया है।

प्रेयस् अलंकार के उदाहरण में आचार्य अभिनवगुप्त ने निम्न-लिखित पद्य उद्धृत किया है :—

तिष्ठेत्कोपवशात्प्रभावपिहिता दीर्घं न सा कुप्यति
स्वर्गायोत्पतिता भवेन्मयि पुनः भावार्द्रमस्याः मनः ।
तां हर्तुं विबुधद्विषोऽपि न च मे शक्ताः पुरोवर्त्तिनीं
सा चात्यन्तमगोचरं नयनयो र्यातेति कोऽयं विधिः ।।

अभिनवगुप्त के अनुसार प्रस्तुत पद्य में विप्रलम्भ शृंगार होते हुए भी वितर्क व्यभिचारिभाव में चमत्कारातिशय है (अत्र हि विप्र-लम्भरससद्भावेऽपि वितर्कव्यभिचारिचमत्कारप्रयुक्त आस्वादा-तिशयः। लोचन पृ० ६५)।

मूल लक्षण

दण्डी

प्रेयः प्रियतराख्यानम् । —काव्यादर्श २.२७५

प्रीतिप्रकाशनं तच्च प्रेय इत्यवगम्यताम् । —वही २.२७६

भामह

लक्षण नहीं, उदाहरणमात्र । —काव्यालंकार ३.५

शिलामेघसेन

दण्डी अनुकृत २७२।

उद्‌भट

रत्यादिकानां भावानामनुभावादिसूचनैः ।
यत्काव्यं बध्यते सद्‌भिः तत्प्रेयस्वदुदाहृतम् ॥ —काव्या. सारसं. ४.२

रुय्यक

रसभावतदाभासतत्प्रशमानां निबन्धे रसवत्प्रेय ऊर्जस्विसमाहितानि ।
—अलंकार सर्वस्व ८३

शोभाकर

रसभावतदाभासानां रसाद्यङ्गत्वे रसवत्प्रेय ऊर्जस्वीनि ।
—अलंकार रत्नाकर १०६

जयदेव

रसभावतदाभासभावशान्तिनिबन्धनाः ।
रसवत्प्रेय ऊर्जस्विसमाहितमयाभिधाः ॥ —चन्द्रालोक ५.११२

संघरक्खित

सिया पियतरं नाम अत्थरूपस्य कस्स चि ।
पियस्सातिस्सये नेति यं होति पटिपादनं ॥ —सुबोधालंकार २६३

विश्वनाथ

रसवत्प्रेय ऊर्जस्वि समाहितमिति क्रमाद् ।
(रस-भाव-रसाभास-भावाभासस्य वर्णना) ।। —साहित्यदर्पण १०.६६

अमृतानन्द यति

प्रेयः प्रियतरालापः प्रेमादिख्यापनं यथा । —अलंकार संग्रह ५.३६

अप्पयदीक्षित

रसभाव-तदाभास-भावशान्ति-निबन्धनाः ।
चत्वारो रसवत्प्रेय ऊर्जस्वि च समाहितम् ॥ —कुवलयानन्द १७०
वृत्ति—भावः यत्रापरस्याङ्गं तत्र प्रेयोलंकारः । —वही पृ. १८३

नरेन्द्रप्रभसूरि

रसाः भावास्तदाभासाः भावशान्त्यादयोऽपि वा ।
यत्रात्मानं गुणीकृत्य धारयन्त्यपराङ्गताम् ।
अलंकाराः क्रमात्तस्मिन्नमी कैश्चिदुदीरिताः ।
रसवत्प्रेय ऊर्जस्विसमाहितपुरस्सराः ॥ —अलं. महोदधि ८.८६

भावदेव सूरि

प्रेयोऽतिहर्षभावोक्तिः । —काव्यालंकार सारसंग्रह ६.४२

भट्ट देवशंकर पुरोहित

विभावानुभावाभ्यामभिव्यक्तीकृतास्त्रयस्त्रिशद् भावाः देवता गुरुनृपादावभिव्यक्ति नीता रतिश्च भावो यत्रापराङ्गतया निबध्यते, तत्र प्रेयोऽलंकारः । —अलंकार मञ्जूषा पृ. २२७

विश्वेश्वर

रसभावतदाभासे रसवत्प्रेय उर्जस्वी ।

भावशमे तु समाहितमुदयेन्योऽप्यस्य शबलत्वे ॥ —अलं. मु. ५५

परकालस्वामी

यदि भावरसाङ्गत्व भावस्यं प्रेय इष्यते । —अलं. मणि. १६६

प्रौढोक्ति

किसी उत्कर्ष जनन में अशक्त पदार्थ में उस उत्कर्ष जनन की शक्तिमत्ता की कल्पना का निबन्धन **प्रौढोक्ति अलंकार** कहा जाता है। इस अलंकार को इसी रूप में जयदेव अप्पयदीक्षित चिरञ्जीव विश्वेश्वर एवं श्रीकृष्ण ब्रह्मतन्त्र परकाल स्वामी ने स्वीकार किया है। इनके अतिरिक्त पंडितराज जगन्नाथ ने भी **प्रौढोक्ति अलंकार** को स्वीकार किया है। किन्तु इन्होंने प्रौढोक्ति का स्वरूप कुछ भिन्न रूप में प्रतिपादित किया है। उनके अनुसार किसी पदार्थ में किसी धर्म विशेषकृत उत्कर्ष के प्रतिपादन के लिए उस धर्म से युक्त अन्य पदार्थ से इस पदार्थ के संसर्ग का प्रतिपादन होने पर वहाँ **प्रौढोक्ति अलंकार** मानना चाहिए।

मूल लक्षण

जयदेव

प्रौढोक्तिस्तदशक्तस्य तच्छक्तत्वावकल्पनम् । —चन्द्रालोक ५.४५

अप्पयदीक्षित

प्रौढोक्तिरुत्कर्षाहैतौ तद्धेतुत्वप्रकल्पनम् । —कुवलयानन्द १२५

पंडितराज जगन्नाथ

कस्मिंश्चिदर्थे किंचिद्धर्मकृतातिशयप्रतिपिपादयिषया तद्धर्मवता संसर्गस्योद्भावनं प्रौढोक्तिः । —रसगंगाधर भाग ३ पृ. ७०३

चिरञ्जीव

प्रौढोक्तिस्तदशक्तस्य तच्छक्तत्वावकल्पनम् । —काव्यविलास २.२९

विश्वेश्वर

प्रौढोक्तिरुत्कर्षोऽहेतौ तद्धेतुत्वप्रकल्पनम् ।। —अलंकार मुक्तावली २०

परकालस्वामी

यदुत्कर्षानिमित्तस्य तदुत्कर्षनिबन्धनम् ।
प्रौढोक्तिरेषा कथिता जयदेवमुखैर्गुणैः ।। —अलं. मणि. १३१

भाव

भाव अलंकार को केवल रुद्रट भोज वाग्भट (प्रथम) एवं संघरक्षित ने स्वीकार किया है। रुद्रट के अनुसार यह एक प्रकार की काव्य-अनुमिति है, अर्थात् जहां विकार अप्रतिबद्ध हेतु से विकारी के भाव को प्रगट करता है, वहां **भाव अलंकार** माना जाता है।

ग्रामतरुणं तरुण्या नववञ्जुल मञ्जरीसनाथकरम्।
पश्यन्त्या भवति मुहुर्नितरां मलिना मुखच्छाया ।।

इस पद्य में नायिका की मलिन मुखच्छाया, जो संकेत स्थल वंजुल वृक्ष की मंजरी से युक्त ग्रामतरुण को देखकर उत्पन्न हुई है, विकारी नायिका के संकेत स्थल पर न पहुंच सकने के खेदरूप भाव को प्रगट कर रही है, अत: रुद्रट के अनुसार यहां **भाव अलंकार** है। ध्वनिवादी मम्मट आदि आचार्यों के अनुसार इस पद्य में व्यङ्ग्य गुणीभूत है, अतः इसे मध्यम काव्य अर्थात् अलंकार प्रधान चित्रकाव्य से उच्चकोटि का काव्य मानना जाहिए।

भोज ने अभिप्राय के अनुकूल प्रवृत्ति को **भाव** माना है। उनके अनुसार यह **सोद्भेद निरुद्भेद एकतः** और **अमितः** भेद से चार प्रकार का हो सकता है।

काव्यानुशासनकार वाग्भट ने वाच्यसिद्धयङ्ग प्रतीयमान अर्थ का जहां निबन्धन हो, वहां **भाव अलंकार** स्वीकार किया है।

संघरक्षित के अनुसार जहां कवि के भाव बोधन के लिए जिस किसी भी वर्णन प्रकार से नाम आदि का ग्रहण किया जाता है, वहां **भाव नामक अलंकार** मानना चाहिए।

वस्तुत: जहां प्रतीयमान अर्थ के कारण चारुत्व होता है, वहां

अलंकारवादी अर्थात् ध्वनि को न मानने वाले आचार्यों ने **भाव अलङ्कार** माना है, यद्यपि प्रतीयमान अर्थ की चर्चा न करने के कारण अथवा प्रतीयमानता की तब तक सुस्पष्ट व्याख्या न होने के कारण वे इसका सुस्पष्ट लक्षण न दे सके हैं। वाग्भट (प्रथम) इसके अपवाद है।

मूल लक्षण

रुद्रट

यस्य विकारः प्रभवन्नप्रतिबद्धेन हेतुना येन।
गमयति तदभिप्रायं तत्सम्बद्धं च भावोऽसौ ।। —काव्यालंकार ७.३८
अभिधेयमनभिदधानं तदेव तदसदृशसकलगुणदोषम् ।
अर्थान्तरमवगमयति यद् वाक्यं सोऽपरो भावः ।। —वही ७.४०

भोज

अभिप्रायानुकूल्येन प्रवृत्तिर्भाव उच्यते । —सरस्वती कंठाभरण ३.४२
निरुद्भेदस्तु यो भावः स सूक्ष्मस्तैर्निगद्यते ।
इङ्गिताकार लक्ष्यात्स सूक्ष्मात्स्याद् भूमिकान्तरम् ।। —वही ३.४४

वाग्भट्ट (प्रथम)

यत्र प्रतीयमानोऽर्थो वाच्योपयोगी स भावः ।। —काव्यानुशासन पृ. ४४

संघरक्खित

पवुच्चते यं नामादि कविनं भावबोधनं ।
येन केन चि वण्णेन भावो नामा यमीरितो ।। —सुबोधालंकार ३३१

भाविक

भाविक अलंकार का उल्लेख हमें काव्यशास्त्र के प्राचीनतर आचार्य दण्डी और भामह के ग्रन्थों में मिलता है। भामह ने इसे प्रबन्ध विषयक गुण माना है (काव्या. ३.५३)। दण्डी ने इसके साथ ही यह भी स्वीकार किया है कि यह कवि का भाव है, जो सिद्धि पर्यन्त काव्य में स्थिर रहता है (काव्यादर्श २.३६४)। अतः उनके अनुसार भी इसे सम्पूर्ण प्रबन्ध में व्याप्त रहना चाहिए। दण्डी और भामह दोनों ने ही इसका उदाहरण नहीं दिया है, क्योंकि वह तो (इसका उदाहरण तो) सम्पूर्ण प्रबन्ध काव्य होगा। काव्यालंकार के व्याख्याकार देवेन्द्र

शर्मा ने इस तथ्य को स्पष्ट करते हुए कहा है कि दण्डी के अनुसार स्फुट (मुक्तक) पद्यों में इसकी सम्भावना ही नहीं हो सकती। शिलामेघसेन ने दण्डी का अनुसरण करते हुए इतना और जोड़ दिया है कि 'यह सर्वालंकारमय है (सियबसलकुर ३३५—३३६)।

इस अलंकार की योजना में मुख्य उपादान तत्त्व है: अतीत एवं अनागत विषयों का प्रत्यक्षायमाणत्व तथा अलौकिक रूप में उसका प्रगट किया जाना ('भाविकत्वमिति प्राहुः प्रबन्धविषयं गुणम्। प्रत्यक्षा इव दृश्यन्ते यत्रार्था भूतभाविनः॥ चित्रोदात्ताद्भुतार्थत्वं कथायां स्वभिनीतता। शब्दानाकुलता चेति तस्य हेतुं प्रचक्षते'॥ काव्या. ३.५२-५३। 'अतीतानागतयोर्भूतभाविनोरर्थयोरलौकिकत्वेनाद्भुतत्वाद् व्यस्तसम्बन्धरहितशब्दसन्दर्भसमर्पितत्वाच्च प्रत्यक्षायमाणत्वं भाविकम्।' अलं. स. पृ. २२४)। साहित्य दर्पण के टीकाकार रामचरण ने अद्भुत पदार्थों के प्रत्यक्षायमाण होने को (अद्भुतस्य पदार्थस्य प्रत्यक्षायमाणत्वम्) तथा भूत एवं भावी पदार्थों की प्रत्यक्षायमाणता को प्रकट भेदक मानकर **भाविक** अलंकार के दो प्रकारों की कल्पना की है। प्रोफेसर पी. वी. काणे इस भेद कल्पना से सहमत नहीं हैं।[1]

इस अलंकार की **भाविक** संज्ञा अन्वर्थ संज्ञा है। **भाविक** पद भाव शब्द से इक (ठक्) प्रत्यय करके निष्पन्न है। भाव शब्द यहाँ 'कवि के आशय' का वाचक है। कवि का आशय प्रतिबिम्बित होकर विद्यमान रहने से इस अलंकार को **भाविक** कहा जाता है। इस अलंकार की अलंकारता ही इसमें है कि इसके माध्यम से कवि का आशय, जो निश्चय आदि रूप होता है, पाठक अथवा श्रोता के मन में प्रतिबिम्बित होकर अवतीर्ण होता है। (भावः कवेरभिप्रायोऽत्रास्तीति, भावोभावना वा पुनः पुनश्चेतसि निवेशनं सोऽत्रास्तीति'। अलं. स. पृ २२४।) 'भावः कवेरभिप्रायो निश्चयादिप्रतीतिविशेषकोऽत्रास्तीति व्युत्पत्तेः।' का. प्र. प्रदीप)।

मुनिर्जयति योगीन्द्रो महात्माकुलसम्भवः।
येनैकचुलके दृष्टौ दिव्यौ तौ मत्स्यकच्छपौ॥

इस पद्य में दिव्य मत्स्य एवं कच्छप को अगस्त्य मुनि चुलुक

1. Note on Sahitya Darpana p. 306-308.

(अञ्जलि-जल) में समुद्र का पान कर लेने पर देखना अत्यद्भुत कार्य हैं, जो पाठकों अथवा श्रोताओं को प्रत्यक्ष होते हुए से प्रतीत होते हैं।

इसी प्रकार भूत विषय एवं भावि विषय के प्रत्यक्षायमाण होने पर भी **भाविक अलंकार** होता है।

रुय्यक एवं विश्वनाथ के द्वारा भाविक अलंकार के उदाहरण के रूप में उद्धृत 'मुनिर्जयति' इत्यादि पद्य को आचार्य आनन्द वर्द्धन ने अलंकार रहित अद्भुत रस के अनुगुण रचना के उदाहरण के रूप में उद्धृत किया है। उनके अनुसार एक चुल्लू में मत्स्य कच्छप का दर्शन अद्भुतरस के अनुकूल है, अतः उसके चमत्कारविषय में और अतिशय उत्पन्न करता है, क्योंकि एक चुल्लू में सम्पूर्ण समुद्र के समा जाने से भी अधिक दिव्यमत्स्य एवं कच्छप का दर्शन बिल्कुल अपूर्व होने से अद्भुतरस के अनुकूल है (अत्र हि अद्भुतरसानुगुणमेकचुलके मत्स्य-कच्छपदर्शनं छायातिशयं पुष्णाति। तत्र त्वेकचुलके सकलजलनिधि-सन्निधानादपि दिव्यमत्स्यकच्छपदर्शनम् अक्षुण्णत्वाद् अद्भुतरसानु-गुणतरम्। ध्वन्या. पृ० ४७१-४७२)। अप्पयदीक्षित ने उपर्युक्त पद्य को रसवदलंकार के सन्दर्भ में उद्धृत किया है, और कहा है कि यहां मुनि विषयक रति भाव का अद्भुतरस अङ्ग है (अत्र मुनिविषयरति-रूपस्य भावस्याद्भुतरसोऽङ्गम्। कुवल० पृ० २७०)।

भाविक अलंकार के प्रसङ्ग में यह प्रश्न हो सकता है कि इसे प्रसाद गुण से अभिन्न क्यों न माना जाये? क्योंकि इस अलंकार में काव्य में ऐसी शब्द योजना की जाती है, जिसके फलस्वरूप कवि का भाव श्रोता के हृदय में निर्बाध रूप से प्रविष्ट हो सके। काव्यशास्त्र के प्रायः सभी आचार्यों द्वारा यह स्थिति प्रसाद गुण में स्वीकार की जाती है 'चित्तं व्याप्नोति यः क्षिप्रं शुष्केन्धनमिवानलः। स प्रसादः समस्तेषु रसेषु रचनासु च।' सा. द. ८.७-८)। इस गुण की योजना की स्थिति में कवि का तात्पर्य अविद्वान स्त्री और बाल आदि सभी के लिए सुबोध होता है (अविद्वदङ्गना बालप्रतीतार्थप्रसादवत्। काव्या. २.३)। आनन्द वर्धन ने प्रसाद गुण में सभी रसों के प्रति काव्य का समर्पकत्व स्वीकार किया है (समर्पकत्वं काव्यस्य यत्तु सर्वरसान्प्रति। स प्रसादो गुणो ज्ञेयः सर्वसाधारणक्रियः। ध्व. का. ३.१०)। मम्मट ने भी

इसी तात्पर्य को कुछ अधिक स्पष्ट करते हुए कहा है कि जिस प्रकार सूखी लड़कियों में अग्नि निर्बाध फैल जाती है, अथवा निर्मल जल में दृष्टि का निर्बाध प्रसार होता है, उसी प्रकार प्रसाद गुण के रहने पर काव्यार्थ की निर्बाध प्रतीति हुआ करती है। (शुष्केन्धनादिवत् स्वच्छजलवत् सहसैव यः। व्याप्नोत्यन्यत्प्रसादोऽसौ सर्वत्र विहितस्थितिः।' का. प्र. सू. ९४ का. ७०-७१)। क्योंकि इसके रहने पर श्रवणमात्र से श्रोता को समग्र अर्थ की प्रतीति हो जाती है, तथा यह गुण सभी रसों की स्थिति में रह सकता है (श्रुतिमात्रेण शब्दात्तु येनार्थप्रत्ययो भवेत्। साधारणः समग्राणां स प्रसादो गुणो मतः। का. प्र. ७६) अतः **प्रसाद गुण** एवं **भाविक अलंकार** के क्षेत्र में अभेद की स्थिति कही जा सकती है। दोनों के क्षेत्रों में कहीं अतिव्याप्ति अथवा अव्याप्ति की संभावना दिखाई न पड़ती।

उपर्युक्त प्रश्न का समाधान यह है कि प्रसाद गुण में भूत और भविष्य की प्रत्यक्षायमाणता आवश्यक नहीं है, जो कि भाविक अलंकार में अनिवार्य है, अतः **भाविक अलंकार** और **प्रसाद गुण** का क्षेत्र एक नहीं कहा जा सकता। **प्रसाद** और **भाविक** में एक अन्तर यह भी है कि प्रसाद गुण का प्राण है तत्काल अर्थ का प्रत्यायन होना, जबकि **भाविक** में अर्थ की स्फुट प्रतीति होने पर अर्थ स्वरूप की उपलब्धि होती है। अर्थात् प्रसाद में प्रत्यायकता प्रधान है और भाविक में प्रतीति (नाप्ययं शब्दानाकुलत्वहेतुको झगित्यर्थसमर्पणात्प्रसादाख्यो गुणः तस्य हि स्फुटास्फुटोभयवाच्यार्थगतत्वेन झटिति समर्पणं रूपम्। अस्य तु झटिति समर्पकस्य सतः स्फुटत्वेन प्रतीतौ स्वरूपप्रतिलम्भः।' अलं. स. ३३५-३३६)

भाविक अलंकार को **अद्भुतरस** अथवा **रसवत् अलंकार** से भी अभिन्न नहीं कहा जा सकता। क्योंकि भले ही **भाविक अलंकार** में भूत अथवा भविष्य अर्थ की प्रत्यक्षायमाणता में विस्मय विद्यमान रहता है, किन्तु अद्भुत रस अथवा रसवत् अलंकार में विस्मय की प्रतीति विभाव अनुभाव और संचारिभावों के माध्यम से व्यंञ्जना के द्वारा होती है, तथा वह (विस्मय) अद्भुतरस की स्थिति में प्रधान तथा करुण रस की स्थिति में अप्रधान रहता है, जबकि **भाविक अलंकार** में विस्मय की प्रधानता अथवा अप्रधानता पर विचार ही नहीं

होता, न विभाव आदि द्वारा उसकी व्यंजना ही होती है, बल्कि भूत अथवा भविष्य की प्रत्यक्षायमाणता दूसरों के लिए विस्मय की उत्पत्ति का कारण हो सकती है। इसके अतिरिक्त **अद्भुत रस** के विभावादि द्वारा व्यङ्ग्य होने के कारण उसका आस्वाद ब्रह्मास्वाद सहोदर आनन्द के रूप में होता है, जबकि **भाविक अलंकार** में स्वादात्मक प्रतीति न होकर ताटस्थ्येन प्रतीति होती है ('नाप्ययं पुरः स्फुरद्रूपतया सचमत्कारं प्रतीते रसवदलंकारः। रत्यादिचित्तवृत्तीनां तदनुषक्ततया विभावादीनामपि साधारण्येन हृदयसंवादितया परमद्वैतज्ञानिवत्प्रतीतौ तस्य भावात्। इह तु ताटस्थ्येन भूतभाविनां स्फुटत्वेन भिन्नसर्वज्ञवत् प्रतीतेः। स्फुटप्रतीत्युत्तरकालं तु साधारण्यप्रतीतौ स्फुटप्रतीतिनिमित्तक औत्तरकालिको रसवदलंकारः स्यात्। अलं. स. ३३२-३३३)

भाविक अलंकार की **अतिशयोक्ति** से भी अभेद की आशंका नहीं करनी चाहिए; क्योंकि **अतिशयोक्ति** अलंकार में प्रकृत पदार्थ मुख आदि पर अप्रकृत पदार्थ चन्द्र आदि का अध्यवसान हुआ करता है' दो पदार्थ (प्रकृत और अप्रकृत) के बीच अध्यवसान के अभाव में अतिशयोक्ति की सम्भावना नहीं जा सकती, जबकि **भाविक अलंकार** अप्रत्यक्ष (भूत और भावि) पर प्रत्यक्ष का अध्यवसान नहीं होता, बल्कि सहृदय जनों को प्रत्यक्षतया भान होता है (न हि भूतभावि अभूतभावित्वेनाध्यवसीयते, अभूतभावि वा भूतभावित्वेन, नापि प्रत्यक्षमप्रत्यक्षत्वेन, अप्रत्यक्षमपि वा प्रत्यक्षत्वेन। अलं. स. पृ० ३२९। 'नह्यप्रत्यक्षं प्रत्यक्षत्वेनाध्यवसीयते, किन्तर्हि? काव्यविद्भिः प्रत्यक्षत्वेन दृश्यत इति।' वही पृ. ३३१)। स्मरणीय है कि काव्य प्रकाश प्रदीप के टीकाकार (उद्योतकार) नागेश ने **भाविक अलंकार** को असम्बन्धे सम्बन्धरूपा अतिशयोक्ति में गतार्थ माना है (असम्बन्धे सम्बन्धरूपातिशयोक्त्यैव गतार्थोऽयम्, प्रत्यक्षासम्बन्धेऽपि तत्सम्बन्धवर्णनात्। भूतादिवस्त्वसम्बन्धेऽपि तत्सम्बन्धवर्णनाच्चेति। उद्योत पृ० ६३)

भाविक को भ्रान्तिमान् अलंकार में भी अन्तर्भुक्त नहीं माना जा सकता; क्योंकि **भ्रान्तिमान्** में अतद्वस्तु की तद्वस्तुतया प्रतीति होती है, जबकि भ्रान्तिमान् में भूत और भावि का भूत और भावि के रूप में ही ग्रहण होता है (न चेयं भ्रान्तिः, भूतभाविनोः भूतभावितयैव प्रकाशनात् नापि रामोऽभूदितिवद् वस्तुवृत्तमात्रम्। भूतभाविगतस्य

प्रत्यक्षत्वाख्यस्य धर्मस्य स्फुटस्याधिकस्य प्रतिलम्भात्। अलं. स. पृ. ३२८-२९)

भाविक अलंकार में वस्तु स्वभाव का सूक्ष्मतर वर्णन किया जाता है, तथा **स्वाभावोक्ति** में भी वस्तु के स्वभाव का, क्रिया रूप आदि का, वर्णन किया जाता है, अत: यह प्रश्न हो सकता है कि **भाविक** को **स्वभावोक्ति** से अभिन्न क्यों न माना जाए? इस प्रश्न का समाधान यह है कि स्वभावोक्ति में किसी वस्तु के सम्बन्ध में होने वाले सामान्य (लौकिक) स्वरूप का वर्णन होता है, जबकि भाविक में अलौकिक स्वभाव का चमत्कार पूर्ण वर्णन होता है (नापीयं सूक्ष्मवस्तु-स्वभाववर्णनात्स्वभावोक्तिः। तस्यां लौकिकवस्तुगतसूक्ष्मधर्मवर्णने साधारण्येन हृदयसंवादसम्भवात्। इह च लोकोत्तराणां वस्तूनां स्फुटतया ताटस्थ्येन प्रतीतेः। अलं. स. पृ. ३३४) एक वस्तु के ही लौकिक वस्तु स्वभाव के वर्णन के साथ ही अलौकिक वस्तु स्वभाव का वर्णन भी किया गया हो, तो वहाँ स्वभावोक्ति एवं भाविक का संकर अथवा संसृष्टि अलंकार यथावसर माना जा सकता है उदाहरणार्थ :—

हेरम्बोऽत्र हरीश्वरे नखमुखैः कण्डूयमाने गलं
कुर्वन्पुच्छविवर्त्तनानि विरतो रोमन्थलीलायितात्।
सम्मीलन्नयने विसंस्थुललसत्सास्नं नतोन्नामित-
ग्रीवो निश्चलकर्णमीश्वरबलीवर्दः सुखं मन्यते ॥

पद्य में शिववृषभ नन्दी के पुच्छविवर्त्तन आदि सूक्ष्म धर्मों का वर्णन होने से स्वभावोक्ति अलंकार एवं भूत वृत्त का प्रत्यक्षायमाण वर्णन होने से भाविक अलंकार का एकत्र समावेश माना जा सकता है। (क्वचित्तु लौकिकानामपि वस्तूनां स्फुटत्वेन प्रतीतौ भाविक स्वभावोक्त्योः समावेशः स्यात्।' अलं. स. ३३४। 'समावेशः इति संसृष्टिरूपः संकररूपो वा। स तु.....................अत्र वृषभस्य पुच्छ-विवर्तनादि सूक्ष्मधर्मवर्णनेन स्वभावोक्तिः, प्रत्यक्षायमाणत्वेन भाविकमिति अनयोः समावेशः। विमर्शिनी पृ० २२७)।

भाविक अलंकार के प्रसङ्ग में इतना और स्मरणीय है कि 'वर्णन में दो स्थितियां सम्भव हैं: वर्णनीय वस्तु वर्णन के कारण प्रत्यक्षायमाण

हो अथवा प्रत्यक्षायमाण का वर्णन। वर्णन की इन दो स्थितियों में से प्रथम स्थिति में **भाविक अलंकार** होगा, द्वितीय स्थिति में नहीं। क्योंकि कवि प्रतिभा समर्पित भावों को ही अलंकार माना जाता है, चन्द्रमा इत्यादि के वस्तुगत सौन्दर्य में नहीं (इह क्वचिद् वर्णनीयस्य वर्णनवशादेव प्रत्यक्षायमाणत्वम्, क्वचित्प्रत्यक्षायमाणस्यैव वर्णनम्। ....तत्र प्रथम प्रकारविषयोऽयमलंकारो न प्रकारान्तरगोचर:। कविसमर्पितानां धर्माणां ह्यलंकारत्वात्, न हिमांशुलावण्यादीनामिव वस्तुसन्निवेशिनाम्। अलं. स. पृ. ३३८-३९) ऐसे स्थलों में से कुछ स्थलों में सन्देह अवश्य हो सकता है कि अमुक स्थल पर प्रत्यक्षायमाण का वर्णन है अथवा वर्णन के कारण प्रत्यक्षायमाणता है। उदाहरणार्थ निम्नलिखित पद्य को देख सकते हैं :—

'अनातपत्रोऽप्ययमत्र लक्ष्यते सितातपत्रैरिव सर्वतो वृत:।
अचामरोऽप्येष सदैव वीज्यते विलासबालव्यजनेन कोऽप्ययम्॥'

अलंकार सर्वस्वकार रुय्यक और उनके टीकाकार विद्याचक्रवर्त्ती के अनुसार यहां वर्णन के कारण प्रत्यक्षायमाणता है, अत: उनके अनुसार यहां **भाविक अलंकार** होगा (अनातपत्रस्यापि सितापत्रैरिव वृत्तत्वम्, अचामरस्य च बालव्यजनेनोपलक्षितत्वम्। अभावविशेषादेव प्रत्यक्षायमाणत्वं वर्ण्यते न तु वर्णनावशात् प्रत्यक्षायमाणता। अलं. स. संजीविनी पृ. ३३८)। साहित्य दर्पणकार यहां प्रत्यक्षायमाण का वर्णन मानते हैं (अत्र प्रत्यक्षायमाणस्यैव वर्णनान्नायमलंकार:। वर्णनावशेन प्रत्यक्षायमाणत्वस्यास्य स्वरूपत्वात्। सा. द. पृ. ३६५) वस्तुत: ऐसे स्थलों पर समीक्षक की प्रतिभा ही प्रमाण है कि यहां प्रत्यक्षायमाण का वर्णन माना जाए अथवा वर्णन के कारण प्रत्यक्षायमाणता।

मूल लक्षण

दण्डी

तद् भाविकमिति प्राहु: प्रबन्धविषयं गुणम्।
भाव: कवेरभिप्राय: काव्येष्वासिद्धि संस्थित:॥
परस्परोपकारित्वं सर्वेषां वस्तुपर्वणाम्।
विशेषणानां व्यर्थानामक्रिया स्थानवर्णना॥

व्यक्तिरुक्तिक्रमबलाद् गम्भीरस्यापि वस्तुनः ।
भावायत्तमिदं सर्वमिति तद् भाविकं विदुः ॥

—काव्यादर्श २.३६४-६६

भामह

भाविकत्वमिति प्राहुः प्रबन्धविषयं गुणम् ।
प्रत्यक्षा इव दृश्यन्ते यत्रार्थाः भूतभाविनः ॥

—काव्यालंकार ३.५३

शिलामेघसेन

तद्भाविकमिति प्राहुः प्रबन्धविषयं गुणम् ।
भावेः कवेरभिप्रायः काव्येष्वासिद्धि संस्थितः ॥
(भाविकालंकारः सर्वालंकारमयः) । —सियवसलकुर ३३५
सर्वैरलंकारैरभिन्नः इति शक्यते वक्तुम् ।
अतः स्वभावादभिन्नमेवेमं निगदन्ति विचक्षणाः ॥—सियवसकुलर ३३६

उद्भट

प्रत्यक्षा इव यत्रार्था दृश्यन्ते भूतभाविनः ।
अत्यद्भुताः स्यात्तद्वाचामनाकुल्येन भाविकम् ॥

—काव्यालंकार सारसंग्रह ६.६

भोज

स्वाभिप्रायस्य कथनं यदि वाप्यन्यभावना ।
अन्यापदेशो वा यस्तु त्रिविधं भाविकं विदुः ॥
व्यक्ताव्यक्तोभयाख्याभिः त्रिविधः सोऽपि कथ्यते ।
मते चास्माकमुद्भेदो विद्यते नैव भाविकात् ॥

—सरस्वती कण्ठाभरण ४.८८-८६

मम्मट

प्रत्यक्षा इव यद्भावा क्रियन्ते भूतभाविनः ।
तद् भाविकम्······························॥

—काव्यप्रकाश सू. १७३ का. ११४

रुय्यक

अतीतानागतयोः प्रत्यक्षायमाणत्वं भाविकम् ।

—अलंकार सर्वस्व ८०

शोभाकर

विप्रकृष्टस्य प्रत्यक्षायमाणत्वम् भाविकम् । —अलंकार रत्नाकर

जयदेव

भाविकं भूतभाव्यर्थसाक्षाद् दर्शनवर्णनम् । —चन्द्रालोक ५.१०८

विद्यानाथ

अतीतानागते यत्र प्रत्यक्षे इव लक्षिते ।
अद्‌भुतार्थकथनाद्भाविकं तदुदाहृतम् ॥ —प्रतापरुद्रीयम् ८.२५१

विद्याधर

भूतस्य भाविनो वा प्रत्यक्षायमाणतार्थस्य ।
विलसति सुतरामेतन्निगद्यते भाविकं कविभिः ॥ —एकावली ८.८३

विश्वनाथ

अद्‌भुतस्य पदार्थस्य भूतस्याथ भविष्यतः ।
यत्प्रत्यक्षायमाणत्वं तद्‌भाविकमुदाहृतम् ॥ —साहित्यदर्पण १०.९३

अप्पयदीक्षित

भाविकं भूतभव्यार्थ साक्षाद्दर्शनवर्णनम् । —कुवलयानन्द १६१

चिरञ्जीव

भाविकं भूतभव्यार्थसाक्षाद्दर्शनवर्णनम् । —काव्यविलास २.५७

नरेन्द्रप्रभसूरि

अत्यद्‌भुतत्वादव्यस्तसम्बन्धाद् भूतभाविनाम् ।
यत्प्रत्यक्षायमाणत्वं भाविकं तद् विभाव्यते ॥ —८.८३
अन्ये तु गूढस्यापि वक्तृभावस्य सन्निवेशवशादुद्‌भेदो भाविकमित्याहुः ।
यथा—निश्शेषच्युतचन्दनेत्यादि ।
—अलंकार महोदधि ८.३८

भावदेव सूरि

भाविकं यत्स्फुटीकारो भावानां भूतभाविनाम् ।
—काव्यालंकार सारसंग्रह ६.४६

नरसिंह कवि

भवेद्यत्राद्‌भुतार्थस्य वर्णनाद्भूतभाविनोः ।
अपरोक्षायमाणत्वं तद्‌भाविकमुदाहृतम् ॥
—नञ्जराज यशोभूषण पृ. २१५

भट्ट देवशंकर

भूतभव्यार्थयोर्यत्र साक्षात्कारः प्रवर्ण्यते ।
भाविकं तत्र गदिताऽलंकृतिः काव्यवित्तमैः ॥ —अलंकार मञ्जूषा ११५

विश्वेश्वर

भाविकमध्यक्षं स्यात्सध्वंसप्रागभावानाम् । —अलंकार मुक्तावली ३२

वेणीदत्त

भूतस्य भाविनो वापि पदार्थस्य तु वर्णनात् ।
यत्प्रत्यक्षायमाणत्वं तद्भाविकमुदीरितम् ॥ —अलंकार मुक्तावली ३२

भाविकच्छवि

भाविकच्छवि अलंकार भाविक अलंकार के अत्यन्त निकट है, जैसा कि इसके नाम से ही प्रगट होता है। **भाविक** अलंकार में जयदेव आदि के अनुसार भूत अथवा भविष्यत्कालीन पदार्थों का प्रत्यक्ष तुल्य वर्णन किया जाता है, जबकि **भाविकच्छवि** में वर्त्तमान किन्तु देशान्तर के कारण विप्रकृष्ट (दूर) पदार्थ का वर्णन हुआ करता है। इसे केवल जयदेव एवं चिरञ्जीव कवि ने स्वीकार किया है। यद्यपि जिस प्रकार से काल के कारण असन्निहित पदार्थों के प्रत्यक्षायमाण वर्णन को **अलङ्कार** (**भाविक अलङ्कार**) स्वीकार किया जाता है, उसी प्रकार देश के कारण असन्निहित पदार्थ के प्रत्यक्षायमाण वर्णन में भी चारुत्व का होना अत्यन्त स्वाभाविक है, यही कारण है कि जयदेव ने इस अलंकार की उद्भावना की है।

मूल लक्षण

जयदेव

देशात्मविप्रकृष्टस्य दर्शनं भाविकच्छविः ।

—चन्द्रालोक ५.१०९

चिरञ्जीव

देशात्मविप्रकृष्टस्य दर्शने भाविकच्छविः ।

—काव्यविलास २.५८

भावोदय-भावसन्धि-भावशबलता

प्रधानतया व्यंग्य होकर आस्वाद्यमान होने की स्थिति में भावोदय भावसन्धि और भावशबलता रस के समानान्तर होते हैं, एवं रस निष्पत्ति की प्रक्रिया के समान ही इसे समझना चाहिए। देखिये—

"रतिर्देवादिविषया व्यभिचारी तथाञ्जितः।
भावः प्रोक्तः, तदाभासा अनौचित्य प्रवर्त्तिताः।
भावस्य शान्तिरुदयः सन्धिः शबलता तथा।"

(का. प्र. ३५-३६)

"भावस्य शान्तावुदये सन्धिमिश्रितयोः क्रमात्।
भावस्य शान्तिरुदयः सन्धिः शबलता मताः॥"

(सा. द. ३. २६७)

भावोदय

भावोदय भावशान्ति भावसन्धि और भावशबलता जब अन्य के प्रति गुणीभूत होकर निबद्ध हों, तो इन्हें इन्हीं नामों से अलंकार माना जाता है। अलंकार के रूप में इनकी चर्चा केवल रुय्यक जयदेव विश्वनाथ अप्पयदीक्षित परकालस्वामी (श्रीकृष्ण ब्रह्मतन्त्र परकाल स्वामी) विश्वेश्वेर एवं भट्टदेवशंकर ने ही की है। किन्तु इनकी कल्पना का मूल दण्डी आदि आचार्यों द्वारा स्वीकृत रसवत् आदि अलंकारों में देखा जा सकता है। अतः ये अलंकार रसवत् आदि अलंकारों को स्वीकार करने वाले दण्डी आदि आचार्यों को भी अभिमत हैं, यह कहा जा सकता है।

मधुपान प्रवृत्तास्ते सुहृद्भिः सह वैरिणः।
श्रुत्वा कुतोऽपित वन्नाम लेभिरे विषमां दशाम्॥

इस पद्य में राजविषयक रति प्रधान भाव है, किन्तु वह अस्फुट है। उसके अंग के रूप में त्रास आदि व्यभिचारि भावों का उदय मात्र (पुष्टि नहीं) अभिव्यक्त हो रहा है, अतः इस पद्य में उपर्युक्त आचार्यों के अनुसार **भावोदय अलंकार** माना जाएगा।

भावसन्धि

भावसन्धि नाम में सन्धि शब्द का तात्पर्य है एकत्र तुल्य कक्षा में

अर्थात् गुण-प्रधान-भाव के बिना ही दो भावों का आस्वाद होना (सन्धिरेककालमेव तुल्यकक्षयोरास्वादः । का० प्र. प्रदीप पृ. ११०) अथवा परस्पर स्पर्धिभाव से दो भावों का निबन्धन (सन्धिर्द्वयोः विरुद्धयोः स्पर्धित्वेनोपनिबन्धः । अलं. स. पृ. ३५२)। भावसन्धि के गुणीभूत होने पर भावसन्धि अलंकार कहा जाता है, प्रधान होने की स्थिति में रसादि ध्वनि ।

जन्मान्तरीणरमणस्याङ्गसङ्ग समुत्सुका ।
सलज्जा चान्तिके सख्याः पातु नः पार्वती सदा ॥

इस पद्य में पूर्वजन्म के पति शिव के सान्निध्य में पार्वती में अभिव्यक्त औत्सुक्य एवं सखी जनों की विद्यमानता में उत्पन्न एवं अभिव्यक्त लज्जा इन दो भावों की सन्धि होने से भावसन्धि है, जो शिव-भक्ति के अंग के रूप में यहां निबद्ध है । अतः यहाँ इसको भावसन्धि ध्वनि न कहकर भावसन्धि अलंकार कहा जाएगा ।

भावशबलता

भावशबलता में दो से अधिक भावों का एकत्र निबन्धन हुआ करता है (शबलता तु कालभेदेन निरन्तरतया पूर्वपूर्वोपमर्दिनाम् (आस्वादः)। काव्य प्रदीप पृ. ११० । शबलता बहूनां पूर्वपूर्वोपमर्देन निबन्धः अलं. स. पृ. ३५२) । अत्र पूर्वपूर्वोपमर्देन उत्तरोत्तरं प्रतीयमानं चमत्कार-मादधाति इति तत्स्वरूपा भावशबलता । बालबोधिनी पृ. १३६)। यह **भावशबलता** प्रधान रूप से आस्वाद्य होने पर ध्वनि मानी जाएगी और गुणीभूत होने पर अलंकार ।

पश्येत्कश्चिच्चल चपल रे, का त्वराहं कुमारी,
हस्तालम्बं वितर, हहहा, व्युत्क्रमः, क्वासि यासि ।
इत्थं पृथ्वीपरिवृढ भवद् विद्विषोऽरण्यवृत्तेः
कन्या कञ्चित्फलकिसलयान्याददानाभिधत्ते ॥

इस पद्य में राजविषयक रतिभाव प्रधान है, किन्तु वह पूर्णतया अभिव्यक्त न होने से रसत्व को प्राप्त नहीं है । साथ ही 'पश्येत् कश्चित् वाक्य से शंका' 'चल चपल रे' वाक्य से असूया, 'का त्वरा' वाक्य से धृति, 'अहं कुमारी' वाक्य से स्मृति, 'हहहा' से धृति, 'व्युत्क्रमः' वाक्य से विबोध, 'क्वासि यासि' वाक्यों से औत्सुक्य भावों की अभिव्यक्ति

होती है। इस प्रकार पौर्वापर्य से अनेक भावों की एक साथ अभिव्यक्ति होने से यहां **भावशबलता अलङ्कार** है।

रसवत् आदि अलंकारों के प्रसंग में यह विचारणीय है कि रस को काव्य की आत्मा स्वीकार किया जाता है (रस एवात्मा साररूपतया जीवनाधायक:। सा. द. पृ. १६), तथा शब्द और अर्थ काव्य के शरीर हैं, एवं अलंकार कटक कुण्डल आदि के समान देह सदृश शब्द और अर्थ के माध्यम से उस काव्यात्मभूत रस के उत्कर्ष के कारण हैं (अलंकारा: कनक कुण्डलादिवत्·········देहद्वारेणेव शब्दार्थद्वारेण तस्यैव काव्यत्मभूतं रसमुत्कर्षयन्त: काव्यस्योत्कर्षका: उच्यन्ते । सा. द. पृ. २२) फलत: रस और अलंकारों के मध्य उपकार्य-उपकारक भाव विद्यमान रहता है। उनमें रसभावादि सदा ही उपकार्य होंगे उपकारक नहीं, तथा अलंकारों को अनिवार्यत: काव्यात्मभूत रस आदि का उपकारक होना चाहिए। ऊपर की पंक्तियों में यह कहा गया है कि 'जब रस एवं भाव गुणीभूत हों, तो वहां रसवत् एवं प्रेयस् आदि अलंकार माने जाते हैं।' किन्तु यह कथन पूर्वोक्त मान्यता के अनुकूल नहीं पड़ता, क्योंकि यदि वह अलंकार अर्थात् उपकारक होगा तो वह रस अर्थात् उपकार्य नहीं हो सकता, और यदि वह रस अर्थात् उपकार्य होगा तो वह अलंकार अर्थात् उपकारक नहीं हो सकता। इस प्रकार रसत्व और अलंकारत्व की एकाश्रयावच्छेदेन स्थिति न बनने से रसवत् आदि अलंकार मानना कहां तक उचित है? सम्भवत: यही कारण है कि मम्मट आदि आचार्य रसवत् आदि अलंकारों को स्वीकार नहीं करते (एते च रसवदाद्यलंकारा:। यद्यपि भावोदय भावसन्धि भावशबलत्वानि नालंकारतयोक्तानि तथापि कश्चिद् ब्रूयादित्येवमुक्तम्। का. प्र. पृ. २२७)।

कुन्तक ने भी इन अलंकारों को पूर्णतया अस्वीकार किया है (अलंकारो न रसवत् परस्याप्रतिभासनात् । स्वरूपादतिरिक्तस्य शब्दार्थासङ्गतेरपि। वक्रोक्ति जीवित ३.११। ऊर्जस्वि उदात्ताभिधयो: पौर्वापर्यप्रणीतयोरलंकरणयोस्तद्वद् भूषणत्वं न विधीयते । वही) इन आचार्यों की परम्परा के अनुसार इन्हें (भावोदय आदि को) अलंकार्य होना चाहिए, अलंकार नहीं।

कुछ आचार्यों की मान्यता है कि अलंकार शरीर की शोभा बढ़ा

ने वाले धर्म हैं, आत्मभूत रस आदि के शोभावर्धक नहीं। जहां कहीं उन्हें रस आदि का उपकारक कहा गया है, वहां वह कथन भाक्त अर्थात् गौण है। क्योंकि शरीर के धर्म शरीर के शोभावर्द्धक तो हो सकते हैं, आत्मा के नहीं, आत्मा में उत्कर्ष की वृद्धि आत्मा के धर्म ही कर सकते हैं, उनसे शरीर की शोभा वृद्धि नहीं हो सकती। जो जिसका धर्म है वह अपने वैशिष्ट्य से उसमें ही उत्कर्ष अथवा अपकर्ष उत्पन्न कर सकता है, अन्यत्र नहीं। अन्यथा देवदत्त के वस्त्र परिधान से यज्ञदत्त की शीत ताप लज्जा आदि की निवृति सम्भव होती किन्तु ऐसा होता नहीं। अतः रस आदि के उपकारक काव्यशरीर की शोभा के कारण नहीं हो सकते। रसवत् आदि अलंकारों तथा उपमा यमक आदि अलंकारों के बीच एक स्पष्ट अन्तर है कि रसवत् आदि रस की साक्षात् तथा शब्दार्थ रूप काव्य शरीर की परम्परया शोभा में वृद्धि करते हैं, जबकि अनुप्रास उपमा आदि अलंकार शब्द अर्थरूप काव्य शरीर की शोभा में साक्षात् वृद्धि करते हैं, रस से उनका सम्बन्ध परम्परया ही है। क्योंकि दोनों ही साक्षात् अथवा परम्परया रस आदि के उपकारक हैं, अतः इस साम्य के कारण रसवत् आदि के लिए भी लक्षणया अलंकार शब्द का प्रयोग कर लिया जाता है, किन्तु इतने मात्र से वे अलंकार पद के मुख्य अर्थ नहीं हो सकते।

विश्वनाथ ने प्रस्तुत प्रकरण में लाक्षणिक अर्थ के लिए भाक्त पद का प्रयोग किया है। आचार्य अभिनव गुप्त ने 'भाक्तमाहुस्तमन्ये' वाक्य की व्याख्या निम्नलिखित शब्दों में की है—'भाक्तः=भज्यते सेव्यते प्राज्ञेन प्रसिद्धतया उद्घोष्यते इति भक्तिः, धर्मोऽभिधेयेन सारूप्यादिः। तत आगतो भाक्तो लाक्षणिको अर्थः। यदाहुः 'अभिधेयेन सारूप्यात्सामीप्यात्समवायतः। वैपरीत्यात्क्रियायोगात् लक्षणा पञ्चधा मता।' इति। गुणसमुदायवृत्तेः शब्दस्यार्थभागस्तैक्ष्ण्यादिः तत आगतो गौणोऽर्थो भाक्तः। भक्तिप्रतिपाद्ये सामीप्य तैक्ष्ण्यादौ श्रद्धातिशयः। तां प्रयोजनत्वेनोद्दिश्य तत आगतो भाक्त इति गौणो लाक्षणिकश्च। मुख्यस्य वा अर्थस्य भङ्गो भक्तिरित्येवं मुख्यार्थबाधनं निमित्तं प्रयोजनमिति त्रयाणां सद्भावो उपचारबीजम् इत्युक्तं भवति। ध्व. लो. पृ. ६)। उपर्युक्त मान्यता के अनुसार ही रसवद् आदि को अलंकारों के नाम से गौण रूप से अभिहित कर

लिया जाता है, यह विश्वनाथ का तात्पर्य है कि उनके अनुसार इन्हें अलंकार नहीं कहना चाहिए।

आचार्य उद्भट ने **रसवत्** आदि अलंकारों को पूर्व आचार्यों द्वारा स्वीकृत माना है (प्रेयोरसवदूर्जस्वि पर्यायोक्तं समाहितम्। द्विधोदात्तं तथा श्लिष्टमलंकारान्परे विदुः। का. सा. स. ४. १)। स्मरणीय है कि रसवत् प्रेय आदि अलंकारों के सम्बन्ध में भामह दण्डी आदि प्राचीन आचार्य एकमत नहीं हैं। भावोदय भावसन्धि और भावशबलता अलंकारों को कम से कम दण्डी भामह आदि आलंकारिक स्वीकार नहीं करते।

मम्मट आदि कुछ आलंकारिकों की मान्यता है कि काव्य के जो उपादान हार आदि के समान काव्यात्मभूत रस के उपकारी होते हैं, वे अलंकार कहलाते हैं (उपकुर्वन्ति तं सन्तं येऽङ्गद्वारेण जातुचित् हारादिवदलंकारास्तेऽनुप्रासोऽपमादयः (का. प्र. ८२)। अलंकार की इस परिभाषा के अनुसार **रसवत्** आदि अलंकार ही मुख्यवृत्ति से अलंकार कहे जा सकते हैं उपमा आदि नहीं। क्योंकि रसवत् आदि ही रस आदि के साक्षात् अंग हो सकते हैं, अतः वे ही रस आदि के अंग रूप से उपकारक हो सकते हैं। उपमा रूपक आदि अलंकार साक्षात् वाक्यार्थ को अलंकृत करते हैं, अतः वे परम्परया ही रस आदि के उपकारक हैं, साक्षात् नहीं। फलतः इस मान्यता के अनुसार उपमा रूपक आदि भले ही मुख्य रूप से अलंकार न कहे जा सकें किन्तु रसवत् आदि अवश्य ही मुख्यवृत्त्या अलंकार कहे जाएंगे। यह पक्ष उपर्युक्त भाक्तवादियों से सर्वथा विपरीत है।

वस्तुतः रसवत् आदि अलंकार प्रधानभूत रस आदि के साक्षात् उपकारक नहीं है। रस के अङ्ग के रूप में जहां उन्हें स्वीकार किया जाता है, वहां भी अंग भूत रस आदि की व्यंजना कराने वाले वाचक शब्द अथवा वाच्य अर्थ आदि के माध्यम से ही अङ्गीभूत रस आदि के व्यंजक शब्द अथवा अर्थ में चमत्कार उत्पन्न होता है। इसीकारण **रसवत्** आदि अलंकार कहे जाते हैं। तात्पर्य यह है कि **रसवत्** आदि अलंकार भी वाक्यार्थ को चमत्कृत करके ही रस का उपकार करते हैं। अतः **रसवत्** और **उपमा-रूपक** आदि अलंकार भी वाक्य में स्थिति के कारण ही उपकारक हैं।

समासोक्ति आदि अलंकारों में अर्थ की दो अवस्थाएं हैं :—नायक-नायिका व्यवहार और उसका आस्वाद। नायकनायिका व्यवहार द्वारा प्रधानतया अथवा गौणतया रतिभाव की व्यंजना होती है, और उसका आस्वाद होता है। आस्वाद के प्रधान होने पर काव्य में **शृङ्गार रस** माना जाता है, तथा गौणतया आस्वाद होने पर उसे **गुणीभूत व्यंग्य** कहा जाता है। **समासोक्ति** में ये स्थितियां नहीं होती। यहाँ नायक नायिका व्यवहार से रतिभाव की ऐसी व्यंजना भी नहीं होती कि वह अप्रधान रूप से भी आस्वाद्यता को प्राप्त करे। इन अलंकारों में गुणीभूत व्यंग्य की अपेक्षा भी रस आदि की अस्फुट प्रतीति होती है। अतः नायक नायिका व्यवहार ही प्रधान रूप से वाक्यार्थ को चमत्कृत करता है। यह नायक नायिका व्यवहार ही **समासोक्ति** अलंकार में व्यंग्य माना जाता है, उससे अभिव्यक्त रति का आस्वाद नहीं। आस्वाद को अलकार न मानने का कारण यह है कि वह रस आदि का उपकारक नहीं होता। यही स्थिति रसवत् आदि अलंकारों में भी है। इस प्रसंग में आचार्य आनन्दवर्धन ने स्पष्ट कहा है कि जहां अङ्गीभूत रसादि से भिन्न रस या वस्तु अथवा अलंकार प्रधान अर्थात् वाक्यार्थ हो और रस आदि उनमें अंग हों, उस काव्य में रस (रसवत्) आदि अलंकार होते हैं (प्रधानेऽन्यत्र वाक्यार्थे यत्राङ्गन्तु रसादयः। काव्ये तस्मिन्नलंकारो रसादिरिति मे मतिः। ध्व. का. २.५)।

रस आदि के उपकारक मात्र होने से काव्यों के किसी उपादान को अलंकार माना जाएगा तो विभाव आदि के वाचक शब्दों एवं विभाव आदि अर्थों को भी रस आदिके प्रति उपकारक होने के कारण अलंकार को कहना होगा। अतः रस आदि के उपकारक होने मात्र से किसी का अलंकार मानने का यह पक्ष प्रशस्त नहीं है।

कुछ आचार्य, जो ध्वनि सिद्धांत को स्वीकार नहीं करते, अर्थात् जिनके अनुसार अलंकार ही काव्य में प्रधान तत्त्व है, वे रस आदि के प्रधान रूप से व्यज्यमान होने पर **रसवत्** अलंकार मानते हैं (रसवद् रसपेशलम्। का. द. २.२७५), रसवद्दर्शितस्पष्टश्रृंगारादिरसं यथा- (काव्या. ३.६), रसवद् दर्शितस्पष्टश्रृंगारादिरसादयम्। स्वशब्द-स्थायिसंचारिविभावाभिनयास्पदम् (का. सा. सं. ४.३) तथा उनके

प्रधान होने पर द्वितीय प्रकार का **उदात्त** अलंकार होता है (तत्र यस्मिन् दर्शने वाक्यार्थीभूता रसादयो रसवदाद्यलंकाराः तत्राङ्गभूत-रसादिविषये द्वितीय उदात्तालंकारः (अ. स. पृ. ३४६-४७)।

उनका मत भी पूर्वोक्त सिद्धान्त के अनुसार ठीक नहीं है। क्योंकि उस स्थिति में अलंकार्य कौन होगा ? अलंकार्य तो सदा रस आदि ही हो सकते है। फलतः उन्हें अलंकार कहना कभी उचित नहीं हो सकता।

मूल लक्षण

रुय्यक

भावोदय-भावशान्ति-भावशबलताश्च पृथगलङ्काराः।

—अलंकार सर्वस्व ८४

जयदेव

भावानामुदयः सन्धिः शबलत्वमितित्रयः।
अलङ्कारानिमान् सप्त केचिदाहुः मनीषिणः॥ —चन्द्रालोक ५.११३

विश्वनाथ

भावस्य चोदये सन्धौ मिश्रत्वे च तदाख्यकाः। —साहित्य दर्पण १०.९६

अप्पयदीक्षित

भावस्य चोदयः सन्धिः शबलत्वमिति त्रयः। —चन्द्रालोक १७१
एतेषामितराङ्गत्वे भावोदयादयस्त्रयोऽलङ्काराः। —वही पृ. १८३

भट्ट देवशंकर पुरोहित

एते त्रयो (भावोदय-भावसन्धि-भावशबलता) यत्रापराङ्गतया निबध्यन्ते तत्र भावोदयो भावसन्धिः भावशबलतेति त्रयोलङ्काराः।

—अलङ्कारमञ्जूषा पृ. २२८

विश्वेश्वर

रसभावतदाभासे रसवत्प्रेय उर्जस्वी।
भावशमे तु समाहितमुदयेऽन्योऽप्यस्य शबलत्वे।—अलंकारमुक्तावली ५५

श्रीकृष्णब्रह्मतन्त्रपरकालस्वामी

भावोदयस्य भावाङ्गभावे भावोदयो मतः॥ —अलंकार मणिहार १७१

भाषासम

भाषासम अलङ्कार की उद्भावना विश्वनाथ की एक मौलिक उद्भावना है। किन्तु संयोग की बात है कि विश्वनाथ की इस उद्भावना का परवर्ती किसी अलङ्कारिक ने समर्थन नहीं किया है, यद्यपि रुद्रट भोज, मम्मट, 'हेमचन्द्र, नरेन्द्रप्रभसूरि एवं केशव मिश्र ने शब्दश्लेष के अन्तर्गत भाषाश्लेष को भी एक प्रभेद के रूप में स्वीकार किया है। विश्वनाथ शब्द श्लेष के भेद के रूप में **भाषा श्लेष** को स्वीकार करके भी भाषासम को स्वतन्त्र अलङ्कार मानते हैं। इस अलङ्कार की सत्ता वहाँ स्वीकार की जाती है। जहां एक वाक्य (पद्य) का अनेक भाषाओं (संस्कृत महाराष्ट्री शौरसेनी आदि प्राकृतों) में समान अथवा अलग-अलग अर्थ हो सकें। प्राचीन अथवा उत्तरकालीन आचार्यों द्वारा इस अलंङ्कार की चर्चा न करने का कारण सम्भवत: यह होना चाहिए कि उस काल में विद्वद्गोष्ठियों की भाषा एकमात्र संस्कृत रही है, अत: उन गोष्ठियों में प्रयुक्त वाक्यों (पद्यों) का अन्य भाषाओं में कोई समान अथवा भिन्न अर्थ निकलता है, अथवा नहीं, उनके लिए इसका कोई महत्त्व नहीं रहा है। यद्यपि विश्वनाथ ऐसे प्रसंगों में चमत्कार का अनुभव करते हुए **भाषासम** अलंङ्कार कहते हैं।

मञ्जुलमणिमञ्जीरे कलगम्भीरे विहारसरसीतीरे।
विरसासि केलिकीरे किमालि धीरे च गन्धसारसमीरे ॥

पद्य में प्रयुक्त शब्द योजना संस्कृत एवं शौरसेनी, प्राच्या, आवन्ती, प्राकृतों तथा नागर अपभ्रंश भाषाओं में समान रूप से ही हो सकती है, और उन भाषाओं में उसका एक व्यवस्थित अर्थ होगा। यही इस रचना का चमत्कार है । अत: यहां विश्वनाथ के अनुसार **भाषासम** अलङ्कार होगा। रुद्रट आदि आचार्य इस प्रकार की स्थिति में भाषाश्लेष अलंकार मानते हैं।

मूल लक्षण

विश्वनाथ

शब्दैरेकविधैरेव भाषासु विविधास्वपि।
वाक्यं यत्र भवेत्सोऽयं भाषासम इतीष्यते ॥ —साहित्य दर्पण १०, १० ।

भेदकातिशयोक्ति

अतिशयोक्ति अलंकार को भरत को छोड़कर प्रायः सभी आलंकारिकों ने स्वीकार किया है। इस अलंकार का जीवातु है लोकातिक्रान्त कथन। इस कथन के मूल में औपम्य अथवा कार्यकारण भाव अवश्य रहा करता है। औपम्यमूलक अतिशयोक्ति को साध्यवसाना लक्षणा के समानान्तर समझा जा सकता है, जहां आरोप्यमाण और आरोप विषय में अभेद के प्रत्यायन के लिए आरोप्यमाण द्वारा आरोप विषय का निगरण हो जाता है। अर्थात् दोनों में अभेद अध्यवसित होता है और इस अभेद अध्यवसान की प्रधानता रहती है। कार्यकारणभावमूला अतिशयोक्ति में कार्य और कारण की समकालिकता अथवा कारण से कार्य का पूर्वभाव कथित होता है। इस अतिशयोक्ति के सामान्यतः पांच प्रकार माने गये है—(१) अभेद में भेद, (२) भेद में अभेद, (३) सम्बन्ध में असम्बन्ध, (४) असम्बन्ध में सम्बन्ध, एवं (५) कारण कार्य पौर्वापर्य का विपर्यय। [विशेष विवरण के लिए अतिशयोक्ति प्रकरण देखें।]

भेदकातिशयोक्ति अलंकार वस्तुतः पूर्ववर्णित अतिशयोक्ति का प्रथम प्रकार है। किन्तु जयदेव अप्पयदीक्षित एवं चिरञ्जीव ने इसे स्वतन्त्र अलंकार के रूप में स्वीकार किया है।

मूल लक्षण

जयदेव

भेदकातिशयोक्तिश्चेदेकस्यैवान्यतोच्यते। —चन्द्रालोक ५.४३

अप्पयदीक्षित

भेदकातिशयोक्तिस्तु तस्यैवान्यत्ववर्णनम्॥ —कुवलयानन्द ३८

चिरञ्जीव

भेदकातिशयोक्तिः स्यात् स्वभेदश्चेत्स्वजातिषु॥ —काव्यविलास २.२८

भ्रान्तापह्नुति

अपह्नुति अलंकार में प्रकृत का निषेध करके अन्य का साधन किया जाता है। किन्तु जहाँ कवि अन्य की शंका का निबन्धन करके तथ्य का उद्घाटन करता है, वहां **भ्रान्तापह्नुति** अलंकार माना

जाता है। इस अलंकार को जयदेव अप्पयदीक्षित चिरञ्जीव एवं भट्ट देवशंकर पुरोहित ने ही स्वीकार किया है।

'माधवं शरणं याहि बलिजिज्जनरञ्जनम्।
पेशवामाधवं किं वा मैवं वामनमाधवम्॥'

प्रस्तुत पद्य में अपह्नव के साथ प्रश्न का निबन्धन करके तथ्य को निर्णय पूर्वक प्रस्तुत किया गया है। अतः यहां उपर्युक्त आचार्यों के अनुसार **भ्रान्तपिह्नुति** अलंकार मानना चाहिए। स्मरणीय है कि छेकापह्नुति में प्रश्न का निबन्धन करके तथ्य का निह्नव निबद्ध होता है, निर्णय नहीं।

मूल लक्षण

जयदेव

भ्रान्तापह्नुतिरन्यस्य शंकया तथ्यनिर्णये। —चन्द्रालोक ५.२६

अप्पयदीक्षित

भ्रान्तापह्नुतिरन्यस्य शंकायां भ्रान्तिवारणे। —कुवलयाचन्द २६

चिरञ्जीव

भ्रान्तापह्नुतिरन्यस्य शंकायां भ्रान्तिवारणे॥ —काव्यविलास २.१६

भट्ट देवशंकर

भ्रान्तापह्नुतिरन्यस्य सम्भ्रान्तौ तन्निवारणे।
भ्रान्तिस्तु द्विविधा प्रोक्ता स्वतः कव्युम्भितापि च।
—अलंकार मंजूषा १७

भ्रान्तिमान्

भरत अग्निपुराणकार विष्णुधर्मोत्तरपुराणकार दण्डी शिलामेघसेन तथा भामह ने इस अलंकार की कोई चर्चा नहीं की है। किन्तु दण्डी के मोहोपमा में भ्रान्तिमान् अलंकार को खोजा जा सकता है। इस अलंकार का प्रथमतः उल्लेख रुद्रट के काव्यालंकार में मिलता है। भोजराज ने तो लक्षण के अतिरिक्त अतत्त्व में तत्त्व की तीन प्रकार की भ्रांति तथा इसके विपरीत तत्त्व में अतत्त्व की तीन प्रकार की भ्रान्ति इस प्रकार कुल छः भेद माने हैं। उत्तरकालीन आचार्यों में कुन्तक अमृतानन्दयति केशवमिश्र और शौद्धोदनि ने भी

इसकी चर्चा नहीं की है। इन चार आचार्यों द्वारा इस अलंकार की चर्चा न करने का कारण उनके अलंकार विवेचन का अत्यन्त संक्षिप्त होना हो सकता है। इसके अतिरिक्त प्रायः सभी आलंकारिकों ने इसे निर्विवाद रूप से स्वीकार किया है। इतना अवश्य है कि भोज हेमचन्द्र जयदेव चिरञ्जीव और नरसिंह कवि इसे **भ्रान्तिमान्** के स्थान पर **भ्रान्ति** नाम से स्मरण करते हैं।

अप्पयदीक्षित चित्रमीमांसा में भ्रान्तिमान् नाम से एवं कुवलयानन्द में भ्रान्ति नाम से इसका विवेचन करते हैं। क्योंकि कुवलयानन्द प्रायः जयदेव कृत चन्द्रालोक की सोदाहरण व्याख्या अधिक है तथा जयदेव ने भ्रान्ति नाम ही दिया है, अतः कुवलयानन्द में भ्रान्ति नाम को देखकर यह कहा जा सकता है कि वे भ्रान्ति नाम को अनुचित नहीं समझते, किन्तु चित्रमीमांसा में भ्रान्तिमान् नाम को देखकर यह स्वीकार करना अनुचित न होगा कि उन्हें भ्रान्तिमान् नाम अधिक प्रिय है। संघरक्खित ने इसे भ्रम (भम) नाम दिया है। रुय्यक ने भ्रान्तिमान् शब्द का निर्वचन करते हुए कहा है कि 'भ्रान्ति चित्त का धर्म है, वह जिस अलंकार विशेष में रहता है, वह भ्रान्तिमान् अलंकार कहलाता है।' लोक में भ्रान्ति अनेक कारणों से हो सकती है—काम क्रोध भय उन्माद सादृश्य असम्यक् दर्शन आदि। किन्तु इन सभी कारणों से होने वाली भ्रान्ति इस अलंकार का बीज नहीं है। यह अलंकार केवल वहीं होता है, जहां सादृश्य मूलक भ्रान्ति रहती है। यह सादृश्य भी कवि प्रतिभोत्थापित होना चाहिये, सामान्य सादृश्य प्रयुक्त नहीं। उदाहरणार्थ प्रासाद में प्रेयसी के सदृश किसी कामिनी को देखकर यदि नायिका की भ्रान्ति होती है, तो वहां भ्रान्तिमान् अलंकार नहीं होगा।

मुग्धा दुग्धधिया गवां विदधते कुम्भानधो बल्लवाः
कर्णे कैरवशंकया कुवलयं कुर्वन्ति कान्ता अपि।
कर्कन्धूफलमुच्चिनोति शबरी मुक्ताफलाकांक्षया
सान्द्रा चन्द्रमसो न कस्य कुरुते चित्तभ्रमं चन्द्रिका॥

इस पद्य में शरच्चन्द्र की दुग्धधवला चन्द्रिका को देखकर दुग्ध बुद्धि, कैरव बुद्धि, मुक्ताफल बुद्धिरूप भ्रान्ति का निबन्धन किया

गया है। यह भ्रान्ति सादृश्यमूलक होने के साथ ही कवि प्रतिभोत्थापित है, अतः यहां भ्रान्तिमान् अलंकार माना गया है। शुक्ति को देखकर उसमें जो चांदी का भ्रम होता है, वहां अलंकार न होगा क्योंकि वह कवि प्रतिभोत्थापित नहीं होती। 'सङ्गमविरहविकल्पे' इत्यादि में विरही को समस्त विश्व नायिकामय दिखायी देता है, तो वहां भी भ्रान्तिमान् अलंकार न होगा, क्योंकि वह भ्रान्ति सादृश्य मूलक न होकर विरहातिशय मूलक है।

मूल लक्षण

रुद्रट

अर्थविशेषं पश्यन्नवगच्छेदन्यमेय तत्सदृशम्।
निस्सन्देहं यस्मिन्प्रतिपत्ताभ्रांतिमान्स इति ॥ —काव्यालंकार ८.८७

भोज

भ्रान्तिर्विपर्ययज्ञानं द्विधा सापि प्रयुज्यते।
भ्रान्तिमान्भ्रान्तिमाला च भ्रान्तेरतिशयश्च यः।
भ्रान्त्यनध्यवसायश्च भ्रान्तिरेवेति मे मतम् ॥
—सरस्वती काण्ठाभरण ३.३८

मम्मट

भ्रान्तिमानन्यसंवित्तिः तुल्यरूपनिदर्शनोः।
—काव्यप्रकाश सू. २०० का. १३२

रुय्यक

सादृश्याद्वस्त्वन्तरप्रतीतिः भ्रान्तिमान् ॥ —अलंकार सर्वस्व १८

वाग्भट्ट (प्रथम)

मिथ्याज्ञानं भ्रान्तिः। —काव्यानुशासन पृ. ४०

हेमचन्द्र

विपर्ययोभ्रान्तिः। —काव्यानुशासन सू. १३७, ६.२३

शोभाकर मित्र

अन्यारूपतयानिश्चयो भ्रान्तिमान्। —अलंकार रत्नाकर

जयदेव

स्यात्स्मृतिः भ्रान्ति सन्देहैस्तदेवालङ्कृतित्रयम्। —चन्द्रालोक ५३१

विद्यानाथ

कविसम्मतसादृश्याद्विषये पिहितात्मनि ।
आरोप्यमाणानुभवो यत्र स भ्रान्तिमान् मतः ॥ —प्रतापरुद्रीयम् ८.६७

संघरक्खित

किञ्चि दिस्वान विञ्ञातापटिपज्जति संसयं ।
संसयापगतं वत्थु यत्थ सायं भमं मतो ॥ —सुबोधालंकार ३२९

विद्याधर

वस्त्वन्तरप्रतीतिर्विलसति सादृश्यहेतुका यत्र ।
तं भ्रान्तिमन्तमेत ब्रुवतेऽलंकारपारदृश्वानः । —एकावली ८.९

विश्वनाथ

साम्यादतस्मिंस्तद्बुद्धिर्भ्रान्तिमान्प्रतिभोत्थितः ।
—साहित्यदर्पण १०.३६

वाग्भट (द्वितीय)

वस्तुन्यन्यत्र कुत्रापि तत्तुल्यस्यमान्यवस्तुनः ।
निश्चयो यत्र जायेत भ्रान्तिमान्स स्मृतो यथा ॥ —वाग्भटालंकार ४.७३

अप्पयदीक्षित

(१) कविसम्मतसादृश्याद्विषये पिहितात्मनि ।
आरोप्यमाणानुभवो यत्र स भ्रान्तिमान्मतः ॥
—चित्रमीमांसा पृ० १२०

(२) स्यात्स्मृतिभ्रान्तिसंदेहैस्तदङ्कालंकृतित्रयम् —कुवलयानन्द २४

पंडितराज जगन्नाथ

सदृशे धर्मिणि तादात्म्येन धर्म्यन्तरप्रकारकोऽनाहार्यो निश्चयः सादृश्यप्रयोज्यश्चमत्कारी प्रकृते भ्रान्तिः । सा च पशुपक्ष्यादिगता यस्मिन्वाक्यसन्दर्भेऽनूद्यते स भ्रान्तिमान् । रसगं० भाग २ पृ. ६३९

चिरञ्जीव

स्यात्स्मृतिभ्रान्तिसन्देहैस्तदेवालंकृतित्रयम् । —काव्याविलास २.२१

नरेन्द्रप्रभसूरि

भ्रान्तिमान्वैपरीत्येनाप्रतीतिः सदृशे क्षणात् ।
—अलंकारमहोदधि ८.१७

भावदेवसूरि

भ्रान्तिर्मुक्ताभ्रमम् —काव्यालंकार सारसंग्रह

नरसिंहकवि

कविसम्मतसादृश्या विषये पिहितात्मनि ।
आरोप्यगोचरा धीश्चेत्स्याद्भ्रान्तिमदलंकृतिः ॥
—नञ्राजयशोभूषण पृ. १७३

विश्वेश्वर

तदभाववति मतिस्तत्प्रकारिका भ्रान्तिमान् भवति ॥
—अलंकार मुक्तावली ४८॥

परकालस्वामी

चमत्कृतिमती भ्रान्तिर्यस्मिन् सादृश्यहेतुका ।
अनूदिता स्यात्सन्दर्भे तमाहुर्भ्रान्तिमानिति ॥ —अलंकार मणिहार ४७

मत

मत अलंकार को केवल रुद्रट एवं वाग्भट (प्रथम) ने स्वीकार किया है।इनके अनुसार जहां वक्ता अन्यमतों से सिद्ध अर्थ का कथन करके उसके सदृश अपने मत का प्रतिपादन करे वहां **मत अलंकार** माना जाता है ।

यदेतत्कन्यानामुरसि तरुणीसङ्गसमये
कृतोद्भेदं किंचित्पुलकमिदमाहुः किलजनाः।
मतिस्त्वेषास्माकं कुचयुगतटी चुम्बकशिला—
समावेशाकृष्टस्मर शरशलाकोत्कर इव ॥

इस पद्य में सर्व सामान्य के मत में अभिहित पुलक को स्वमत में कुच रूपी चुम्बक से आकृष्ट स्मरशरसमूह कहा गया है, अतः उपर्युक्त आचार्यों के मत में यहां **मत अलंकार** होगा । रुय्यक आदि आलंकारिकों के मत से उपर्युक्त उदाहरण में **अपह्नुति अलंकार** मानना चाहिए ।

मूल लक्षण

रुद्रट

तन्मतमिति यत्रोक्ता वक्ताऽन्यमतेन सिद्धमुपेयम् ।
ब्रूयादथोपमानं तथा विशिष्टं स्वमतसिद्धम् ॥
—काव्यालंकार ८.६९

वाग्भट (प्रथम)

मिथ्याज्ञानं भ्रान्तिः।

—काव्यानुशासन पृ० ४०

माला दीपक

अनेक धर्मियों का उत्तरोत्तर एक धर्म से सम्बन्ध का निबन्धन माला दीपक अलंकार कहलाता है। इस अलंकार की स्वतन्त्र अलंकार के रूप में चर्चा सर्वप्रथम आचार्य रुय्यक ने की है। रुय्यक से पूर्व मम्मट ने उपमा की माला के समान ही दीपक की माला को **माला दीपक** कहते हुए उसे दीपक के भेद के रूप में स्वीकार किया था। [का. प्र. १०४]। किन्तु **मालोपमा** तथा **माला दीपक** पदों में माला शब्दों का अर्थ अभिन्न नहीं हैं। मालोपमा में माला का तात्पर्य केवल संकलन है, जबकि माला दीपक में माला शब्द संकलन सामान्य का बोधक न होकर उनकी श्रृंखला का बोध कराता है। क्योंकि इसमें प्रत्येक पूर्ववर्त्ती में विद्यमान गुण उत्तरोत्तर को उत्कर्षाधायक के रूप में निबद्ध रहता है [मालाशब्देनात्र शृंखला लक्ष्यते, तस्या एवोपक्रान्तत्वात्। न चात्र मालोपमावत् मालाशब्दो ज्ञेयः। एकस्योपमेयस्य बहूपमानोपादानाभावात्। अत्र हि औपम्यमेव नास्ति। कोदण्डादीनां तस्याविवक्षणात्। अतएवास्य दीपकभेदत्वं न वाच्यम् औपम्यजीवितं हि तत्। प्राच्यैः पुनरेतद्दीपनमात्रानुगुण्यात्तदनन्त लक्षितम्। विमर्शिनी पृ० १७८-१७६]।

मालादीपक अलंकार में चारुत्व दीपकत्वेन न होकर मालात्वेन अर्थात् शृंखला रूप से निबन्धन के कारण रहता है, अतएव इसे दीपक का भेद न मानकर एकावली के समान स्वतन्त्र अलंकार मांनना अधिक उचित है।

एकावली और **माला दीपक** में अन्तर यह है कि **एकावली में** उत्तरोत्तर के प्रति पूर्व पूर्व उत्कर्ष का हेतु होता है, जबकि मालादीपक में पूर्व पूर्व उत्तरोत्तर के उत्कर्ष का कारण होता है [उत्तरोत्तरस्य पूर्वंपूर्वं प्रतिहेतुत्वे एकावली। पूर्वपूर्वस्य उत्तरोत्तरोत्कर्षनिबन्धनत्वे तु मालादीपकम्। अलं. स. पृ. ५८]

'त्वयि संगरसम्प्राप्ते धनुषासादिताः शराः।
शरैररिशिरस्तेन भूस्तया त्वं त्वया यशः॥'

इस पद्य में आसादन क्रिया धर्म के रूप में निबद्ध है, जिसका निबन्धन सर्वप्रथम धनुष के,धर्म के रूप में हुआ है, क्योंकि धनुष् ने शरों को आसादित किया है, तथा शरों ने शत्रु शिर को, शत्रु शिरों ने भूमण्डल को, भूमण्डल ने तुम्हें (स्तूयमान राजा को) तथा युष्मत् पदवाच्य राजा ने अतुल यश को आसादित किया है। इस प्रकार उत्तरोत्तर के प्रति उत्कर्षाधायक शृंखला का निबन्धन होने से यहां मालादीपक अलंकार है।

चमत्कार की दृष्टि से रुय्यक द्वारा उद्धृत माला दीपक का उदाहरण भी द्रष्टव्य है—

'संग्रामाङ्गणमागतेन भवता चापे समारोपिते।
देवाकर्णय येन येन सहसा यद्यत्समासादितम्।
कोदण्डेन शराः, शरैररिशिरः, तेनापि भूमण्डलम्।
तेन त्वं भवता च कीर्तिरतुला तेनापि लोकत्रयम्॥

जयदेव अप्पयदीक्षित एवं चिरञ्जीव ने इसे एकावली और दीपक का समन्वित रूप माना है [दीपकैकावलीयोगान्मालादीपक-मुच्यते। चन्द्रा० ५.८७, कुव० १०७, काव्य वि० २.४६]। इसके विपरीत रुय्यक नरेन्द्रप्रभसूरि विद्यानाथ विद्याधर विश्वनाथ एवं नरसिंह कवि ने इसे स्वतन्त्र अलंकार के रूप में स्वीकार किया है।

पंडितराज जगन्नाथ की मान्यता है कि **माला दीपक** न तो स्वतन्त्र अलंकार हो सकता है और न **दीपक** अलंकार का कोई प्रभेद। क्योंकि इसमें सादृश्य का सम्पर्क नहीं है, जब कि दीपक में सादृश्य का होना नितान्त आवश्यक है। इसे **एकावली** अलंकार का प्रभेद मानना अधिक उचित है [वस्तुतस्तु एतत् (मालादीपकं) दीपकमेव न शक्यं वक्तुं सादृश्यसम्पर्काभावात्। किन्तु एकावलीप्रभेद इति वक्ष्यते। रसगं. भा० ३ पृ० ७८]। इनका यह भी कहना है कि **एकावली** का द्वितीय प्रकार, जिसमें पूर्व-पूर्व के द्वारा उत्तरोत्तर का उपकार किया जाता है, तथा यदि वह एक रूप होता है, तो उसे प्राचीन आलंकारिकों ने **मालादीपक** नाम दिया है। स्मरणीय है प्राचीन अलंकारिकों के

प्रति आदरभाव की दृष्टि उन्होंने दीपक का भेद न मानते हुए भी दीपक प्रकरण में इसकी चर्चा की है [अस्मिश्चैकावल्या द्वितीये भेदे पूर्वैः पूर्वैः परस्य परस्योपकारः क्रियमाणो यद्येकरूपः स्यात्तदाऽयमेव मालादीपकशब्देन व्यवह्रियते प्राचीनैः······एवं च दीपकालंकार-प्रकरणे प्राचीनैरस्य लक्षणाद्दीपकविशेषोऽयम् । इति । रसगं० भा०२ ।

संक्षेप में इस अलंकार के सम्बन्ध में यह कहा जा सकता है कि—एक उपमेय अथवा एक आरोप विषय के लिए अनेक उपमानों अथवा अनेक आरोप्यमाणों का प्रयोग होने पर क्रमशः मालोपमा अथवा मालारूपक नामक अलंकार स्वतन्त्र रूप से अथवा उन अलंकारों के भेद के रूप में प्रायः सभी आचार्यों द्वारा स्वीकार किये जाते हैं। इसी के अनुकरण पर दीपक अलंकार में भी भोज आदि अनेक आलंकारिक मालादीपक को दीपक अलंकार के एक प्रकार भेद के रूप में स्वीकार करते हैं। इसके विपरीत रुय्यक जयदेव विद्यानाथ विद्याधर विश्वनाथ अप्ययदीक्षित, शौद्धोदनि केशवमिश्र पंडितराज जगन्नाथ चिरञ्जीव नरेन्द्रप्रभसूरि तथा नरसिंह कवि आदि आचार्यों ने **मालादीपक** को स्वतन्त्र अलंकार के रूप में मान्यता प्रदान की है। मालोपमा और मालारूपक में एक उपमेय या आरोप विषय के अनेक धर्मों का उपमान अथवा आरोप्यमाण से सम्बन्ध होना प्रकार भेद का मूल है, जबकि दीपक में एक क्रिया अथवा कारक का अनेक से सम्बन्ध दीपक अलंकार का ही मूल है, अतः वह भेदक हो यह सम्भव नहीं है, अतः उपर्युक्त आधार पर दीपक में माला भेद स्वीकार करना उचित नहीं है। अतः इसे भिन्न रूप के कारण पृथक् अलंकार मानना अनुचित नहीं है।

माला दीपक की स्वतन्त्र अलंकार के रूप में उद्भावना आचार्य रुय्यक ने की है। जयदेव आदि उपर्युक्त आचार्यों ने उनके अनुसार इसे स्वतन्त्र अलंकार मानकर भी उसके स्वरूप के निर्धारण में सर्वशः उनका अनुगमन नहीं किया। उदाहरणार्थः—रुय्यक विद्यानाथ विद्याधर जगन्नाथ एवं नरसिंह कवि ने पूर्व पूर्व का उत्तर-उत्तर के प्रति गुणावह होना मालादीपक अलंकार का मूल माना है।

आचार्य शौद्धोदनि केशवमिश्र तथा नरेन्द्रप्रभसूरि ने पूर्व का परवर्त्ती के प्रति तथा परवर्त्ती का पूर्व के प्रति उपस्कारक होना दोनों

ही स्थितियों में चारुत्व मानते हुए **मालादीपक** अलंकार माना है।

जयदेव अप्पयदीक्षित एवं काव्यविलासकृत् चिरंजीव दीपक और एकावली अलंकारों के परस्पर सम्पृक्त होने को **माला दीपक** अलंकार स्वीकार करते हैं।

साहित्य दर्पणकार विश्वनाथ इन तीनों लक्षणों से भिन्न एक चतुर्थ प्रकार से मालादीपक अलंकार का लक्षण करते हैं। उनके अनुसार जहां एक धर्म के साथ अनेक धर्मियों के सम्बद्ध होने का कथन किया जाता है, वहां **मालादीपक अलंकार** होता है। विश्वनाथ द्वारा दिये गये माला दीपक के इस लक्षण को पूर्ववर्त्ती अथवा परवर्त्ती किसी आलंकारिक ने स्वीकार नहीं किया है।

मूल लक्षण

रुय्यक

पूर्वस्य पूर्वस्योत्तरोत्तरगुणावहत्वे मालादीपकम्॥ अलंकार सर्वस्व ५५

जयदेव

दीपकैकावलीयोगान्मालादीपकमुच्यते॥ —चन्द्रालोक ८७

विद्यानाथ

यदा तु पूर्वपूर्वस्य सम्भवेदुत्तरोत्तरम्।
प्रत्युत्कर्षावहत्वं तन्मालादीपकमुच्यते॥ —प्रतापरुद्रीयम् ८.२७३

विद्याधर

यत्रोत्तरोत्तरगुणावहत्वमुल्लसति पूर्वपूर्वस्य।
तदिदं मालादीपकमित्याम्नातं विपश्चिद्भिः॥ —एकावली ८.४७

विश्वनाथ

तन्मालादीपकं पुनः।
धर्मिणामेकधर्मेण सम्बन्धो यद्यथोत्तरम्॥ —साहित्यदर्पण १०.७७

अप्पयदीक्षित

दीपकैकावलीयोगान्माला दीपकमुच्यते॥ —कुवलयानन्द १०७

केशवमिश्र

पूर्वापरवाक्यार्थयोरुपकार्योपकारकश्रृंखला मालादीपकम्।
(दीपकभेद)—अलंकार शेखर पृ० ३८

जगन्नाथ

उत्तरोत्तरस्मिन्पूर्वपूर्वस्योपकारकतायां मालादीपकम् ।

—रसगंगाधर भा. ३ पृ० ७७

चिरञ्जीव

दीपकैकावलीयोगान्माला दीपकमुच्यते । —काव्यविलास २.४६

नरेन्द्रप्रभ सूरि

तन्मालादीपकं ज्ञेयमुत्तरोत्तरसम्पदे ।
पूर्वं पूर्वं भवेद्यत्र यत्र तद्व्यत्ययोऽपि वा ।। —अलंकार महोदधि ८.६५

नरसिंह कवि

पूर्वपूर्वकृतोत्कर्षं भजेच्चेदुत्तरोत्तरम् ।
तत्र मालादीपकाख्यां वदन्ति समलंकृतिम् ।।

—नञ्राजयशोभूषण पृ० २२०

भट्ट देवशंकर

एकावली दीपकयोर्योगो यदि निबध्यते ।
मालादीपकमित्युक्त्वा तदालंकृतिरुद्भटैः ।। —अलंकार मञ्जूषा० ७६

मिथ्याध्यवसिति

मिथ्याध्यवसिति अलंकार को केवल अप्पयदीक्षित परकाल स्वामी एवं भट्ट देवशंकर ने स्वीकार किया है । इनके अनुसार जहां किसी अर्थ के मिथ्यात्व की सिद्धि के लिए अन्य मिथ्या अर्थ की कल्पना का निबन्धन किया जाए, वहाँ **मिथ्याध्यवसिति अलंकार** स्वीकार किया जाता है ।

श्रीमाधवं श्रिते भिक्षौ दारिद्र्यं बधिरश्रुतम् ।
चेतश्चक्षुष्मता दृष्टं मूकेन परिकीर्तितम् ।।

प्रस्तुत पद्य में माधवाश्रित भिक्षु में दारिद्र्य के मिथ्यात्व की सिद्धि के लिए उसका बधिर द्वारा सुने जाने अन्धे द्वारा देखे जाने एवं मूक द्वारा बखान किये जाने की (मिथ्या अर्थ कल्पना की) योजना होने से यहाँ **मिथ्याध्यवसिति अलंकार** स्वीकार किया जाता है ।

मूल लक्षण

अप्ययदीक्षित

किञ्चिन्मिथ्यात्वसिद्धयर्थं मिथ्यार्थान्तर कल्पनम् ।

—कुवलयानन्द १२७

भट्ट देवशंकर पुरोहित

किंचिन्मिथ्यात्वसिद्धयर्थं मिथ्यार्थान्तरकल्पनम् ।
मिथ्याध्यवसितिस्तत्र गदितालंकृतिर्बुधैः ।। —अलंकारमंजूषा ६८

परकाल स्वामी

मिथ्यार्थोऽन्यः कल्प्यते चेत्किञ्चिन्मिथ्यात्वसिद्धये ।
मिथ्याध्यवसितिर्नाम सालंकृतिरुदाहृता ।।

—अलंकार मणि. १३३

मीलित

मीलित अलंकार की उद्‌भावना आचार्य रुद्रट ने की है, उनसे परवर्त्ती आलंकारिकों में कुन्तक हेमचन्द्र संघरक्खित अमृतानन्दयति वाग्भट द्वितीय शौद्धोदनि केशवमिश्र और भावदेव सूरि को छोड़कर प्रायः सभी ने इसे स्वीकार किया है । इस अलंकार के लक्षण में शोभाकर जयदेव अप्पयदीक्षित एवं पंडितराज जगन्नाथ को छोड़कर प्रायः सभी ने सादृश्यवशात् एक वस्तु से वस्त्वन्तर के निगूहन को एक मात्र तत्त्व के रूप में स्वीकार किया है। शोभाकर ने सादृश्यवशाद् दो वस्तुओं में भेद प्रतीति के अभाव को मीलित का लक्षण माना है। जयदेव अप्पयदीक्षित एवं जगन्नाथ ने इस प्रसङ्ग में शोभाकर का ही अनुगमन किया है।

मीलित अलंकार के लिए यह आवश्यक है कि वहाँ (१) दो वस्तुओं का निबन्धन किया गया हो, जिनमें एक अधिक महत्त्वपूर्ण हो और द्वितीय अल्पमहत्त्व युक्त। (२) दोनों ही वस्तुओं में गुणों की समानता हो। (३) समानगुण होने के कारण ही एक [कम महत्त्व की] वस्तु का अन्य [अधिक महत्त्वयुक्त] वस्तु द्वारा मीलन हो रहा हो। आचार्य शोभाकर आदि के मत में यहां दो वस्तुओं में साम्य का निबन्धन होते हुए भी यह अभेद प्रतीति प्रधान अलंकार से अभिन्न नहीं हैं। क्योंकि रूपक अलंकार में दोनों वस्तुओं की प्रतीति (पृथक् शब्दों द्वारा कथन) होने पर भी वहाँ पर रूप समारोप पूर्वक

अभेद आरोप होता है, जबकि मीलित में अभेद आरोप का लेश भी नहीं होता। अपितु एक वस्तु से अन्य वस्तु के तिरोहित होने के कारण अभेद का भान होता है।

मीलित और भ्रान्तिमान् अलंकारों में भी अभेद का भ्रम नहीं होना चाहिए, क्योंकि भ्रान्तिमान् में एक वस्तु को देखते हुए अन्य वस्तु का स्मरण होता है, तथा उस स्मरण के कारण ही स्मृतवस्तु के अनुभव का भ्रम होता है। नलचम्पू के 'मुग्धाः दुग्धधिया इत्यादि पद्य को देख सकते हैं। यहां प्रस्तुत चन्द्रिका उपस्थित है, जिस देखते हुए अविद्यमान तत्सदृश दुग्ध का स्मरण होता है, तथा कवि प्रतिभावश चन्द्रिका में दुग्ध की भ्रान्ति होती है। जबकि मीलित में दोनों ही वस्तुएं विद्यमान रहती हैं। किन्तु प्रतीति एक की ही होती है, दूसरी वस्तु उसके द्वारा आच्छादित रहती है, साथ ही यहां भ्रान्त प्रतीति का अभाव रहता है।

मीलित अलंकार के उदाहरण भूत—

'लक्ष्मीवक्षोजकस्तूरीलक्ष्म वक्षःस्थले हरेः।
ग्रस्तं नालक्षि भारत्या भासा नीलोत्पलाभया।।

पद्य में वर्णित विष्णु के वक्ष पर लक्ष्मी के उरोजों के सम्पर्क से कस्तूरिका चिह्न यद्यपि अंकित है, किन्तु सरस्वती उसे केवल इस कारण नहीं देख पाती, क्योंकि विष्णु के शरीर की कान्ति भो कस्तूरी वर्ण की है। इस प्रकार कस्तूरी का चिह्न विष्णु के नीलकमल सदृश शरीर की कान्ति से तिरोहित है। यहां कस्तूरी लक्ष्म और शरीर कान्ति दोनों ही विद्यमान हैं, किन्तु शरीर कान्ति के तिरोहित होने के कारण उस लक्ष्य का बोध भारती को नहीं होता। मीलन का यह हेतु उपर्युक्त पद्य में सहज है, आगन्तुक नहीं। कहीं कहीं यह आगन्तुक भी हो सकता है।

सदैव शोणोपलकुण्डलस्य यस्यां मयूखैररुणी कृतानि।
कोपोपरक्तान्यपि कामिनीनां मुखानि शंकां विदधुर्न यूनाम्॥

पद्य में कामिनी के कर्णाभरण में जटित पद्मरागमणि की प्रभा से शोण कपोल की लालिमा से कोपवश आयी हुई लालिमा मीलित हो रही है मीलन की हेतुभूत यह कपोल-लालिमा सहज न होकर आगन्तुक है। इस प्रकार हम देखते हैं कि मीलित अलंकार में तीन

परिस्थितियां अनिवार्यतः आवश्यक हैं—(१) दो पदार्थों का निबद्ध होना, जिनमें एक महत्त्वपूर्ण हो और दूसरा अल्पमहत्त्वशील। (२) दोनों पदार्थों में धर्मगत साम्य का होना। (३) धर्मगत साम्य के कारण अल्पमहत्त्वयुक्त पदार्थ का अधिक महत्त्वशील से तिरोहित (मीलित) होना। इस मीलन के कारण ही इसका नाम मीलित पड़ा है। [तिरोधायकत्वादेव च मीलित व्यपदेशः। अ. सं. पृ० २१२]

मूल लक्षण

रुद्रट

तन्मीलितमिति यस्मिन्समानचिह्नेन हर्षकोपादि।
अपरेण तिरस्क्रियते नित्येनागन्तुकेनापि॥

—काव्यालंकार ७.१०४

भोज

(१) वस्त्वन्तरतिरस्कारो वस्तुना मीलितं स्मृतम्॥

(अर्थालंकारोऽयम्)—सरस्वती काण्ठाभरण ३.४१

(२) समाधिमेव मन्यन्ते मीलितं तदपि द्विधा।
धर्माणामेव चाध्यासे धर्मिणामन्यवस्तुनि॥ —वही ४.४७

मम्मट

समेन लक्ष्मणा वस्तु वस्तुना यन्निगूह्यते।
निजेनागन्तुना वापि तन्मीलितमिति स्मृतम्॥

—काव्यप्रकाश सू. १९७ का. १३०

रुय्यक

वस्तुना वस्त्वन्तरनिगूहनम् मीलितम्। —अलंकार सर्वस्व ७१

वाग्भट प्रथम

नित्येनागन्तुना वाऽपरेण हर्षकोपादि यत्र तिरस्क्रियते तन्मीलितम्।

—काव्यानुशासन पृ० ४२

शोभाकर

धर्मसाम्याद् भेदाप्रतीतिर्मीलितम्। —अलंकार रत्नाकर ९८

जयदेव

मीलितं बहुसादृश्यात् भेदवच्चेन्न लक्ष्यते। —चन्द्रालोक ५.३३

विद्यानाथ

मीलनं वस्तुना यत्र वस्त्वन्तर गूहनम्। —प्रतापरुद्रीयम् ८.१३२

विद्याधर

स्वाभाविकमागन्तुकमथवा वस्त्वन्तरं तिरोधत्ते।
यस्मिन्किञ्चन वस्तु ज्ञेयं तन्मीलितं द्विविधम् ॥

—एकावली ८.६३

विश्वनाथ

मीलितं वस्तुनो गुप्तिः केनचित् तुल्यलक्ष्मणा ॥

—साहित्यदर्पण १०.८९

अप्पयदीक्षित

मीलितं यदि सादृश्याद् भेद एव न लक्ष्यते। —कुवलयानन्द १४६

जगन्नाथ

स्फुटमुपलभ्यमानस्य कस्यचिद्वस्तुनो लिङ्गैरतिसाम्याद् भिन्नत्वेनागृह्यमाणानां वस्त्वन्तरलिङ्गानां स्वकारणाननुमापकत्वं मीलितम्।

—रसगंगाधर भा. ३. पृ० ७६७

चिरञ्जीव

(१) मीलितं यदि सादृश्येनाभिभूतं न लक्ष्यते।
(२) सादृश्याभिभवे स्फूर्तौ हेतुनोन्मीलनं मतम् ॥

—काव्यविलास २.२२

नरेन्द्रप्रभ सूरि

समानेनैव धर्मेण स्थितेनौत्पत्तिकेन वा।
वस्त्वन्तरेण यद्वस्तु गोप्यते मीलितं तु तत् ॥ —अलं० महोदधि ८.७७

नरसिंह कवि

मीलनं वस्तुनैकेन वस्त्वन्तरनिगूहनम् ॥ —नञ्जराजयशोभूषण पृ. ११९

भट्टदेव शंकर पुरोहित

मीलितं तत्र सादृश्याद् भेदो यत्र न भासते। —अलंकार मञ्जूषा ११२

वेणीदत्त

निगूहनं पदार्थस्य समानेनैव लक्ष्मणा।
यत्पदार्थान्तरेणैतत् मीलितं कथितं बुधैः ॥ —अलंकार मञ्जरी २०२

विश्वेश्वर

सहजनिमित्तजधर्मात्सदृशान्येन वस्तुना वस्तु।
अपिधीयते यदेतन्मीलितमाहुर्विशेषज्ञाः ॥

—अलं० मुक्ता० ४६

श्रीकृष्णब्रह्मतन्त्र परकालस्वामी

न दृश्यते भेद एव सादृश्याद्यदि मीलितम् ।
वस्तुतुल्येन लिङ्गेन निजेनागन्तुकेन वा ।।

—अलंकार मणिहार १४७

मुद्रा

मुद्रा अलंकार की चर्चा अप्पयदीक्षित एवं भट्ट देवशंकर इन दो आलंकारिकों ने ही की है। इनके अनुसार जहां प्रकृतार्थ परक पदों के द्वारा अन्य अर्थ की सूचना की जाए तो उसे **मुद्रा अलंकार** कहते हैं। वृत्ति में अप्पयदीक्षित द्वारा दिये गये निर्देश, के अनुसार इस अलंकार में तत् तत् पदों द्वारा पद्य में छन्दोनिर्देश, गाये पदों में राग-निर्देश, नवरत्न माला में रत्न जाति निर्देश नक्षत्रमाला में अग्नि आदि देवताओं के नामों द्वारा नक्षत्र आदि की सूचना दी जाती है।

'नितम्बगुर्वी तरुणी दृग्युग्मविपुला च सा'

इत्यादि पद्य में तरुणी के विशेषण भूत पद से वृत्तनाम (अनुष्टुप् के) प्रकार भेद की सूचना दी गयी है, अतः यहां **मुद्रा अलंकार** मानना चाहिए। इसी प्रकार—

सार्वभौम तवारीणां मातरिश्वा सुशीतलः ।
घने वने विचरतां संतापाय वियोगिनाम् ।।

पद्य में प्रकृत अर्थ बोध पदों में ही मातरि श्वा (मातरिश्वा = वायु) इस प्रकार खण्ड करके गालिदान सूचित है, अतः देवशंकर पुरोहित के अनुसार यहां **मुद्रा अलंकार** मानना चाहिए। अन्य आलंकारिकों के अनुसार यहां श्लेष अलंकार होगा।

मूल लक्षण

अप्पयदीक्षित

सूच्यर्थसूचनं मुद्रा प्रकृतार्थपरैः पदैः ।। —कुवलयानन्द १३९

भट्ट देवशंकर पुरोहित

प्रकृतार्थपरैः शब्दैः सूचनीयं हि सूच्यते ।
यत्र तत्र समाख्याता मुद्राख्यालङ्कृतिर्बुधैः ।। —अलंकार मञ्जूषा १०६

परकाल स्वामी

प्रकृतार्थपरैः शब्दैः मुद्रा सूच्यर्थसूचनम् ।। —अलं० मणि० १४६

यथासंख्य

यथासंख्य प्राचीन अलंकारों में अन्यतम है। इसका विवेचन दण्डी और भामह ने भी किया है। विष्णुधर्मोत्तर पुराण में भी इसका लक्षण प्राप्त होता है (१४.११-१२)। दण्डो के अनुसार इसे संख्यान और क्रम कहा जाता है। इस अलंकार में पूर्व उद्दिष्ट क्रम से पदार्थों का कथन किया जाता है (उद्दिष्टानां पदार्थानामनुद्देशो यथाक्रमम्। यथासंख्यमिति प्रोक्तं संख्यानं क्रम इत्यपि। का. द. २.२७३)। भामह एवं उद्भट के अनुसार केवल भिन्न धर्म वाले अनेक पदार्थों का क्रमशः अनुनिर्देश **यथासंख्य अलंकार** है। (काव्या. २.८९, का. सा. सं. ३.२)। भामह के अनुसार मेधावी **संख्यान** नाम से इसकी चर्चा करते हैं। (काव्य. २.८८) वामन इसका विवेचन **क्रम** नाम से करते हैं। उनके अनुसार केवल उपमान और उपमेय के क्रम के सम्बन्ध में **क्रम** अलंकार है (का. सू. वृ. ४.३.१७)। शोभाकर एवं अमृतानन्द योगी भी इसे **क्रम** नाम से ही स्वीकार करते हैं (अलं. रत्ना. ९२। अलं. सं. ५.३५-३६)।

परवर्त्ती आलंकारिकों में कुन्तक शौद्धोदनि एवं केशव मिश्र को छोड़कर प्रायः सभी ने इसे स्वीकार किया है। जयरथ **यथासंख्य** को अलंकार के रूप में मानने को प्रस्तुत नहीं हैं। उनका कहना है कि उद्दिष्ट पदार्थों का अनुनिर्देश उसी क्रम से होना चाहिए। ऐसा न होने पर अपक्रम (अक्रम) दोष स्वीकार किया जाता है। अतः क्रम का निर्वाह केवल दोषाभाव ही कहा जाना चाहिए, अलंकार नहीं (न चास्यालंकारत्वं युक्तं, दोषाभावमात्ररूपत्वात्। उद्दिष्टानां क्रमेणानुनिर्देशे ह्यक्रियमाणे उपक्रमारब्धो दोषः प्रसज्यते। यदुक्तम्—'क्रमहीनार्थमपक्रमम्' इति। तच्च यथा—'कीर्त्तिप्रतापौ भवतः सूर्याचन्द्रमसाविव' इति। दोषाभावमात्रं च नालंकारत्वम्। तस्य कवि प्रतिभात्मकविच्छित्ति विशेषत्वेनोक्तत्वात्। विमर्शिनी पृ. १८७-१८८)।

पंडितराज जगन्नाथ ने यद्यपि इस अलंकार का विवेचन करते हुए लक्षण उदाहरण प्रस्तुत किये हैं, तथापि वे इसे स्वीकार नहीं करना चाहते। उनका कहना है कि इस अलंकार में क्रमिकता तो लोकसिद्ध है, किन्तु अलंकार का जीवातु कविप्रतिमा निर्मितत्त्व की

इसमें लेशमात्र भी उपलब्धि नहीं होती। अतः इसे अलंकार कहना कैसे उचित हो सकता है? फलतः **यथासंख्य** को अलंकार न मानकर **अपक्रम** दोष का अभावमात्र मानना उचित है (यथासंख्यमलंकार-पदवीमेव तावत्कथमारोढुं प्रभवतीति तु विचारणीयम्। नह्यस्मिन् लोकसिद्धे कविप्रतिभानिर्मितत्वस्यालंकारजीवातोर्लेशतोऽप्युपलब्धि-रस्ति, येनालंकारव्यपदेशो मनागपि स्थाने स्यात्। अतोऽपक्रमत्वरूप-दोषाभाव एव यथासंख्यम् (रसगं. भा. ३ पृ० ६२३)।

उन्मीलन्ति नखैर्लुनीहि वहति क्षौमाञ्चलेनावृणु
क्रीड़ाकाननमाविशन्ति वलयक्वाणैः समुत्त्रासय।
इत्थं वञ्जुलदक्षिणानिलकुहूकण्ठेषु सांकेतिक-
व्याहाराः सुभग! त्वदीय विरहे तस्याः सखीनां मिथः॥

इस पद्य में उन्मीलन्ति वहन्ति आविशन्ति क्रियापदों का क्रमिक रूप से निबन्धन हुआ है, अतः यहां **यथासंख्य** अलंकार है।

मल लक्षण

विष्णुधर्मोत्तर पुराण

भूयसामुपदिष्टानां निर्देशः क्रमशस्तथा।
यथासंख्यमिति प्रोक्तमलंकारं पुरातनैः॥ —वि. ध. पु. १४. ११-१२

दण्डी

उद्दिष्टानां पदार्थानामनूद्देशो यथाक्रमम्।
यथासंख्यमिति प्रोक्तमलंकारं पुरातनैः॥ —का. द. २७३

भामह

भूयसामुपदिष्टानाम् अर्थानामसधर्मणाम्।
क्रमशो योऽनुनिर्देशो यथासंख्यं तदुच्यते॥ —काव्या. २-८६

उद्भट

भूयसामुपदिष्टानाम् अर्थानामसधर्मणाम्।
क्रमशो योऽनुनिर्देशो यथासंख्यं तदुच्यते॥ —का. सा. सं. ३-२

वामन

उपमानोपमेयानां क्रमसम्बन्धः क्रमः। —का. सू. वृ. ४-३.१७

रुद्रट

निर्दिश्यन्ते यस्मिन्नर्थाः विविधा यथैव परिपाट्या।
पुनरपि तत्प्रतिबद्धास्तथैव तत्स्याद् यथासंख्यम्॥ — काव्या. ७.३४

भोज

शब्दस्य यदि वार्थस्य द्वयोरप्यनयोरथ ।
भणनं परिपाटया यत्क्रमः स परिकीर्त्तितः ॥ —स. कं. ४.७६

मम्मट

यथासंख्यं क्रमेणैव क्रमिकाणां समुच्चयः ।
—का. प्र. सू. १६४. का. १०८

रुय्यक

उद्दिष्टानामर्थानां प्रतिनिर्देशो यथासंख्यम् । —अलं. स. ५६

वाग्भट्ट (प्रथम)

उद्देश्यक्रमेणार्थानां प्रतिनिर्देशो यथासंख्यम् । —काव्यानु. पृ. ४१

शोभाकर मित्र

आरोहावरोहादिः क्रमः। —अलं. र. ६२

जयदेव

यथासंख्यं द्विधार्थाश्चेत्क्रमादेकैकमन्विताः। —चन्दा. ५.६०

विद्यानाथ

उद्दिष्टानां पदार्थानां पूर्वं पश्चाद् यथाक्रमम्।
अनूद्देशो भवेद्यत्र तद्यथासंख्यमिष्यते ॥ —प्रताप. ८.२२६

विद्याधर

अनुनिर्देशो भवति क्रमेण तत्स्याद् यथासंख्यम्। —एका. ८.५०

संघरक्खित

उद्दिट्ठानं पदत्थानं अनुद्देशो यथाक्कमम् ।
संख्यानमिति निद्दिट्ठं यथासंख्यं क्रमोऽपि च ॥ —सुबोधा. २६१

विश्वनाथ

यथासंख्यमनुद्देश उद्दिष्टानां क्रमेण यत्। —सा० द० १०.७६

अमृतानन्द यति

उद्दिष्टानां पदार्थानां क्रमेणैवानुदेशिभिः ।
सह संयोगकथनं क्रम इत्युच्यते यथा ॥ —अलं. स. ५. ३५-३६

वाग्भट (द्वितीय)

यत्रोक्तानां पदार्थानामर्थसम्बन्धिनः पुनः ।
क्रमेण तेन बध्यन्ते तद् यथासंख्यमुच्यते ॥ —वाग्भटा० ४.११५

अप्पयदीक्षित

यथासंख्यं क्रमेणैव क्रमिकाणां समन्वयः । —कुव० १०६

पंडितराज जगन्नाथ

उपदेशक्रमेणार्थानां सम्बन्धो यथाक्रमम् । —रसगं० ा० ३. पृ० ६१६

चिरञ्जीव

क्रमिकाणां क्रमोपात्ते यथासंख्यं क्रमान्वये । —का० वि० २.४७

नरेन्द्रप्रभसूरि

सम्बन्धः प्राङ्निबद्धानामर्थानामुत्तरैः क्रमात् ।
शब्दश्चार्थश्च यः सम्यग् तद् यथासंख्यमिष्यते ॥ —अलं० महो० ८.६८

नरसिंह कवि

उद्दिष्टानां पदार्थानां पूर्वं पश्चाद् यथाक्रमम् ।
अनूद्देशो भवेद् यत्र तद् यथासंख्यमुच्यते ॥ —नञ्रा० पृ० २११

विश्वेश्वर

निर्देशक्रमतो यदि समन्वयस्तद् यथासंख्यम् । —अलं० मु० २७

भट्ट देवशंकर

क्रमिकाणां पदार्थानां क्रमेणैव समन्वयः ।
चिकीर्षितः कवेस्तत्र यथासंख्यमुदाहृतम् ॥ —अलं० मञ्जू० ८१

वेणीदत्त

उद्देश्येषु विधेयानां नियतेन क्रमेण यः ।
अन्वयस्तमलंकारं यथासंख्यं प्रचक्षते ॥ —अलं० मञ्ज० ११२

यमक

यमक अलंकार प्राचीनतम अलंकारों में से एक है। भरत के नाटयशास्त्र में केवल जिन चार अलंकारों का उल्लेख हुआ है, यमक उन चार अलंकारों में अन्यतम है। यद्यपि उद्भट के काव्यालंकार सार संग्रह में इस अलंकार का उल्लेख नहीं हुआ है। बहुत सम्भव है उद्भट द्वारा संकेतित प्रथम वर्ग के आलंकारिक जो केवल चार शब्दालङ्कार (पुनरुक्तवदाभास, छेकानुप्रास, अनुप्रास एवं लाटानुप्रास

एवं चार अर्थालङ्कार (रूपक, उपमा, दीपक एवं प्रतिवस्तूपमा) मानते हैं, यमक को लाटानुप्रास में अन्तर्हित मानते हों। कम से कम उनके द्वारा निर्दिष्ट 'पादाभ्यास' नामक भेद इस कल्पना की पुष्टि अवश्य करता है, क्योंकि दण्डी आदि प्राचीन आचार्यों द्वारा 'पादाभ्यास' को यमक का ही एक भेद विशेष माना गया है।

उद्भट के अतिरिक्त कुन्तक वाग्भट (प्रथम), संघरक्षित अमृतानन्द योगिन्, अप्पयदीक्षित एवं पण्डितराज जगन्नाथ यमक अलंकार की चर्चा नहीं करते।

जैसा कि पहले संकेत किया गया है कि अलङ्कार शास्त्र के आदिकाल में शब्दालङ्कारों को बहुत अधिक महत्त्व दिया गया है किन्तु कालान्तर में भट्टदेवशंकर एवं अप्पयदीक्षित के बाद इनकी पूर्णतः उपेक्षा हो गयी।

आरम्भिक दिनों में महत्त्व के कारण भरत के नाट्यशास्त्र में इसके दस भेदों का उल्लेख मिलता है। दण्डी के काव्यादर्श में एवं भामह के काव्यालङ्कार में इनके भेदों का विस्तृत विवेचन हुआ है। विश्वनाथ ने भी 'प्रभूततमभेदम्' कहते हुए उसी विस्तार की ओर संकेत किया है।

संस्कृत कवि परम्परा समान श्रुति अथवा वक्ता की अशक्ति आदि परिस्थिति विशेष में भी समान प्रतीत होने वाले 'व' एवं 'ब'; 'स' 'ष' एवं 'श' एवं 'र' 'ल' एवं 'ड' ध्वनियों को अभिन्न मानती है। अतः इनके परस्पर भेद की उपेक्षा करके भी यमक आदि की योजना की जाती रही है। 'भुजलतां जडतामबलाजनः' इत्यादि काव्य वाक्यों को इसी परम्परा वश यमक के क्षेत्र में रखा जाता हैं।

मूल लक्षण

भरत

शब्दाभ्यासस्तु यमकं पादादिषु विकल्पितम्। —ना० शा० १६,५६

विष्णुधर्मोत्तर पुराण

शब्दाः समानानुपूर्व्यां यमकं कीर्त्तितं पुनः। —वि० ध० पु० १४.२

अग्नि

अनेकवर्णावृत्ति र्या भिन्नार्थप्रतिपादिका।
यमकं सव्यपेतं चाव्यपेतं चेति तद् द्विधा॥ —अग्नि. पु. ३४३.११-१२

दण्डी

आवृत्तिर्वर्णसंघातगोचरां यमकं विदुः
अव्यपेतव्यपेतात्मा व्यावृत्तिर्वर्णसंहतेः ।
यमकं तच्च पादानामादिमध्यान्तगोचरम् ।। —का० द० ३.१

वामन

पदमनेकार्थमक्षरं व्यावृत्तं स्थान नियमे यमकम् । —का० सू० वृ० ४.१-१
वर्णविच्छेद चलनं श्रृंखला । संगविनिवृत्तौ स्वरूपापत्तिः परिवर्तकः ।
पिण्डाक्षरभेदे स्वरूपलोपश्चूर्णम् । —वही पृ० ४.१.५-७

रुद्रट

तुल्यश्रुतिक्रमाणामन्यार्थानां मिथस्तु वर्णानाम् ।
पुनरावृत्तिर्यमकं प्रायश्छन्दांसि विषयोऽस्य ।। —काव्या० ३.१

भोज

विभिन्नार्थैकरूपायाः याऽऽवृत्तिर्वर्णसंहतेः ।
अव्यपेतव्यपेतात्मा यमकं तन्निगद्यते ।। —स० कं० २.५८

मम्मट

अर्थे सत्यर्थभिन्नानां वर्णानां सा पुनः श्रुतिः ।
यमकम् ।। —का० प्र० सू० ११७

रुय्यक

स्वरव्यञ्जनसमुदाय पौनरुक्त्यं यमकम् । —अलं० स० सू० ६

वाग्भट (प्रथम)

तुल्यश्रुतिक्रमाऽक्षरावृत्ति र्यमकम् । —काव्यानु० पृ० ५१

हेमचन्द्र

सत्यर्थेऽन्यार्थानां वर्णानां श्रुतिक्रमैक्ये यमकम् । —काव्यानु० सू० १०६

शोभाकर मित्र

तुल्यरूपसमुदायावृत्ति र्यमकम् । —अलं० र० १२१

जयदेव

आवृत्तवर्णस्तवकं स्तवकन्दाङ्कुरं कवेः ।
यमकम् ।। —चन्द्रा० १५.८

विद्यानाथ

यमकं पौनरुक्त्ये तु स्वरव्यंजनयुग्मयोः । —प्रताप० ७.५

विद्याधर

इदमेव स्वरसहितव्यञ्जनसमुदायाश्रितं यमकम् । —एका० ७.४

विश्वनाथ

सत्यर्थे पृथगर्थायाः स्वरव्यंजनसंहतेः ।
क्रमेण तेनैवावृत्ति र्यमकं विनिगद्यते ॥ —सा० द. १०.८

वाग्भट (द्वितीय)

स्यात्पादपदवर्णानामावृत्तिसंयुता युता ।
यमकं भिन्नवाच्यानामादिमध्यान्तगोचरम् ॥ —वाग्भटा० ४.२२

केशव मिश्र

अतुल्यार्थत्वे समाननुपूर्वीविशेषविशिष्टनियतव्यंजन-
समुदायाभ्यासो यमकम् । —अलं० शे० पृ० ३१

चिरञ्जीव

सस्वरव्यञ्जनावृत्या स्तबकं यमकं भवेत् । —का० वि० २.६४

नरेन्द्रप्रभसूरि

यमकं तत्र वर्णानां सदृशानां पुनः श्रुतिः । —अलं० महो० ५.७

श्रीकृष्णब्रह्मतन्त्र परकालस्वामी

अर्थकाः वापि भिन्नार्थाः सार्थकानर्थकाश्च वा ।
क्रमादावर्त्तिता वर्णा यदि तद् यमकं भवेत् ॥ —अलं० मणि० २०२

नरसिंह कवि

यमकं पौनरुक्त्ये तु स्वरव्यंजनयुग्मयोः । —नञ्रा० पृ० १५०

वेणीदत्त

सजातीयानुपूर्वीकद्वितीयेन पदेन च ।
भिन्नार्थबोधकं प्राहु र्यमकं बहु संज्ञकम् ॥ --अलं. मञ्ज. २३ पृ. ५

युक्ति

युक्ति अलंकार को केवल अप्पयदीक्षित परकालस्वामी विश्वेश्वर एवं भट्ट देवशंकर पुरोहित ने ही स्वीकार किया है। उनके अनुसार जहां मर्मगोपन के लिए किसी क्रिया द्वारा दूसरों की वंचना करने का निबन्धन हो वहां **युक्ति अलंकार** होता है।

'त्वामालिखन्ती दृष्ट्वाऽन्यं धनुःपौष्पं करेऽलिखत् ॥

नायक के प्रति कहे गये दूती के उपर्युक्त वचनों में नायिका द्वारा

निज प्रेम गोपन के लिए नायक का चित्र बनाते हुए उस चित्र में पुष्प का धनुष बनाने का उल्लेख हुआ है, अतः यहां **युक्ति अलंकार** माना जाएगा ।

मूल लक्षण

अप्पयदीक्षित

युक्तिः परातिसन्धानं क्रियया मर्म गुप्तये । —कुवलयानन्दं १५६

भट्ट देवशंकर पुरोहित

यदा परातिसन्धानं क्रियते मर्मगुप्तये ।
युक्त्याख्यालङ्कृतिः प्रोक्ता व्याजोक्तेस्तु विलक्षणा ।। —अलं.मंजू. १२१

विश्वेश्वर

युक्तिः परातिसन्धानं क्रियया मर्मगुप्तये । —अलं० मुक्ता० पृष्ठ ४४

श्रीकृष्णब्रह्मतन्त्र परकालस्वामी

युक्तिः स्यान्मर्मणो गुप्त्यै क्रियया णपरवंचनम् । अलं० मणि० १५६

रत्नावली

रत्नावली, जिसे पाठान्तर में क्रमिका नाम भी दिया जाता है, अलंकार को केवल अप्पयदीक्षित एवं परकालस्वामी ने स्वीकार किया है। उनके अनुसार जहां प्रकृत से सम्बद्ध अर्थ का एक विशेष क्रम से (प्रसिद्धि आदि के क्रम से) न्यास किया जाए, वहाँ **रत्नावली अलंकार** स्वीकार किया जाता है।

'चतुरास्यः पति लक्ष्म्या सर्वज्ञस्त्वं महीपते ।'

इत्यादि पद्य में प्रकृत राजा पर आरोपणीय के रूप में चतुरास्य (ब्रह्मा) लक्ष्मीपति एवं सर्वज्ञ पदों का प्रसिद्धि के क्रम से न्यास किया गया है, अतः यहां **रत्नावली अलंकार** माना जाएगा ।

मूल लक्षण

अप्पयदीक्षित

क्रमिकं प्रकृतार्थानां न्यासं रत्नावलीं विदुः । —कुवलयानन्द १४०
(क्रमिकां विदुः इति पाठ भेदः ।)

श्रीकृष्ण ब्रह्मतन्त्र परकालस्वामी

प्रसिद्धसहपाठानामर्थानांन्यसनं यदि ।
रत्नावली सा विख्याता सक्रमाक्रमताभिदा ।। —अलंकार मणिहार -१४२

रसवत्

रस भाव आदि की काव्यशास्त्र में दो स्थितियां स्वीकार की जाती हैं, : ध्वनिरूप से स्थिति अथवा गुणीभूत व्यंग्य के रूप में स्थिति। रसादि जब काव्य में प्रधान रूप से अभिव्यक्त होते हैं, तब वे रसादि तथा उनसे युक्त काव्य दोनों ही ध्वनि कहे जाते हैं। यही रसादि जब अप्रधान होकर अन्य के अंग आदि के रूप में प्रगट होते हैं, तब उन्हें **रसवत्** आदि अलंकारों के नाम से अभिहित किया जाता है (प्रधानेऽन्यत्र वाक्यार्थे यत्राङ्ग तु रसादयः। काव्ये तस्मिन्नलंकारों रसादिरिति मे मतिः। ध्व. का. २.५। 'यस्मिन्काव्ये प्रधानतयाऽन्यार्थो वाक्यार्थीभूतस्तस्य चाङ्गभूता ये रसादयस्ते रसादेरलंकारस्य विषया इतिमामकीनः पक्षः। ध्वन्यालोक पृ. ११६)। रसादि अलंकारो को जहां ध्वनिवादी अथवा रसात्मवादी आचार्यों ने स्वीकार किया है, इन्हें ध्वनि अथवा रस को काव्यार्थ न मानने वाले आचार्यों ने भी स्वीकार किया है। अन्तर केवल इतना ही है कि ध्वनि अथवा रस को काव्यार्थ मानने वाले आचार्यों ने रस की अप्रधानता की स्थिति में ही रसवत् अलंकार की सत्ता स्वीकार की है, (प्रधाने वाक्यार्थे यत्राङ्गभूतो रसादिस्तत्र गुणीभूतव्यंग्ये रसवत्प्रेय ऊर्जस्वि समाहितादयोलंकाराः।' का. प्र. पृ. ८४। 'एते च रसवदाद्यलंकाराः।' वही पृ० २२७), जबकि अन्य आचार्यों ने रस भाव आदि के सम्पर्क के सभी स्थलों में **रसवत्** आदि अलंकार स्वीकार किये हैं, चाहे रस आदि प्रधान रूप में अवस्थित हों और चाहे अप्रधान रूप में। इनके मत में रस ध्वनि के उदाहरण भो रसवत् आदि अलंकारों के उदाहरण होंगे।

रसवत् आदि अलंकारों की सर्वप्रथम चर्चा हमें काव्यादर्श में (२.२८१) मिलती है, भामह (३. ६) शिलामेघ सेन (२७२) उद्भट (४.३) कुन्तक (३.१५) रुय्यक (८३) शोभाकर (१०६) जयदेव (५.११२) नरेन्द्रप्रभसूरि (८.८६) संघरक्खित (३३७) विश्वनाथ (१०-६६) अमृतानन्द (श.३७) अप्पयदीक्षित (कुव. पृ. १८२.८३) एवं भावदेवसूरि (६.४२) ने भी इन अलंकारों को स्वीकार किया है। **रसवत्** अलंकार को स्वीकार करने वाले आचार्यों में इसके स्वरूप के सम्बन्ध में तीन परंपराएं हैं।

पहली परंपरा अलंकारवादी आचार्यों की है, जो रस को स्वतन्त्र काव्य का जीवातु नहीं मानना चाहते। उनके अनुसार जहाँ भी रस-पेशलता हो, वहीं **रसवत्** अलंकार है। दण्डी इस परंपरा के प्रवर्त्तक हैं (रसवद्रसपेशलम्। १२.२७५)। भामह शिलामेघसेन उद्भट संघ-रक्खित, अमृतानन्द योगी एवं भावदेव सूरि दण्डी का अनुसरण करते हैं।

दूसरी परंपरा का आरंभ हमें शोभाकर मित्र से मिलता है, जिसमें अप्रधान रसादि को रसवत् अलंकार कहा गया है, इसके प्रवर्त्तक ध्वनिवादी आचार्य आनन्दवर्धन हैं, जिनका उल्लेख ऊपर किया जा चुका है, इन्होंने अलंकारों अथवा अलंकार विशेष का विवेचन यद्यपि नहीं किया है, तथापि प्रासङ्गिक रूप से इस अलंकार के सम्बन्ध में अपना अभिमत घोषित किया है। शोभाकर ने आनन्द-वर्धन की मान्यता को ही अलंकार लक्षणकर्त्ताओं के मध्य सर्वप्रथम इसे स्वीकार किया है (रसभावतदाभासानां रसाद्यंगत्वे रसवत्प्रेय-ऊर्जस्वीनि। १०६)।

रुय्यक यद्यपि ध्वनिवादी परम्परा के पक्षधर हैं, तथापि इस प्रसङ्ग में उन्होंने तटस्थ भाव से दोनों ही पक्षों को उपस्थापित कर दिया है (तत्र यस्मिन् दर्शने वाक्यार्थीभूता रसादयो रसवदाद्यलंकाराः, तत्राङ्गभूतरसादिविषये द्वितीय उदात्तालंकारः। यन्मतेत्वङ्गभूते रसादिविषये रसवदाद्यलंकाराः.........इत्यादि। अ. स. पृ. २३३)। रुय्यक के टीकाकार जयरथ रसादि के अङ्गभूत होने पर ही रसवत् अलंकार मानना उचित समझते हैं (अङ्गभूतस्य रसादेश्चालंकारत्वं युक्तम्। विमर्शिनी पृ० २३३) विश्वनाथ, अप्पयदीक्षित (स यत्र-परस्याङ्गं भवति तत्र रसवदालंकारः। कुवल० पृ. २६६) नरेन्द्र-प्रभ सूरि (८.८५-८६) इस पक्ष के अनुयायी हैं।

कुन्तक का मत इन दोनों ही परंपराओं से भिन्न है। उनके अनु-सार जहाँ रस विधान के सदृश आह्लाद की अनुभूति हो वहां रसवत् अलंकार होता है (रसेन वर्त्तते तुल्यं रसवत्वविधानतः। योऽलङ्कारः स रसवत् तद्विदाह्लाद निर्मितेः। वक्रो. ३.१५)

अयं स रशनोत्कर्षी पीनस्तनविमर्दनः ।
नाभ्यूरुजघनस्पर्शी नीवीविस्रंसनः करः ॥

—महाभारत स्त्रीपर्व अ० २४.१६

यह पद्य भूरिश्रवा की पत्नी द्वारा कहा गया है। यहां प्रधाष रस करुण है, तथा कर (हाथ) की शृंगार लीलाओं को स्मरण रूप वर्णन से अभिव्यक्त शृंगार करुग के अङ्ग के रूप में अवस्थित है। तथा करुण भी अस्फुट रूप से व्यक्त हो रहा है, अतः उसकी अप्रधानता के कारण इसे ध्वनि न कह सकेगें। इस प्रकार शृंगार की अंगता के कारण यहां रसवत् अलंकार माना जाएगा।

मूल लक्षण

दण्डी रसवद् रसपेशलम् । — काव्यादर्श २. २७५

प्राक्प्रीतिः दर्शिता सेयं रतिः शृङ्गारतां गता ।
रूपबाहुल्ययोगेन तदिदं रसवद् वचः ॥ —काव्यादर्श २.२८६

भामह

रसवद्दर्शितस्पष्टशृङ्गारादिरसं यथा ॥ —काव्यालंकार ३.६

शिलामेघसेन —दण्डी अनुकृत २७२

उद्भट

रसवद्दर्शितस्पष्टशृङ्गारादिरसादयम् ।
स्वशब्दस्थायिसंचारिविभावाभिनयास्पदम् ॥

—काव्यालंकार सारसंग्रह ४.३

कुन्तक

अलङ्कारो न रसवत् परस्याप्रतिभासनात् ।
स्वरूपादतिरिक्तस्य शब्दार्थासङ्गतेरपि ॥ —वक्रोक्तिजीवित ३.११
यथा स रसवन्नाम सर्वालंकारजीवितम् ।
काव्यैकसारतां याति तथेदानीं विवच्यते ॥ —वही ३- १४
रसेन वर्त्तते तुल्यं रसवत्त्वविधानतः ।
योऽलंकारः स रसवत् तद्विदाह्लादनिर्मितेः ॥ —वही ३. १५

रुय्यक

रसभावतदाभासतत्प्रशमानां निबन्धे रसवत्प्रेयऊर्जस्विसमाहितानि ॥

—अलंकार सर्वस्व ८३

शोभाकर

रसभावतदाभासानां रसाद्यङ्गत्वे रसवत्प्रेयऊर्जस्वीनि ॥

—अलंकार रत्नाकर १०६

जयदेव

रसभावतदाभासभावशान्तिनिबन्धनाः ।
रसवत्प्रेयऊजस्विसमाहितमयाभिधाः ॥ —चन्द्रालोक ५. ११२

संघरक्खित

रसप्पतीतिजनकं जायते यं विभूसनम् ।
रसवन्तं ति विञ्ञेयं रसवन्त विधानतो ॥ —सुबोधावंकार ३३७

विश्वनाथ

रसवत्प्रेय ऊर्जस्विसमाहितमिति क्रमात् ।
रसभाव-रसाभास-भावाभासस्य वर्णना ॥ —साहित्यदर्पण १०. ९६

अमृतानन्द यति

रसानामेव सर्वेषामुत्कर्षो रसवद्यथा । —अलंकार संग्रह ५. ३७

अप्पयदीक्षित

रसभावतदाभास भावशान्ति निबन्धनाः ।
चत्वारो रसवत्प्रेय ऊर्जस्वि च समाहितम् ॥ —कुवलयानन्द १.७०
वृत्ति=चित्तवृत्तिविशेषो रसः यत्रापरस्याङ्गं भवति तत्र रसवदलंकारः ॥
—वही पृ. १८२-१८३

नरेन्द्रप्रभसूरि

रसाः भावाः तदाभासाः भावशान्त्यादयोऽपि वा ।
यत्रात्मानं गुणीकृत्य धारयन्त्यपराङ्गताम् ॥
अलङ्काराः क्रमात्तस्मिन्नमी कैश्चिदुदीरिताः ।
रसवत्प्रेयऊर्जस्विसमाहितपुरस्सराः ॥

—अलंकार महोदधि ८.८५-८६

भावदेव सूरि

रसवत्तु रसोत्कर्षात् । —काव्यालंकार सारसंग्रह ६.४२

देवशंकर पुरोहित

ते (शृङ्गारादयः) पुना रसा यत्रापराङ्गतया निबध्यन्ते, तत्र
रसवदलंकारः । —अलंकार मञ्जूषा पृ. २२८

विश्वेश्वर

रसभावतदाभासे रसवत्प्रेय ऊर्जस्वी ।
भावशमे तु समाहितमुदयेऽन्योऽप्यस्य शबलत्वे ।।   —अ. मुक्ता. ५५

परकाल स्वामी

रसे रसाङ्गे भावाङ्गेऽप्येष्वाहू रसवद् बुधा: ।   —अलं. मणि.

रूपक

रूपक अलंकार उन अलंकारों में से एक है, जिसे भरत से लेकर आज तक के सभी आचार्यों ने निर्विवाद रूप से स्वीकार किया है। इतना अवश्य है कि इसके स्वरूप में स्पष्टता उत्तरोत्तर होती गयी है। आचार्य भरत ने औपम्य गुण (सादृश्य) के आधार पर प्रकृत पर विविध दृश्यों की रूप निर्वर्णना को रूपक अलंकार माना था। आचार्य भामह ने भरत द्वारा दिये हुए रूपक लक्षण में रूपनिर्वर्णना के स्थान पर तत्त्व के रूपण को स्वीकार करते हुये सामान्यत: भरत का अनुसरण किया है। काव्यालंकार सूत्रवृत्तिकार वामन ने इसी परम्परा का अनुसरण करते हुए भी रूप निर्वर्णना के स्थान पर तत्त्वारोप शब्द का प्रयोग किया है। तत्त्व आरोप से यहां वामन का तात्पर्य रूप का आरोप होना चाहिए। आचार्य कुन्तक ने इस परम्परा का ही अनुसरण करते हुए उक्त अर्थ को कुछ और स्पष्ट किया है, उनका कहना है कि जहां कोई वस्तु इतर वस्तु से समानता के कारण अपना रूप उसे दे देती है वहां रूपक अलंकार होता है। इस प्रकार भरत द्वारा दिया गया रूपक लक्षण, जिस में रूप निर्वर्णना को रूपक लक्षण के रूप में स्वीकार किया गया था, भामह वामन और कुन्तक में क्रमश: तत्त्व निरूपण, तत्त्वारोप एवं स्वरूप अर्पण शब्दों के द्वारा उत्तरोत्तर स्पष्ट होता हुआ रूप के आरोप के रूप में प्रतिष्ठित हुआ है। परवर्ती आचार्यों में हेमचन्द्र जयदेव विद्यानाथ और विश्वनाथ ने इसी परम्परा का अनुकरण किया है।

रूपक अलंकार के उपर्युक्त लक्षण से भिन्न उपमान और उपमेय के मध्य अभेद को आचार्य दण्डी ने रूपक का लक्षण माना है। आचार्य मम्मट, वाग्भट (प्रथम एवं द्वितीय) केशव मिश्र एवं पंडितराज जगन्नाथ ने इस प्रसङ्ग में आचार्य दण्डी का ही अनुकरण करते हुए अभेद

के आधार पर ही रूपक अलंकार का लक्षण किया है। आचार्य रुय्यक ने आरोप और विषय शब्द का प्रयोग करते हुये भी अभेद की प्रधानता को रूपक का लक्षण स्वीकार किया है। विद्याधर नरेन्द्र-प्रभसूरि, अप्पयदीक्षित एवं भट्टदेवशंकर वेणीदत्त आदि ने इस प्रसङ्ग में रुय्यक का ही अनुकरण किया है।

आचार्य उद्भट (काव्यालंकार सार संग्रहकार) ने रूपक अलंकार में गुणवृत्ति (लक्षणा वृत्ति) को महत्त्व देते हुये सबसे भिन्न लक्षण किया है। उनके अनुसार जहाँ मुख्य वृत्ति (अभिधा) को उपेक्षित कर गुणवृत्ति (लक्षण) की प्रधानता से एक पद अर्थात् उपमानवाचक पद पदान्तर अर्थात् उपमेय वाचक पद से युक्त (सम्बद्ध) होता है, वहाँ रूपक अलंकार माना जाता है। तात्पर्य यह है कि उद्भट के अनुसार उपमान, जिसे आरोप्यमाण कहना अधिक उचित होगा, से आर्थ प्रतीति के लिये अभिधावृत्ति की अप्रधानता तथा लक्षणा (गुणवृत्ति) की प्रधानता रहती है। भोज एवं अलंकार भाष्यकार, जिनका उल्लेख जयरथ ने किया है, ने इसी मान्यता का समर्थन किया है। शोभाकर मित्र ने भी रूपकालंकार का लक्षण लक्षणा के समानान्तर ही किया है। रूपकालंकार के लक्षण सूत्र की व्याख्या करते हुये उन्होंने स्पष्ट स्वीकार किया है कि लक्षणा रूढा और कार्या भेद से दो प्रकार की है, कार्या अर्थात् प्रयोजनवती लक्षणा काव्य की प्राणभूत है, वह रूपक सजातीय ही है, अतः रूपक के अन्तर्भूत ही है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि रूपक अलंकार के लक्षण के प्रसङ्ग में विश्वनाथ से पूर्व चार परम्पराएं प्रचलित रही हैं— (१) तत्त्वारोप अथवा रूप का आरोप, (२) उपमान और उपमेय में अभेद प्रतीति (३) अभेद आरोप एवं (४) गुणवृत्ति की प्रधानता के साथ एक पद का पदान्तर के साथ सामानाधिकरण्य।

रूपक अलंकारों का अन्य अलंकारों से भेद—

रूपक : उपमा—उपमा अलंकार में वास्तविक चमत्कार उपमान उपमेय के बीच सादृश्य (साधर्म्य) के कारण होता है, जबकि रूपक अलंकार का चमत्कार आरोप विषय (उपमेय) पर आरोप्यमाण (उपमान) के आरोप अथवा दोनों में अभेद प्रतीति के कारण होता

है। इसमें उपमेय उपमान के रंग में रंग दिया जाता है।

स्मरणीय है रूपक में उपमेय और उपमान का आरोप शाब्द होना चाहिए आर्थ नहीं। आर्थ आरोप होने पर वहां रूपक अलंकार के स्थान पर निदर्शना अलंकार की संभावना होने लगेगी। दूसरे शब्दों में उपमा और रूपक में प्रधान भेद यह है कि उपमा अलंकार में भेद प्रधान साधर्म्य रहता है तथा उपमान और उपमेय के मध्य भेद प्रतीति अनिवार्यत: रहती है, जबकि रूपक में अभेद की प्रधानता रहती है अथवा उपमेय उपमान के रूप में दृष्टिगोचर होता है।

रूपक : उत्प्रेक्षा : संशय—रूपक अलंकार में प्रकृत पद्य में अप्रकृत का अभेदारोप अथवा प्रकृत का अप्रकृत के रूप में रञ्जन ताद्रूप्य-रञ्जन रहा करता है। इस स्थिति में कवि प्रकृत और अप्रकृत को लेकर किसी अनिश्चितता को उपस्थापित नहीं करता। जबकि उत्प्रेक्षा अलंकार में आरोप के स्थान पर अध्यवसान व्यापार की प्रधानता रहती है। इसमें 'मुख मानों चन्द्रमा है' कहते हुए कवि प्रकृत और अप्रकृत के मध्य अनिश्चितता की भावना जागृत करता है। यद्यपि अनिश्चितता अप्रकृत (चन्द्रमा) की ओर विशेष रूप से उन्मुख रहा करती है। सन्देह या संशय अलंकार में प्रकृत और अप्रकृत के मध्य संशय की ही प्रधानता रहती है।

रूपक : परिणाम—रूपक और परिणाम दोनों ही सादृश्य-मूलक अभेदारोप प्रधान अलंकार है। दोनों में अन्तर यह है कि रूपक में रूप का आरोप होता है, जबकि परिणाम में अप्रकृत का प्रकृत के रूप में उपयोग किया होता है, दूसरे शब्दों में परिणाम में कार्य का समारोप होता है।

रूपक : निदर्शना—रूपक के समान निदर्शना में भी आरोप रहता है, किन्तु अन्तर यह है कि रूपक में विषय पर रूप का आरोप हुआ करता है, जबकि निदर्शना में दो पदार्थों के बीच परस्पर ऐक्य का आरोप होता है। इसके अतिरिक्त रूपक में प्रकृत पर अप्रकृत का शाब्द सामानाधिकरण्य होने से शाब्द आरोप होता है, तथा दो प्रकृत और अप्रकृत के बीच बिम्बप्रतिबिम्ब भाव अवश्य रहता है।

रूपक : अतिशयोक्ति:—रूपक अलंकार में सादृश्यमूलक अभेदा-

रोप होता है; जबकि अतिशयोक्ति में सादृश्यमूलक सिद्ध अध्यवसान रहता है; तथा इस सिद्ध अध्यवसान के कारण अप्रकृत द्वारा प्रकृत का निगरण किया होता है। यही कारण है कि अतिशयोक्ति में प्रकृत का प्रयोग नहीं किया जाता है।

रूपक : अपह्नुति—रूपक और अपह्नुति दोनों ही सादृश्याश्रित अभेदारोपमूलक अलंकार है। दोनों में ही प्रकृत पर अप्रकृत का आरोप रहता है, दोनों में ही यह आरोप आहार्य रहा करता है, किन्तु अपह्नुति में प्रकृत का निषेध करके अप्रकृत का उस पर आरोप किया जाता है, जबकि रूपक में प्रकृत का निषेध (अपह्नव) नहीं किया जाता है (निषेध करने पर रूपक अलंकार नहीं कहा जा सकता); बल्कि वह प्रकृत (अप्रकृत) के रूप में रूपित किया जाता है। उसके रंग में रंग दिया जाता है।

रूपक : समासोक्ति—समासोक्ति और रूपक दोनों ही सादृश्य मूलक अलंकार हैं, दोनों में ही आरोप भी समान रूप से रहता है। किन्तु दोनों में अत्यधिक अन्तर है। रूपक में सादृश्य वाच्य होता है; जबकि समासोक्ति में वह गम्य रहता है। रूपक में प्रकृत और अप्रकृत दोनों का ही प्रयोग होता है, जबकि समासोक्ति में अप्रकृत का प्रयोग नहीं होता, केवल विशेषण साम्य अथवा अप्रकृत के लिङ्ग आदि के साम्य के आधार पर ही सहृदय को प्रकृत से अप्रकृत के व्यवहार की स्फुरणा हो जाती है। इसके अतिरिक्त रूपक में प्रकृत पर अप्रकृत के रूप का आरोप होता है, जबकि समासोक्ति में प्रकृत के व्यवहार रूप वाच्यार्थ के द्वारा अप्रकृत के व्यवहार की व्यञ्जना होती है। दूसरे शब्दों में समासोक्ति अलंकार में प्रकृत वृत्तान्त पर अप्रकृत वृत्तान्त का व्यवहार समारोप होता है। इसमें प्रकृत पदार्थ के विशेषण ही इतने श्लिष्ट होते है कि वे प्रकृत और अप्रकृत दोनों के वृत्तान्तों से अन्वित रहते हैं।

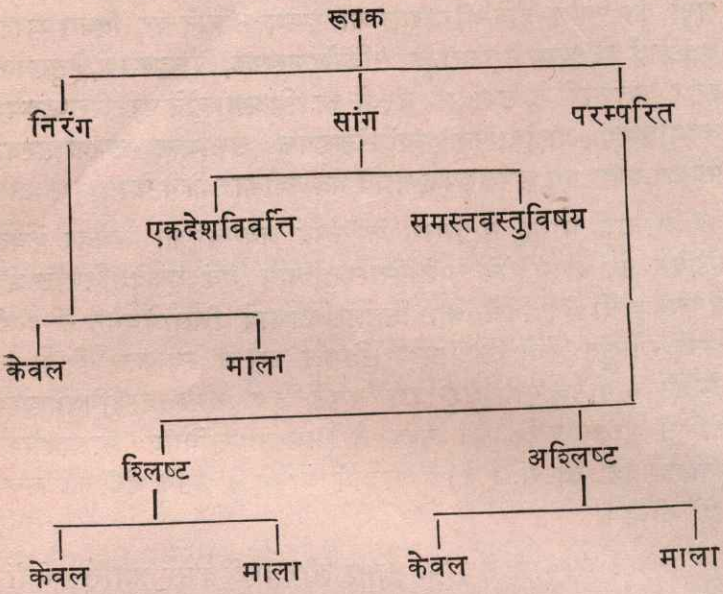
रूपक अलंकार के भेदोपभेद

रूपक अलंकार के भेद उपभेदों के सम्बन्ध में आचार्यों में अत्यधिक मतभेद रहा है। आचार्य दण्डी ने रूपक अलंकार योजना में वाक्य स्वरूप को आधार मानकर **समस्त असमस्त** (व्यस्त) और **समस्तासमस्त** तीन भेद किये थे। उसके अवयवों आदि के प्रयोग

के आधार पर **सकल अवयव अवयवी एकांग युक्त** रूपक भेद, कुछ अंगों का रूपण होने और कुछ का रूपण न होने पर **विषम** रूपक, वाक्यार्थ को ध्यान में रखते हुए **सविशेषणरूपक, विरुद्धरूपक, हेतुरूपक,** इतर अलंकारों के उपादान तत्त्वों का मिश्रण होने पर **शिलष्टरूपक उपमारूपक आक्षेपरूपक व्यतिरेकरूपक समाधान रूपक तत्त्वापह्नव रूपक** एवं **रूपकरूपक** आदि भेद स्वीकार किये थे।

आचार्य भामह रूप्यमाण के समग्र अवयवों का अथवा केवल एकदेश का रूपण होने से **समस्तस्वतुविषय** एवं **एकदेशविर्वात्त** भेद से केवल दो भेद किये थे। सिंहली आचार्य शिलामेघसेन ने दण्डी द्वारा स्वीकृत भेदों को प्रायः अविकल रूप से स्वीकार किया है। उद्भट ने भामह का अनुसरण करते हुए समस्तवस्तुविषयरूपक को ही **माला रूपक** भी कहा है (समस्तवस्तुविषयं मालारूपकमुच्यते। का. सा. सं. १.६)। आचार्य वामन ने इसके भेदों की चर्चा नहीं की है।

परवर्ती आचार्यों ने प्रायः भामह और दण्डी द्वारा प्रवत्तित भेदोंपभेद की परम्पराओं में से ही अन्यतर का कुछ थोड़े बहुत अन्तर के साथ अनुसरण किया है। उदाहरणार्थ आचार्य उद्भट ने भामह स्वीकृत भेदों को स्वीकार करते हुए **समस्तवस्तु एकदेशवृत्ति** और **माला** नाम से अन्य भेद भी किये हैं। आचार्य कुन्तक भामह स्वीकृत भेदों को ही स्वीकार करते हुए **प्रतीयमान** नामक एक नवीन भेद की उद्भावना की है। आचार्य मम्मट ने भामह स्वीकृत रूपक भेद की परम्परा में परिष्कार करते हुए कुछ परिवर्धन किया है। उदाहरणार्थ उन्होंने भामह स्वीकृत **समस्तवस्तुविषयरूपक** एवं **एकदेशविर्वात्त रूपक** भेदों को सांग रूपक के उपभेद के रूप में स्वीकार करते हुए **निरङ्ग** एवं **परम्परित** नाम से दो स्वतन्त्र भेद भी माने हैं। इनके अनुसार **निरंग** रूपक में **शुद्ध** और **माला** दो उपभेद तथा **परम्परित** में प्रथम **शिलष्ट** और **अशिलष्ट** भेद करके उनमें पुनः **केवल** और **माला** नाम से दो उपभेद स्वीकार किये हैं। इन भेदों को रेखा चित्र में इस प्रकार देखा जा सकता है:—



आचार्य मम्मट द्वारा स्वीकृत रूपक अलंकार के उपर्युक्त भेद प्रभेद सामान्य रूप से रुय्यक विद्याधर एवं विद्यानाथ आदि अधिकांश आचार्यों द्वारा स्वीकृत हुए हैं। इतना अवश्य है कि उन्होंने निरङ्ग को **निरवयव** एवं साङ्ग को **सावयव** संज्ञा से निर्दिष्ट किया है। शोभाकर मित्र ने परम्परित के समान ही सावयव में भी श्लिष्ट और अश्लिष्ट भेदों की कल्पना की है।

विश्वनाथ ने भी शोभाकरमित्र के समान सावयव रूपक में श्लिष्ट एवं अश्लिष्ट भेदों को स्वीकार किया है। इसके साथ ही उन्होंने परम्पररित में भी सावयव के समान **एकदेशविवर्त्ति** एवं **समस्तवस्तुविषय** भेदों की उद्‌भावना की है। इसके अतिरिक्त विश्वनाथ ने रूपक के आधार के रूप में साधर्म्य के साथ ही वैधर्म्य को भी स्वीकार किया है। स्मरणीय है कि **वैधर्म्य निमित्तक रूपक अलंकार** की कल्पना सर्वप्रथम आचार्य रुय्यक ने की थी। आचार्य विश्वनाथ ने **अधिकारूढ वैशिष्ट्य** नाम से भी एक रूपक प्रकार माना है।

अप्पयदीक्षित ने अन्य रूपक भेद प्रभेदों के साथ **अधिकोक्ति**

न्यूनोक्ति एवं **अनुभयोक्ति** नाम से तीन नवीन भेदों की कल्पना की है। इन भेदों को शौद्धोदनि एवं भट्टदेवशंकर पुरोहित ने भी स्वीकार किया है।

पंडितराज जगन्नाथ ने सामान्यत: मम्मट एवं रुय्यक स्वीकृत रूपक के आठ भेदों को स्वीकार करते हुए **वाक्यार्थ** एवं **पदार्थ** भेद से तथा **सामानाधिकरण्य** एवं **वैयधिकरण्य** के आधार पर कुछ भेद प्रभेद माने हैं।

रूपक अलंकार की भेद कल्पना में दण्डी आदि द्वारा स्वीकृत **समस्त व्यस्त** एवं **समस्तव्यस्त** आदि भेदों की कल्पना के पीछे आचार्यों का मुख्य ध्यान वाक्य की रचना पर रहा है, जबकि **समस्त-वस्तुबिषय** एवं **एकदेशविवर्ति** भेदों की कल्पना में भामह आदि आचार्यों का ध्यान वाक्य योजना पर न होकर रूप योजना (आरोप की कल्पना) पर रहा है, जो निश्चय ही वाक्य योजना की दृष्टि की अपेक्षाकृत अधिक सूक्ष्म और प्रशस्त है। यही कारण है कि उत्तर-कालीन आचार्यों में वाक्य योजना पर **समस्त व्यस्त** आदि भेदों की अपेक्षा रूप योजना पर आश्रित सावयव निरवयव परम्परित आदि भेद अधिक मान्य हुए हैं।

इसी प्रकार दण्डी स्वीकृत उपमारूपक व्यतिरेकरूपक आक्षेप-रूपक, आदि भेदों को रूपक के प्रकार भेद कहने की अपेक्षा रूपक और उपमा आदि अलंकारों की संसृष्टि अथवा संकर कहना अधिक उचित है। यही कारण है कि दण्डी स्वीकृत उपमा-रूपक आदि भेदों को परवर्ती आचार्यों ने स्वीकार नहीं किया है। अनेक अलंकारों के उपादान तत्त्वों के समन्वय विशेष की स्थिति में **शिलष्ट परम्परित रूपक** ही केवल स्वीकार किया जाता है। रूपक एवं श्लेष के उपादान तत्त्वों के समन्वय की स्थिति में कब **रूपक अलंकार** माना जाए और कब **श्लेष अलंकार** माना जाए इसे स्पष्ट करते हुए विद्यानाथ चक्र-वर्त्ती ने सुस्पष्ट विभाजन रेखा की है—

रूपकं पूर्वसंसिद्धं श्लेषमुत्थापयेद्यदि ।
तदा रूपकमेव स्यादन्यथा श्लेष इष्यते ।।

—नि. का २१

अर्थात् जहाँ **रूपक** अलंकार की सिद्धि **श्लेष** के बिना ही होती है तथा

रूपक श्लेष का उत्थापक है, वहाँ **श्लिष्ट रूपक** अलंकार होगा, और जहाँ श्लेष के बिना रूपक की प्रतीति नहीं होती, वहाँ **श्लेष** अलंकार ही होगा **रूपक** अलंकार नहीं।

उपर्युक्त स्थलों में रूपक एवं श्लेष की संसष्टि अथवा संकर स्वीकार नहीं किया जाता। इसका कारण यह है **श्लेष अलंकार** की स्थिति में उपमा रूपक विरोधाभास आदि अलंकारों में से अन्यतम की सत्ता अनिवार्यतया रहती ही है, अत: यदि उन सभी स्थितियों में उन अलंकारों के साथ श्लेष का संकर अथवा संसृष्टि मानी जाएगी तो श्लेष अलंकार की स्वतन्त्र स्थिति का उदाहरण मिलना भी संभव न हो सकेगा। तथा स्वतन्त्र सत्ता के अभाव में उसकी मान्यता ही संभव न हो सकेगी। यही कारण है कि श्लेष अलंकार को सभी अलंकारों का बाधक माना जाता है (श्लेष: सर्वालंकार बाधक:)।

विश्वनाथ ने सामान्यत: रुय्यक का अनुसरण करते हुए रूपक अलंकार के सर्वप्रथम तीन भेद किये हैं : **परम्परित साङ्ग** एवं **निरङ्ग**। स्मरणीय है कि रुय्यक ने 'अङ्ग' शब्द के स्थान पर अवयव शब्द का प्रयोग करते हुए **साङ्ग** के स्थान पर **सावयव** एवं **निरङ्ग** के स्थान पर **निरवयव** नाम स्वीकार किये थे।

इन तीन प्रकारों में से **परम्परित रूपक** वहाँ माना जाता है, जहाँ कोई आरोप इतर आरोप का कारण हो रहा हो। **साङ्ग रूपक** में अनेक आरोप्यमाणों में परस्पर अङ्गाङ्गिभाव रहता है। परम्परित में अनेक आरोप्यमाणों में अवयव-अवयवि भाव नहीं होता; फिर भी वे परस्पर सम्बद्ध रहते हैं, उनका साहचर्य रहता है, तथा आश्रय आश्रयिभाव आदि अनेक सम्बन्धों में से कोई भी एक ऐसा सम्बन्ध हो सकता है, जिसके फलस्वरूप एक आरोप अन्य आरोप का हेतु बन जाता है। बस केवल अवयव-अवयविभाव नहीं रहना चाहिए। अवयव-अवयवि भाव की स्थिति में **सावयव रूपक में** अनेक आरोप मिलकर एक समन्वित आरोप शरीर के रूप में प्रगट होते हैं।

परम्परित रूपक अलंकार में कभी श्लिष्ट शब्दों का प्रयोग होता है और कभी अश्लिष्ट शब्दों का प्रयोग। साथ ही किसी भी आरोप विषय पर कभी अनेक आरोप किये जाते हैं और कभी केवल एक। अनेक आरोप होने पर वहाँ **माला परम्परित** रूपक माना जाता है,

और एक आरोप विषय पर केवल एक आरोप होने पर वहां केवल (शुद्ध) **माला रूपक** अलंकार माना जाएगा। इस प्रकार **परम्परित रूपक** के चार प्रकार होते हैं।

'आहवे जगदुद्दण्ड राजमण्डलराहवे ।
श्री नृसिंह महीपाल स्वस्त्यस्तु तव बाहवे ॥'

इस पद्य में 'राज' पद श्लिष्ट है, जिसका एक अर्थ है 'राजा' और द्वितीय अर्थ 'चन्द्रमा' है। 'राज' पद से श्लिष्ट अर्थ की प्रतीति होने से राजा नृसिंह के बाहु पर राहु का आरोप राजा भूपति पर 'राजमण्डल' अर्थात् चन्द्रमण्डल के आरोप को हेतु मान कर होता है, अर्थात् बाहु पर राहु के आरोप का हेतु राजपद पर चन्द्र (राज) का आरोप है; किन्तु आरोप विषय राजा एवं आरोप्यमाण चन्द्र के वाचक पद पृथक् पृथक् न होकर केवल एक बार प्रयुक्त राजपद है अतः इस रूपक की योजना के लिए श्लेष का आश्रय लेना अनिवार्य हो जाता है। इस प्रकार श्लेष हेतुभूत रूपक के बाद एवं हेतुभूत रूपक के पूर्व स्थित रहता है। क्योंकि श्लेष के साथ अन्य अलंकारों का संकर अथवा संसृष्टि नहीं मानी जाती, अतः **श्लिष्टशब्दनिबन्धन रूपक** को रूपक अलंकार के भेद के रूप में स्वीकार किया गया है। क्योंकि यहाँ एक आरोप विषय राजा और बाहु पर एक एक आरोप ही किये हैं, अतः इसे **शुद्ध श्लिष्ट परम्परित रूपक** कहा जाता है।

पद्मोदयदिनाधीशः सदागति समीरणः।
भूभृदावलिदम्भोलिरेक एव भवान् भुवि ॥

इस पद्य में 'भवान्' पद द्वारा अभिहित आरोप विषय राजा पर सूर्य समीरण एवं दम्भोलि का आरोप किया गया है, श्लिष्ट पद पद्मोदय के वाच्य कमला (लक्ष्मी) की प्राप्ति और कमल का उदय (कमल + उदय, कमला + उदय) अर्थात् प्राप्ति पर कमल के उदय अर्थात् विकास का, श्लिष्ट पद सदागति (सत् + आगति, सदा + गति) के वाच्य सज्जनों के आगमन पर सदागति अर्थात् निरन्तर गति का, तथा श्लिष्ट पद भूभृत् के वाच्य राजा पर पर्वत का आरोप रहा है। इन आरोपों को हेतुमान कर 'भवान्' पद वाच्य राजा पर

दम्भोलि (वज्र) का आरोप किया गया है। इस प्रकार यहां श्लिष्ट पद निवन्धन परम्परित रूपक अलंकार स्वीकार किया गया है। क्योंकि इस पद्य में एक आरोप विषय राजा पर सूर्य समीरण एवं दम्भोलि इन तीन का आरोप किया गया है, अतः यहाँ **श्लिष्ट परम्परित माला रूपक** भेद माना जाएगा।

पान्तु वो जलदश्यामाः शार्ङ्ग ज्याघातकर्कशाः।
त्रैलोक्यमण्डपस्तम्भाश्चत्वारो हरिबाहवः ॥

इस पद्य के उत्तरार्ध में त्रैलोक्य पर मण्डल का तथा हरि के चार बाहुओं पर खम्भों का आरोप हो रहा है। इन आरोपों में त्रैलोक्य पर मण्डल का आरोप, हरि बाहुओं पर स्तम्भों के आरोप का हेतु है। अतः यहां **परम्परित रूपक** माना जायेगा। क्योंकि यहाँ पर किसी भी श्लिष्ट पद का प्रयोग नहीं हुआ है, अतः इसे **अश्लिष्ट परम्परित** एवं एक आरोप विषय पर एक ही आरोप होने से **केवल** (शुद्ध) **पम्परित** रूपक कहा जाएगा। इस पद्य के पूर्वार्ध में 'जलदश्यामाः' पद से जलद के सदृश श्याम अर्थ की प्रतीति होने से **उपमा** अलंकार तथा 'ज्याघात कर्कशाः' पद से कर्कशता के हेतु ज्याघात की भी प्रतीति हो रही है, अतः इस अंश में हेतु अलंकार है। ये सभी अलंकार यहाँ परस्पर निरपेक्ष भाव से स्थित हैं अतः समग्र रूप से यहाँ इन अलंकारों की संसृष्टि कही जाएगी।

मनोजराजस्य सितातपत्रं श्रीखण्डचित्रं हरिदङ्गनायाः।
विराजते व्योमसरः सरोजं कर्पूरपूर प्रभमिन्दुबिम्बम् ॥

इस पद्य में **अश्लिष्ट परम्परित माला रूपक** अलंकार है। यहाँ इन्दु बिम्ब (चन्द्र मण्डल) पर श्वेत छत्र, चन्दन तिलक एवं सरोज का, मनोज पर राजा का, दिशा पर अङ्गना (स्त्री) का एवं व्योम पर सरोवर का आरोप किया गया है। क्योंकि मनोज आदि पर राजा आदि के आरोप को हेतु मान कर ही इन्दुबिम्ब पर श्वेत छत्र आदि का आरोप हुआ है, अतः यहां **परम्परित रूपक** माना जायेगा। साथ ही एक आरोप विषय इन्दुबिम्ब पर श्वेत छत्र चन्दन तिलक एवं सरोज (कमल) ये तीन आरोप किये हैं, अतः इन्हें **माला परम्परित** कहा जाएगा। यहां श्लिष्ट शब्दों का प्रयोग नहीं है, अतः इसे अश्लिष्ट

ही मानेगें।

उपर्युक्त पद्यों में साहित्यदर्पणकार के अनुसार परम्परित रूपकों में हेतुमान् का विवरण दिया गया है। कुछ आचार्य इन हेतु रूपकों को हेतुमान् रूपक और हेतुमान् रूपकों को हेतु रूपक मानना चाहते हैं। अर्थात् 'आहवे' इत्यादि पद्य में राजबाहु पर राहु के आरोप को हेतु मानकर राजसमूह पर चन्द्र-मण्डल का आरोप होता है, न कि चन्द्रमण्डल के आरोप को हेतु मानकर बाहु पर राहु का आरोप। इसी प्रकार 'पद्मोदय' इत्यादि पद्य में राज पर सूर्यत्व इत्यादि के आरोप को हेतु मानकर पद्मा (लक्ष्मी) की वृद्धि पर पद्म विकास आदि का आरोप होता है। 'पान्तु वो जलदश्यामाः' इत्यादि पद्य में हरि बाहुओं पर स्तम्भत्व का आरोप त्रैलोक्य पर मण्डप आरोप का हेतु है, न कि मण्डप का आरोप स्तम्भ के आरोप का हेतु है। इसी प्रकार 'मनोजराजस्य' इत्यादि पद्य में इन्दुबिम्ब पर सित आतपत्र (श्वेत छत्र) आदि का आरोप मनोज पर राजत्व आदि के आरोप का हेतु है, न कि मनोज पर राजत्व आदि का आरोप इन्दु पर सितआतपत्र आरोप का हेतु है। हेतु और हेतुमान् रूपकों के सम्बन्ध में यह मान्यता विश्वनाथ की मान्यता के सर्वथा विपरीत है।

इस प्रसंग में यह ध्यान देने योग्य है कि जिस रूपक की अन्य रूपक के विना संगति नहीं बन पाती, उस रूपक को हेतु रूपक मानना चाहिए क्योंकि वह अपनी सिद्धि के लिए अन्य का आरोप करना ही चाहेगा। इसके विपरीत जो स्वतः सिद्ध है वह अन्य के प्रति निरपेक्ष हो जाता है अतः उसे हेतु मानना उचित नहीं है।

इस दृष्टि से विचार करते पर पूर्वोक्त पद्यों में राजा पर सूर्यत्व का, हरिबाहु पर स्तम्भत्व का, चन्द्रबिम्ब पर सितआतपत्र का आरोप स्वतः सिद्ध है अतः ये अन्य के प्रति हेतु नहीं बनेंगे, फलतः इन्हें हेतुमान् रूपक मानना चाहिए।

उपर्युक्त पद्यों में निबद्ध आरोपों के मूल में सादृय ही मुख्य आधार है। राजमण्डल और चन्द्रमण्डल में यद्यपि कोई अर्थगत सादृश्य नहीं है किन्तु एकशब्दवाच्यता रूप सादृश्य तो वहां भी विद्यमान है ही। साहित्य दर्पण के अंग्रेजी व्याख्याकार प्रो. पी. वी. काणे के अनुसार "आहवे" इत्यादि पद्य में बाहु पर राहु का आरोप

किया गया है, किन्तु यहाँ आरोपविषय बाहु और आरोप्यमाण राहु में कोई सादृश्य नहीं है, किन्तु उनका यह कथन ठीक नहीं है क्योंकि विपक्ष पीड़ा जनकत्व रूप धर्म राहु और बाहु दोनों में समान रूप से विद्यमान है, अतः सादृश्य के अभाव की कल्पना करना उचित नहीं है।

साङ्ग रूपक

रूपक अलंकार का द्वितीय मुख्य भेद **साङ्गरूपक** है। साङ्ग (सावयव) रूपक अलंकार में किसी आरोपविषय पर अङ्गों सहित वस्तु विशेष (आरोप्यमाण) का आरोप किया जाता है। यह साङ्ग-रूपक दो प्रकार का है: **समस्तवस्तु विषय** और **एकदेश विवर्त्ति**। क्योंकि इस रूपक भेद में आरोपविषय पर अंगों सहित आरोप्यमाण का आरोप होता है, अतः स्वाभाविक है कि अङ्गी आरोपविषय एवं आरोप्यमाण के साथ ही उनके अंगों की भी कल्पना की जाए। उन अङ्गों का निबन्धन जब समग्र रूप से वाच्य होता है अर्थात् अङ्गी और उसके प्रत्येक अंग का शब्दतः निबन्धन किया जाता है, तो वहाँ **समस्तवस्तुविषय साङ्गरूपक** अलंकार होता है। और जब उन अंगों में से कुछ का शब्दतः कथन किया गया हो और कुछ अंगों की प्रतीति अर्थ सामर्थ्य से हो तो वहां **एकदेशविवर्त्तिसाङ्गरूपक** अलंकार होता है।

यहाँ एक बात और स्मरणीय है कि साङ्ग रूपक में अनेक आरोप विषयों तथा अनेक आरोप्यमाणों के बीच अङ्गाङ्गिभाव होना चाहिए। अङ्गाङ्गिभाव के अभाव में उसे **साङ्गरूपक** कह सकना सम्भव न होगा।

जहां आरोप्यमाण का अंगों की कल्पना के बिना ही आरोप होता है वहाँ **निरङ्गरूपक अलंकार** होता है। यह दो प्रकार का हो सकता है: **निरङ्ग केवल** और **निरङ्गमाला**। इस प्रकार आचार्य मम्मट रुय्यक एवं विश्वनाथ रूपक के आठ भेदों की सोदाहरण चर्चा करते हैं। आचार्य विश्वनाथ साङ्ग रूपक के समान ही परम्परित में भी **समस्तवस्तुविषय** एवं **एकदेशविवर्त्ति** नामक भेद स्वीकार करते हैं।

आचार्य मम्मट ने **श्लिष्ट रूपक** उपभेद की कल्पना केवल परम्परित भेद के अन्तर्गत की थी किन्तु विश्वनाथ की मान्यता है कि परम्परित के समान ही साङ्गरूपक में भी श्लिष्ट और अश्लिष्ट भेद की सम्भावना विद्यमान है। इस प्रसंग में उन्होंने स्वरचित पद्य उदाहरण के रूप में प्रस्तुत किया है।

"करमुदयमहीधरस्तनाग्रे गलिततमः पटलांशुके निवेश्य।
विकसितकुमुदेक्षणं विचुम्बत्ययममरेशदिशो मुखं सुधांशुः॥"

इस पद्य में आरोपविषय पूर्वदिशा पर नायिका आरोप करते हुए उसके अंग के रूप में उदयगिरि पर स्तनाग्र का 'गलिततमः पटल' पर अंशुक का एवं कुमुदों पर नेत्रों का आरोप किया गया है। अतः इस पद्य में **साङ्गरूपक** अलंकार है। क्योंकि पूर्व दिशा पर नायिका का आरोप शाब्द न होकर आर्थ है। साथ ही 'कर' पद 'हाथ' और 'किरण' दोनों का वाचक है, अतः विश्वनाथ के अनुसार इस पद्य में एकदेशविवर्त्ति श्लिष्ट सांगरूपक अलंकार मानना चाहिए।

वस्तुतः इस रूपक योजना में अङ्गीरूपक दिशारूपी नायिका तथा अङ्गरूपक उदयगिरि-स्तनाग्र, तमपटलांशुक तथा कुमुदेक्षण है, इस अंश में यह **सांगरूपक** है। किन्तु 'कर' पद से वाच्य किरण रूपी हाथ सुधांशु का है, दिशारूपी नायिक का नहीं, फलतः इसे **सांगरूपक** का भाग नहीं कह सकते इस अंश तो **परम्परितरूपक** ही मानना चाहिए। प्रस्तुत पद्य में विश्वनाथ ने परम्परितरूपक की संभवना को उठाकर उसका खण्डन केवल इसी आधार पर करते हैं कि यहां सादृश्य सुविदित है और परम्परित रूपक वहीं होना चाहिए जहां सुव्यक्त सादृश्य न हो (सा. द. पृ. ५२६)। इस प्रसंग में उन्होंने दोनों पक्षों से उदाहरण भी प्रस्तुत किये हैं किन्तु वह उत्तर समीचीन नहीं है। क्योंकि:—

'सादृश्याभाव परम्परित रूपक में अनिवार्य है' आचार्य विश्वनाथ की यह मान्यता स्वयं में विचारणीय है। रुय्यक से जगन्नाथ तक सभी आचार्य रूपक को सादृश्यमूलक अलंकार ही मानते हैं। सादृश्य के अभाव में रूपक अलंकार की सत्ता भी न बन सकेगी।

'पद्मोदयदिनाधीश:' इत्यादि पद्य में विश्वनाथ के अनुसार पद्मोदय ही उभयत्र साधारण धर्म के रूप में विवक्षित है, क्योंकि 'एक पदवाच्यता' रूप सादृश्य भी स्वीकार किया जाता है। इसी कारण श्लेष अलंकार में सर्वत्र ही उपमा आदि सादृश्यमूलक अलंकारों में अन्यतम अनिवार्य रूप से स्वीकार किया जाता है। इस तथ्य को आचार्य आनन्दवर्धन आदि आचार्यों ने स्पष्ट शब्दों में स्वीकार किया है।'

इस प्रकार निष्कर्ष के रूप में यह कहना उचित होगा कि सादृश्य का होना अथवा न होना सांग और परम्परित रूपक के भेदों के बीच विभाजन रेखा नहीं है। दोनों के मध्य भेदक तत्त्व के रूप में यही माना जाना चाहिए कि परस्पर संबद्ध अनेक आरोप्यमाणों अथवा आरोप विषयों में जहाँ सहज अथवा आहार्य अङ्गाङ्गिभाव की कल्पना संभव हो वहाँ सांग रूपक भेद और जहां अंगागिभाव की कल्पना संभव नहीं है, वहां परम्परित रूपक भेद मानना चाहिए। इसी पद्य में महीधर तमपटल एवं कुमदों पर स्तन अंशुक एवं ईक्षण के आरोप दिशा पर नायिका के अंगी आरोप के अवयव के रूप में प्रतीत होते हैं। अत: इस अंश में **सांगरूपक** भेद मानना उचित होगा। साथ ही 'सुधांशु' कर (किरण) पर कर (हाथ) का आरोप न तो अङ्गी आरोप नायिका का सहज अंग है और न आहार्य अंग, अत: इस अंश में परम्परित रूपक भेद मानना ही उचित होगा।

प्रस्तुत पद्य में यदि सुधांशु पर नायक के आरोप की कल्पना की जा सके तो कर पर करके आरोप की नायक के सहज अंग के रूप में सम्भावना की जा सकती है और इस स्थिति में इस अंश में पृथक् रूप से एकदेशविवर्त्ति सांग रूपक का उदाहरण स्वीकार किया जा सकता है।

रूपक योजना के सन्दर्भ में आरोप विषय एवं आरोप्यमाण के बीच समास किये जाने और न किये जाने को आधार मानकर कुछ आचार्यों ने रूपक अलंकार में भेदों की कल्पना की है। इन आचार्यों में अग्निपुराणकार, दण्डी शिलामेघसेन रुद्रट भोज एवं संघरक्खित प्रमुख हैं। परवर्त्ती आलंकारिकों में वाग्भट (द्वितीय) ने भी इसी परं-

परा को स्वीकार किया है। आचार्य विश्वनाथ के 'क्वचित्समासाभावेऽपि रूपकं दृश्यते।' (सा. द. पृ. ५२६) वाक्य से अनुमान किया जा सकता है कि **समस्त असमस्त** नाम से रूपकालंकार के भेद न करते हुए भी उनकी दृष्टि में रूपक अलंकार के प्रसंग में समास करने और न करने का एक विशेष महत्त्व है।

रूपक अलंकार का एक अन्य विभाजन सामानाधिकरण्य और वैयधिकरण्य के आधार पर किया जा सकता है। पूर्व निर्दशित उदाहरणों में सामानाधिकरण्य विद्यमान है।

'विदधे मधुपश्रेणीमिह भ्रूलतया विधिः।'

इस पद्यांश में भ्रूलता पर मधुप श्रेणी का आरोप किया गया है, इनमें आरोपविषय वाचक 'भ्रूलता' पद तृतोया विभक्ति में प्रयुक्त है, जबकि आरोप्यमाण वाचक 'मधुप श्रेणी' पद द्वितीय विभक्ति में है। इस प्रकार यहां **वैयधिकरण्य** रूपक भेद माना जायेगा।

सौजन्याम्बुमरुस्थली सुचरितालेख्यद्युभित्तिर्गुणः
ज्योत्स्नाकृष्णचतुर्दशी सरलता योगश्वपुच्छच्छटा
यैरेषापि दुराशया कलियुगे राजावली सेविता
तेषां शूलिनि भक्तिमात्रसुलभे सेवा कियत्कौशलम् ।

इस पद्य में वैधर्म्यमूलक रूपक है, यहां राजावली पर मरुस्थली द्युभित्ति, कृष्ण चतुर्दशी एवं श्वपुच्छ का आरोप सौजन्य आदि पर अम्बु आदि के आरोप को हेतु मानकर किया गया है। एक आरोप विषय 'राजावली' पर मरुस्थली आदि अनेक आरोप होने से **परम्परित माला रूपक** अलंकार माना जाएगा। यहाँ हेतु रूपक सौजन्याम्बु राजावली में भाव रूप से विद्यमान न होकर अभाव रूप से विद्यमान है। इस अभाव को हेतुमानकर रूपक योजना होने के कारण इसे **वैधर्म्य रूपक** नामक भेद माना जाएगा।

श्लिष्ट रूपकों में कुछ उदाहरण ऐसे भी प्राप्त हैं, जो शब्द श्लेष पर आधारित हैं अर्थात् शब्द श्लेष का चमत्कार भी मूल रूप से रूपक अलंकार के मध्य में विद्यमान रहता है। शब्दश्लेष एक शब्दालंकार है, तथा उसके चमत्कार की प्रधानता के कारण यहाँ शब्द श्लेष अलंकार मानना चाहिए, तथापि उसके रूपकाश्रित

होने के कारण उसे रूपक अलंकार के अन्तर्गत ही माना जाता है। जैसा कि पहले स्पष्ट किया जा चुका है, प्रथमतः रूपक की उत्थापना के बाद श्लेष का उदय होने पर रूपक अलंकार ही माना जाता है श्लेष नहीं।

उपर्युक्त भेदक तत्त्वों के अतिरिक्त आरोप्यमाण और आरोप विषय के बीच गुणाधिक्य भी एक भेदक तत्त्व है, इसके अनुसार जिस प्रकार उपमान की अपेक्षा उपमेय में गुणाधिक्य होने पर **व्यतिरेक अलंकार** होता है, उसी प्रकार आरोप्यमाण की अपेक्षा आरोप विषय में गुणाधिक्य रहने पर **अधिकारूढ वैशिष्ट्य** नामक रूपक भेद विष्णु-धर्मोत्तर पुराणकार एवं विश्वनाथ आदि आचार्य स्वीकार करते हैं।

मूल लक्षण

भरत

स्वविकल्पेन रचितं तुल्यावयवलक्षणम् ।
किञ्चित्सादृश्यसम्पन्नं यद्रूपं रूपकं तु तत् ॥
नाना द्रव्यानुरागाद्यै र्यदौपम्यगुणाश्रयम् ।
रूपनिर्वर्णना युक्तं तद्रूपकमिति स्मृतम् ॥ —ना. शा. १८.५६-५७

विष्णुधर्मोत्तर पुराण

उपमानेन तुल्यत्वमुपमेयस्य रूपकम् ।
रूपकाभ्यधिकं नाम तदेवैकगुणाधिकम् ॥
—विष्णु. ध. पु. २४.४-५

अग्निपुराण

उपमैव तिरोभूतभेदा रूपकमेव वा ।
उपमानेन यत्तत्त्वमुपमेयस्य रूप्यते ।
गुणानां समतां दृष्ट्वा रूपकं नाम तद् विदुः ॥
—अग्नि पुराण ३४४.२२-२३

दण्डी

उपमैव तिरोभूतभेदा रूपकमुच्यते । —का. द. २.६६

भामह

उपमानेन यत्तत्त्वमुपमेयस्य रूप्यते ।
गुणानां समतां दृष्ट्वा रूपकं नाम तद् विदुः । —काव्या. २.११

शिलामेघसेन

उपमैव तिरोभूतभेदा रूपकमिष्यते । —सियवसलकुर ११३

उद्भट

श्रुत्या सम्बन्धविरहाद् यत्पदेन पदान्तरम् ।
गुणवृत्तिप्रधानेन युज्यते रूपकं तु तत् ॥

—काव्या. सा. सं. १.११

वामन

उपमानोपमेयस्य गुणसाम्यात्तत्त्वारोपो रूपकम् । —का. सू. वृ. ४.३.६

रुद्रट

यत्र गुणानां साम्ये सत्युपमानोपमेययोरभिदा ।
अविवक्षितसामान्या कल्प्यते इति रूपकं प्रथमम् ।
उपसर्जनोपमेयं कृत्वा तु समासमेतयोरुभयोः ।
यत्तु प्रयुज्यते तद्रूपकमन्यत्समासोक्तम् ॥

—काव्या. ८.३८.८४

भोज

यदोपमानशब्दानां गौणवृत्तिव्यपाश्रयात् ।
उपमेये भवेद् वृत्तिस्तदा तद् रूपकं विदुः ॥ —सर. कं. ४.२४

कुन्तक

उपचारैकसर्वस्वं यत्र (वस्तु) तत्साम्यमुद्वहत् ।
यदर्पयति रूपं स्वं वस्तु तद् रूपकं विदुः ॥ —वक्रो. ३.२०

मम्मट

तद्रूपकमभेदो य उपमानोपमेययोः । —का. प्र. सू. १३९. का. ९३

रुय्यक

अभेदप्रधान्ये आरोपे आरोपविषपानपह्नवे रूपकम् । —अलं. स. १५

वाग्भट्ट (प्रथम)

सादृश्यादभेदेनारोपो रूपकम् । —काव्यानु. पृ. ३५

हेमचन्द्र

सादृश्येऽभेदेनारोपो रूपकमेकानेकविषयम् । —काव्यानु. ६.५. सू. ११७

शोभाकर मित्र

आरोपो रूपकम् । (भिन्नयोः सामानाधिकरण्यनिदेशः आरोपः ।

—अलं. र. २६

जयदेव

यत्रोपमानचित्रेण सर्वथाप्युपरज्यते ।
उपमेयमयीभित्तिस्तत्र रूपकमिष्यते ॥ —चन्द्रा. ५.१८

विद्यानाथ

आरोपविषयस्य स्यादतिरोहितरूपिणः ।
उपञ्जकमारोप्यमाणं तद् रूपकं मतम् ॥ —प्रताप. ८.४६

संघरक्खित

उपमानोपमेयानं अभेदस्स निरूपना ।
उपमेव तिरोभूतभेदारूपकमुच्यते ॥ —सुबोधा. ३१३
परियन्तो विकप्पानं रूपकस्सोपमाय च ।
नत्थीयं तेन विञ्ञेयं अनुत्तमनुमानतो ॥ —सुबोधा. २२३

विद्याधर

तद् रूपकमारोपे यत्रापह्नूयते न तद् विषयः। —एकावली ८.६

विश्वनाथ

रूपकं रूपितारोपाद् विषये निरपह्नवे । —सा. द. १०.२८

अमृतानन्दयति

एकत्र रूपणं यत्स्यादुपमानोपमेययोः ।
रूपकं नाम तच्चापि बहुभेदयुतं यथा ॥ —अलं. सं.

वाग्भट्ट द्वितीय

रूपकं यत्र साधर्म्यादर्थयोरभिधा भवेत् । —वाग्भ. ४.६८

अप्पयदीक्षित

(१) बिम्बाविशिष्टे निर्दिष्टे विषये यद्यनिह्नुते ।
उपरञ्जकतामेति विषयी रूपकं तदा ॥

(२) अव्यङ्ग्यत्व विशेषणाच्चैतदेवालंकारभूतस्य रूपकस्य लक्षणम् ॥
—चित्र. पृ. १७१.१७३

(३) विषय्यभेदताद्रूप्यरञ्जनं विषयस्य यत्, रूपकम् । —कुवल. १.७

शौद्धोदनि

(लक्षण नहीं)
विरुद्धं च समस्तं च व्यस्तं रूपकरूपकम् ।
श्लिष्टं च रूपकं तस्मात्संक्षेपात्पञ्चधा स्मृतम् ॥
—अलं. का. ४.३.१. पृ. ३

केशवमिश्र

अतिसाम्यादनपह्नुत भेदयोरुपमानोपमेययोरभेद प्रत्ययो रूपकम् ।

—अलं. शे. पृ. ४३

लक्षणाप्यत्रैवान्तर्भवति उपमानोपमेययोरभेदप्रतिपत्तेरत्रापि सत्त्वात् ।

—अलं. शे. पृ. ३५

जगन्नाथ

उपमेयतावच्छेदकपुरस्कारेणोपमेये शब्दान्निश्चीयमानमुपमानतादात्म्यम् रूपकम् ।

—रसगं. भा. २.४४६

चिरञ्जीव

रूपकं स्यादैक्यबोधे उपमानोपमेययोः । —का. वि. २.१७

नरेन्द्रप्रभसूरि

भेदाभावेप्यसम्पन्नापह्नवे विषये निजम् ।
रूपमारोपयेद्यत्र विषयी रूपकं तु तत् ।। —अलं. मञ्जू. ८.१८

भावदेवसूरि

उपमित्युपमेयैक्यं रूपकम् । —का. सा. सं. ६.१२

श्रीकृष्ण ब्रह्मतन्त्र परकालस्वामी

यत्स्याद् विषयिरूपेण विषयस्योपरञ्जनम् ।
रूपकं तद् द्विधाऽभेदताद्रूप्यावसितं विदुः ।
आरोपे सत्यभेदस्याभेदरूपकमुच्यते ।। —अलं. मणि. ३.-३१

नरसिंह कवि

विषयानिह्नवेनान्यस्यारोपे रूपकं मतम् ।
(अस्य चारोपप्राणत्वात्सर्वेभ्यः सादृश्यमूलालंकारेभ्यो भिन्नमेव रूपकम् ।

—नञ्रा. पृ. १६९

विश्वेश्वर

तद्रूपकन्त्वभेदः स्यादुपमानोपमेययो र्यत्र । —अ. मु. १२

भट्टदेवशंकर

विषयोपमानीयाभेदताद्रूप्यरञ्जनम् ।
आधिक्यन्यूनता साम्ये रूपकं तत् त्रिधा मतम् । —अलं. मंजू. १. पृ. १६

वेणीदत्त

साम्यातिशयतो यः स्यादुपमानोपमेययोः ।
भेदधीकालिकोऽभेदारोपो रूपकमुच्यते ।। —अलं. म. ६. पृ. ११

रूपकातिशयोक्ति

रूपक और **अतिशयोक्ति** प्रायः सर्वस्वीकृत अलंकार है। दोनों में ही प्रकृत और अप्रकृत में अभेद विवक्षित रहता है। रूपक में प्रकृत (आरोप विषय) पर अप्रकृत (आरोप्यमाण) का आरोप करते हुए अभेद का कथन होता है, जबकि अतिशयोक्ति में आरोप्यमाण और आरोप विषय में अभेद का अध्यवसान होता है। रूपक अलंकार के भेदों में श्लिष्ट या अश्लिष्ट परम्परित तथा एकदेश विवर्त्ति या समस्तवस्तुविषय **सावयव** भेद होते हैं, जहां एक वाक्य में एक से अधिक रूपकों की योजना होती है, अर्थात् एकाधिक युग्मों में अभेद का आरोप होता है। ठीक इसी प्रकार जहाँ एकाधिक युग्मों में अभेद के अध्यवसान का निबन्धन हो वहाँ **रूपकातिशयोक्ति अलंकार** होता है। इस अलंकार को केवल जयदेव अप्पयदीक्षित एवं चिरञ्जीव ने स्वीकार किया है।

'पश्य नीलोत्पलद्वन्द्वान्निस्सरन्ति शिताः शराः।'

इस पद्य में प्रियतमा के नेत्रों पर नीलोत्पल का एवं नेत्रकटाक्षों पर शर का अभेद अध्यवसान किया गया है। अतः यहाँ **रूपकातिशयोक्ति** अलंकार माना जाता है।

मूल लक्षण

जयदेव

रूपकातिशयोक्तिश्चेद्रूप्यरूपकमध्यगम्। —चन्द्रालोक ५.४४

अप्पयदीक्षित

रूपकातिशयोक्तिः स्यान्निगीर्याध्यवसायतः। – कुवलयानन्द ३६

चिरञ्जीव

रूपकातिशयोक्तिः स्याद्रूपकाद्रूप्यनिर्णये ॥ —काव्यविलास २. २८

रोध

(आक्षेप अलंकार देखें)

रोध अलंकार की उद्भावना कब और किसने की है, यह कहना संभव नहीं है। संभवतः भोज से पूर्व कुछ आलंकारिक इसे स्वीकार करते रहे हैं। भोज ने नाम लेकर **आक्षेप अलंकार** में इसके अन्तर्भाव

का निर्देश किया है।

मूल लक्षण

रोधो नाऽऽक्षेपतः पृथक्। —सरस्वती कंठाभरण ४.६६

ललित

ललित अलंकार को केवल तीन आचार्य स्वीकार करते है, अप्पय-दीक्षित पंडितराज जगन्नाथ एवं भट्टदेवशंकर पुरोहित। इनके अनुसार वर्ण्य अर्थात् प्रकृत धर्मी का वर्णन प्रक्रान्त होने पर उसका वर्णन न करके उसके वृत्तान्त के प्रतिबिम्ब का अर्थात् अप्रकृत के व्यवहार का वर्णन करते हुए उसके सम्बन्ध का कथन होने पर **ललित अलंकार** होता है। इसके लक्षण में अप्पयदीक्षित एवं भट्टदेवशंकर ने 'वर्ण्य-वृत्तान्तप्रतिबिम्ब' शब्द द्वारा अप्रकृत के व्यवहार के सम्बन्ध का उल्लेख किया है। पंडितराज जगन्नाथ प्रतिबिम्बन की चर्चा न करके सीधे अप्रकृत व्यवहार के सम्बन्ध का कथन करते हैं।

क्व सूर्य प्रभवो वंशः क्व चाल्पविषया मतिः।
तितीर्षुः दुस्तरं मोहादुडुपेनास्मि सागरम् ॥

इस पद्य में सूर्यवंश के गुण गौरव की अनन्तता एवं अपना असामर्थ्य वर्ण्य है, किन्तु कवि ने प्रतिबिम्ब भूत नाविक के व्यवहारका वर्णन किया है, अतः यहाँ अप्पयदीक्षित आदि के अनुसार **ललित अलंकार** मानना चाहिए। अन्य आचार्य ऐसे स्थलों पर **निदर्शना अलंकार** स्वीकार करते हैं।

मूल लक्षण

अप्पयदीक्षित

वर्ण्ये स्याद् वर्ण्यवृत्तान्तप्रतिबिम्बस्य वर्णनम्। —कुवलयानन्द १२८

जगन्नाथ

प्रकृतधर्मिणि प्रकृतव्यवहारानुल्लेखेन निरूप्यमाणोऽप्रकृतव्यवहार-सम्बन्धो ललितालंकारः। —रसगंगाधर भाग ३. पृ. ७१२

भट्टदेवशंकर पुरोहित

प्रस्तुते वर्ण्यवाक्यार्थप्रतिबिम्बस्य वर्णनम्।
ललितालङ्कृतिः प्रोक्ता सर्वालंकार व्यापृता॥ —अलंकार मंजूषा ९९

श्रीकृष्णब्रह्मतन्त्र परकालस्वामी

धर्मिणि प्रस्तुते वर्ण्यवृत्तान्तोल्लेखनं विना ।
तत्र तत्प्रतिबिम्बस्य वर्णनं ललितं मतम् ॥ —अलं. मणि. १३४

लाटानुप्रास

लाटानुप्रास अलंकार के नाम में अनुप्रास शब्द का प्रयोग होने से प्राय: इस भ्रम की संभावना रहती है कि शायद यह अलंकार भी **छेकानुप्रास वृत्त्यनुप्रास** एवं **श्रुत्यनुप्रास** के समान अनुप्रास अलंकार का कोई प्रकार भेद हो। किन्तु लाटानुप्रास **अनुप्रास अलंकार** से पर्याप्त दूर अलंकार है। यह **अनुप्रास** को अपेक्षा **यमक** अलंकार के पर्याप्त निकट अलङ्कार कहा जा सकता है, यद्यपि इसकी स्थिति यमक से भी सर्वथा भिन्न है। **अनुप्रास** अलंकार में स्वरों में विषमता रहते हुए व्यंजन वर्णों में साम्य रहता है। अन्त्यानुप्रास में जहाँ पद की अन्तिम दो तीन चार ध्वनियों की स्वर सहित आवृत्ति भी होती है, वहाँ भी पूर्ण पद की आवृत्ति नहीं होती। दूसरे शब्दों में हम कह सकते हैं कि जिन ध्वनियों की आवृत्ति रहती है, उनके पूर्ण पद न होने के कारण उनसे किसी भी अर्थ की प्रतीति नहीं हो पाती।

यमक और लाटानुप्रास दोनों में समान रूप से सम्पूर्ण पद की आवृत्ति हुआ करती है। आवृत्त होने वाले पद (ध्वनि समूह) सार्थक होते हैं, निरर्थक नहीं। इन दोनों अलंकारों में परस्पर अन्तर यह है कि यमक में आवृत्ति की स्थिति में आवृत्त दोनों पदों के अर्थ परस्पर भिन्न रहते हैं एक नहीं, जबकि लाटानुप्रास में आवृत्ति होने पर एक सदृश सुनाई पड़ने वाले दोनों पदों में अर्थ (वाच्यार्थ) भी एक ही रहता है, भिन्न नहीं; केवल उनके तात्पर्यार्थ में भेद रहता है। तात्पर्य में भेद रहने के कारण यहां पुनरुक्ति दोष नहीं माना जाता। यथा:—

वदनं वरवर्णिन्यास्तस्याः सत्यं सुधाकरः ।
सुधाकरः क्व नु पुनः कलंकविकलो भवेत् ॥

प्रस्तुत पद्य में पूर्वार्ध के अन्त में प्रयुक्त चन्द्रमा वाचक 'सुधाकर' पद की उत्तरार्ध के प्रारम्भ में आवृत्ति हुई है। प्रथमार्थ में विद्यमान सुधाकर पद से समस्त गुण विशिष्ट चन्द्र अर्थ का बोध होता है,

जबकि उत्तरार्ध में प्रयुक्त सुधाकर पद तिरस्कार सहित चन्द्र अर्थ का बोध कराता है। इस प्रकार तात्पर्य भेद के कारण यहाँ शब्द की आवृत्ति में **लाटानुप्रास** माना जाएगा।

लाटानुप्रास पद से होने वाले इस सन्देह की चर्चा ऊपर की जा चुकी है कि शायद यह अलंकार अनुप्रास अलंकार का भेद हो, यह भ्रम केवल कल्पना मात्र नहीं है, बल्कि मम्मट जयदेव विश्वनाथ वाग्भट (वाग्भटालंकार के रचियता) तथा शौद्धोदनि और केशवमिश्र इसे **अनुप्रास** अलंकार के पाँचवें भेद के रूप में ही स्वीकार किया है।

इसके विपरीत भामह उद्भट, काव्यानुशासनकार वाग्भट हेमचन्द्र शोभाकर मित्र विद्यानाथ विद्याधर नरेन्द्रप्रभसूरि एवं भट्टदेवशंकर ने इसे पूर्णतया अनुप्रास से भिन्न स्वतन्त्र अलंकार के रूप में स्वीकार किया है।

मूल लक्षण

भामह

लाटीयमप्यनुप्रासमिहेच्छन्त्यपरे यथा। —काव्यालंकार २.८

उद्भट

स्वरूपार्थाविशेषेऽपि पुनरुक्तिफलान्तरात्।
शब्दानां वा पदानां लाटानुप्रास इष्यते ॥
—काव्यालंकार सारसंग्रह १. ८

मम्मट

शाब्दस्तु लाटानुप्रासो भेदे तात्पर्यमात्रतः ॥
—काव्य प्रकाश सू. ११२ का. ८१

वाग्भट (प्रथम)

सकृदसकृद्वा पदावृत्तिर्लाटानाम् (अनुप्रासभेद)। —काव्यानुशासन पृ. ५०

हेमचन्द्र

तात्पर्यमात्रभेदिनो नाम्नः पदस्य वा लाटानाम् ॥
—काव्यानुशासन सू. १०५

शोभाकरमित्र

तुल्याभिधेयभिन्नतात्पर्यशब्दावृत्तिर्लाटानुप्रासः ॥
—अलंकार रत्नाकर ५

जयदेव

लाटानुप्रासभू भिन्नाभिप्राया पुनरुक्तता ॥ —चन्द्रालोक ५. ४

विद्यानाथ

शब्दार्थयोः पौनरुक्त्यं यत्र तात्पर्यभेदवत् ।
स काव्यतात्पर्यविदां लाटानुप्रास इष्यते ॥ —प्रतापरुद्रीयम् ७.६

विद्याधर

तात्पर्यभेदयुक्तं लाटानुप्रास इत्यदः कथितम् । —एकावली ७. ५

वाग्भट (द्वितीय) (अनुप्रासभेदे) —वाग्भटालंकार

केशव मिश्र

असकृदावृत्तवर्णयोः लाटानुप्रासः ॥ (अनुप्रासभेद)
—अलंकार शेखर पृ. ३.

नरेन्द्रप्रभसूरि

एकवृत्ति-पृथग्वृत्ति-वृत्यवृत्ति स्थितिस्पृशाम् ।
भूयः साम्येऽपि तात्पर्यमात्रतो भेदशालिनाम् ।
नाम्नां यदि यमावृत्तिर्वृत्तिवर्जं पदस्य च ।
पदानां च स लाटानामनुप्रासः प्रकीर्त्यते ॥
—अलंकार महोदधि ७. १५-१६

भावदेव सूरि

तयोर्यत्पुनरुक्तिः स लाटानुप्रास इष्यते । —काव्या. सा. सं. पृ. १५७

भट्टदेवशंकर पुरोहित

पदार्थयोर भेदेस्याद्योजनामात्रभेदतः ।
विभिन्नशब्दधार्ये तु लाटानुप्रास ईरितः ॥—अलंकार मञ्जूषा पृ. ५-२१

लेश

प्राचीन आलंकारिकों में **लेश** विवादास्पद अलंकार रहा है। दण्डी इस अलंकार के दो स्वरूपों की चर्चा करते हैं, जबकि भामह हेतु और सूक्ष्म अलंकारों के साथ **लेश अलंकार** का नाम लेकर खण्डन करते है।[1] दण्डी के अनुसार **लेश अलंकार** में दो स्थितियाँ हो सकती हैं। पहली स्थिति में किसी वस्तु के स्वरूप का अल्पमात्रा में प्रकट

---

१. हेतुश्च सूक्ष्मलेशौ च नालंकारतया मतः ॥ काव्यालंकार (भामह) २.८६

होने पर उसका पूर्णतया निगूहन किया जाता है। इस अलंकार की दूसरी स्थिति में किसी को लेशमात्र स्तुति अथवा निन्दा की जाती है। प्रथम स्थिति में स्वरूप की अल्प प्रतीति होने पर उसका निगूहन मात्र होता है, निन्दा अथवा स्तुति नहीं। जबकि द्वितीय स्थिति में निन्दा अथवा स्तुति की ही विवक्षा रहती है। इस स्तुति और निन्दा में व्यक्ति अथवा वस्तु के स्वरूप की अल्प प्रतीति का विशेष महत्त्व नहीं होता, क्योंकि निन्दा में गुण में भी दोष का दर्शन तथा स्तुति में दोष में भी गुण का दर्शन सामान्यतः हो सकता है। व्यक्ति वस्तु का स्वरूप कुछ भी क्यों न हो।

परवर्ती आलंकारिकों में शिलामेघसेन रुद्रट भोज वाग्भट (काव्यानुशासनकार) अप्पयदीक्षित पंडितराज जगन्नाथ अमृतानन्द योगी एवं विश्वेश्वर पंडित ने स्वीकार किया है। इन आलंकारिकों में शिलामेघसेन एवं अमृतानन्द योगी दण्डी का अविकल अनुसरण करते हैं; जबकि रुद्रट आदि ने लेशतः स्तुति अथवा निन्दा को कुछ अधिक स्पष्ट करते हुए दोष को गुण के रूप में (स्तुति) अथवा गुण को दोष के रूप में (निन्दा) 'जहाँ वर्णित किया जाए', वहीं लेश अलंकार स्वीकार किया है। काव्यानुशासनकार वाग्भट ने इस विपरीत ग्रहण अर्थात् गुणों को दोष के रूप में एवं दोषों को गुणों के रूप में वर्णन करने के पीछे प्रयोजन अर्थात् कार्य को आवश्यक माना है। पंडितराज जगन्नाथ इस अलंकार में गुणों का अनिष्ट का साधक होना तथा दोषों का इष्ट का साधक होना भी आवश्यक माना है।

दोष का गुण रूप में तथा गुण का दोष रूप में ग्रहण होने से इस अलंकार के भेद तो निर्विवाद रूप से उन सभी आचार्यों द्वारा स्वीकृत है, जो इसे स्वीकार करते हैं, जबकि सरस्वती कंठाभरणकार भोज समास पूर्वक तथा समास के बिना वाक्य द्वारा कथन होने के आधार पर पुनः इसके दो भेद करते हैं। कुवलयानन्दकार अप्पयदीक्षित विषय के भिन्न और अभिन्न होने के आधार पर भी इस अलंकार के दो प्रकार स्वीकार करते हैं।

मूल लक्षण

दण्डी

(१) लेशो लेशेन निर्भिन्नवस्तु रूपनिगूहनम्। —काव्यादर्श २.२६५

(२) लेशमेके विदुर्निन्दां स्तुतिं वा लेशतः कृताम् ॥ —वही २.२६८

भामह

लेशो नालंकारतया मतः ॥ —काव्यालंकार ३.८६

शिलामेघसेन—दण्डी अनुकृत

रुद्रट

दोषीभावो यस्मिन् गुणस्य, दोषस्य वा गुणीभावः ।
अभिधीयते तथाविधकर्मनिमित्तः स लेशः स्यात् ॥ —काव्यालंकार ७.१०

भोज

दोषस्य यो गुणीभावे दोषीभावो गुणस्य च ।
स लेशः स्यात्ततो नान्या व्याजस्तुतिरपीष्यते ॥
—सरस्वतीकंठाभरण ४.५८

वाग्भट (प्रथम)

कार्यतो गुणदोषविपर्ययो लेशः ॥ —काव्यानुशासन पृ. ४३

अमृतानन्द योगी

वचसा चेष्टयार्थस्य गोपनं वा प्रकाशनम् ।
लेशमेके विदुर्निन्दां स्तुतिं वा लेशतः कृताम् ॥
—अलंकार संग्रह ५. ३४-३५

अप्पयदीक्षित

लेश. स्याद्दोषगुणयोर्गुणदोषत्वकल्पनम् ॥ —कुवलयानन्द १३८

पंडितराज जगन्नाथ

गुणस्यानिष्टसाधनतया दोषत्वेन, दोषस्येष्टसाधनतया गुणत्वेन च
वर्णनं लेशः । —रसगंगाधर भा. ३. पृ. ७५६

विश्वेश्वर

लेशः स्याद्दोषगुणयोर्गुणदोषत्वकल्पनम् ॥ —अलंकार मुक्तावली ५२

लोकोक्ति

लोकोक्ति शब्द और उसका तात्पर्य हिन्दी भाषा भाषियों में सुविदित है, उनके अनुसार सुविदित लोक प्रवाद को **लोकोक्ति** कहते है। काव्य सौन्दर्य के लिए जब इन लोक प्रवादों का काव्य में निबन्धन किया जाता है, तो उसे **लोकोक्ति अलंकार** कहते हैं। लोकोक्ति को अलंकार के रूप में केवल अप्पयदीक्षित नञराजयशोभूषणकार नर-

सिंह एवं अलंकार मंजूषाकार भट्टदेवशंकर पुरोहित ने स्वीकार किया हैं।

'सहस्व कतिचिन्मासान् मीलयित्वा विलोचने"

पद्य में 'मीलयित्वा विलोचने सहस्व' (आंखें बन्द करके सह लो) यह वाक्य लोक प्रवाद की अनुकृति रूप है, अतः इन आचार्यों के अनुसार यहां **लोकोक्ति अलंकार** माना जाएगा।

मूल लक्षण

अप्पयदीक्षित

लोक प्रवादानुकृतिः लोकोक्तिरिति भण्यते ॥ —कुवलयानन्द १५७

नरसिंह कवि

लोकप्रवादानुसृतिः लोकोक्तिरिति कथ्यते ।

—नञ्राजयशोभूषण पृ. २१८

भट्टदेवशंकर

लोकप्रवादानुकृतिं लोकोक्तिं विबुधाः विदुः ॥ —अलंकार मंजूषा १२२

परकाल स्वामी

लोकोक्तिस्यादसौ लोकप्रवादानुकृतिर्यदि । —अलंकार मणिहार १५७

वक्रोक्ति

वक्रोक्ति अलंकार के सम्बन्ध में काव्यशास्त्र के आचार्यों में पर्याप्त अस्पष्टता है। आचार्य दण्डी ने इसे स्वभावोक्ति के विपर्यय के रूप में स्वीकार करते हुए स्वभाव रहित समस्त वाङ्मय (काव्य) में अनुस्यूत माना है। आचार्य भामह भी समस्त अलंकारों के मूल में **वक्रोक्ति** को स्वीकार करते हुए प्रत्येक कवि को इसके लिए यत्नवान् रहने का परामर्श देते हैं। इसे देखते हुए यह सोचना अनुचित न होगा कि इन दोनों आचार्यों का **वक्रोक्ति** से अभीष्ट अलंकार न होकर वक्र कथन अर्थात् चारुत्वातिशय की प्रतीति के लिए कथन का एक विशिष्ट प्रकार है, जिसे कविगण व्यवहार में लाते हैं।

आचार्य वामन 'सादृश्याल्लक्षणा वक्रोक्तिः' (का.सू. वृ. ४.३.८) कहते हुए समस्त गौणी लक्षणा एवं रूपक अलंकार के क्षेत्र को

वक्रोक्ति में समाहित करते दिखाई पड़ते हैं।

वक्रोक्ति अलंकार के स्वरूप का स्पष्टीकरण बहुत कुछ आचार्य रुद्रट के अनन्तर हुआ है। यद्यपि लक्षण एवं भेदों के सम्बन्ध में प्रायः समानता होते हुए भी इसे शब्दालंकार माना जाये अथवा अर्थालंकार इस सम्बन्ध में आचार्यों में प्रायः वैमत्य रहा है। रुद्रट मम्मट हेम-चन्द्र विश्वनाथ वाग्भट (द्वितीय) केशवमिश्र नरेन्द्रप्रभसूरि एवं भावदेवसूरि इसे शब्दालंकारों में रखते हुए लक्षण देते हैं, जबकि रुय्यक जयदेव विद्यानाथ संघरक्षित विद्याधर अप्पयदीक्षित चिर-ञ्जीव नरसिंह कवि इसे अर्थालंकारों में रखते हुए इसकी परिभाषा करते हैं। भरत, विष्णुधर्मोत्तर पुराण तथा अग्निपुराण के लेखक, शिलामेघसेन उद्‌भट भोज कुन्तक वाग्भट (प्रथम) एवं पंडितराज जगन्नाथ आदि आचार्य इसके सम्बन्ध में मौन हैं।

रुद्रट और उनके उत्तरवर्त्ती वक्रोक्ति को स्वीकार करने वाले प्रायः सभी आचार्यों इस अलंकार के मूल में श्लेष अथवा काकु को अनिवार्य रूप से स्वीकार करते हैं। उनके अनुसार जब वक्ता द्वारा किसी अर्थ विशेष को प्रकट करने के लिए प्रयुक्त वाक्य से श्रोता मूल अभिप्राय को समझते हुए भी उससे भिन्न श्लेष अथवा काकु को आधार बनाकर उत्तर देता है, तो वहाँ वक्रोक्ति अलंकार होता है। गौतम के न्यायसूत्र में इसे वाक् छल कहा गया है।

इन आचार्यों के अनुसार श्लेष के सभङ्ग और अभङ्ग भेदों के आधार पर श्लेष वक्रोक्ति के दो प्रकार हो जाते हैं। वाग्भट द्वितीय एवं नरेन्द्रप्रभसूरि इन दोनों के अतिरिक्त काकु वक्रोक्ति की भी चर्चा करते हैं। काकु वह स्वराघात (बलाघात) है, जिसके कारण वाक्यगत पदों का सहज ही तात्पर्य भेद हो जाता है। (भिन्नकण्ठध्वनिर्धीरैः काकुरित्यभिधीयते। सा. द. पृ. ४४)

के यूयं, स्थल एव सम्प्रति वयं, प्रश्नो विशेषाश्रयः,
किं ब्रूषे, विहगः स वा फणिपतिः यत्रास्ति सुप्तो हरिः।
वामा यूयम्, अहो विडम्बरसिकः कीदृक्स्मरो वर्त्तते
येनास्मासु विवेकशून्यमनसः पुंस्येव योषिद्भ्रमः॥

इस पद्य में उपर्युक्त लक्षण के अनुसार **श्लेष वक्रोक्ति** अलंकार

है। इस पद्य के प्रथम चरणगत 'के' पद में प्रश्नकर्त्ता का इष्ट अर्थ 'कौन' (किम् पुल्लिंग प्रथमा बहुवचन) है; जब कि उत्तरदाता उसे जलवाची 'क' प्रातिपादिक का सप्तमी एकवचनान्तरूप मानकर 'जल में' इस अर्थ को मानकर उत्तर देता है कि हम तो जल में नहीं स्थल में ही हैं। प्रश्नकर्त्ता द्वारा पुन: 'प्रश्न का तात्पर्य कुछ अन्य 'विशेष' अर्थ में है कहने पर उत्तरदाता 'विशेष' शब्दगत 'वि' अंश को 'पक्षी' वाचक तथा 'शेष' अंश को 'नागराज' वाचक मानकर पुनः प्रश्न को अप्रासंगिक बताता है। प्रश्नकर्त्ता जब 'वामा:' पद का प्रयोग करते हुए 'तुम उल्टा सोचते हो' यह कहना चाहता है, तब पुन: उत्तरदाता 'वामा' पद का 'स्त्री' अर्थ लेकर उसका उपहास करता है।

इस प्रकार इस पद्य में **श्लेष वक्रोक्ति अलंकार** माना गया है। इसमें भी 'विशेष' पद के प्रसंग में **सभङ्गश्लेषमूला वक्रोक्ति** एवं शेष अंश में **अभङ्गश्लेषमूला वक्रोक्ति** अलंकार माना जाएगा।

इसी प्रकार:—

काले कोकिल वाचाले सहकार मनोहरे
कृतागस: परित्यागात्कस्याश्चेतो न दूयते।

पद्य में **काकु वक्रोक्ति** के माध्यम से निषेधार्थक नञ् 'अवश्यं दूयते' इस अर्थ की प्रतीति कराता है। अत: यहाँ **काकु वक्रोक्ति है।**

मूल लक्षण

रुद्रट

वक्त्रा तदन्यथोक्तं व्याचष्टेऽन्यथा तदुत्तरद: ।
वचनं यत्पदभङ्गैः ज्ञेया सा श्लेषवक्रोक्तिः ।
विस्पष्टं क्रियमाणादक्लिष्टा स्वरविशेषतो भवति।
अर्थान्तरप्रतीति यंत्रासौ काकुवक्रोक्तिः ॥

—काव्यालं. २.१५.१७

मम्मट

यदुक्तमन्यथा वाक्यमन्यथाऽन्येन योज्यते ।
श्लेषेण काक्वा वा ज्ञेया वा वक्रोक्तिस्तथा द्विधा ॥

—का. प्र. सू. १०६ का. ७६

वाग्भट्ट (प्रथम)

परोक्तस्य श्लेषेण काक्वा वाऽन्यथोक्तिर्वक्रोक्तिः ।

—काव्यानु. पृ. ४६

हेमचन्द्र

उक्तस्यान्येनान्यथा श्लेषादुक्तिः वक्रोक्तिः । —काव्यानु. सू. १११., ५.७

विश्वनाथ

अन्यस्यान्यार्थकं वाक्यमन्यथा योजयेद् यदि ।
अन्यः श्लेषेण काक्वा वा सा वक्रोक्तिस्ततो द्विधा ॥ —सा. द. १०.६

वाग्भट्ट (द्वितीय)

प्रस्तुतादपरं वाच्यमुपादायोत्तरप्रदः ।
भङ्गश्लेषमुखेनाह यत्र वक्रोक्तिरेव सा ॥ —वाग्भटालं. ४.१४

केशव मिश्र

अन्याभिप्रायेणोक्तं वाक्यमन्योन्यार्थकतया यद्योज्यते सा वक्रोक्तिः ।

—अलं. शे. पृ. २६

नरेन्द्रप्रभसूरि

वाक्यं यत्रान्यथैवोक्तमन्यो व्याकुरुतेऽन्यथा ।
काक्वा श्लेषेण वा तस्मात्सा वक्रोक्तिः द्विधा मता । —अलं. महो. ७.२३

भावदेवसूरि

वक्रोक्तिः श्लेषकाकुभ्याम् । —काव्यालं. सा. सं. ५.२

अर्थालंकार : वक्रोक्तिः

दण्डी

श्लेषः सर्वासु पुष्णाति प्रायो वक्रोक्तिषु श्रियम् ।
भिन्नं द्विधा स्वभावोक्तिर्वक्रोक्तिश्चेति वाङ्मयम् ॥

—का. द. २.३६३

भामह

सर्वैवातिशयोक्तिस्तु तर्कयेत्तां यथाक्रमम् ।
सैषा सर्वैव वक्रोक्तिरनयार्थो विभाव्यते ।
यत्नोऽस्यां कविना कार्यः कोऽलंकारोऽनया विना ॥ —काव्यालं. २.८४

वामन

सादृश्याल्लक्षणा वक्रोक्तिः । —का. सू. वृ. ४.३.८

रुय्यक

अन्यथोक्तस्य वाक्यस्य काकुश्लेषाभ्यामन्यथा योजनं वक्रोक्तिः।

—अलं. स. ७८

शोभाकर मित्र

अन्यथा सम्भावितयोः शव्दार्थयोरन्यथायोजनं वक्रोक्तिः। —अलं. र. १०५

जयदेव

वक्रोक्तिः श्लेषकाकुभ्यां वाच्यार्थान्तरकल्पनम्। —चन्द्रा. ५. १०६

विद्यानाथ

अन्यथोक्तस्य वाक्यस्य काक्वा श्लेषेण वा भवेत्।
अन्यथा योजनं यत्र सा वक्रोक्ति र्निगद्यते ॥

—प्रताप. ८. ११५

संघरक्खित

वुत्ति वत्थु सभावस्स या ञ्ञथा सा परा भवे।
तस्सानन्त विकप्पानं होति बीजोपदस्सनं।
....
एते भेदा समुद्दिट्ठा भावो जीवितमुच्यति।
बंकवुत्तिसु पोसेति सिलेसो तु सिरिं परं ॥

—सुबो. १६८,१७३

विद्याधर

वाक्यं यदन्योक्तं केनाप्यन्येन योज्यतेऽपरथा।
तत्काकुश्लेषाभ्यां यदि सा वक्रोक्तिस्तदा स्फुरति ॥ —एका. ८. ७१

अप्पयदीक्षित

वक्रोक्तिः श्लेषकाकुभ्यामपरार्थप्रकल्पनम्। —कुवल. १५९

चिरञ्जीव

वक्रोक्तिः श्लेषकाकुभ्यां वाच्यार्थान्तरकल्पने ॥ —काव्य वि. २. ५६

नरसिंह कवि

उक्तिसाम्येऽपि श्लेषगर्भत्व विशेषाद् वक्रोक्तिः।
[विद्यानाथ-कृतं लक्षणमपि समुद्धृतम्] —नञ्रा. पृ. १८०

वेणीदत्त

यदुक्तमन्यथा वाक्यमन्यथान्येन योज्यते।
वक्रोक्तिः सा परिज्ञेया श्लेषतः काकुतो द्विधा ॥ —अलं. मं.

वर्धमानक

वर्द्धमानक अलंकार क्रम भाव पर आश्रित अलंकार है। इसे केवल शोभाकर मित्र ने स्वीकार किया है। उनके अनुसार जहाँ एक अथवा अनेक पदार्थों का स्वरूपतः अथवा धर्म से उपचय निबद्ध हो, वहाँ **वर्द्धमानक अलंकार** मानना चाहिए। रुद्रट आदि आलंकारिकों ने उत्तरोत्तर उत्कर्ष का निबन्धन होने पर **सार अलंकार** माना है। शोभा करके अनुसार **सार अलंकार** का क्षेत्र अल्प है, जबकि वर्धमानक का विस्तृत, अतः **सार** का अन्तर्भाव **वर्द्धमानक** में हो जाता है। इसीलिए शोभाकर ने **सार** को पृथक् अलंकार नहीं माना है। क्योंकि सार अलंकार में एक पदार्थ में उत्तरोत्तर उत्कर्ष का निबन्धन नहीं किया जाता, जब कि वर्धमान में यह स्थिति भी हो सकती है।

> **"अतसीकुसुमप्रभं मुखे तदनु त्वत्कचमेचकद्युतिः ।**
> **अथ बालतमालमांसलं प्रसृतं सम्प्रति सर्वतस्तमः ॥"**
> **"राज्ये सारं वसुधा वसुन्धरायां पुरं पुरे सौधम् ।**
> **सौधे तल्पं तल्पे वराङ्गनाऽनङ्सर्वस्वम् ॥"**

इन पद्यों में से प्रथम में तमम् (अन्धकार) की उत्तरोत्तर वर्द्धमानता का निबन्धन है; जबकि द्वितीय में सुखदायित्वरूप धर्म का पृथक् पृथक् पदार्थों में उत्कर्ष अभिहित है। अतः शोभाकर के अनुसार इस पद्य में **वर्धमान अलंकार** मानना चाहिए। अन्य आचार्यों के अनुसार प्रथम पद्य गत सौन्दर्य की व्याख्या किसी अलंकार के नाम से नहीं की गयी है; जबकि द्वितीय पद्य में **सार अलंकार** माना गया है।

मूल लक्षण

शोभाकर

> रूपधर्माभ्यामाधिक्यं वर्धमानकम् ॥ —अलंकार रत्नाकर ६३
> अस्मिंश्च वर्धमाने सारोऽन्तर्भावमेति न पुनरिदम् ।
> अन्तर्भूतं सारे परिमितविषये महाविषयम् ॥ —वही पृ० १६३

वाकोवाक्य

(शब्दालंकार प्रश्नोत्तरिका देखें)

वाकोवाक्य अलंकार को केवल सरस्वती कण्ठाभरणकार भोज स्वीकार करते हैं। उनके अनुसार जहाँ उक्ति प्रत्युक्ति से युक्त वाक्यों

का निबन्धन किया जाए, वहां **वाकोवाक्य अलंकार** मानना चाहिए। विद्याधर इस स्थिति में प्रश्नोत्तरिका अलंकार स्वीकार करते हैं। प्रश्नोत्तरिका एवं प्रश्नोत्तर को कभी अभिन्न न समझना चाहिए। भोज एवं द्वितीय वाग्भट ने **प्रश्नोत्तर अलंकार** भी माना है। किन्तु प्रश्नोत्तर अलंकार में केवल प्रश्न के उत्तर का चमत्कार रहता है, जो कभी शब्दतः व्यक्त रहता है और कभी गूढ। जबकि प्रश्नोत्तरिका एवं वाकोवाक्य में प्रश्न और उत्तर के निबन्धन में चमत्कार रहा करता है।

भोज के अनुसार इसके पांच प्रकार हो सकते हैं—ऋजु-उक्ति, वक्र-उक्ति, गूढप्रश्नोक्ति, गूढोत्तरोक्ति एवं चित्रोक्ति।

मूल लक्षण

भोज

उक्तिप्रत्युक्तिमद्वाक्यं वाकोवाक्यं विदुर्बुधाः।
द्वयोर्वक्त्रोस्तदिच्छन्ति वहूनामपि संगमे ॥
—सरस्वती कंठाभरण २. १४७

यस्तु पर्यनुयोगस्य निर्भेदः क्रियते पदैः।
विदग्धगोष्ठयां वाक्यैर्वा तं हि प्रश्नोत्तरं विदुः ॥ —वही. २. १५२।

वाग्भट्ट (द्वितीय)

प्रश्ने यत्रोत्तरं व्यक्तं गूढं वाप्यथवोभयम्।
प्रश्नोत्तरम्...............। —वाग्भटालंकार ४. १४४

विद्याधर

इदं मतान्तरे वाकोवाक्यमिति प्रसिद्धम्।—एकावली वृत्ति ८. ६८

विकल्प

विकल्प अलंकार की उद्भावना सर्वप्रथम आचार्य रुय्यक ने की है। उनके अनुसार तुल्य बल वालों के एकत्र पाये जाने पर निषेध होने से जहाँ सभी का एकत्र रह पाना संभव न हो, वहाँ विकल्प अलंकार होता है। रुय्यक से पूर्व इस अलंकार की चर्चा किसी आचार्य ने नहीं की, इस तथ्य का संकेत रुय्यक स्वयं करते हैं (विकल्पाख्योलंकारः पूर्वैरकृतविवेकोऽत्र दर्शितः इत्यवगन्तव्यम्। अलं. स. पृ. २००)। जयरथ ने रुय्यक के इस कथन का समर्थन किया है (अनेनास्य ग्रन्थ-

कृदुपज्ञत्वमेव दर्शितम्। विमर्शिनी पृ० २००)। परवर्त्ती आलंकारिकों में शोभाकर मित्र नरेन्द्रप्रभसूरि विद्यानाथ विद्याधर विश्वनाथ अप्पयदीक्षित जगन्नाथ चिरंजीव ब्रह्मतन्त्र परकाल स्वामी भट्ट देव-शंकर पुरोहित नरसिंह कवि आदि आचार्यों ने **विकल्प अलंकार** को स्वीकार किया है। विकल्प अलंकार में दो विरुद्ध पदार्थों में विद्यमान रहने वाले औपम्य का ही चमत्कार रहता है, ऐसा रुय्यक जयरथ जगन्नाथ आदि सभी आचार्य स्वीकार करते हैं (औपम्यगर्भत्वाच्चात्र चारुत्वम्। अलं. स. पृ० १८८। यत्रैव औपम्यगर्भत्वं तत्रैवायमलंकारो नान्यथेति भावः। विमर्शिनी पृ. १०८। अत्र विकल्पमानयोरौपम्यम-लंकारताबीजम्, तदादायैव चमत्कारस्योल्लासात् अन्यथा तु विकल्पता मात्रम्। रसगं. ३. पृ. ६६१)

'पतत्यविरतं वारि नृत्यन्ति शिखिनो मुदा।
अद्य कान्तः कृतान्तो वा दुःखस्यान्तं करिष्यति ॥'

इस पद्य में विप्रलम्भ शृङ्गार के साथ दुःख के अन्तकर्त्ता के रूप में समान सामर्थ्ययुक्त कान्त और कृतान्त (यम) का निबन्धन विकल्प के रूप में निबद्ध है। अतः यहाँ विकल्प अलंकार माना जायेगा।

इसी प्रकार

'नमयन्तु शिरांसि धनूंषि वा कर्णपूरीक्रियन्तामाज्ञा मौर्व्यो वा।'

इस गद्य वाक्य को देख सकते हैं। यहाँ प्रतिपक्षी राजा द्वारा कार्य के रूप में 'धनुष' या 'शिर को झुकाना' दोनों समान बल हैं, क्योंकि प्रतिपक्षी राजा के साथ स्पर्धा के कारण सन्धि और विग्रह दोनों की सम्भावना की जा सकती है। ये दोनों ही कार्य परस्पर विरोधी हैं, अतः इनकी एक साथ प्रवृत्ति नहीं हो सकती, किन्तु इन दोनों की प्राप्ति एक साथ होने पर किसी अन्य विकल्प प्रकार की संभावना नहीं की जा सकती। अतः अन्यतम का ही विकल्प प्राप्त है। साथ ही शिर झुकाना एवं धनुष झुकाना क्रियाओं में सादृश्य है। अतः यहाँ विकल्प को अलंकार माना जाएगा। यही स्थिति वाक्यगत 'कर्णपूरीकरण' आदि में भी विद्यमान है (अत्र प्रति राजकार्ये नमने शिरसां धनुषां च तुल्यप्रमाणवशिष्टत्वम्। सन्धिविग्रहौ चात्र

क्रमेण तुल्यप्रमाणे प्रति राजविषयत्वेन स्पर्धया द्वयोरपि संभाव्यमानत्वात्। द्वौ चेमौ विरुद्धौ इति नास्ति तयोर्युगपत् प्राप्तिः। प्राप्नुवतश्चात्र युगपत्प्रकारान्तरस्यानाशंक्यत्वात्। ततश्च न्यायप्राप्तो विकल्पः। नमनकृतं च तयोः सादृश्यमित्यलंकारता। अलं. सं. पृ. २८९-९०)।

विकल्प अलंकार में तुल्यबल विरोध वाले पदों में विद्यमान सादृश्य ही चारुत्व का मूल है। सादृश्य के अभाव में केवल विकल्पों के निबन्धन से उसमें अलंकारत्व न माना जा सकेगा। इसीलिए—

निन्दन्तु नीति निपुणाः यदि वा स्तुवन्तु
लक्ष्मी समाविशतु गच्छतु वा यथेष्टम्।
अद्यैव वा मरणमस्तु युगान्तरे वा
न्याय्यात्पथः प्रविचलन्ति पदं न धीराः॥

इत्यादि पद्यों में सादृश्य न होने के कारण विकल्प का निबन्धन होने पर भी **विकल्प अलंकार** न माना जा सकेगा।

भक्तिप्रह्वविलोकनप्रणयिनी नीलोत्पलस्पर्धिनी
ध्यानालम्बनतां समाधिनिरतै र्नीते हितप्राप्तये।
लावण्यस्य महानिधी रसिकतां लक्ष्मी दृशोस्तन्वती
युष्माकं कुरुतां भवार्त्तिशमनं नेत्रे तनुर्वा हरेः॥
(सुभाषितावलि)

इस पद्य के चतुर्थ चरण में भवार्त्तिशमनं रूप कार्य के सम्पादन हेतु नेत्र और तनु में विकल्प का निबन्धन है। दोनों ही श्रेष्ठ हैं, अतः समान बलशाली हैं और प्रस्तुत भवार्त्तिशमन कार्य में सक्षम हैं। समान क्षमता के कारण ही विरोध होने से यहां **विकल्प अलंकार** है।

यहां प्रश्न हो सकता है कि यहाँ नेत्र और तनु में विरोध की सत्ता कैसे स्वीकार की जाए? इसका उत्तर यह है शरीर में नेत्र भी सम्मिलित है, अतः उन्हें पृथक् बताना उचित नहीं है। यहां उन्हें पृथक् बताना ही स्पर्धा (विरोध) का परिचायक है, क्योंकि स्पर्धा का होना ही विरोध का होना है। 'नेत्र अथवा समग्र शरीर' इस कथन का तात्पर्य समझ लेने पर विरोध स्पष्ट हो जाता है। यह विरोध भी यहां श्लेष द्वारा उत्थापित है, अतः यहां **श्लिष्ट विकल्प** अलंकार है (तनुमध्ये नेत्रयोः प्रविष्टत्वात्तयोः पृथगभिधानमेव न कार्यम्, कृतं च स्पर्धि-

भावमेव गमयति। स्पर्द्धिभावाच्च विरुद्धत्वम्। नेत्रे अथवा समस्तमेव शरीरमित्यर्थावगमे विरोधस्य सुप्रत्येयत्वाच्च । स चात्र श्लेषाच्छलिष्टः। (अलं. स. २९१-२९२)। स्मरणीय है कि इस पद्य के चतुर्थ चरण में निबद्ध 'कुरुतां' क्रियापद 'नेत्रे' पद से सम्बद्ध होने पर 'कृ' धातु लोट् परस्मैपद द्विवचन का तथा 'तनु' से सम्बद्ध होने पर उक्तलकार में ही आत्मने पद प्रथम पुरुष एकवचन का माना जाता है। इसी कारण श्लिष्ट है। इसी प्रकार 'प्रणयिनी' पद, जिसका मूल प्रातिपादिक 'प्रणयिन्' है, 'नेत्रे' का विशेषण होने पर नपुंसक लिङ्ग प्रथमा द्विवचन एवं 'तनु' का विशेषण होने पर स्त्रीलिङ्ग प्रथमा एक वचन का रूप होगा। अतः यह पद भी श्लिष्ट है।

मूल लक्षण

रुय्यक

तुल्यबलविरोधो विकल्पः । —अलं. सं. ६५

शोभाकर मित्र

विरुद्धयोस्तुल्यत्वे पाक्षिकत्वं विकल्पः । —अलं. र. ८८

विद्यानाथ

विरोधे तुल्यबलयोः विकल्पालंकृतिर्मता । —प्रताप. ८.२४०

विद्याधर

तुल्यप्रमाणवैशिष्ट्यात्प्राप्तावेकत्र यौगपद्येन ।
उभयोः समानबलयोः स्फुरति विरोधे विकल्प इत्युक्तः ॥—एका. ८.५६

विश्वनाथ

विकल्पस्तुल्यबलयो र्विरोधश्चातुरीयुतः । —सा. द. १०. ८३

अप्पयदीक्षित

विरोधे तुल्यबलयो र्विकल्पालंकृतिर्मता । —कुवल. ११४

पंडितराज जगन्नाथ

विरुद्धयोः पाक्षिकी प्राप्ति र्विकल्पः। —रसगं. भा. ३. पृ. ६६१

चिरञ्जीव

वाकाराद्यै र्विकल्पश्चेदलंकारः सं एव हि। —का. वि. २. ४९

नरेन्द्रप्रभ सूरि

विकल्पः स्याद् विरुद्धत्वे समानबलशालिनोः ।

—अलं. महो. ८. ५८

श्रीकृष्णब्रह्मतन्त्र परकालस्वामी

विकल्पः पाक्षिकप्राप्तिर्वर्ण्यते चेद् विद्धयोः । —अलं. मणि १२१

नरसिंह कवि

समप्रमाणवैशिष्ट्याद् युगपत्प्राप्तयोः क्वचित् ॥
विरोधश्चेत् सदृशयोः विकल्पस्स तु कथ्यते । —न०रा. पृ. २१४

भट्ट देवशंकर

विरोधे तुल्यबलयो विकल्पः क्रियते यदि ।
विकल्पालंकृतिस्तत्र सन्देहाद्धि विलक्षणा । —अलं. मंजू. ८६

विकल्पाभास

तुल्यबल विरोध का निबन्धन होने पर विकल्प अलङ्कार की उद्भावना आचार्य रुय्यक ने की थी, जिसे परवर्त्ती अधिकांश आलङ्कारिकों ने स्वीकार किया है, जिसकी चर्चा विकल्प अलङ्कार के प्रसङ्ग में हो चुकी है। **विकल्पाभास अलंकार** को शोभाकर मित्र के अतिरिक्त किसी आलङ्कारिक ने स्वीकार नहीं किया है। उनके अनुसार विकल्पित दो पक्षों में से अन्यतम के प्रति तात्पर्येच्छा का निबन्धन होने पर विकल्पाभास अलङ्कार होता है।

यथाः—

आपदां दर्शितः पन्था इन्द्रियाणामसंयमः ।
तज्जयः सम्पदां मार्गो येनेष्टं तेन गम्यताम् ॥

प्रस्तुत पद्य में इन्द्रियों का असंयम और इन्द्रियजय इन दो पक्षों में विकल्प आमुख में ही अवभासित होता है, क्योंकि वक्ता का तात्पर्य इन्द्रियजय के प्रति स्पष्टतः प्रतीत हो रहा है। अतः यहाँ विकल्पाभास अलङ्कार है।

मूल लक्षण

१. (क) विकल्पितयोर्विकल्पाभासः । —अ. र. सू. ५१

(ख) यत्र तु तुल्यप्रयोजनत्वं नास्ति तत्र विकल्पो विधीयमानो बाधितत्वाद्विशेषप्रतीत्यर्थं विकल्पवदवभासमानो विकल्पाभासः ।
—अ. र. पृ. ८६

विकस्वर

आचार्य जयदेव अप्पयदीक्षित परकालस्वामी विश्वेश्वर एवं भट्टदेवशंकर विकस्वर नामक अलंकार को अर्थान्तरन्यास से अतिरिक्त अलङ्कार स्वीकार करते हैं। इसमें विशेष का सामान्य से समर्थन करके उस सामान्य का पुनः अन्य विशेष से समर्थन किया जाता है, (यस्मिन्विशेषसामान्यविशेषाः स विकस्वरः। चन्द्रा. २.६७; कुव० १२४)। अर्थान्तरन्यास एवं विकस्वर में अन्तर यह है कि विकस्वर में प्रथम समर्थ्य विशेष अर्थ होता है जिसका समर्थन सामान्य से किया जाता है तथा पुनः उस सामान्य का अन्य विशेष से समर्थन होता है, जब कि अर्थान्तरन्यास में एक सामान्य और विशेष एक होता है तथा दोनों में अन्यतम समर्थ्य एवं शेष अन्य उसका समर्थक होता है।

वस्तुतः विकस्वर को स्वतन्त्र अलंकार न मानना चाहिए अपितु वह केवल दो अर्थान्तरन्यासों का ही प्रयोग है। दूसरे शब्दों में विकस्वर दो अर्थान्तरन्यास अलङ्कारों की ही संसृष्टि या संकर कही जा सकती है (एवं चार्थान्तरन्यासस्य तस्य (विकस्वरस्य) चार्थान्तरन्यास-प्रभेदयोश्च संसृष्ट्यैवोदाहरणानां त्वदुक्तानां गतार्थत्वे नवीनालंकार-स्वीकारानौचित्यात्। अन्यथोपमादिभेदानामनुग्राहकतया सन्निवेशोऽलंकारान्तरकल्पनापत्तेः। 'वीक्ष्य रामं घनश्यामं ननृतुः शिखिनो वने।' इत्यत्रोपमापोषितायां भ्रान्तावलंकारान्तरत्वप्रसंगाच्च। रसगं. ४७५)।

मूल लक्षण

जयदेव

यस्मिन् विशेषसामान्यविशेषाः स विकस्वरः। —चन्द्रा. २.६७

अप्पयदीक्षित

(जयदेव अनुकृत)। —कुव० १२४

परकालस्वामी

सामान्येन विशेषस्य क्रियते यत्समर्थनम्।
पुनस्तस्य विशेषेण स विकस्वर ईर्यते॥ —अलं. मणि. १३०

विश्वेश्वर

(जयदेव अनुकृत) —अलं. मु. पृ. ३५

भट्टदेवशंकर पुरोहित

समर्थनं विशेषस्य सामान्येनास्य तेन चेत् ।
उपमाविधया वार्थान्तरवत्स विकस्वरः ॥ —अलं. मंजू. ६५

वितर्क

(देखिये ऊह एवं संभावना अलंकार)

मूल लक्षण

जयदेव

सम्भावनं यदीत्थं स्यादित्यूहोऽन्यप्रसिद्धये । —चन्द्रालोक ५.४६

अप्पयदीक्षित

सम्भावना यदीत्थं स्याद् ऊहोऽन्यस्य सिद्धये ॥ —कुवलयानन्द १२६

चिरञ्जीव

संभावनं यदीत्थं स्यादित्यूहे सति जायते । —काव्यविलास २.३०

विचित्र

अभीष्ट फल की प्राप्ति के उद्देश्य से विपरीत कार्य में प्रवृत्ति का निबन्धन **विचित्र अलंकार** कहा जाता है। इस अलंकार की उद्भावना रुय्यक ने की है। उनके परवर्ती आचार्यों में शोभाकर जयदेव विद्याधर अप्पयदीक्षित नरेन्द्रप्रभ सूरि पंडितराज जगन्नाथ चिरंजीव एवं नरसिंह कवि आदि आचार्यों ने इस अलंकार की स्वीकृति में रुय्यक का अनुगमन किया है। इन सभी आचार्यों के द्वारा दिये गये लक्षण प्रायः समान है।

प्रणमत्युन्नतिहेतो र्जीवितहेतो र्विमुञ्चति प्राणान् ।
दुःखीयति सुखहेतोः को मूढः सेवकादन्यः ॥

प्रस्तुत पद्य में 'ऊपर उठने के लिए झुकना, अपने जीवन के लिए प्राणत्याग करना एवं सुख प्राप्ति के लिए दुःखी होना' वर्णित है । अभीष्ट फल की प्राप्ति के लिए सर्वथा विपरीत इन सभी कार्यों में प्रवृत्ति का निबन्धन होने से यहां विचित्र अलंकार माना जाएगा।

विचित्र अलंकार के प्रसङ्ग में यह प्रश्न हो सकता है कि इसे **विषम अलंकार** के प्रथम प्रकार से अभिन्न मानकर उसमें (विषम अलंकार में)

अन्तर्भुक्त क्यों न माना जाए ? क्योंकि उसमें भी कार्य से विरुद्ध क्रिया का निबन्धन होता है। इस आक्षेप का समाधान यह है कि विचित्र अलंकार में विपरीतता का ज्ञान स्व अर्थात् हेतु के निषेध के द्वारा होता है, जबकि विषम में विपरीत प्रतीति के द्वारा हेतु का निषेध होता है (न चायं प्रथमो विषमालंकारप्रकारः, स्वनिषेधमुखेन वैपरीत्य-प्रतीतेः। विपरीतप्रतीत्या तु स्वनिषेधः तस्य (विषमालंकारस्य) विषयः। यथा 'तमालनीला शरदिन्दुपाण्डु यशस्त्रिलोकाभरणं प्रसूते' इत्यादि। इह तु अन्यथा प्रतीतिः। अलं० स० पृ० १६८)। इसके अतिरिक्त जयरथ एवं पंडितराज जगन्नाथ ने इन दोनों अलंकारों के विभाजक तत्त्व के रूप में विचित्र में पुरुष के प्रयत्न की अपेक्षा, तथा विषम में उसका अभाव होना भी स्वीकार किया है (विषमे विरूपस्य कार्यस्य स्वयमेवोत्पत्तिरिह च तन्निष्पत्तये प्रयत्न इति स्थितोऽनयोः स्फुटो भेदः'। विमर्शिनी पृ० १६८। 'न च कारणाननुरूपं कार्यमिति विषमभेदोऽयं वाच्यः, विषमे पुरुषकृतेरनपेक्षणात् कार्यकारणगुणवैलक्षण्येनैव तद्भेदनिरूपणाच्च।' काव्यप्रकाश प्रदीप के टीकाकार (उद्योतकार) नागेश विचित्र को विषम से पृथक् मानने को प्रस्तुत नहीं हैं (एवमिष्टसिद्धयर्थमिष्टैषिणा क्रियमाणमिष्टविपरीतयत्नाचरण-मपि विषममेव, वाच्यप्रतीतिवेलायां योगवैषम्यप्रतीतेः। एतेनात्र विचित्रालंकारः पृथगित्यपास्तम्।' उद्योत पृ० १२४)।

मूल लक्षण

रुय्यक

स्वविपरीतफलनिष्पत्तये प्रयत्नो विचित्रम्।

—अलं० स० ४७ पृ० १६८

शोभाकर मित्र

विफलः प्रयत्नो विचित्रम्। —अलं० र० ६२

जयदेव

विचित्रं चेत्प्रयत्नः स्याद् विपरीतफलप्रदः। —चन्द्रा० ५.८०

विद्यानाथ

विचित्रं स्वविरुद्धस्य फलस्याप्त्यर्थमुद्यमः। —प्रताप० ८.१६१

विद्याधर

कारणविपरीतफलोत्पत्तौ यत्नो विचित्रम्। एका० ८.३६

विश्वनाथ

विचित्रं तद् विरुद्धस्य कृतिरिष्टफलाय चेत् । —सा० द० १०.७१

अप्पयदीक्षित

विचित्रं तत्प्रयत्नश्चेद् विपरीतफलेच्छया । —कुव० ६४

पंडितराज जगन्नाथ

इष्टसिद्धयर्थमिष्टैषिणा क्रियमाणमिष्टविपरीताचरणम् विचित्रम् ।
—रसगं० भा० ३ पृ० ५१५

चिरञ्जीव

विचित्रं चेत्प्रयत्नः स्याद् विपरीतफलप्रदः । —काव्य० वि० २.४३

नरेन्द्रप्रभसूरि

यस्मिन्निष्टस्य कार्यस्य सम्यग्निष्पत्तिहेतवे ।
तद् विरुद्धक्रियारम्भः तद् विचित्रमितीरितम् । —अलं० महो० ८.५८

नरसिंह कवि

विचित्रं स्याद् विरुद्धस्य फलप्राप्त्यै समुद्यमः । —नञ्रा० पृ० १६५

विदर्शना

(देखिये निदर्शना अलङ्कार)

विधि

विधि अलंकार को केवल चार आचार्यों ने स्वीकार किया है, वे हैं : शोभाकर मित्र परकाल स्वामी अप्पयदीक्षित एवं भट्टदेवशंकर। इनमें से शोभाकर मित्र के अनुसार जहाँ प्रेष्यप्रेषक भाव की संभावना के बिना भी प्रेषण का निबन्ध हो, वहाँ **विधि अलंकार** मानना चाहिए। इसके विपरीत अप्पयदीक्षित और भट्टदेवशंकर पुरोहित के अनुसार सिद्ध अर्थ का ही विधान जहाँ निबद्ध हो वहाँ **विधि अलंकार** होता है।

'पृथ्वि स्थिरा भव भुजङ्गम धारयैनां
त्वं कूर्मराज तदिदं द्वितयं दधीथाः ।
दिक्कुंजराः कुरुत तत्त्रितये दिधीषां
देवः करोति हरकार्मुकमाततज्यम् ॥'

प्रस्तुत पद्य में पृथ्वी आदि का प्रेष्य के रूप में निबन्धन किया गया

है, किन्तु वक्ता और पृथ्वी आदि के मध्य में प्रेष्य प्रेषक भाव असंभव है, अतः यहाँ शोभाकर के अनुसार **विधि अलंकार** होगा।

अप्पयदीक्षित एवं भट्टदेवशंकर पुरोहित के अनुसार—

'पञ्चमोदञ्चने काले कोकिलः कोकिलोऽभवत्।'

इत्यादि पद्य **विधि** का उदाहरण होगा, क्योंकि इस पद्य में सिद्ध अर्थ के साधन का निबन्धन हुआ है। मम्मट आदि ध्वनिवादी आचार्यों के अनुसार ऐसे स्थलों पर **अविवक्षित वाच्य ध्वनि** माननी चाहिए।

मूल लक्षण

शोभाकर मित्र

असंभाव्यहेतु फलप्रेषणं विधिः। —अलंकार रत्नाकार ८२

(अप्राप्त-प्राप्तिमात्रपर्यवसितो विधिः ॥

अप्पयदीक्षित

सिद्धस्यैव विधानं यत्तमाहुर्विध्यलंकृतिम् ॥ —कुवलयानन्द १६६

श्रीकृष्णब्रह्मतन्त्रपरकालस्वामी

सा विध्यलंकृतिर्यत्र सिद्धमेव विधीयते। —अलं. मणि. १६६

भट्ट देवशंकर पुरोहित

विधीयत सिद्धमेव वस्तु यत्र विधिर्मतः।
बाधिताद्विध्यलंकारात्पृथक् सत्प्रतिपक्षतः ॥ —अलंकार मंजूषा १३०

विध्याभास

विध्याभास अलङ्कार आक्षेप अलङ्कार के क्षेत्र का अलङ्कार है। आक्षेप के प्रकरण में विवेचित आक्षेप के तीन प्रकारों में उक्त अथवा वक्ष्यमाण का निषेध आभासित होता है। किन्तु इसके सर्वथा विपरीत जहां अनिष्ट का निषेध कर किसी अर्थ का आभासन होता है, वहां शोभाकर विद्याधर एवं विश्वनाथ **विध्याभास** अलङ्कार स्वीकार करते हैं। इस अलङ्कार में अनिष्ट का निषेध करके विशेष अर्थ की प्रतीति के लिए विधान (कथन) किया जाता है। किन्तु वह कथन अनुपपन्न होकर निषेध में ही पर्यवसित हो जाता है (यथेष्टस्येष्टत्वादेव निषेधोऽनुपपन्न एवमनिष्टत्वादेव विधानं नोपपद्यते। तत्क्रियमाणं प्रस्खलद्रूपत्वान्निषेधे पर्यवस्यति। अ. स. पृ० २२२)। आक्षेप अलं-

ङ्कार के प्रकारों में निषेधाभास से विधि रूप अर्थ की प्रतीति होती है, जबकि विध्याभास में निषेध रूप अर्थ की प्रतीति होती है। आचार्य रुय्यक के अनुसार यह आक्षेप अलङ्कार का एक प्रकार भेद है। जब कि शोभाकर विद्याधर एवं विश्वनाथ इसे एक स्वतन्त्र अलङ्कार मानते हैं।

'गच्छ गच्छसि चेत्कान्त पन्थानः सन्तु ते शिवाः।
ममापि जन्म तत्रैव भूयाद्यत्र गतो भवान्॥'

इस पद्य में नायिका द्वारा प्रिय के विदेश गमन रूप अनिष्ट के उपस्थित होने पर उसका विधि रूप से कथन किया गया है, जो अन्ततः निषेध में पर्यवसित होता है। अतः यहाँ **विध्याभास अलंकार** माना जाएगा।

मूल लक्षण

शोभाकर—अनिष्टविधानं विध्याभासः। —अ. र. ४९

विद्याधर—अनिष्ट विधानं विध्याभासः।

अनिष्टस्य तथार्थस्य विध्याभासः परोमतः। —एका. १०.६५

विश्वनाथ—अनिष्टस्य तथार्थस्य विध्याभासः परोमतः। —सा. द. १०.६५

विनोक्ति

विनोक्ति अलंकार का सर्वप्रथम विवेचन हमें मम्मट के काव्या-प्रकाश में मिलता है। मम्मट के अनन्तर रुय्यक शोभाकर जयदेव विद्यानाथ विद्याधर विश्वनाथ अप्पयदीक्षित नरेन्द्रप्रभ सूरि चिर-ञ्जीव विश्वेश्वर श्री कृष्ण ब्रह्मतन्त्र परकाल स्वामी नरसिंह कवि भट्टदेवशंकर पुरोहित एवं वेणीदत्त ने इसे स्वीकार किया है। विम-र्शिनीकार ने विनोक्ति अलङ्कार के प्रसंग में अलङ्कार भाष्यकार नाम से किसी अज्ञातनामा आचार्य का एक उद्धरण प्रस्तुत करते हुए विनोक्ति को उनके मत में स्वीकृत बताया है।

इस अलङ्कार में शोभनत्व एवं अशोभनत्व के भाव का मुख से कथन न करके अभाव मुख से कथन किया जाता है। इसका कारण यह है कि 'अन्य की निवृत्ति पूर्वक ही उसकी निवृत्ति होती है, इस तथ्य का द्योतन हो सके।' स्मरणीय है कि निषेध मुख से ही यहाँ विधि का प्रकाशन होता है। जिस प्रकार सहोक्ति अलङ्कार का चमत्कार सह

अर्थ और उसके वाचक सह शब्द में है, उसी प्रकार इस अलङ्कार का मुख्य चमत्कार बिना शब्द के प्रयोग में ही रहा करता है। यही कारण कि इस अलङ्कार में रम्यता और अरम्यता का निर्देश सदा ही 'बिना' पद का प्रयोग करते हुए किया जाता है।

विना जलदकालेन चन्द्रो निस्तन्द्रतां गतः।
विना ग्रीष्मोष्मणा मञ्जुर्वनराजिरजायत ॥

इस पद्यमें वर्षा के बिना चन्द्रमा की निर्मलता एवं बिना ग्रीष्म के वनराजि की कमनीयता का कथन किया गया है। इस प्रकार यहाँ एक के बिना दूसरे के साधुत्व की विवक्षा होने से **विनोक्ति** अलङ्कार माना जाता है।

इसी प्रकार—

अनुयान्त्या जनातीतं कान्तं साधु त्वया कृतम्।
का दिनश्री विनार्केण का निशा शशिना विना ॥

इस पद्य में सूर्य के बिना दिन की और चन्द्रमा के बिना रात्रि की शोभा का असाधुत्व कहा गया है। अतः यहाँ असाधुत्व विवक्षा से **विनोक्ति अलंकार** माना जाता है।

विनोक्ति अलंकार कभी कभी 'विना' पद के प्रयोग के बिना भी हो सकता है।

निरर्थकं जन्म गतं नलिन्याः यया न दृष्टं तुहिनांशु बिम्बम्।
उत्पत्तिरिन्दोरपि निष्फलैव दृष्टा विनिद्रा नलिनी न येन ॥

यहाँ बिना पद के विनयी विनार्थ का बोध होने से विनोक्ति अलङ्कार माना जाता है।

मूल लक्षण

मम्मट

विनोक्तिः सा विनान्येन यत्रान्यः सन्न नेतरः।

—का. प्र. सू. १७१ का. ११३

रुय्यक

विना कञ्चिदन्यस्य सदसत्त्वभावो विनोक्तिः। —अ. स. ३०

शोभाकर

विना कञ्चित्सदसत्त्वे विनोक्तिः। —अ. रत्ना. ४१

जयदेव

विनोक्तिश्चेद्विना किञ्चित्प्रस्तुतं हीनमुच्यते। —चन्द्रालोक

विद्यानाथ

विना सम्वन्धी यत्किञ्चिद्यत्रान्यस्य पराभवेत्।

अरम्यता रम्यता वा सा विनोक्तिरिति स्मृता॥

—प्रताप रुद्रयशोभूषण ८.११४

विद्याधर

ब्रूमोऽधुना सहोक्तिप्रतिभटोद्भूतां विनोक्त्यलंकारम्।—एकावली ८.२२

विश्वनाथ

विनोक्तिर्यद् विनान्येन न साध्वन्यदसाधु वा। —सा. द.

अप्पयदीक्षित

विनोक्तिश्चेद् विना किञ्चित्प्रस्तुतं हीनमुच्यते॥ —कुवलयानन्द ५६

तच्चेत्किञ्चिद् विना रम्यं विनोक्तिः सापि कथ्यते। —चि. मी. ६०

पंडितराज जगन्नाथ

विनार्थसम्बन्ध एव विनोक्तिः। —रसगंगाधर भा. ३. पृ. २१३

चिरञ्जीव

विनोक्तिश्चेद्विना किञ्चित्प्रस्तुतं हीनमुच्यते॥ —अ. वि. २.३४

नरेन्द्रप्रभसूरि

विना किञ्चिद् यदन्यस्य सत्त्वासत्त्वविपर्ययः विनोक्तिः।

—अ. महो. ८.४०

नरसिंह

विना सम्बन्धि यत्किञ्चिद्यत्रान्यस्य परापतेत्।

अरम्यता रम्यता वा सा विनोक्तिरनुस्मृता॥

—नञ्राजयशोभूषण पृ. १८४

विनोक्तिः विनार्थोक्तिर्या स्यादौपम्यगम्यता॥ —तदेव पृ. १८४

भट्टदेवशंकर पुरोहित

प्रस्तुतं चेद्विना किञ्चिद् विहीनं रम्यमेव वा।

वर्ण्यते तत्र गदिता विनोक्तिः शास्त्रकोविदैः॥ —अलंकार मजूषा ३६

वेणीदत्त

अन्यं विना यदान्यस्य स्यादशोभनता तदा।

विनोक्ति नामालंकारं व्याहरन्ति मनीषिणः॥ —अलंकार मञ्जरी १३२

विश्वेश्वर

यत्रान्येन विनान्योऽसाधुः साधुर्विनोक्तिः सा ।। —अ०मु० ३२

परकाल स्वामी

किञ्चिद्विना प्रस्तुतस्य रम्यताऽरम्यताऽपि वा ।
निबध्यते यदि तदा सा विनोक्तिरलंकृतिः ।। —अलं. मणि. ७४

विनोद

विनोद अलंकार को केवल शोभाकर ने स्वीकार किया है। उनके अनुसार असन्निहित अनुभूत अथवा अननुभूत अर्थ की अभिलाषा होने पर यदि प्रतिबिम्ब अथवा सदृश आदि अन्य वस्तु के अनुभव के द्वारा जहाँ उत्सुकता का निवारण निबद्ध हो, वहां **विनोद अलंकार** होता है।

'कोपादपावृतमुखीषु यत्र प्रियासु गोत्रस्खलितेन यूनाम्।
विनोदहेतुर्मणिभित्तिभागास्तद्भूमिकालम्बनतो भवन्ति ।।'

प्रस्तुत पद्य में गोत्रस्खलन के कारण कोपवती अतएव अपावृत-मुखी और इसी कारण असन्निहित होने पर अभिलष्यमाण प्रियाओं का मणिभित्ति में दर्शन करके उत्सुकता का निवारण निबद्ध है, अतः यहाँ **विनोद अलंकार** माना जाएगा।

मूल लक्षण

शोभाकर

अन्यासङ्गात्कुतुक विनोदो विनोदः ।। —अलंकार रत्नाकर २०

विपर्यय

विपर्यय अलंकार को केवल शोभाकर मित्र ने स्वीकार किया है, उनके अनुसार जहाँ उपात्त धर्म का धर्मी के रूप में अथवा धर्मी का धर्म के रूप में विनियम हो अथवा किसी के धर्म का दूसरे के धर्म से और दूसरे के धर्म का किसी अन्य के धर्म से विनिमय किया जाए तो वहाँ **विपर्यय अलंकार** माना जाता है। यह विनिमय दो प्रकार का हुआ करता है। परिवृत्ति अलङ्कार में स्वयं के ही किसी धर्म का त्याग और अन्य धर्म का स्वीकरण होता है, जबकि विपर्यय में अन्य

पदार्थों में धर्मों का अथवा धर्मधर्मी भाव का विनिमय होता है, यह दोनों में भेद है।

'काचो मणि मणिः काचो येषां तेऽन्ये हि देहिनः।
सन्ति ते सुधियो येषां काचः काचो मणिर्मणिः॥'

'अपूर्वेयं धनुर्विद्या भवता शिक्षिता कुतः।
मार्गणौघः समायाति गुणो याति दिगन्तरम्॥'

इन पद्यों में प्रथम में पूर्वार्ध में पहले काच का धर्मीभाव और मणि का धर्मभाव है जिसका पुनः विपर्यय निबद्ध है। तथा द्वितीय पद्य में प्रसिद्ध गुण का कान के निकट जाना एवं मार्गणों का दिगन्तर में गमन बदल कर विपरीत भाव से अर्थात् मार्गण का आना गुण (गुणों) का दिग्दिगन्त में जाना निबद्ध है, इस प्रकार प्रथम में धर्म धर्मिभाव का विनिमय होने से एवं द्वितीय में क्रिया का विनिमय होने से शोभाकर मित्र के अनुसार यहां **विपर्यय अलंकार** होगा।

मूल लक्षण

शोभाकर

धर्मिधर्मभावस्य धर्माणां वा विनिमयो विपर्ययः।

—अलंकार रत्नाकर ५७

विभावना

विभावना अलंकार भी प्राचीनतर एवं प्रायः सर्वस्वीकृत अलङ्कारों में से एक है। भरत एवं हेमचन्द्र को छोड़कर प्रायः सभी आचार्यों ने इस अलङ्कार को मान्यता प्रदान की है। इसके स्वरूप के सम्बन्ध में सामान्यतः आचार्यों में मतैक्य है। केवल शब्दों में ही थोड़ा बहुत अन्तर है। प्रायः सभी आलङ्कारिकों के अनुसार प्रसिद्ध हेतु के न रहने पर भी फल की अभिव्यक्ति का निबन्धन होने पर विभावना अलङ्कार माना जाता है। यहां प्रसिद्ध हेतु के न रहने पर जिस अन्य कारणान्तर का निबन्ध होता है, वह स्वाभाविक भी हो सकता है और काल्पनिक कारण भी।

इस अलङ्कार का यह विभावना नाम अन्वर्थ है, क्योंकि इसमें क्रिया का निषेध करने पर भी फल की विभावना होती है (विभावना-

ख्योऽलङ्कारः विशिष्टतया कार्यस्य विभावनात्। अलं. स. पृ. १५७। 'विशिष्टतया अस्यां कार्यस्य विभावनात् अन्वर्थाभिधाना विभावना' (एका. पृ. ३७९), विभाव्यते कारणान्तरं यस्याम् (अलं. चन्द्रिका. पृ. ९८), वैशिष्ट्येन कार्यभावनाद् विभावना (संजीवनी पृ. २३०)। रुय्यक के अनुसार विभावना के मूल में अतिशयोक्ति अनिवार्यतः रहा करती है (सा अतिशयोक्तिः) चास्यामव्यभिचारिणीति न तद् बाधेनास्या उत्थानम्। अपितु तदनुप्राणितत्वेन। अ. स. पृ. १५९)। पंडितराज जगन्नाथ भी इस तथ्य को स्वीकार करते हैं (एवं चास्मिन्नलङ्कारे सर्वत्रापि कार्यांशेऽभेदाध्यवसानरूपातिशयोक्तिरनुप्राणकतया स्थिता। तथा च पायसादिपिण्डवदेकीकृतस्य वस्तुतः सदृशवस्तुद्वयस्यैकावयवसम्बन्धिकारणव्यतिरेकसामानाधिकरण्येनापरावयवमादाय पर्यवसानं भवति। रसगं. भा. ३ पृ.४३६)

क्योंकि कार्य एवं कारण का नियत सम्बन्ध है, अर्थात् कारण के बिना कार्य की उत्पत्ति संभव नहीं है तथा यदि कार्य की उत्पत्ति हो रही है, तो वहां कारण अवश्य है, अतः कारण के बिना कार्य का होना संभव नहीं है, किन्तु यदि कोई वचन भङ्गिमा, किसी विशिष्ट कारण के अभाव को लेकर उपनिबद्ध होती है, तो ऐसे स्थलों पर अप्रस्तुत कारण वस्तुतः विद्यमान रहता है। अतएव कारण के बिना कार्य की उत्पत्ति होने में वास्तविक विरोध का परिहार हो जाता है। (इह कारणान्वयव्यतिरेकानुविधानात् कार्यस्य कारणान्तरेणासंभवः। अन्यथा विरोधो दुष्परिहारः स्यात्। यदा तु कयाचिद् भङ्ग्या तथाभाव उपनिबद्धयते. तदा विभावनाख्योलङ्कारः विशिष्टतया कार्यस्य भावनात्। सा च भङ्गिविशिष्टकारणाभावोपनिबद्धा। अप्रस्तुतं कारणं वस्तुतोऽस्ति इति विरोध परिहारः। अ. सं. पृ. १५७)

विभावना भेद—आचार्य दण्डी के अनुसार विभावना के दो प्रकार हैं: कारणान्तर विभावना एवं स्वाभाविक विभावना। आचार्य रुद्रट कार्य विकार एवं धर्म को विभाजक मानकर तीन प्रकार की विभावना मानते हैं (काव्या. ९. १६-२०)। सरस्वती कंठाभरणकार भोज शुद्धा चित्रा एवं विचित्रा भेद से विभावना के तीन प्रकार स्वीकार करते हैं (शुद्धा चित्रा विचित्रा च त्रिविधा सा निगद्यते। स.कं. ३-९०)।

अलङ्कार रत्नाकरकार शोभाकर के अनुसार विभावना **उक्त निमिता** अनुक्त-निमित्ता और अचिन्त्यनिमिता भेद से तीन प्रकार की है (इयं चोक्तनिमित्ताऽनुक्तनिमित्ता च । अनुक्तमपि चिन्त्या-चिन्त्यत्वेन द्विविधं निमित्तमिति त्रिभेदा। अ. र. पृ. ९३)। नरेन्द्रप्रभ-सूरि ने जाति गुण क्रिया एवं द्रव्य रूप कारणों के अभाव में कार्य की उत्पत्ति होने पर नैसर्गिक सौन्दर्य की विभावना होने एवं माला एवं शुद्धा रूप से निबन्धन होने से छ प्रकार की विभावना को स्वीकार किया है (अलं. महो. ८. ५४-५६)। इसके अतिरिक्त उन्होंने कारण के अभाव में एवं विरुद्ध कारण की उपस्थिति में भी कार्योत्पत्ति होने से विभावना अलङ्कार स्वीकार किया है। अप्पयदीक्षित ने कारण के बिना कार्य की उत्पत्ति, समग्र कारणों के बिना कार्य की उत्पत्ति, प्रतिबन्धक के रहने पर भी कार्योत्पत्ति, अकारण से कार्य की उत्पत्ति, विरुद्ध कारण से कार्योत्पत्ति एवं कार्य से कारण की उत्पत्ति भेद से **विभावना** के छ भेद किये हैं (कुव. ७७-८२)। विश्वनाथ कारणा-न्तर के उक्त अथवा अनुक्त रहने की स्थिति में ही विभावना मानते हैं, अतः उनके अनुसार इसके केवल दो ही प्रकार होंगे।

अनायासकृशं मध्यमशंकतरले दृशौ।
अभूषणनोहारि वपुर्वयसि सुभ्रुवः ॥

इस पद्य में मध्य (कटि) की कृशता के प्रसिद्ध कारण व्यायाम, नेत्र की तरलता के प्रसिद्ध कारण शंका एवं शरीर की मनोहारिता के प्रसिद्ध कारण अभूषणों के अभाव में भी कटि नेत्र एवं शरीर में क्रमशः कृशता तरलता एवं मनोहारितारूपी कार्यों की उत्पत्ति का कथन किया गया है। तथा कारणान्तर वयस् (यौवन) का कथन भी किया गया है। इसी पद्य में चतुर्थ चरण में 'वपुर्वयसि सुभ्रुवः' के स्थान पर 'वपुर्भाति मृगीदृशः' पाठ करने पर यह पद्य **अनुक्तनिमित्ता विभावना** का उदाहरण हो जाएगा। क्योंकि उक्त पाठ करने पर कार्योत्पत्ति का हेतु कारणान्तर 'वयस्' अनुक्त ही रहता है।

मूल लक्षण

विष्णुधर्मोत्तर पुराण —१४.१०

हेतुं विना विततां प्राप्ता सा तु विभावना।

अग्निपुराण

प्रसिद्धहेतुव्यावृत्त्या यत् किंचित्कारणान्तरम् ।
यत्र स्वाभाविकत्वं वा विभाव्यं सा विभावना ।।

—अग्नि पु. ३४४.२७-२८

दण्डी, शिलामेघसेन

प्रसिद्धहेतुव्यावृत्त्या यत् किंचित्कारणान्तरम् ।
यत्र स्वाभाविकत्वं वा विभाव्यं सा विभावना ।।

—का. द. २.१९९, सिय. व. ल. २१४

भामह, उद्भट

क्रियायाः प्रतिषेधे या तत्फलस्य विभावना ।
ज्ञेया विभावनैवासौ समाधौ सुलभे सति ।।

—काव्या. २.७७, का. सा. सं. २.६

रुद्रट— सेयं विभावनाख्या यस्यामुपलभ्यमानमभिधेयम् ।
अभिधीयते यतः स्यात्तत्कारणमन्तरेणैव ।।
यस्यां तथा विकारस्तत्कारणमन्तरेण सुव्यक्तः ।
प्रभवति वस्तु विशेषं विभावना सेयमन्या तु ।।
यस्य यथात्वं लोके प्रसिद्धमर्थस्य विद्यते तस्मात् ।
अन्यस्यापि यथात्वं यस्यामुच्येत सान्येयम् ।।

—काव्या. ९.१६,१८.२०

भोज

प्रसिद्धहेतुव्यावृत्त्या यत् किञ्चित्कारणान्तरम् ।
यत्र स्वाभाविकं वापि विभाव्यं सा विभापना ।। —स. कं. ३.९

कुन्तक

वर्णनीयस्य केनापि विशेषेण विभावना ।
स्वकारणपरित्यागपूर्वकं कान्तिसिद्धये ।। —वक्रो. ३.४१

मम्मट

क्रियायाः प्रतिषेधेऽपि फलव्यक्ति विभावना ।

—का. प्र. सू. १६२ का. १०७

रुय्यक—कारणाभावे कार्यस्योक्ति विभावना । —अलं. स. पृ. १५७

वाग्भट (प्रथम)

कारणाभावेऽपि कार्योपक्षेपो विभावना । —काव्यानु. पृ. ४२

शोभाकर

हेत्वभावे फलोत्पत्ति विभावना। —अलं. र. ५३

जयदेव

विभावना विनाऽपि स्यात्कारणं कार्यजन्म चेत् । —चन्द्रा. ५.७५

विद्यानाथ

कारणेन विना कार्यस्योत्पति: स्याद् विभावना। —प्रताप. ८.१५७

संघरक्खित

प्रसिद्धं कारणं यत्थ निवत्तेत्वा'ञ्ञकारणं ।
साभाविकत्तमथवा विभाव्यं सा विभावना॥ —सुबोधा० २५

विद्याधर

असति प्रसिद्धहेतौ कार्योत्पत्तिर्विभावना भवति। —एका. ३५

विश्वनाथ

विभावना विना हेतुं कार्योत्पत्ति र्यदुच्यते।
उक्तानुक्तनिमित्तत्वाद् द्विधा सा परिकीर्तिता॥ —सा. द. १०.६६

अमृतानन्दयोगी

स्वकारणनिराकृत्या कारणान्तरकल्पनम् ।
विभावना, स्वभावो वा विभाव्यो यत्र सा यथा ॥
—अलं. सं. ५.२७-२८

वाग्भट्ट (द्वितीय)

विना कारणसद्भावं यत्र कार्यस्य दर्शनम् ।
नैसर्गिकगुणोत्कर्षभावनात्सा विभावना ॥ —वाग्भटा. ४.९७

अप्पयदीक्षित

(१) विभावना विना स्यात्कारणं कार्यजन्म चेत्।
(२) हेतूनामसमग्रत्वे कार्योत्पत्तिश्च सा मता।
(३) कार्योत्पत्तिस्तृतीया स्यात्सत्यपि प्रतिबन्धके।
(४) अकारणात्कार्यजन्म चतुर्थी स्याद् विभावना।
(५) विरुद्धात्कार्यसम्पत्तिर्दृष्टा काचिद् विभावना।
(६) कार्यात्कारणजन्मापि दृष्टा काचिद् विभावना॥
—कुवल. ७७,७८,७९,८०,८१,८२

केशवमिश्र

कारणं विनापि कार्योदये विभावना। —अलं. शे. पृ. २९

जगन्नाथ

कारणव्यतिरेकसामानाधिकरण्येन प्रतिपाद्यमाना कार्योत्पत्तिः विभावना।
—रसगं. भा. ३ पृ. ४३३

चिरञ्जीव

विभावना विनापि स्यात्कारणं कार्यजन्म चेत् । —का. वि. २.४१

नरेन्द्रप्रभ सूरि

जात्यादीनामभावेऽपि कारणानां फलोदयात् ।
विभाव्यते चमत्कारकारणं कारणान्तरम् ।
यद्वा नैसर्गिकं यत्र सौन्दर्यं सा विभावना ।
अत्रापि कारणेऽभावस्तद् विरुद्धभवः क्वचित् ॥ —अलं. महो. ८.५४-५५

श्रीकृष्णब्रह्मतन्त्रपरकाल स्वामी

कारणव्यतिरेकेऽपि कार्योत्पत्तिर्विभावना ।
कारणानामसामग्र्ये कार्यजन्म च सा मता ॥ —अलं. मणि. ६५

भावदेवसूरि

प्रसिद्धहेत्वभावेऽपि फलव्यक्तिर्विभावना ॥ — काव्या. सं. ६.१८

नरसिंह कवि

कारणेन विना कार्यस्योत्पत्ति विभावना । — नञ्रा. पृ. १६४

विश्वेश्वर

हेतुं विनापि कार्यं यत्रोक्तं स्याद् विभावना सा तु । —अलं. मुक्ता. २६

भट्टदेवशंकर पुरोहित

कारणेन विना यत्र कार्योत्पत्तिर्निबध्यते ।
तथा समग्रहेतूनामसत्त्वेऽपि विभावना ।
प्रतिबन्धकसद्भावे कार्योत्पत्ति निंबध्यते ।
यत्र तत्रापि सा प्रोक्ताऽलंकारनयवेदिभिः ।
अकारणाद् विरुद्धाद्वा कार्योत्पत्ति निबध्यते ।
विभावनाद्वयं तत्र ज्ञेयमन्यद्विचक्षणैः ।
कार्यतश्चेत्कारणस्य जनिर्यत्र निबध्यते ।
तदापि तत्र सा प्रोक्ता षडेताः स्युः विभावनाः ॥ —अलं. मञ्जू. ५३-५६

वेणीदत्त

विनापि कारणं यत्र कार्योत्पत्ति निबध्यते ।
विभावनालंकारन्तु तत्र धीराः प्रचक्षते ॥ —अलं. मंज. १०६

विरोध

जाति गुण क्रिया एवं द्रव्यों का परस्पर अवभासमान विरोध, जो पर्यवसान में विरोध न रहे, विरोध अलङ्कार कहलाता है। जाति गुण क्रिया और द्रव्य के परस्पर विरोध की दस स्थितियां हो सकती हैं।

(१) जाति एवं जाति का परस्पर विरोध।
(२) जाति एवं गुण का परस्पर विरोध।
(३) जाति एवं क्रिया का परस्पर विरोध।
(४) जाति एवं द्रव्य का परस्पर विरोध।
(५) गुण एवं गुण का परस्पर विरोध।
(६) गुण एवं क्रिया का परस्पर विरोध।
(७) गुण एवं द्रव्य का परस्पर विरोध
(८) क्रिया एवं क्रिया का परस्पर विरोध
(९) क्रिया एवं द्रव्य का परस्पर विरोध
(१०) द्रव्य एवं द्रव्य का परस्पर विरोध

इन सभी स्थिति स्थितियों में विरोध अलङ्कार स्वीकार किया जाता है।

विरोध अलङ्कार भी प्राचीनतर अलङ्कारों में है, भरत एवं कुन्तक को छोड़कर प्रायः सभी आलङ्कारिकों ने इसे स्वीकार किया है। विरोध अलङ्कार कहाता है : विशेष सौन्दर्य के लिए परस्पर विरुद्ध पदार्थों के एकत्र संसर्ग का निबन्धन। (विरुद्धानां पदार्थानां यत्र संसर्ग दर्शनम्। विशेषदर्शनायैव स विरोध इति स्मृतः। का. द. २. ३३३) इस लक्षण में पदार्थ एवं संसर्ग पद के अर्थ में भले ही उतनी स्पष्टता न दिखाई दें किन्तु दण्डी कृत विरोध के प्रकार निर्देश को देखकर निश्चय ही यह कहा जा सकता है कि नवीन आचार्य एवं दण्डी परस्पर भिन्न नहीं हैं। विष्णुधर्मोत्तर पुराण के अनुसार कारण से अन्य फल की प्राप्ति विरुद्ध अलङ्कार है। (वि. पु. १४, १३. २३) अग्नि पुराण के अनुसार असंगत होते हुए दो पदार्थों का युक्तिपूर्वक संगतीकरण **विरोध** अलङ्कार कहाता है। अ. पु. ३४४.२८-२९) भोजकृत विरोध लक्षण अग्निपुराण गत लक्षण से पर्याप्त साम्य रखता

है। (स. क. ३, २४) भामह एवं उद्भट के अनुसार विशेषता बताने के लिए किसी गुण अथवा क्रिया के विरुद्ध अन्य गुण या क्रिया का वर्णन हो तो उसे विरोध अलङ्कार कहते हैं। भामह ने उपर्युक्त लक्षण के अनन्तर निम्नलिखित उदाहरण प्रस्तुत किया है :—

उपान्तरूढो पवनश्छाया शीतापि धूरसौ।
विदूरदेशानपि वः सन्तापयति विद्विषः। (काव्या. ३.२६)

उपर्युक्त उदाहरण में भिन्न देशस्थ शत्रुओं के सन्तापन का कार्य विवक्षित है, जो उत्तरकालीन आचार्यों द्वारा स्वीकृत असङ्गति का उदाहरण होना चाहिए। (विस्पष्टे समकालं कारणमन्यत्र कार्य-मन्यत्र। यस्यामुपलभ्येते विज्ञेयाऽसंगतिः सेयम्। का. अ. ६.४८) 'भिन्नदेशतयात्यन्तं कार्यकारणभूतयोः युगपद धर्म योर्यत्र ख्यातिः सा स्यादसंगतिः। का. प्र. १२४। तयोस्तु भिन्नदेशत्वेऽसंगतिः। अ. सं. ४४ पृ. १६३। तयोर्देशकालान्यत्वमसंगतिः। अ. स. ५५। इत्यादि) विरोध के उपर्युक्त लक्षण के साथ उद्भट ने निम्नलिखित उदाहरण प्रस्तुत किया है :—

'यद्वा मां किं करोम्येष वाचालयति विस्मयः।
भवत्याः क्वायमाकारः क्वेदं तपसि पाटवम्।'
(का. सा. सं. ५ उदा. ४)

परवर्ती आलङ्कारिकों के अनुसार यह उदाहरण विषम अलङ्कार का होना चाहिए।[1]

इसी प्रकार वामन ने 'विरुद्धाभासत्वं विरोधः' विरोध अलङ्कार का लक्षण दिया है यही लक्षण उत्तरकालीन आचार्यों ने प्रायः स्वीकार किया है। वामन ने विरोध अलङ्कार का निम्न उदाहरण प्रस्तुत किया है—

पीतं पानमिदं त्वयाद्य दयिते मत्तं ममेदं मनः
पत्रालिस्तव कुङ्कुमेन रचिता रक्ता वयं मानिनि !

---

१. The Present example of Udbhata—भवत्याः क्वायमाकारः क्वेदं तपसि पाटवम्' is an example of विषम. According to Mammat 'क्वचिद्यदति वैधर्म्यान्न श्लेषो घटनामियात्। (काव्य. प्र. १९४)—नारायणदास वाणहट्टी Notes on काव्यालङ्कार सारसंग्रह।

त्वं तुङ्गस्तनभारमन्थरगतिर्गात्रेषु मे वेपथः
त्वन्मध्ये तनुता ममाधृतिरहो ! मारस्य चित्रा गतिः।

अथवा—

सा बाला वयम प्रगल्भमनसः सा स्त्री वयं कातराः,
सा पीनोन्नतिमत्पयोधर युगं धत्ते सखेदाः वयम्।
साऽऽक्रान्ता जघनस्थलेन गुरुणा गन्तुं न शक्ताः वयम्
दोषैरन्यजनाश्रितैरपटवो जाता स्म इत्यद्भुतम्॥

(पृ. १३३-३४)

वामन द्वारा उपस्थित दोनों ही उदाहरण मम्मट तथा अन्य परवर्ती आलङ्कारिकों के अनुसार असंगति के सिद्ध होते हैं। (असंगति का लक्षण ऊपर की पक्तियों में उद्धृत है।) इसे देखकर यह अनुमान करना अनुचित न होगा कि विरोध अलङ्कार के प्रसंग में भामह उद्भट वामन आदि स्वयं में अधिक स्पष्ट न थे। अथवा उस समय तक इस अलङ्कार का स्पष्ट स्वरूप निर्धारित न हो सका था। यही कारण है कि भोज ने असङ्गति प्रत्यनीक अधिक और विषम अलङ्कारों को विरोध के अन्तर्गत ही परिगणित करना आवश्यक समझा है (विरोधस्तु पदार्थानां परस्परमसंगतिः। असंगति प्रत्यनीकमधिकं विषमश्च सः। सं. कं. ३.२४)। असंगति प्रत्यनीक अधिक और विषम अलंकारों का सर्वप्रथम विवेचन हमें रुद्रट के काव्यालंकार में मिलता है। मम्मट ने इन अलङ्कारों के लक्षण रुद्रट से प्राप्त करके उन्हें पूर्ण परिष्कृत किया है, जो परवर्ती सभी आलङ्कारिकों द्वारा प्रायः स्वीकृत हैं। (इन अलङ्कारों का विवेचन यथावसर द्रष्टव्य है।)

विरोध अलङ्कारों का सुस्पष्ट स्वरूप हमें मम्मट के काव्यप्रकाश में मिलता है। उनके अनुसार वास्तविक विरोध न होने पर भी जब पदार्थों का विरुद्ध भाव से कथन किया जाता है अर्थात् उपनिबद्ध पदार्थों में परस्पर विरोध आभासित होता है, वहां विरोध अलङ्कार माना जाता है। (विरोधः सोऽविरोधेऽपि बिरुद्धत्वेन यद्वचः। का. प्र. का. ११०)। (वृत्ति) वस्तुवृत्तेनाविरोधेऽपि विरुद्धयोरिव यदभिधानं स विरोधः। का. प्र. पृ. ७२५)। रुय्यक ने इसी लक्षण को और स्पष्ट तथा संक्षिप्त करके प्रस्तुत किया है। उनकी भाषा में विरुद्ध रूप से आभासित होना

विरोध अलङ्कार है। यहाँ लक्षण में आभासत्व पद के प्रयोग से यह स्पष्ट है कि विरोध वास्तविक नहीं होना चाहिए । समाधान के अभाव में विरोध महान् दोष माना जायगा (स च समाधानं बिना प्ररुढो दोषः । अ. स. पृ. १५४) विरोधाभास की यही परिभाषा हेमचन्द्र (काव्यानु. ६, १२) शोभाकर (अ. र. ५२), नरेन्द्रप्रभ सूरि (अ. म. ८. ४६) विद्यानाथ (प्रताप. ८.१४१) विद्याधर (एका. ८. ३३) वाग्भट द्वितीय (वाग्भ. ४.१२१) पंडितराज जगन्नाथ (रसगं. ३ पृ. ४११) एवं नरसिंह कवि (न॰रा. पृ. १६०) आदि परवर्ती आलङ्कारिकों द्वारा स्वीकृत हुई है। विरोधालङ्कार में विरोध की इस आभासमानता के कारण अप्पयदीक्षित (कुवल. ७६) एवं चिरञ्जीव (का. वि २.३८) ने इसे विरोधाभास अलंकार के नाम से ही माना है। नरसिंह ने प्राचीन आचार्यों के 'अनुरोध' से लक्षण में विरोध नाम देकर भी व्याख्या में विरोधाभास नाम का प्रयोग किया है। विश्वनाथ भी 'विरुद्धमिव भासेत विरोधोऽसौ दशाकृतिः' कहते हुए विरोधाभासता को ही विरुद्ध अलङ्कार का लक्षण माना है ।

विरोध के भेद

जाति आदि की परस्पर विरोध की जिन स्थितियों का वर्णन प्रारम्भ में किया गया है, उन स्थितियों में विरोध का एक एक प्रकार मानकर दण्डी शिलामेघसेन, मम्मट, रुय्यक, जयदेव, नरेन्द्रप्रभसूरि, विद्यानाथ, विद्याधर, जगन्नाथ एवं नरसिंह आदि ने विरोध के दस प्रकार स्वीकार किये हैं। रुद्रट एवं शोभाकर के उपर्युक्त दस भेदों में भी सजातीय एवं विजातीय भेद से दो दो प्रकार माने हैं। इस प्रकार उनके अनुसार कुल बीस प्रकार होंगे। असंगति-विरोध, प्रत्यनीक-विरोध, अधिक-विरोध, विषम-विरोध, विधिविषय-विरोध, अविधि-विषय-विरोध, उभयविषय-विरोध, अनुभयविषय-विरोध आदि भेद स्वीकार किये हैं। केशव मिश्र ने इसके विरोध और विरोधाभास नाम से केवल दो भेद किये हैं। जगन्नाथ पूर्वोक्त दस भेदों में चारुत्व स्वीकार नहीं करते। अतएव वे उनका परिगणन एवं उदाहरण प्रस्तुत करके भी शुद्ध और श्लेष मूल भेद से केवल दो भेद मानना चाहते हैं (वस्तुतो जात्यादिभेदानामहृद्यत्वाच्छुद्धत्व-श्लेषमूलत्वाभ्यां

द्विविधो ज्ञेयः। (रसगं. भा. ३. पृ. ४१८)

तव विरहे हरिणाक्षी निरीक्ष्य नवमालिकां दलिताम्।
हन्त नितान्तमिदानीमाः किं हत जल्पितैरथवा ।।

इस पद्य के प्रथम चरण में दो जातियां मलयमरुत् एवं दावानल में परस्पर विरोध प्रतीत होता है, किन्तु विरह वेदनावश मलय मरुत भी दावानल के समान तापजनक हो रहा है इस अर्थ की पर्यवसान में प्रतीति होने से यहां जाति का जाति से विरोध है। द्वितीय चरण में चन्द्र की किरण को उष्मा सहित कहा गया है। जबकि चन्द्र किरणों का सुशीत गुण सर्व विदित है, अतः इस अंश में जाति और गुण में परस्पर विरोध प्रतीत होता है। तृतीय चरण में अलिरुत (भ्रमर के गुञ्जार) द्वारा हृदय विदीर्ण होना कथित है। भ्रमर गुञ्जन से भेदन क्रिया संभव न होने से यहाँ जाति एवं क्रिया का विरोध प्रतीत होता है, इसी प्रकार चतुर्थ चरण में नलिनी दलों को इसके (विरहिणी नायिका के) लिए ग्रीष्मकालीन सूर्य कहा गया है। अतः यहाँ जाति और द्रव्य का विरोध प्रतीति होता है, जबकि इन स्थलों में (द्वितीय तृतीय एवं चतुर्थ चरणों में) विरह वेदना के कारण क्रमशः चन्द्रकिरणें भी तापक (पीड़ा जनक) भ्रमर गुञ्जार भी हृदय भेदक अर्थात् दुःख-दायक तथा नलिनी पत्र भी ग्रीष्मकालीन सूर्य के समान तापदायक अर्थात् पीड़ा पहुँचाने वाले प्रतीत होते हैं, इस अर्थ की पर्यवसान में प्रतीत होती है। यहाँ ध्यान देने योग्य है कि मलयमरुत दावानल चन्द्रकिरणें भ्रमर गुञ्जार एवं नलिनी दल एक व्यक्ति के रूप में गृहीत न होकर अनेक व्यक्तियों के रूप में गृहीत हो रहे हैं, अतः इन्हें जाति पदार्थ माना गया है। जबकि निदाघ सूर्य केवल एक व्यक्ति ही गृहीत होता है, अनेक सूर्य समूह के रूप में उसका ग्रहण नहीं होता, अतः उसे द्रव्य के रूप में स्वीकार किया गया है।

सततं मुसलासक्ता बहुतरगृहकर्मघटनया नृपते !
द्विजपत्नीनां कठिनाः सति भवति कराः सरोजसुकुमाराः ।।

इस पद्य को मम्मट ने विरोधालंकार के प्रसंग में ही उद्धृत किया है, किन्तु वहां 'सततं मुसलाऽसङ्गाः' पाठ प्राप्त है, जो अपेक्षाकृत अधिक उत्तम भी है। इस पद्य में कठिनत्व एवं सुकुमारत्व दो गुणों

में परस्पर विरोध है, जिसकी निवृत्ति प्रकृत राजा के दान से ब्राह्मणियों की गृह व्यापार से निवृत्ति होने पर कालभेद से हो जाती है।

अजस्य गृह्णतो जन्म निरीहस्य हतद्विषः।
स्वपतो जागरूकस्य याथार्थ्यं वेद कस्तव॥

(रघुवंश १०.२४)

पद्य में 'अज' अर्थात् जन्म न लेना गुण का 'जन्मगृह्णतः' अर्थात् जन्म ग्रहण करते हुए (जन्म ग्रहण करना) क्रिया के साथ विरोध प्रतीत होकर ईश्वर की सर्वशक्तिमत्ता की प्रतीति से निवृत होता है।

वल्लभोत्सङ्गसङ्गेन विना हरिणचक्षुषः।
राकाविभावरीजानि विषज्वाला कुलोऽभवत्॥

इस पद्य में पूर्णचन्द्र द्रव्य का ज्वालाकुलत्व गुण के साथ विरोध होता है। जिसकी निवृत्ति 'विरहावस्था में पूर्णचन्द्र उद्दीपन होने के कारण अतिशय दुःखदायी होता है, इस सर्वकविस्वीकृत अनुभवजन्य बोध से होती है। चन्द्रके एक होने के कारण चन्द्र को यहां व्यक्ति अर्थात् द्रव्य के रूप में ग्रहण किया गया है, जाति के रूप में नहीं।

नयनयुगासेचनकं मानसवृत्त्याऽपि दुष्प्रापम्।
रूपमिदं मदिराक्ष्या मदयति हृदयं दुनोति च मे॥

इस पद्य में मदयति एवं दुनोति इन दो क्रियाओं में परस्पर विरोध प्रतीत होता है। इसकी निवृत्ति भी विरहावस्था में नायिका का रूप एक साथ ही मतवाला बनाने और पीड़ा पहुंचाने का हेतु होता है, इस तथ्य बोध से हो जाती है।

त्वद् वाजिराजिनिर्धूतधूलीपटलपंकिलाम्।
न धत्ते शिरसा गंगां भूरिभारभिया हरः॥

यह पद्य अर्थान्तरन्यास अलंकार के उदाहरण के रूप में यथावसर उद्धृत हुआ है। इस पद्य में गंगा को सिर पर 'धारण नहीं कर रहा है' क्रिया तथा 'हर' द्रव्य का परस्पर विरोध होने से क्रिया और द्रव्य का विरोध है। इसी प्रकार पूर्व उदाहृत 'वल्लभोत्सङ्ग' इत्यादि पद्य के चतुर्थ चरण को 'मध्यन्दिन दिनाधिप' के रूप में परिवर्तित कर देने पर 'राकाविभावरीजानिः' अर्थात् चन्द्रमा एवं 'मध्यन्दिन

दिनाधिप' अर्थात् मध्याह्न सूर्य इन दो द्रव्य में परस्पर विरोध होने से द्रव्य का द्रव्य से विरोध का उदाहरण देखा जा सकता है।

बहुधा विरोध अलंकार के साथ विभावना और विशेषोक्ति के लक्षण को अतिव्याप्ति का भ्रम होने की संभावना रहती है, किन्तु वस्तुतः तीनों ही अलंकार परस्पर भिन्न है, उनके भेदक तत्त्व अलग अलग हैं।

इस भ्रम का कारण इन तीनों अलंकारों में (विभावना विशेषोक्ति और विरोध अलंकारों में) सामान्य उपादान तत्त्व विरोध की प्रतीति है। यह विरोध नित्य विरोध न होकर प्रयोजन विशेष से कवि कौशल-वश केवल आभासित भर होता है। विरोध अलंकार के प्रसंग में पण्डितराज जगन्नाथ ने इसे इन शब्दों में स्पष्ट किया है :— 'एकाधिकरणासम्बद्धत्वेन प्रतिपादितयोरर्थयोर्भासमानैकाधिकरणासम्बद्धत्वम्, एकाधिकरणासम्बद्धत्वभानं वा विरोधः। स च प्ररूढोऽप्ररूढश्च। प्ररोहश्च बाधबुद्ध्यनभिभूतत्वम्। तद्वैपरीत्यमप्ररोहः। तत्राद्यो दोषस्य विषयः, द्वितीयश्चालंकारस्य। अतएव विरोधाभासमाचक्षते। आ ईषद् भासते इत्याभासः। विरोधश्चासावाभासश्चेति। आमुख एव प्रतीयमानो झगिति जायमानविरोधबुद्धितिरस्कृत इति यावत्। रसगं. भा. ३ पृ. ८११-१२।

यह सामान्य 'विरोध' **विरोध अलंकार** का विषय है, जो कि एक व्यापक तत्त्व है। विरोध कभी कार्यकारण भाव आदि के ज्ञान से सम्पृक्त रह सकता है और कभी असम्पृक्त। कार्यकारण भाव आदि सम्पृक्त विरोध सामान्य विरोध न होने से विरोध अलंकार का विषय न होगा। (तत्रापि कार्यकारणबुद्ध्यनालीढो विरोधाभासो विरोधालंकारः। तदालीढस्तु विभावनादि वंक्ष्यामः। रसगंगाधर) ऐसी स्थिति में विभावना या विशेषोक्ति अलंकार माना जाता है। इस प्रकार विरोध का क्षेत्र उत्सर्ग तथा विभावना एवं विशेषोक्ति का क्षेत्र अपवाद कहा जा सकता है। तथा 'अपवाद विषय परिहारेण उत्सर्गस्य स्यादवस्थितिः' इस नियम अथवा 'प्रकल्प्य चापवादविषयं तत उत्सर्गोऽभिनिविशते' (परिभाषेन्दु शेखर परिभाषा स. ६६। व्याकरण शास्त्र में स्वीकृत इस परिभाषा के अनुसार विभावना एवं विशेषोक्ति के संभावना क्षेत्र को छोड़कर ही विरोध अलंकार होगा।

कार्यकारणादिभावसंपृक्त विरोध में भी जहाँ कार्य विद्यमान होगा वहां विभावना एवं जहाँ कारण विद्यमान होगा वहां विशेषोक्ति अलंकार होगा।

विश्वनाथ ने विभावना, विशेषोक्ति और विरोध में एक अन्य प्रकार से विभाजन रेखा खींची है। विभावना से कवि कारणाभाव से प्रारम्भ करता है, अतः वहां कारणाभाव बाधक के रूप में तथा कार्य बाध्य के रूप में रहता है। क्योंकि वहां कार्य केवल कवि कल्पित होता है, जबकि कारणाभाव कवि कल्पित न होकर स्वभाव सिद्ध रहता है तथा कविकल्पित को बाध्य तथा स्वभावसिद्ध को बाधक रूप में होना चाहिए, इसमें किसी को सन्देह न होगा।

विशेषोक्ति में स्थिति इसके सर्वथा विपरीत होती है, इसमें कारणभाव कवि कल्पित तथा कार्याभाव स्वभाव सिद्ध रहता है, अतः कार्याभाव बाधक तथा कारणभाव को बाध्य रूप में होना चाहिए किन्तु विरोध अलंकार में दोनों ही पदार्थ समान शक्ति सम्पन्न होते हैं, दोनों ही परस्पर एक दूसरे के बाधक होते हैं, साथ ही बाध्य भी। रुय्यक का निम्नलिखित कथन इस प्रसङ्ग में तुलनीय है—"कारणभावेन चोपक्रान्तत्वाद्बलवता कार्यमेव बाध्यत्वेन प्रतीयते, न तु तेन कारणभावः, इत्यन्योन्यबाधकत्वानुप्राणिताद्विरोधालंकाराद्भेदः। एवं विशेषोक्तौ कार्याभावेन कारणसत्ताया एव बाध्यमानत्वमुन्नेयम्। येन सापि विरोधाद् भिन्ना स्याद्" (अ० स० पृ० १५७)। जयरथ ने तिलक का उल्लेख करते हुए इसी तथ्य को स्वीकार किया है। "एतदेव राजानकतिलकेनाप्युक्तम् 'कारण सामग्र्यामिह क्रियाभावना बाधकत्वेन प्रतीयते कार्यानुत्पत्तिस्तु बाध्यत्वेन' इति।" (विमर्शिनी पृ० १५८) इस प्रसङ्ग में जयरथ ने किसी एक अज्ञात अन्य आचार्य की कारिका को भी उद्धृत किया है। 'यदुक्तम्—कारणस्य निषेधेन बाध्यमानः फलोदयः विभावनायामाभाति, विरोधोऽन्योन्यबाधनम्। (विमर्शिनी पृ० १५७)

पण्डित राज जगन्नाथ ने भी इन अलंकारों के अन्तर को निम्नलिखित शब्दों में इसी रूप में स्पष्ट करते हुए उपर्युक्त (जयरथ द्वारा उद्धृत) कारिका को प्रमाण रूप में प्रस्तुत किया है :—"तत्र (विभावनायां) च कार्यांशः कारणाभावरूपविरोधिनो बाध्यतयैव

स्थित:, न बाधकतया । कार्यांशस्यकल्पितत्वात्, कारणाभावस्य च स्वभावसिद्धत्वात् । अत एव कार्यांशो रूपान्तरेण पर्यवस्यति । अत एव च समबलविरोधिद्वयघटिताद् विरोधालंकारादस्य वैलक्षण्यम् । तथा चोक्तम्—'कारणस्य निषेधेन बाध्यमान:······बाधनम् [रसगं. भा. ३ पृ० ४३६-४३७] ।

विरोध अलंकार के कुछ उदाहरणों के प्रसंग में एक प्रश्न विचारणीय है कि रूपक अलंकार एवं विरोध (जाति का जाति से एवं द्रव्य का द्रव्य से विरोध) के मध्य क्या अन्तर है ? यथा 'तव विरहे मलयमरुद्वानल: एवं राकाविभारीजानि: मध्यन्दिनदिनाधिप:' उदाहरणों में क्रमश: मलयमरुत् की दावानल से तथा 'राकाविभावरी जानि:' (चन्द्रमा) की मध्यन्दिनदिनाधिप: से उसी प्रकार अभेद प्रतीति हो रही है, जिस प्रकार 'मुखं चन्द्र' में मुख की चन्द्र से अभेद प्रतीति होती है। अत: इन स्थलां पर विरोध के स्थान पर रूपक अलंकार क्यों न स्वीकार किया जाये ? इसी प्रकार रूपक अलंकार के उदाहरण 'उद्यत्कठोर पुलकाङ्कुरकण्टकाग्रै:' इत्यादि पद्य में पुलकांकुर का कण्टकाग्र से विरोध क्यों न स्वीकार किया जाए ?

इसके समाधान में हमें यह परीक्षा करना उचित होगा कि यहां चमत्कार अभेद प्रतीति पर आश्रित है अथवा विरोध प्रतीति पर ? "तव विरहे" इत्यादि पूर्वोद्धृत दोनों पद्य में विरहिणी की विरह दशा का वर्णन कवि विवक्षित है । विरह वेदना की अतिशयता की प्रतीति तभी सम्भव है जब सर्व सामान्य के लिए सुखदायक पदार्थ भी उसे पीड़ादायक प्रतीत हों । सुखद का दु:खद के रूप में प्रतीत होना विरुद्ध प्रतीति है । कवि इस विरुद्ध प्रतीति के लिए मलयमरुत एवं दवानल तथा राकाविभावरीजानि: एवं मध्यन्दिनदिनाधिप: के मध्य अभेद की योजना कर रहा है। इस प्रकार यहां अभेद की प्रतीति विरुद्ध प्रतीति के अंग के रूप में हो रही है। अत: यह कहना अनुचित न होगा कि कवि विवक्षा के कारण अभेद प्रतीति होते हुए भी यहां चमत्कार विरुद्ध प्रतीति पर आश्रित है ।

इसके विपरीत 'मुखं चन्द्र:' इत्यादि उदाहरणों में चमत्कार अभेद प्रतीति में ही है, विरुद्ध प्रतीति में नहीं । क्योंकि अभेद प्रतीति के कारण चन्द्र के आह्लादकत्व आदि की प्रतीति मुख में ही हो पाती है

जो यहां कवि विवक्षित है। इस प्रकार 'मुखं चन्द:' आदि में अभेद के प्राधान्य के कारण **रूपक अलंकार** मानना उचित है, जबकि 'मलय-मरुद्वानल:' इत्यादि स्थलों पर अभेद के गौण होने (अप्रधान होने) के कारण **रूपक** अलंकार न माना जा सकेगा, क्योंकि **रूपक** अलंकार के लिए अभेद की प्रतीति का प्रधान होना आवश्यक है [अभेद प्राधान्ये आरोपे आरोपविषयानपह्नवे रूपकम्। अ० स० १५. पृ० ४३]। पण्डितराज जगन्नाथ ने 'अथ जात्योर्द्रव्ययोश्च विरोधालंकारो न भवितुमिष्टे। 'कुसुमानि शराश्चन्द्रो वाडवो दु:खिते हृदि' इत्यादावारोपमूलस्य रूपकस्यैवोल्लासात्' [रसगं० भाग० ३ पृ० ४२५] इत्यादि द्वारा उपर्युक्त प्रश्न उठाकर समाधान देते हुए कहा है कि 'इह हि अलंकारवर्गे यो यत्र सहृदयहृदयचमत्कृतिपथमवतरति स एव तत्रालंकार इति निर्विवादम्। एवं रूपके 'मुखं चन्द्र:' इत्यादौ यद्यप्यस्ति विरोधस्तथापि न स तत्र प्रतिपादयिषित:। अपितु चन्द्रनिष्ठाह्लादकत्वादिसकलगुणानां मुखे प्रतिपत्त्यर्थं चन्द्राभेद एवेति सचमत्कारी, न विरोध: प्रत्युत सन्नपि विरोधो विवक्षितार्थाननुगुणत्वानुदूषित इति नालंकार:, विद्यमानताया अकिंचित्करत्वात्। 'कुसुमानि शरा:' इत्यादौ तु विरहिण्यादीनामवस्थाया: अत्यद्भुतत्वस्य विवक्षितत्वात् तदानुगुण्याय अन्तर्गभितोऽप्यार्थो विरोध: समुल्लसतीति स एवालंकार: ।·········यद्वा अभेदस्यात्र विरोधोत्थापनार्थमुपात्तस्याचमत्कारित्वाद् रूपकालंकारत्वमयुक्तम्। रसगं० भा० ३. पृ० ४२५-४२६।

मूल लक्षण

विष्णुधर्मोत्तर पुराण

या क्रिया चान्यफलदा विरोधस्तु स इष्यते। —१४.१३

अग्निपुराण

संगति करणयुक्त्या यदसंगच्छमानयो: ।
विरोधपूर्वकत्वेन तद् विरोध इति स्मृतम्॥ —अ० पु० ३४४.२८-२९

दण्डी

विरुद्धानां पदार्थानां यत्र संसर्गदर्शनम् ।
विशेषदर्शनायैव स विरोध इति स्मृत:॥ —का. द. २.३३३

भामह

गुणस्य वा क्रियायाः वा विरुद्धान्यक्रियाभिधा ।
या विशेषाभिधानाय विरोधं तं प्रचक्षते ॥ —काव्या. ३.२५

वामन

विरुद्धाभासत्वं विरोधः । —का. सू. वृ. ४.३.१२

रुद्रट

यस्मिन्द्रव्यादीनां परस्परं सर्वथा विरुद्धानाम् ।
एकत्रावस्थानं समकालं भवति स विरोधः ।

(श्लिष्ट विरोधाभास)

स इति विरोधाभासो यस्मिन्नर्थद्वयं पृथग्भूतम् ।
अन्यद् वाक्यं गमयेदविरुद्धं सद् विरुद्धमिव ॥ —काव्या. ९.३०,१०.२२

भोज

विरोधस्तु पदार्थानां परस्परमसंगतिः ।
असंगतिः प्रत्यनीकमधिकं विषमश्च सः ॥ —सर. कं. ३.२४

मम्मट

विरोधः सोऽविरोधेऽपि विरुद्धत्वेन यद्वचः ।
—का. प्र. सू. १६६ का. ११०

रुय्यक

विरुद्धाभासत्वं विरोधः । —अलं. स. ४० पृ. १५४

वाग्भट (प्रथम)

अविरोधेऽपि विरोध प्रतीतिर्विरोधः ।
साक्षाद् विरोधे तु काव्यत्वासंभवात् ॥ —काव्यानु. पृ. ३८

हेमचन्द्र

अर्थानां विरोधाभासो विरोधः । —काव्या. ६.१२

शोभाकर मित्र

विरुद्धाभासत्वं विरोधः । —अलं. र. ५२

जयदेव

विरोधोऽनुपपत्तिश्चेद् गुणद्रव्यक्रियादिषु ॥ —चन्द्रा. ५.७२

विद्यानाथ

आभासत्वे विरोधस्य विरोधालंकृतिर्मता । —प्रताप० ८.१४१

संघरक्खित

विरोधिनं पदत्थानं यत्थ संसग्गदस्सनं ।
समुक्कंसाभिधानत्थं मता सायं विरोधिता ॥ —सुबो० ३१५

विद्याधर

स्फुरति विरोधाभासे भवति विरोधाभिधो दशधा । —एका. ८.३३

विश्वनाथ

जातिश्चतुर्भिर्जात्याद्यैर्गुणो गुणादिभिस्त्रिभिः ।
क्रिया क्रियाद्रव्याभ्यां यद् द्रव्यं द्रव्येण वा मिथः ।
विरुद्धमेव भासेत विरोधोसौ दशाकृतिः ॥ —सा. स. ६७-६८

अमृतानन्द यति

उक्तैः पदार्थैः यैः कश्चिद् विरुद्धोऽर्थः प्रसाध्यते ।
विरोध इति विज्ञेयः सोऽपि नानाविधो यथा ॥ —अलं. सं. ५-४४

वाग्भट्ट (द्वितीय)

आपाते विरुद्धत्वं यत्र वाक्येन तत्त्वतः ।
शब्दार्थकृतमाभाति स विरोधः स्मृतो यथा ॥
—वाग्भटा. ४.१२१

केशव मिश्र

पारमार्थिक विरोधेऽपि औचित्येनाविरोधिता प्रतीयते यत्र सः ।
यथाश्रुते विरोधसन्धानेऽपि यत्राभिप्रेतार्थमादायाविरोधः ।
अयमेव विरोधाभास उच्यते ॥ —अलं. शे. पृ. ३७

जगन्नाथ

एकाधिकरणसम्बद्धत्वेन प्रतिपादितयोरर्थयोर्भासमानेकाधिकरणासम्बद्ध-त्वम्, एकाधिकरणासंबद्धत्वभानं वा विरोधः ।

यद्वा

एकाधिकरणासम्बद्धत्वेन प्रसिद्धयोरेकाधिकरणसम्बद्धत्वेन प्रतिपादनं सः (विरोधः) । —रसगं. भा. ३. पृ. ४११

चिरञ्जीव

विरोधोऽनुपपत्तिश्चेद् गुणद्रव्यक्रियादिषु । —का. वि. २.३६ ।

नरेन्द्रप्रभ सूरि

विरुद्धत्वमिवार्थानां विरोधो विषयैक्यतः । —अलं. महो. ८.४६

नरसिंह कवि

आभासत्वे विरोधस्य विरोधालंकृतिर्भवेत् ।

वृत्तियत्राभासतः प्रतीतो विरोधः पर्यवसाने परिहीयते, तत्र विरोधाभासोऽलंकारः । पर्यंवसानेऽपि यदि विरोधस्तथैवावतिष्ठते तदा दोष एव ॥

—नञ्राज. १६०

श्रीकृष्ण ब्रह्मतन्त्र परकालस्वामी

स विरोधोऽविरोधेऽपि विरोधाभासता यदि ।
जात्यादीनां स्व स्वपर सम्बन्धाद् दशधा भवेत् ॥ —अलं. मणि ६४

विश्वेश्वर

अविरोधेऽपि विरोधो यत्रोक्तः स्वाद् विरोधः सः । —अलं. मु. २६

भट्ट देवशंकर पुरोहित

अर्थान्तरानवगमे विरोधो यत्र भासते ।
विरोधाभास इत्युक्तोऽलंकारस्तत्र तान्त्रिकैः ॥ —अलं. मञ्जू. ५२

वेणीदत्त

वस्तुगत्या विरोधस्य विरहेऽपि विरुद्धयोः ।
अभिधानमलंकारो विरोधाभास इष्यते ॥ —अलं. मञ्ज. १२०

विवृतोक्ति

विवृतोक्ति अलंकार को केवल अप्पयदीक्षित परकाल स्वामी, भट्ट देवशंकर पुरोहित ने स्वीकार किया है, उनके अनुसार कवि जहाँ श्लिष्ट गुप्त (श्लेष द्वारा अभिहित होने पर भी गुप्त) अर्थ को स्वकथन द्वारा प्रगट कर दे उसे **विवृतोक्ति अलंकार** कहते हैं। अप्पयदीक्षित के अनुसार गुप्त अर्थ परवञ्चन के लिए अथवा लज्जा के कारण अथवा अन्य कई कारणों से हो सकता है, जिसका श्लिष्ट कथन कर के कवि यथा कथञ्चित् आविष्करण करता है।

दृष्ट्या केशवगोपरागहृतया किञ्चिन्न दृष्टम्मया
तेनेह स्खलितास्मि नाथ पतितां किं नाम नालम्बसे ।
एकस्त्वं विषमेषु खिन्नमनसां सर्वाबलानां गतिः
गोप्यैवं गदितः सलेशमवताद्गोष्ठे हरिर्वश्चिरम् ॥

इस पद्य में लज्जा के कारण गुप्त श्लिष्ट पदों द्वारा अभिहित अर्थ का 'सलेशम्' पद से संकेत करते हुए उसे स्पष्ट कर दिया गया है,

अतः यहां इन आलंकारिकों के अनुसार **विवृतोक्ति अलंकार** मानना चाहिए। आचार्य आनन्दवर्धन के अनुसार यहाँ वाच्य श्लेष अलंकार मानना चाहिए। सम्भवतः इस पद्य में अथवा इस प्रकार के पद्यों में **श्लेष** की सत्ता में तो किसी आलंकारिक को आपत्ति न होगी। किन्तु अप्पयदीक्षित आदि के अनुसार ऐसे स्थलों में श्लेष के कारण गुप्त अर्थ के यथा कथंचित् उन्मीलन में चमत्कार निहित है, अतः इस की पृथक् अलंकारता में कोई सन्देह न होना चाहिए।

मूल लक्षण

अप्पयदीक्षित

विवृतोक्तिः श्लिष्टगुप्तं कविनाऽऽविष्कृतं यदि ॥ —कुवलयानन्द १५५

परकाल स्वामी

विवृतोक्तिः श्लेषगूढं विवृतं कविना यदि। —अलं. मणि. १५६

भट्ट देवशंकर पुरोहित

श्लिष्टगुप्तं कविर्यत्र स्वोक्त्याप्याविष्करोति चेत्।
तदा तत्र परिज्ञेया विवृतोक्तिरलंकृतिः। —अलंकार मंजूषा १२०

विवेक (विशेषक)

विवेक मीलित प्रतिद्वन्द्वी अलंकार है। **मीलित अलंकार** में धर्म-साम्य के कारण भेद की प्रतीति नहीं होती, विवेक इसके ठीक विपरीत है, जहां धर्म साम्य होते हुए भी किसी कारण विशेष से भेद का विवेक बना रहता है, वहां अन्वर्थनामा **विवेक अलंकार** होता है। इसे इस नाम से केवल शोभाकर ने ही स्वीकार किया है, अप्पयदीक्षित परकालस्वामी एवं भट्टदेवशंकर इसे **विशेषक** नाम से स्वीकार करते हैं।

'नवाम्बुवाहप्रतिबिम्बवत्यां यत्रोच्चहर्म्यारुणरत्नभूमौ।
व्यक्तिं लभन्ते सुरसुन्दरीभिः सालक्तकाः प्रावृषि पादमुद्राः॥'

प्रस्तुत पद्य में अरुण रत्न भूमि में अलक्तक पादमुद्रा के भेद की प्रतीति धर्म साम्य के कारण बाधित हो सकती है, किन्तु नवाम्बुवाह (नवीन मेघ) के प्रतिबिम्ब से उनमें अर्थात् अरुणरत्नभूमि एवं अलक्तक पादमुद्रा में भेदक विवेक बना रहने से यहां शोभाकर के अनुसार **विवेक अलंकार** होगा। अप्पयदीक्षित परकालस्वामी एवं भट्टदेवशंकर पुरोहित के अनुसार ऐसे स्थलों पर **विशेषक अलंकार** माना जाएगा।

मूल लक्षण

शोभाकर

तस्यां (गुण साम्याद् भेदाप्रतीतौ सत्यामपि) कुतश्चिद् विवेको विवेकः ॥

—अलंकार रत्नाकर ६६

अप्पयदीक्षित

भेदवैशिष्ट्चोः स्फुर्त्तिरुन्मीलितविशेषकौ ॥ —कुवलयानन्द १४८

श्रीकृष्णब्रह्मतन्त्रपरकाल स्वामी

इमौ वैधर्म्यसंस्फूर्त्तौ तुल्ययोस्स्याद् विशेषकः । —अलं. मणि.१५०

देवशंकर पुरोहित

भेदवैशिष्ट्योः स्फूर्त्तिः केनचिद्धेतुना भवेत् ।
यत्र तत्र निगदितावुन्मीलितविशेषकौ ॥ —अलं. मंजू. ११३

विशेष

विशेष अलंकार की उद्भावना आचार्य रुद्रट ने की है, तथा मम्मट रुय्यक वाग्भट (प्रथम) शोभाकरमित्र जयदेव नरेन्द्रप्रभसूरि विद्यानाथ विद्याधर विश्वनाथ अप्पयदीक्षित पंडितराज जगन्नाथ चिरंजीव नरसिंह कवि विश्वेश्वर पंडित भट्टदेवशंकर एवं वेणीदत्त ने उसी रूप में स्वीकार किया है। **उपर्युक्त** प्रायः सभी आचार्यों के मत में **विशेष अलंकार** तीन स्थितियों में हो सकता है :—

१. जहां कोई आधेय बिना आधार के रहे।
२. एक वस्तु अनेक में रहे।
३. कुछ कार्य करते हुए दैववशात् अन्य अशक्य कार्य की सिद्धि हो जाए।

इन तीनों स्थितियों में वैशिष्ट्य के अतिरिक्त परस्पर कोई समानता नहीं है। अतः रुय्यक के टीकाकार जयरथ ने एक अलंकार मानकर उसके तीन भेद करने की अपेक्षा **विशेष** नाम के तीन पृथक् पृथक् अलंकार मानना अधिक उचित समझा है (विशेषाश्चात्र त्रयो न पुनरेक स्त्रिविधः। लक्षणस्य उचितस्य विशिष्टत्वस्य भावात् त्रयाणामपि विशेषत्वम्। विमर्शिनी पृ. १७२)। वस्तुतः तीन अलग अलग प्रकार की स्थितियों में से तीनों में ही उचित विशिष्टत्व होने से इन्हें एक समान नाम देना ही आचार्यों ने उचित समझा है।

साहित्यदर्पणकार विश्वनाथ द्वारा दिये गये **विशेष** अलंकार के तृतीय लक्षण 'किंचित्प्रकुर्वत: कार्यमशक्यस्येतरस्य वा कार्यस्य करणं दैवाद्' (विशेषस्त्रिविधस्तत: ॥) (सा. द. १०.७३-७४) में वा पद का अन्वय साहित्यदर्पण के टीकाकार प्रमदादास ने 'इतरस्य' पद के साथ माना है, तथा 'इतरस्य' पद को अशक्य का विशेषण न मानकर उसका प्रतियोगी माना है। फलत: इनके अनुसार दैवात् अशक्य कार्य की सिद्धि के समान ही दैवात् शक्य कार्य की असिद्धि होने पर भी **विशेष अलंकार** हो सकता है।

वस्तुत: यहां 'वा' पद 'इतरस्य' पद से सम्बद्ध न होकर सम्पूर्ण तृतीय लक्षण वाक्य से सम्बद्ध है, फलत: वह 'अशक्य' विशेषणार्थ में विकल्पता का बोध न कराकर पूर्व वर्णित दोनों स्थितियों के साथ विकल्पता का बोध करायेगा। यदि विश्वनाथ को शक्य कार्य की भी दैवात् सिद्धि में **विशेष अलंकार** अभीष्ट होता तो वे उसका भी स्वतन्त्र लक्षण करते। अथवा उसका भी उदाहरण तो अवश्य प्रस्तुत करते अथवा इसके लिए कोई संकेत करते। क्योंकि विश्वनाथ ने चतुर्थ प्रकार की ओर अथवा उसके उदाहरण की ओर कोई संकेत नहीं किया है, अत: चतुर्थ प्रकार के **विशेष अलंकार** की प्रमदादास की कल्पना उचित नहीं मानी जा सकती है। स्मरणीय है कि रुद्रट मम्मट रुय्यक आदि किसी भी आचार्य ने दैवात् शक्य कार्य की सिद्धि में **विशेष अलंकार** को स्वीकार नहीं किया है।

दिवमप्युपयातानाम् आकल्पमनल्पगुणगणा येषाम्।
रमयन्ति जगन्ति गिर: कथमिव कवयो न ते धन्या: ॥

आचार्य रुद्रट द्वारा उदाहृत (९.६) इस पद्य को मम्मट (पृ. ८०७) रुय्यक (अ. स. पृ. १७२) शोभाकर (अ. र. पृ. १११) आदि आचार्यों ने भी **विशेष अलंकार** के प्रथम भेद के रूप में ही उदाहृत किया है। प्रस्तुत पद्य मे वाणी (कविवाणी) आधेय है, जिसका सुविदित आधार वक्ता मानव है। किन्तु कवि बाणी आधार कवि के दिवंगत होने के उपरान्त भी, कवि रूप आधार न होने पर भी सभी लोगों को आनन्दित करती है। इस कथन में बिना आधार के आधेय का कथन होने से यहां प्रथम प्रकार का **विशेष अलंकार** है (अत्र गिर: आधेया: प्राण्याश्रितत्वात्। अथ च विनापि कविभिराधारै: रमयन्तीत्युपलब्ध्या कथितम्।

लघुवृत्ति पृ. २८३)

'कानने सरिदुद्देशे गिरीणामपि कन्दरे।
पश्यन्त्यन्तकसंकाशं त्वामेकं रिपवः पुरः ॥'

इस पद्य में 'एक राजा शत्रुओं द्वारा वन नदीतट पर्वतकन्दरा में एक साथ देखा जा रहा है' इस कथन का निबन्धन किया गया है। अतः एक वस्तु का अनेकत्र निबन्धन होने से यहां द्वितीय प्रकार का **विशेष अलंकार** है।

'गृहिणी सचिवः सखी मिथः, प्रियशिष्या ललिते कलाविधौ।
करुणाविमुखेन मृत्युना हरता त्वां वद किन्न मे हृतम् ॥'

इस पद्य में एक इन्दुमती की मृत्यु से अशक्य सचिव सखी एवं शिष्या आदि के हरण का कथन होने से तृतीय प्रकार का **विशेष अलंकार** है (इन्दुमतीहरण रूपमेकं कार्यं कुर्वता मृत्युना तेनैव यत्नेन अशक्यसचिवादिहरणरूप कार्यान्तरस्य करणं तृतीयो विशेषालंकारः। बाल बोधिनी पृ. २०६)

मूल लक्षण

रुद्रट

अतिशयमूलकः

(१) किंचिदवश्याभिधेयं यस्मिन्नाभिधीयते निराधारम् ।
तादृगुपलभ्यमानं विज्ञेयोऽसौ विशेष इति ॥

(२) यत्रैकमनेकस्मिन्नाधारे वस्तु विद्यमानतया ।
युगपदभिधीयतेऽसावत्रान्यः स्याद् विशेषः इति ॥

(३) यत्रान्यत्कुर्वाणो युगपत्कार्यान्तरं च कुर्वीत ।
कर्त्तुमशक्यं कर्त्ता विज्ञेयोऽसौ विशेषोऽन्यः ॥ —काव्या. ९.५,७,९

मम्मट

विना प्रसिद्धमाधारमाधेयस्य व्यवस्थितिः।
एकात्मा युगपद् वृत्तिरेकस्यानेकगोचरा ॥
अन्यत्प्रकुर्वतः कार्यमशक्यस्यान्यवस्तुनः ।
तथैव करणं चेति विशेषस्त्रिविधः स्मृतः ॥

—का. प्र. सू. २०३ का. १३५-३६

रुय्यक

अनाधारमाधेयमेकमनेक गोचरमशक्यवस्त्वन्तरकरणं विशेषः ।

—अलं. स.५०

वाग्भट्ट (प्रथम)

प्रसिद्धाधारं विनाप्याधेयावस्थानं विशेषः । —वाग्भटा. पृ. ४२

शोभाकर मित्र

आधारमाधेयमेकमनेकगोचरं सम्भावितादधिकस्य
विरुद्धस्य वा सम्पत्तिश्च विशेषः । —अलं. र. ६३

जयदेव

विशेषः ख्यातमाधारं विनाप्याधेयवर्णनम् । —चन्द्रा. ५.८३

विश्वनाथ

आधाररहिताधेयमेकं चानेकगोचरम् ।
अशक्यवस्तुकरणं विशेषालंकृतिस्त्रिधा ॥ —प्रताप. ८. १५०

विद्याधर

आधेयमनधिकरणं युगपद् यद्येकमप्यनेकत्र ।
यदसम्भावितवस्त्वन्तरकरणं च त्रिधा विशेषोऽसौ ॥ —एका. ८.४१

विश्वनाथ

यदाधेयमनाधारमेकं चानेकगोचरम् ।
किञ्चित्प्रकुर्वतः कार्यमशक्यस्येतरस्य वा ।
कार्यस्य करणं दैवाद् विशेषस्त्रिविधस्ततः ॥ — सा. द. १०.७३-७४

अप्पयदीक्षित

विशेषः ख्यातमाधारं विनाप्याधेयवर्णनम् ।
विशेषः सोऽपि यद्येकं वस्त्वनेकत्र वर्ण्यते ।
किञ्चिदारभतोऽशक्यवस्त्वन्तरकृतिश्च सः ॥ — कुवल.९९,१००,१०१

पंडितराज जगन्नाथ

१. प्रसिद्धमाश्रयं विना आधेयं वर्ण्यमानम् ।

२. यच्चैकमाधेयं परिमितयत्किचिदाधारगतमपि युगपद्
अनेकाधारगततया वर्ण्यते सोऽपरो विशेषप्रकारः

३. यच्च किञ्चित्कार्यमारभमाणस्यासम्भाविताशक्यवस्त्वन्तर-
निर्वर्तनं स तृतीयो विशेष प्रकारः ॥
एवं चैतदन्यतमत्वं विशेषालंकारसामान्यलक्षणय् ।

—रसगं. भा. ३ पृ. ५३१-३२

चिरञ्जीव

विशेषः ख्यातमाधारं विनाप्याधेयवर्णनम् । —का. वि. २.४४

नरेन्द्रप्रभसूरि

अनाधारं यदाधेयमेकं वाऽनेकगोचरम् ।
विशेषोऽयथमशक्यस्य कृतिश्चान्यस्य वस्तुनः ॥ —अलं. महो. ८.६२

नरसिंह कवि

आधाररहिताधेयमेकञ्चानेकगोचरम् ।
अशक्यवस्तुकरणं विशेषालंकृतिस्त्रिधा ॥ —नञरा. पृ. १६३

विश्वेश्वर

स्थितिराधाराभावे वृत्तिरनेकेषु युगपदेकस्य ।
एककरणेनदुष्करकार्यान्तरसिद्धिरिति विशेषः ॥ —अलं. मु. ५०

वेणीदत्त

विना प्रसिद्धमाधारं याऽऽधेयस्य व्यवस्थितिः ।
विशेषनामालंकारः प्रथमः सः प्रकीर्त्तितः ॥
एकस्य युगपद् वृत्तिरनेकविषया पुनः ।
एकरूपतया सोऽयं द्वितीयः समुदाहृतः ।
कार्यान्तरं विदधतः कार्यस्यान्यस्य वस्तुनः ।
यद् विधानमशक्यस्य स विशेषस्तृतीयकः ॥ —अलं. मञ्ज. २२३-२२५

भट्ट देवशंकर पुरोहित

विना प्रसिद्धमाधारमाधेयं यत्र वर्ण्यते ।
विशेषालंकृतिस्तत्र गदिता काव्यवित्तमैः ।
यदैकं वस्तु कविना वर्ण्यतेऽनेकदेशगम् ।
तदापि सा परिज्ञेया विशेषालंकृतिर्बुधैः ।
यत् किञ्चत्कुर्वतः पुंसोऽशक्यवस्त्वन्तरं कृतम् ।
भवेत्तत्रापि विज्ञेया विशेषालंकृतिर्बुधैः ॥ —अलं. मञ्जू. ७१-७३

विशेषक

(विवेक अलंकार देखें)

मूल लक्षण

शोभाकर मित्र

तस्यां (गुणसाम्याद् भेदाप्रतीतौ सत्यामपि) कुतश्चिद् विवेको विवेकः ।
—अलंकार रत्नाकर ६६

अप्पयदीक्षित

भेदवैशिष्ट्ययो: स्फूर्ति: उन्मीलितविशेषकौ। —कुवलयानन्द १४८

भट्ट देवशंकर पुरोहित

भेदवैशिष्ट्ययो: स्फूर्ति: केनचिद्धेतुना भवेत्।
यत्र तत्र प्रगदितावुन्मीलितविशेषकौ॥ —अलंकार मंजूषा ११३

विशेषोक्ति

विशेषोक्ति प्राचीनतम अलंकारों में से एक है। भरत हेमचन्द्र एवं वाग्भट को छोड़कर प्राय: सभी आचार्यों ने इसे स्वीकार किया है। इसके स्वरूप के सम्बन्ध में आचार्य भामह और वामन को छोड़ कर प्राय: सभी आचार्य एक मत हैं। यद्यपि आचार्यों ने इसके लक्षण तीन प्रकार से किये हैं। दण्डी की भाषा में गुण जाति क्रिया एवं द्रव्यों का वैकल्य यदि विशेष प्रतीति के उद्देश्य से निबद्ध हो तो वहाँ **विशेषोक्ति अलंकार** होता है। इस लक्षण में वैकल्य का तात्पर्य है कार्य की सिद्धि में उपयोगी न हो सकना। इस प्रकार गुण आदि कारणों के विद्यमान रहने पर भी कार्य की उत्पत्ति न हो सकना दण्डी के अनुसार **विशेषोक्ति अलंकार** कहा जाता है। अग्नि शिलामेघसेन भोज संघरक्खित एवं अमृतानन्द योगी इत्यादि आचार्यों ने **विशेषोक्ति** का लक्षण करते हुए दण्डी की भाषा का ही अनुसरण किया है।

उद्भट ने **विशेषोक्ति** के लक्षण को कुछ सुस्पष्टता प्रदान की है। उनकी भाषा में समग्र शक्तियों के रहते हुए भी फल की अनुत्पत्ति का जो काव्य में निबन्धन है, यदि वह विशेष कथन की कामना से है, तो वहां **विशेषोक्ति अलंकार** माना जाएगा। उद्भट के उत्तरकालीन आचार्यों में मम्मट रुय्यक शोभाकर मित्र जयदेव नरेन्द्रप्रभ सूरि विद्यानाथ विद्याधर विश्वनाथ अप्पयदीक्षित केशवमिश्र पंडितराज जगन्नाथ चिरञ्जीव भावदेवसूरि एवं नरसिंह कवि आदि ने प्राय: इनका ही अनुसरण किया है। इस अलंकार के लक्षण में भामह और वामन की दृष्टि प्राय: इससे भिन्न है।

भामह के अनुसार विशेषोक्ति में एक गुण की हानि की कल्पना के साथ ही गुणान्तर का कथन किया जाता है, यदि इस कथन में विशेष अभिधान अभिप्रेत हो तो ऐसे स्थलों पर **विशेषोक्ति अलंकार** होता

है (एकदेशस्य विगमे या गुणान्तरसंस्थितिः । विशेषप्रथनायासौ विशेषोक्तिर्मता यथा । काव्या. ३. २३)

स एकस्त्रीणि जयति जगन्ति कुसुमायुधः ।
हरताऽपि तनुं यस्य शम्भुना न हृतं बलम् ॥

इस पद्य में शरीरहानि का कथन करके भी कुसुमायुध के बल की संस्थिति वर्णित है।

वामन **विशेषोक्ति** का लक्षण कुछ भिन्न प्रकार से करते हैं। उनके अनुसार एक गुण की हानि रहते हुए भी अप्रकृत के साथ साम्य की दृढता का प्रतिपादन होने पर **विशेषोक्ति अलंकार** होता है। भामह और वामन के **विशेषोक्ति** लक्षण को किसी आलंकारिक ने स्वीकार नहीं किया है। वामन ने इसे प्रायः रूपक के निकट माना है (रूपकं चेदं प्रायेण। का. सू. वृ. पृ. १४१)। रुय्यक एवं पंडितराज जगन्नाथ ने वामन लक्षित **विशेषोक्ति** को दृढारोप रूपक नामक रूपक प्रकार में ही सम्मिलित किया है (या तु 'एकगुणहानिकल्पनायां साम्यदार्ढ्यं विशेषोक्तिः' इति विशेषोक्तिर्लक्षिता साऽस्मिन्दर्शने रूपकभेद एवेति न पृथग्वाच्या। अलं. स. पृ. १६२। वामनस्तु एकगुणहानिकल्पनायां साम्यदार्ढ्यं विशेषोक्तिः' इत्याह। उदाजहार च—'द्यूतं हि नाम पुरुषस्यासिंहासनं राज्यम्' इति । अत्र हि द्यूते राज्यं तादात्म्येनारोप्यते । तत्र सिंहासनरहितं हि द्यूतं सिंहासनसहितराज्यतादात्म्यं कथं वहेदित्यारोपोन्मूलकयुक्तिनिरासायारोप्यमाणे राज्येऽपि सिंहासनराहित्यं कल्प्यते। तेन दृढारोपं रूपकमेवेदम्, न विशेषोक्तिः। रसगं. भा. ३ पृ. ४६२)।

विशेषोक्ति भेद

दण्डी ने **विशेषोक्ति** के चार प्रकार स्वीकार किये हैं : गुणविशेषोक्ति जातिविशेषोक्ति क्रियाविशेषोक्ति एवं हेतुविशषोक्ति। भोज ने गुण जाति और क्रिया विशेषोक्तियों के साथ वाच्य और द्रव्य की विकलता के आधार पर वाच्य विशेषोक्ति एवं द्रव्य विशेषोक्ति को स्वीकार किया है, किन्तु उन्होंने हेतु विशेषोक्ति को स्वीकार नहीं किया है। इसके अनन्तर उन्होंने द्रव्य विशेषोक्ति में द्रव्य के योग और अयोग के आधार पर भी भेद किये हैं। इस के अनुसार योग अयोग

के आधार पर एक अंश में वैशिष्ट्य एवं अन्य अंश में उसका वर्णन होता है।

परवर्त्ती आचार्यों ने **विशेषोक्ति** के सामान्यत: दो भेद माने हैं : **उक्त निमित्ता** और **अनुक्त निमित्ता**। मम्मट एवं शोभाकर अचिन्त्य निमित्ता नामक एक तृतीय भेद भी स्वीकार करते हैं। किन्तु रुय्यक आदि आचार्यों के अनुसार अचिन्त्यनिमित्ता अनुक्तनिमित्ता के अन्तर्गत ही समाहित है (अचिन्त्यनिमित्ता त्वनुक्तनिमित्तैव, अनुक्तस्य च चिन्त्याचिन्त्यत्वेन द्वैविध्यात्। अलं. स. पृ. १६१)

'धनिनोऽपिनिरुन्मादा: युवानोऽपि न चंचला:।
प्रभवोऽप्यप्रमत्तास्ते महामहिमशालिनः ॥"

इस पद्य में धनित्व यौवन एवं प्रभुता कारणों के रहते हुए भी उन्माद चञ्चलता एवं प्रमत्तता कार्यों की उत्पत्ति न होना वर्णित है। तथा उसके कारण के रूप में महामहिम शालित्व का कथन हुआ है। अत: यहां **उक्तनिमित्ता विशेषोक्ति** है।

विशेषोक्ति की पूर्व परिभाषाओं में 'कारण सामग्री के रहते हुए कार्य का न होना ही **विशेषोक्ति** कहा गया है; किन्तु विश्वनाथ के अनुसार कार्य के विरोधी कारणों के रहते हुए भी फल की उत्पत्ति का निबन्धन होने पर **विशेषोक्ति अलंकार** होगा। तात्पर्य यह है कि जिस प्रकार भाव कार्य के कारणों के रहने पर भी कार्य का अभाव हो सकता है, उसी प्रकार कार्याभाव के कारण रहने पर भी कार्याभाव का न होना भी **विशेषोक्ति** अलंकार है। यह स्थिति विशेषोक्ति के समान विभावना में भी संभव है। अर्थात् जिस प्रकार भाव कार्य के कारणों के रहने पर भी कार्य का अभाव हो सकता है, उसी प्रकार अभाव कार्य के कारणों के न होने पर अभावात्मक कार्य का होना भी **विभावना अलंकार** है (कार्यानुत्पत्तिश्चात्र क्वचित्कार्यविरोधोत्पत्त्या निबध्यते; एवं विभावनायामपि कारणाभावः कारणविरुद्धमुखेन क्वचित्प्रतिपाद्यते (अलं. स. पृ. १६१)।

इस प्रसंग में विश्वनाथ ने रुय्यक का अनुसरण करते हुए निम्नलिखित पद्य को उद्धृत किया है :

य: कौमारहर: स एव हि वर: ता एव चैत्रक्षपा:
ते चोन्मीलितमालतीसुरभय: प्रौढाः कदम्बानिला:।

सा चैवास्मि तथापि तत्र सुरतव्यापारलीलाविधौ
रेवारोधसि वेतसीतरुतले चेतः समुत्कण्ठते ॥

यहां क्योंकि उत्कण्ठा का कारण प्रिय का अभाव, तथा उत्कण्ठा के अभाव का कारण प्रिय का वर्त्तमान होना होता है तथा यहां उत्कण्ठा के कारण का विरोधी 'कौमार्य का हरण करने वाले प्रिय आदि का होना वर्णित हैं' अतः उत्कण्ठा के कारण न होने पर भी उत्कण्ठा का होना वर्णित होने से यहां **विभावना** अलंकार है। साथ ही प्रिय सन्निधान रूप उत्कण्ठा के अभाव का कारण होने पर यहां उत्कण्ठा-अभाव रूप कार्य न होने से यहां **विशेषोक्ति** अलंकार भी विद्यमान है, यह माना जाता है (उत्कण्ठायाः कारणं कौमारहरवराद्यसन्निधानम् । तस्य विरुद्धं तत्सन्निधानम् । तेन कौमारहरवराद्यसन्निधानरूपस्य कारणस्य कार्यमुत्कण्ठा, तस्याश्च विरुद्धोत्कण्ठारूपस्या भाव इति विशेषोक्तिः । विमर्शिनी पृ. १६२)। इस प्रकार इस पद्य में कार्य और कारण की साक्षात् अथवा निषेध्य रूप से प्रतीति न होने से विभावना अथवा विशेषोक्ति के साधक या बाधक प्रमाण न होने से यहां सन्देह संकर अलंकार होगा (इत्यत्र (यः कौमरहरः इत्यादिपद्ये ।) विभावनाविशेषोक्त्योः सन्देहसंकरः । ....विरुद्धमुखेनोपनिबन्धात् केवलमस्पष्टत्वम्। साधक बाधकप्रमाणाभावाच्चात्र संदेह संकरः। अलं. स. पृ. १६२)

पंडितराज की इस प्रसंग में मान्यता है कि **विभावना** और विशेषोक्ति के शाब्द और आर्थ दो प्रकार हैं। जहाँ कारण का अभाव साक्षात् निवेदित हो वहां **विशेषोक्ति** शाब्द होती है। कारण और कार्य का साक्षात् कथन न होने पर क्रमशः विभावना और विशेषोक्ति आर्थ होती है। शाब्द विभावना और विशेषोक्ति के अभाव को ही लक्ष्य करके मम्मट ने 'अत्र स्फुटो न कश्चिदलंकारः' (का. प्र. पृ. १३) ऐसा कहा है (कारणाभावकार्याभावयोर्यत्र प्रतियोगितावच्छेदक-विशिष्टवैशिष्ट्येन श्रुत्या प्रतिपादनं तत्र विभावनाविशेषोक्त्योः शाब्दत्वम् ।.........परन्तु कारणाभावकार्याभावयोर्न प्रागुक्तप्रकारेण प्रतिपादनमित्यार्थत्वमेव तदुभयसंशयसंकरस्या । अमुमेव चार्थं मनसिकृत्यमम्मटभट्टैः 'यः कौमारहरः' इति पद्यमुदाहृत्योक्तम्—'अत्र स्फुटो न कश्चिदलंकारः' इति । रसगं. भाग ३ पृ. ४६०)।

मूल लक्षण

विष्णुधर्मोत्तर

विशेषप्रथनादुक्ता विशेषोक्तिस्तथा नृप। —वि. ध. पुराण १४.१२

अग्नि

गुणजातिक्रियादीनां यत्र वैकल्यदर्शनम्।
विशेषदर्शनायैव सा विशेषोक्तिरिष्यते ॥ —अ. पु. ३४४

दण्डी

गुणजातिक्रियादीनां यत्र वैकल्यदर्शनम्।
विशेषदर्शनायैव सा विशेषोक्तिरिष्यते ॥ —का. २.३२३

भामह

एकदेशस्य विगमे या गुणान्तरसस्थिति।
विशेषप्रथनायासौ विशेषोक्तिर्मता यथा। —काव्या. २.३३

शिलामेघ सेन दण्डी अनुकृत

वामन

एकगुणहानिकल्पनायां साम्यदार्ढ्यं विशेषोक्तिः।
—का. सू. वृ. ४.३.२३

उद्भट

यत्सामग्र्येऽपि शक्तीनां फलानुत्पत्तिबन्धनम्।
विशेषस्याभिधित्सातः तद् विशेषोक्तिरुच्यते। — का. सा. सं० ५.४

भोज

गुणजातिक्रियादीनां यत्र वैकल्यदर्शनम्।
विशेषदर्शनायैव सा विशेषोक्तिरिष्यते ॥
प्रत्येतव्येऽभिधेये च सा विशेषस्य कारणे।
वैकल्यादर्शनेनापि क्वचिदप्युपपद्यते ॥ —स. क. ४.७२-७३

मम्मट

विशेषोक्तिरखण्डेषु कारणेषु फलावचः ॥ —का. प्र. सू. १६३

रुय्यक

कारणसामग्र्ये फलानुत्पत्तिर्विशेषोक्तिः। —अलं. स. सू. ४२

शोभाकर

हेतुसाकल्ये फलानुत्पत्ति विशेषोक्तिः। —अलं. र. ५४

जयदेव

विशेषोक्तिरनुत्पत्तिः कार्यस्य सति कारणे । —चन्द्रा ५.७६

विद्यानाथ

कारणेन विना कार्यस्योत्पत्तिः स्याद् विभावना ।
तत्सामग्र्यामनुत्पत्ति विशेषोक्तिः निगद्यते । —प्रताप. ८.१५७

संघरक्खित

विशेषिच्छायं दब्बस्स क्रियाजातिगुणम्स च ।
वेकल्ल दस्सनं यत्र विसेसो नामतं भवे ॥ —सुबो. २८३

विद्याधर

यदि कारणसाकल्ये कार्यासिद्धिस्तदा विशेषोक्तिः । —एका. ८.३६

विश्वनाथ

सति हेतौ मलाभावो विशेषोक्तिस्तथा द्विधा ॥ —सा. द. १०.६७

अमृतानन्द यति

गुणजातिक्रियादीनां यत्र वैकल्यदर्शनम् ।
विशेषदर्शनायैव विशेषोक्तिर्मता यथा ॥ —अलं. स. ५४२

अप्पयदीक्षित

कार्याजनिर्विशेषोक्तिः सति पुष्कलकारणे । —कुव० ८३

केशवमिश्र

कारणे सत्यपि कार्याभावो विशेषोक्तिः । —अलं. शें. पृ. ३८

पंडितराज जगन्नाथ

प्रसिद्धकारणकलापसामानाधिकारण्येन वर्ण्यमाना कार्यानुत्पत्तिः
विशेषोक्तिः । —रसगं. भा. ३. पृ. ४५३

चिरञ्जीव

विशेषोक्तिरनुत्पत्तिः कार्यस्य सति कारणे । —का. वि. २.४०

नरेन्द्रप्रभसूरि

विशेषोक्तिः फलाभावः साकल्ये हेतुसम्पदः ।
फलाभावः क्वचित्कार्यविरुद्धोत्पत्तिसंभवः ।
हानिकल्पनया कस्याप्येकस्यैव गुणस्य यत् ।
दृढतां नीयते साम्यं विशेषोक्तिस्तु सा परा ॥
—अलं. महो. ८.५१,५२,५३

भावदेवसूरि

विशेषोक्तिस्तु कार्यस्याकथनं यत्र सत्यपि ।
कारणौघे..............। —का. सं. ६.४६

श्रीकृष्णब्रह्मतन्त्रपरकालस्वामी

विशेषोक्तिः पुष्कलेऽपि हेतौ कार्यं न चेद् भवेत् । —अलं. मणि. ६८

नरसिंहकवि

सति कारणपौष्कल्ये विशेषोक्तिः फलं न चेत् । —नञ्‍रा. पृ. १६४

विश्वेश्वर

हेतौ सत्यपि कार्यानुत्पत्तिः स्याद् विशेषोक्तिः । —अलं. मु. २६

भट्ट देवशंकर पुरोहित

सत्यां कारणसम्पत्तौ कार्यं यत्र न जायते ।
तत्र वृद्धैर्निगदिता विशेषोक्तिरलंकृतिः ॥ —अलं. मंजू. ५७

वेणीदत्त

हेतुसत्त्वेऽपि कार्यस्य यत्रानुत्पत्तिरुच्यते ।
काव्यज्ञैर्मन्यते तत्र विशेषोक्तिरलंकृतिः ॥ —अलं. मंज. १०६

विषम

विषम अलंकार विरोधमूलक अलंकारों में अन्यतम है। इस अलंकार में कारण से अननुरूप (भिन्न धर्म वाले) कार्य की उत्पत्ति का निबन्धन होता है। कार्यकारण के सम्बन्ध में यह सर्वमान्य नियम है कि कार्य के गुणों अर्थात् गुण-क्रिया रूप धर्मों की उत्पत्ति कारण के गुणों से होती है। कारणवाद का विवेचन करने वाले दार्शनिकों की निर्विवाद मान्यता है कि 'कारणगुणपूर्वकः कार्यगुणो दृष्टः' (वैशेषिक सूत्र २.१.२४)। अर्थात् कारण के गुणों के अनुरूप ही कार्य में गुणों की उत्पत्ति होती है। अतः प्रजापति की सृष्टि में कारण से समान गुणवाले कार्य की उत्पत्ति होती है। किन्तु जब कवि 'प्रतिभावशात्' ऐसी योजना करता है जहां कारण से विरुद्ध धर्म वाला कार्य हो। अथवा अभीष्ट की प्राप्ति न होकर अनर्थ की प्राप्ति हो, अथवा विरुद्ध कार्य की उत्पत्ति हो, तो वहां **विषम** अलंकार स्वीकार किया जाता है (तत्र कारणगुणप्रक्रमेण कार्यमुत्पद्यते इति प्रसिद्धौ यद् विरूपं कार्यमुत्पद्यमानं दृश्यते तदेकं विषमम्। तथा कंचिदर्थं

साधयितुमुद्यतस्य न केवलं तस्यार्थस्याप्रतिलम्भो यावदनर्थप्राप्तिरपीति द्वितीयं विषमम्। अत्यन्ताननुरूपसंघटनयोः विरूपयोश्च संघटनं तृतीयं विषमम्। अननुरूपसंसर्गो हि विषमम्।' अलं. स. पृ. १६२)। यदि कदाचित् प्रकृति में किसी कार्य-कारण की अननुरूपता लोक विदित है, तो उसकी योजना में विषम अलंकार नहीं होगा। यथा—

'द्राक्षाफलानि शिखरेषु शिलोच्चयानाम्
पीयूषसाररसनिर्भरगर्भवन्ति।
विष्वग्दृषत्कठिनकार्यनिगूढशृङ्ग-
शृङ्गाटकानि पुनरम्भसि सम्भवन्ति॥'

इत्यादि पद्यों में **विषम अलंकार** न माना जायेगा, क्योंकि पहाड़ी भूमि में द्राक्षा (अंगूर) का एवं जल में सिंघाड़े का होना लोक प्रसिद्ध है।

विरोधमूलक **असंगति** के समान ही **विषम अलंकार** का सर्वप्रथम विवेचन हमें रुद्रट के काव्यालंकार में मिलता है। उन्होंने इसका वर्णन वास्तवमूलक तथा अतिशयमूलक अलंकारों के प्रकरण में किया है। उनके अनुसार वास्तव मूलक **विषम अलंकार** निम्नलिखित स्थितियों में हो सकता है :—(१) जहां वक्ता दो अर्थों में अविद्यमान सम्बन्ध की कल्पना किसी दूसरे के मत से करके उसे तोड़ देता है। (२) जहां दो अर्थों में विद्यमान सम्बन्ध का अनौचित्य प्रकट किया जाता है अथवा असम्भव वस्तु की सत्ता बतलाई जाती है, वहाँ भी **विषम अलंकार** होता है। इसके अतिरिक्त रुद्रट के अनुसार (३) वहाँ भी **विषम अलंकार** होता है, जहां कर्त्ता किसी कारणवश सुकर कार्य भी नहीं कर पाता, अथवा बड़ा दुष्कर कार्य भी करता है, अथवा अशक्त होने पर भी कार्य करता है, अथवा सशक्त होकर भी कार्य नहीं करता।

वास्तव पर आश्रित उपर्युक्त प्रकार से चार प्रकार से **विषम अलंकार** का वर्णन करने के अतिरिक्त रुद्रट ने अतिशय के आधार पर भी **विषम अलंकार** के स्वरूप का निरूपण किया है। उसके अनुसार 'जहां कार्य और कारण के गुणों अथवा क्रियाओं में परस्पर विरोध हो वहां **विषम अलंकार** होता है।

भोज ने असंगति अलंकार के समान इसे भी **विरोध अलंकार** में

समाहित किया है (स. कं. ३२४)। उत्तरवर्त्ती आलंकारिकों में हेमचन्द्र संघरक्खित अमृतानन्द योगी वाग्भट (द्वितीय) शौद्धोदनि तथा केशवमिश्र को छोड़कर प्रायः सभी आचार्यों ने इसे स्वीकार किया है।

इसके स्वरूप के सम्बन्ध में आचार्यों में प्रायः विवाद नहीं है, इतना अवश्य है कि रुद्रट द्वारा उद्भावित इसका विस्तृत क्षेत्र परवर्त्ती आलंकारिकों को स्वीकृत नहीं हुआ है। इन आचार्यों के अनुसार 'अत्यन्त असम्बद्ध दो वस्तुओं का परस्पर योग होने पर, किसी प्रयोजन से अनुकूल क्रिया आरम्भ करने पर न केवल अभीष्ट सिद्धि न होना अपितु अनर्थ हो जाना, तथा कारण से विरुद्ध कार्य में गुण क्रिया का दिखाई पड़ना' इन स्थितियों में **विषम** अलंकार होता है। यथा—

सद्यः करस्पर्शमवाप्य चित्रं रणे रणे यस्य कृपाणलेखा।
तमालनीला शरदिन्दुपाण्डु यशस्त्रिलोकाभरणं प्रसूते ॥[1]

इस पद्य में तमाल की भांति नील अर्थात् कृष्णवर्णवाली कृपाण को शुभ्र कवि की भाषा में शरच्चन्द्र की भाँति पाण्डु यश का उत्पादक बताया गया है। जबकि यह सामान्य नियम है कि श्यामवर्ण कारण से श्याम वर्ण कार्य उत्पन्न होता है। यहाँ इस सामान्य नियम में वैषम्य होने से **विषम अलंकार** है।

'आनन्दममन्दमिमं कुवलयदललोचने ददासि त्वम्।
विरहस्त्वयैव जनितस्तापयतितरां शरीरं मे ॥'

इस पद्य में अमन्द आनन्द देने वाली नायिका कारण है जिसका एक कार्य तो आनन्द प्रदान करना है और दूसरा कार्य उसका विरह है, जो ताप दे रहा है। इस प्रकार यहां कार्य में कारण से विरुद्ध क्रिया होने से द्वितीय प्रकार का **विषम अलंकार** है।

अयं रत्नाकराम्बोधिरित्यसेवि धनाशया।
धनं दूरेऽस्तु वदनमपूरि क्षारवारिभिः ॥

इस पद्य में क्योंकि रत्नाकर समझकर सेवा करने के निबन्धन का तात्पर्य सेवा के फलस्वरूप रत्नराशि आदि वैभव तथा उससे सुख की प्राप्ति होना है, किन्तु रत्नों की प्राप्ति न होने से आरम्भ किये

---

१. पद्मगुप्त कृत नवसाहसांक चरितम् १.६२

गये कार्य की विफलता अर्थात् अभीष्ट की प्राप्ति नहीं होना, इसके विपरीतक्षार जल से मुख भर जाने से कष्ट अवश्य हो गया है। अर्थात् लाभ तो हुआ नहीं, अनर्थ अवश्य हो गया है। इस प्रकार यहां तृतीय प्रकार का **विषम अलंकार है।**

क्व वनं तरुवल्कलभूषणं नृपलक्ष्मी क्व महेन्द्र वन्दिता।
नियतं प्रतिकूलवर्तिनो बत धातुश्चरितं सुदुःसहम्॥

इस पद्य में 'श्रीराम को राज्याभिषेक हेतु प्रस्तुत होने पर वन को प्रस्थान करना पड़ा' यह कथन विवक्षित है। यहां वनवास एवं राजलक्ष्मी को परस्पर विरुद्ध संघटना राम के लिए निबद्ध होने से चतुर्थ प्रकार का **विषम अलंकार** है।

विपुलेन सागरशयस्य कुक्षिणा, भुवनानि यस्य पपिरे युगक्षये।
मदविभ्रमासकलया पपे पुनः स पुरस्त्रियैकतमयैकया दृशा॥

(शिशुपाल १३. ४०)

इस पद्य में 'वह विष्णु सादर देखे गये' इस अर्थ की प्रतीति के लिए 'पपे' अर्थात् 'पिये गये' पद द्वारा 'जिन विष्णु की एक कुक्षि में प्रलयकाल में समग्र विश्व विश्राम करता है, नगर की स्त्री ने उन विष्णु का नेत्र की एक कोर से पान कर लिया' यह कथन विरुद्ध योजना है अतः यहां भी चतुर्थ प्रकार का **विषम अलंकार** है।

विषम अलंकार के विवेचन में प्रायः आचार्यों द्वारा कोई एक सामान्य लक्षण न देकर इसके भेदों के स्वरूप का ही परिचय दिया गया है। केवल जयदेव ने 'अनौचित्य पूर्वक अनेक वस्तुओं अर्थात् गुण क्रिया अथवा घटना आदि के अन्वय की कल्पना विषम अलंकार है (विषमं यद्यनौचित्यादनेकान्वयकल्पनम्' तथा पंडितराज जगन्नाथ ने अननुरूप संसर्ग विषम अलंकार है (अननुरूपसंसर्गो विषमम्) ऐसा लक्षण दिया है।

भेद प्रभेद

आचार्य रुद्रट को छोड़कर अधिकांश आलंकारिकों ने इसके निम्नलिखित भेद किये हैं: (१) विरूपकार्योत्पत्ति (२) अनर्थप्राप्ति और (३) अत्यन्त अननुरूप अथवा विरूप संघटना। विश्वनाथ ने विरूप

कार्यों में गुण एवं क्रिया की विरूपता के आधार पर दो भेद करके चार प्रकार माने हैं। पंडितराज जगन्नाथ ने इसके अतिरिक्त अनिष्ट प्राप्ति के तीन प्रभेद तथा पुनः इष्ट के चार एवं अनिष्ट के तीन उपभेद किये हैं। (……'अनिष्ट कार्योत्पत्तिभिरित्यत्रैकशेषघटित एकशेषो बोध्यः ।…………अनेनेष्टकार्यानुत्पत्त्यनिष्टकार्योत्पत्ती मिलिते एकोभेदः। प्रत्येकं च भेदद्वयम् इति त्रयो भेदाः संगृहीता भवन्ति। इष्टं च स्वस्य किंचित्सुखसाधनवस्तुप्राप्तिः दुःखसाधनवस्तु-निवृत्तिश्च परस्य दुःखसाधनवस्तुप्रापणं सुखसाधनवस्तुनिवृत्तिश्चेति चतुर्विधम्। तेनेष्टाप्राप्तिघटिते भेदद्वयेऽपि चातुर्विध्यम्। अनिष्टं च स्वस्य दुःखसाधनवस्तुप्राप्तिः, परस्य सुखसाधनदुःखसाधनवस्तुनाश-श्चेति त्रिविधम्। रसगं. भा. ३ पृ० ४८५)।

शोभाकरमित्र अननुरूप संघटना में अर्थात् अल्प आश्रय में महान् आश्रयी की योजना को भी समाहित करते हुए **विषम** के पांच प्रकार मानते हैं। रुद्रट मम्मट रुय्यक आदि अन्य आचार्य इस स्थिति में **अधिक** अलंकार स्वीकार करते हैं (आश्रयाश्रयिणोरनानुरूप्यमधिकम् अलं. स. ४८)। किन्तु शोभाकर का कहना है कि **अधिक अलंकार** विषम से स्वतन्त्र न होकर विषम ही है (एवमप्याश्रयस्याल्पत्वादा-श्रयिणोऽमहत्वेनाननुरूप्यं विषमालंकार एव। आधाराधेययोर्यत्र संसर्गः स्याद् विरूपयोः। सः स्फुटो विषमो, वाच्यमधिकं नाधिकं ततः। अ. र. पृ. १०७)।

मूल लक्षण

रुद्रट — वास्तव मूलक—

विषम इति प्रथितोऽसौ वक्ता विघटयति कमपि सम्बन्धम्।
(१) यत्रार्थयोरसन्तं परमतया शक्यं तत्सत्त्वे।
(२) अभिधीयते सतो वा सम्बन्धस्यार्थयोरनौचित्यम्।
यत्र स विषमोऽन्योऽन्यं यत्रासंभाव्यभावो वा।
(३) तदिति चतुर्धा विषमं यत्राण्वपि नैव गुर्वपि च कार्यात्।
कार्यं कुर्यात् कर्त्ता हीनोऽपि ततोऽधिकोऽपि वा।
(४) यत्र क्रिया विप्रतिपत्ते र्न भवेदेव क्रियाफलं तावत्।
कर्तुरनर्थश्च भवेत्तदपरमभिधीयते विषमम्॥

—काव्या. ७.४७,४६,५१,५४

अतिशयमूलक—

कार्यस्य कारणस्य च यत्र विरोधः परस्परं गुणयोः ।
तद्वत्क्रिययोरथवा संजायेतेति तद् विषमम् ॥ —काव्या. ६.४५

मम्मट

क्वचिद् यदति वैधर्म्यान्न श्लेषो घटनामियात् ।
कर्त्तुः क्रियाफलावाप्तिः नैवानर्थश्च यद् भवेत् ।
गुणक्रियाभ्यां कार्यस्य कारणस्य गुणक्रिये ।
क्रमेण च विरुद्धे यत् स एष विषमो मतः ॥ —का. प्र. का. १२६,१२७

रुय्यक

विरूपकार्यानर्थयोरुत्पत्तिर्विरूपसंघटना च विषमम् । —अलं. स. ४५

वाग्भट्ट (प्रथम)

असम्भावितसम्बन्धः कार्याभावेऽनर्थश्च विषमम् ।
यत्र न केवलं कार्यस्यासिद्धिः किन्तु प्रत्युतानर्थश्च
तदपि विषमम् । —काव्यानु. पृ. ४०

हेमचन्द्र

क्रियाफलाभावोऽनर्थश्च विषमम् । —काव्यानु. ६.२६, सू. १३८

शोभाकर

अर्थानर्थपदे तदन्यस्योत्पत्तिर्विषमम् ।
अनर्थोत्पत्तिर्विरूपकार्योत्पत्तिर्विरूपसंघटनमसाकल्यं च ।

—अलं. र. ६०

जयदेव

विषमं यद्यनौचित्यादनेकान्वयकल्पनम् । —चन्द्रा. ५.७८

विश्वनाथ

विरुद्धकार्यस्योत्पत्ति र्यत्रानर्थस्य वा भवेत् ।
विरूपघटना चासौ विषमालंकृतिस्त्रिधा ॥ —प्रताप. ८. १६५

विद्याधर

विषमं विरूपघटनाविसदृशकार्यानभीष्टऽयोजनम् । —एकावली ८.३८

विश्वनाथ

गुणौ क्रिये वा चेत्स्यातां विरुद्धे हेतुकार्ययोः ।
यद्वाऽऽरब्धस्य वैफल्यमनर्थस्य च सम्भवः ।
विरूपयोः संघटना या च तद् विषमं मतम् ॥ —सा. द. १०.७०

वाग्भट (द्वितीय)

वस्तुनो यत्र सम्बन्धमनौचित्येन केनचित् ।
असंभाव्यं वदेद् वक्ता तमाहुः विषमं यथा ॥ —वाग्भटा. ४.११७

अप्पयदीक्षित

विषमं वर्ण्यते यत्र घटनाऽननुरूपयोः ।
विरूपकार्यस्योत्पत्तिरपरं विषमं मतम् ।
अनिष्टस्याप्यवाप्तिश्च तदिष्टार्थसमुद्यमात् ॥ —कुवल. ८८.८९,९०

नरेन्द्रप्रभ सूरि

कार्यस्याननुरूपत्वमनर्थश्चार्थमिच्छतः ।
यत्र तद् विषमं या च घटनाननुरूपयोः ॥ —अलं. महो. ८.५६

पंडितराज जगन्नाथ

अननुरूपसंसर्गो विषमम् । —रसगं. भा. ३ पृ. ४७९

चिरञ्जीव

विषमं यद्यनौचित्यमन्योन्यान्वयकल्पने । —का. वि. २.४२

भावदेव सूरि

विषमो दैवकं यस्मिन्ननौचित्यं च वर्ण्यते । —का. सं. ६.३५

नरसिंह कवि

हेतो विलक्षणोत्पत्तौ घटने च विरूपयोः ।
अनिष्टघटने च स्याद् विषमालंकृतिस्त्रिधा ॥ —नञ्रा. पृ. १९६

परकालस्वामी

अनानुरूप्यभाजोर्यद् घटनं विषमं हि तत् ।
विलक्षणस्य कार्यस्योत्पत्तिं च विषमं विदुः ॥ —अलं. मणि. १०१

विश्वेश्वर

सम्बन्धानुपपत्ताविष्टार्थानाप्त्यनिष्टसम्प्राप्तौ ।
जन्यजनकोभयगुणक्रियाविरोधे च विषमः स्यात् ॥ —अलं. मु. ४३

भट्ट देवशंकर

घटनाननुरूपस्य द्वयस्य वर्ण्यते यदि ।
यत्र तत्र तदा प्रोक्ता विषमालंकृतिर्बुधैः ।
कार्ये विरूपता यत्र विषमालंकृतिः पुरा ।
विभावना मध्यगतां वदन्त्येके बुधास्त्विमाम् ।
इष्टार्थं यतमानस्यानिष्टं चेत्प्रत्युदुद्भवेत् ।
इष्टालाभे तदापि स्याद् विषमालंकृतिः परा ।

अनिष्टोपलम्भमात्रेऽपीदं भवति ।
इष्टानुपलम्भमात्रेऽपि विषमं भवति ॥ —अलं. मञ्जु.

वेणीदत्त

नोपैति घटनां यत्र द्वयोः सम्बन्धिवस्तुनोः ।
योगो विलक्षणतया विषमालंकृतिस्तु सा ॥ —अलं. मञ्ज. १८८

विषादन

जहां अभीप्सित अर्थ से विरुद्ध अर्थ की प्राप्ति का निबन्धन किया जाए वहां **विषादन अलंकार** होता है।

रात्रिर्गमिष्यति भविष्यति सुप्रभातम्
भास्वानुदेष्यति हसिष्यति पङ्कजश्रीः ।
इत्थं विचिन्तयति कोशगते द्विरेफे
हा हन्त हन्त नलिनीं गज उज्जहार ॥

इस पद्य में भ्रमर द्वारा कमल विकास इष्यमाण है, जिसके विरुद्ध हाथी द्वारा उसका उखाड़ डालना निबद्ध है, अतः यहां **विषादन अलंकार** माना जाएगा। इस अलंकार की चर्चा केवल जयदेव अप्पय-दीक्षित, पण्डितराज जगन्नाथ, विश्वेश्वर भट्टदेवशंकर पुरोहित एवं चिरंजीव ने की है।

मूल लक्षण

जयदेव

इष्यमाणविरुद्धार्थसम्प्राप्तिस्तु विषादनम् ॥ —चन्द्रालोक ५.४८

अप्पयदीक्षित

इष्यमाणविरुद्धार्थसम्प्राप्तिस्तु विषादनम् ॥ —कुवलयानन्द १३२

पंडितराज जगन्नाथ

अभीष्टार्थविरुद्धलाभः विषादनम् । —रसगंगाधर भा० ३ पृ० ७३३

चिरञ्जीव

इष्यमाणविरुद्धार्थसम्प्राप्तिस्तु विषादनम् ॥ —काव्यविलास २.२६

भट्ट देवशंकर पुरोहित

इष्यमाणविरुद्धार्थसम्प्राप्तिश्चेन्निबध्यते ।
तदा विषादनं प्रोक्तालंकृतिस्तन्त्रकोविदैः ॥ —अलंकार मंजूषा १०१

विश्वेश्वर—इष्यमाणविरुद्धार्थसम्प्राप्तिस्तु विषादनम् । —अलं० मु० पृ० ५०

श्रीकृष्णब्रह्मतन्त्र परकालस्वामी

यदभीष्टविरुद्धार्थलाभस्तत्स्याद्विषादनम्। —अलंकार मणिहार १३६

वृत्त्यनुप्रास

वर्णों की आवृत्ति होने पर शब्द साम्यजन्य चमत्कार को आचार्यों ने वृत्त्यनुप्रास अलंकार के रूप में स्वीकार किया है। इसमें कभी किसी एक अथवा अनेक वर्णों की एक बार आवृत्ति रहती है, और कभी अनेक बार। कभी समान श्रुति वाली ध्वनियों की आवृत्ति होती है। कभी कभी ऐसा भी होता है कि एक वर्ण की आवृत्ति न होकर समानश्रुति-वाले वर्णों की आवृत्ति हुआ करती है। ऐसी स्थिति को श्रुत्यनुप्रास कहते हैं। चरण के अन्त में स्थित वर्णों की आवृत्ति को अन्त्यानुप्रास कहते हैं। इसी प्रकार जब कोई वर्ण केवल एक बार आवृत्त होता है, अर्थात् दो बार ही वर्ण का प्रयोग होता है, तो उसे छेकानुप्रास कहते हैं। वृत्त्यनुप्रास की स्थिति उपर्युक्त से सर्वथा भिन्न स्थिति है। इसमें किसी वर्ण की एक से अधिक बार आवृत्ति हुआ करती है। इसमें आवृत्ति के प्रसङ्ग में संख्या के सम्बन्ध में कोई नियम नहीं हुआ करता। इस प्रसंग में सभी आचार्य एक मत हैं कि वृत्त्यनुप्रास कोई स्वतन्त्र अलंकार न होकर अनुप्रास अलंकार का प्रकार भेद मात्र है। [विशेष विवरण के लिए द्रष्टव्य: **अनुप्रास अलंकार**]

मूल लक्षण

उद्भट

सरूपव्यञ्जनन्यासं तिसृष्वेतामु वृत्तिषु।
पृथक्पृथगनुप्रासमुशन्ति कवयः सदा॥

—काव्यालंकार सार संग्रह ३-७

रुय्यक

(संख्यानियमे छेकानुप्रासः) अन्यथा तु वृत्त्यनुप्रासः॥

—अलंकारसर्वस्व ५

वाग्भट

असकृद् वृत्त्यनुप्रासः। (अनुप्रासभेद) —काव्यानुशासन पृ. ५०

शोभाकर

अन्यथा तु वृत्त्यनुप्रास एव॥ —अलंकार रत्नाकर ४

जयदेव

आवृत्तवर्णसम्पूर्णं वृत्त्यनुप्रासवद् वचः ॥ —चन्द्रालोक ५.३

विद्यानाथ

एकद्विप्रभृतीनां तु व्यञ्जनानां यथा भवेत् ।
पुनरुक्तिरसौ नाम वृत्त्यनुप्रास इष्यते ॥ —प्रतापरुद्रीयम् ७.३

विद्याधर

संख्यानियमाभावे भवति पुनर्वृत्त्यनुप्रासः । —एकावली ७.४

विश्वनाथ

अनेकस्यैकधा साम्यमसकृद् वाप्यनेकधा ।
एकस्य सकृदप्येष वृत्त्यनुप्रास उच्यते ॥ —साहित्यदर्पण १०.३

नरेन्द्रप्रभसूरि

उपनागरिकादीनां वृत्तीनामनुरोधतः ।
त्रैविध्यजुषि वर्णानामेकताऽनेकतावताम् ।
यस्मिन्नसकृदावृत्तिः दृश्यते तं विपश्चितः ।
वृत्त्यनुप्रासमिच्छन्ति त्रिविधोऽपि द्विधा च यः ॥
—अलंकार महोदधि ७-१०-११

नरसिंह कवि

संख्यानियममुल्लंघ्य वृत्त्यनुप्रास ईरितः ॥ —काव्यविलास पृ० १५६

वेणीदत्त

यदेकस्य तु वर्णस्य समत्वं यन्मुहुर्मुहुः ।
तत्प्रोक्तो वृत्त्यनुप्रासो रसविद्याविशारदैः ।
—अलंकार मंजरी पृ० ३ का० १०

वैधर्म्य

वैधर्म्य अलंकार को केवल शोभाकर ने स्वीकार किया है। उनके अनुसार जहां पूर्व अभिहित अर्थ की दृष्टि से प्रतिभट भूत (प्रतिद्वन्द्वीभूत) अन्य अर्थों का बाद में निर्देश किया जाता है, वहां **वैधर्म्य अलंकार** मानना चाहिए। इस अलंकार में साधर्म्य का गन्ध भी नहीं रहता तथा उपमान-उपमेय भाव की विवक्षा भी नहीं होती, अतः इसे **व्यतिरेक अलंकार** से अभिन्न नहीं माना जा सकता।

नाथे श्री पुरुषोत्तमे त्रिजगतामेकाधिपे चेतसा
सेव्ये स्वस्य पदस्य दातरि परे नारायणे तिष्ठति।
यं कञ्चित्पुरुषाधमं कतिपयग्रामेशमल्पार्थदं
सेवायै मृगयामहे नरमहो मूढा वराका वयम्॥

प्रस्तुत पद्य में उद्दिष्ट परमपद के प्रदाता विष्णु के प्रतिभट भूत राजाओं का निबन्धन होने से यहां **वैधर्म्य अलंकार** माना जाएगा।

मूल लक्षण

शोभाकर

उद्दिष्टस्य प्रतिपक्षतयाऽनुनिर्देशो वैधर्म्यम्। —अलंकार रत्नाकर २५

व्यतिरेक

व्यतिरेक एक प्राचीनतर अलंकार है। भरत एवं अग्नि पुराणकार को छोड़कर प्रायः सभी आलंकारिकों ने इसे स्वीकार किया है। **व्यतिरेक** भेदप्रधान औपम्यमूलक अलंकार है।

औपम्यमूलक अलंकारों में **उपमा** आदि कुछ अलंकारों में उपमान और उपमेय के बीच **भेद** और **अभेद** दोनों की समान रूप से प्रधानता रहती है। **रूपक** परिणाम आदि कुछ अलंकारों में **अभेद** की प्रधानता रहती है। इसके विपरीत **व्यतिरेक** आदि अलंकारों में उपमान और उपमेय के मध्य **भेद** की प्रधानता रहती है।

भेदाभेद तुल्यप्रधान अलंकारों में कवि की दृष्टि उपमेय और उपमान दोनों की समानता बताने में रहती है। जिसके फलस्वरूप अल्पगुण उपमेय उत्कृष्ट गुण उपमान के सदृश उत्कृष्ट गुण वाला भासित होता है। इस स्थिति में उपमेय उपमान के समान उत्कृष्ट गुण वाला प्रतीत होता है, अधिक गुण वाला नहीं।

अभेद प्रधान **रूपक** आदि अलंकारों में कवि उपमेय को उपमान के रंग में रंग देता है, और दोनों के मध्य अभेद की प्रतीति कराता है। इस स्थिति में उपमान और उपमेय समान गुण ही नहीं एक प्रतीत होते हैं। इन अलंकारों में भेदाभेद समप्रधान अलंकारों की अपेक्षा

उपमेय का उत्कर्ष उत्तरोत्तर बढ़ता है। इस उत्कर्ष की प्रतीति रूपक की अपेक्षा उत्प्रेक्षा और अतिशयाक्ति में उत्तरोत्तर उत्कृष्टतर होतो है।

भेदप्रधान व्यतिरेक आदि अलंकारों में भेद द्योतन के द्वारा उपमेय के उत्कर्ष की प्रतीति अपेक्षाकृत और अधिक होती है। इसके लिए कवि या तो इन दोनों में विद्यमान सादृश्य का निषेध करता है, अथवा उपमेय को उत्कृष्टतर बताकर आक्षेप द्वारा उपमान का अपकर्ष सूचित करता है, अथवा उपमान का अपकर्ष बताकर आक्षेप द्वारा उपमेय का उत्कर्ष बताता है। इन तीनों रूपों द्वारा उत्कर्ष अपकर्ष का विधान उपमेय और उपमान में भेद की प्रतीति को प्रधान मान कर होता है। यह भेद की प्रधानता अन्ततः उपमान और उपमेय में विद्यमान सादृश्य को प्रकट करने के लिए होती है।

व्यतिरेक अलंकार में भेद प्रतीति के साथ उपमानगत अनेक गुणों के आधार पर उपमेय में औपम्य भो गम्य रहता है।

व्यतिरेक अलंकार के लक्षण में रुय्यक से पूर्व तक भामह और दण्डी की दो परम्पराएं प्रचलित रही हैं। दण्डी की परम्परा में उपमान और उपमेय में भेद कथन को अधिक महत्त्व दिया गया है, किन्तु इसमें उपमेय के आधिक्य के सम्बन्ध में कोई स्पष्ट संकेत नहीं था। इस प्रसंग में शिलामेघसेन भोज आदि आचार्यों ने दंडी का अनुसरण किया है। परवर्त्ती आचार्यों में अमृतानन्द योगी भी दण्डी का ही अनुसरण करते हैं।

इसके विपरीत भामह की दूसरी परम्परा है, जिसमें भेद कथन के सम्बन्ध में कोई चर्चा किये बिना ही उपमान की अपेक्षा उपमेय के उत्कर्ष पर बल दिया गया है। उद्भट वामन रुद्रट कुन्तक मम्मट हेमचन्द्र शोभाकर मित्र जयदेव विश्वनाथ नरेन्द्रप्रभसूरि एवं भावदेवसूरि इत्यादि आचार्य भामह की परम्परा का अनुसरण करते हैं।

आचार्य रुय्यक ने दण्डी से भेद कथन को एवं भामह से उपमेय के गुणाधिक्य कथन को लेकर जो लक्षण प्रस्तुत किया है उसके अनुसार 'जहां भेद की प्रधानतया प्रतीति के साथ उपमान की अपेक्षा उपमेय में गुणाधिक्य की अथवा इसके विपरीत अर्थात् उपमेय की न्यूनगुणता की प्रतीति हो, वहां व्यतिरेक अलंकार होता है।' विद्यानाथ विद्याधर

नरसिंह कवि आदि आचार्य इस प्रसंगमें रुय्यक का अनुगमन करते हैं।

विश्वनाथ ने **व्यतिरेक** लक्षण के प्रसंग में भामह की परम्परा का अनुगमन किया है।

उद्भट के टीकाकार इन्दुराज ने उपमेय के उत्कर्ष के अतिरिक्त उपमान के उत्कर्ष का कथन होने पर भी **व्यतिरेक अलंकार** स्वीकार किया है। रुय्यक एवं शोभाकर ने भी उपमेय अथवा उपमान दोनों के उत्कर्ष कथन में व्यतिरेक अलंकार माना है। जयदेव वाग्भट्ट (द्वितीय) अप्पयदीक्षित पंडितराज जगन्नाथ नरेन्द्रप्रभसूरि भावदेवसूरि तथा नरसिंह कवि इस सन्दर्भ में आचार्य रुय्यक का अनुगमन करते हैं।

भेद-प्रभेद

व्यतिरेक अलंकार के भेद प्रभेदों के सम्बन्ध में सभी आचार्य सचेष्ट रहे हैं। आचार्य दण्डी ने एक **व्यतिरेक उभयव्यतिरेक,** सश्लेष-व्यतिरेक, साक्षेप व्यतिरेक, सहेतु व्यतिरेक प्रतीयमान सादृश्य भेद व्यतिरेक, प्रतीयमान सादृश्याधिक्य व्यतिरेक, सदृश शाब्द व्यतिरेक, सदृश आर्थ व्यतिरेक एवं सजातीय व्यतिरेक नाम से व्यतिरेक भेद प्रदर्शित किये थे।

विष्णुधर्मोत्तर पुराण में गुण और विरुद्ध गुण भेद से व्यतिरेक के केवल दो भेद माने थे। उद्भट ने शाब्द आर्थ इवादि उपादान सहित तथा श्लिष्ट व्यतिरेक भेद से व्यतिरेक के चार प्रकार स्वीकार किये हैं। वामन ने व्यस्त समस्त एवं व्यस्त-समस्त भेद से केवल तीन प्रकार माने हैं। भोज ने स्वजातिएक एवं उभयव्यतिरेक, एकव्यक्तिव्यतिरेक उभयव्यक्तिव्यतिरेक सदृशव्यतिरेक एवं असदृश व्यतिरेक भेद से व्यतिरेक के छः भेद किये हैं। इसके साथ ही उन्होंने स्वशब्दोपात्त एवं प्रतीयमान सादृश्य व्यतिरेक के भेद से प्रत्येक भेद के दो दो प्रभेद करके उन्हें उदाहृत किया है। इस प्रकार उनके अनुसार व्यतिरेक के बारह प्रकार होंगे। कुन्तक ने शाब्द और आर्थ भेद से इसके केवल दो भेद किये हैं। रुय्यक एवं नरसिंह ने उपमेय के गुणाधिक्य एवं न्यून-गुणत्व के भेद से केवल दो भेद ही स्वीकार किये हैं। हेमचन्द्र ने व्यतिरेक के आठ भेद माने हैं। शोभाकर ने उपमानगत न्यून गुणत्व एवं प्रतिकूल गुणत्व भेद से दो भेद, नरेन्द्र प्रभसूरि ने उपमा श्लेष श्लेषो-

पमा एवं सम्यक् व्यतिरेकों के अतिरिक्त प्रसिद्धि विपर्यास सादृश्य एवं हीन व्यतिरेक भेद से सात प्रकार तथा प्रथम चार भेदों में वाच्य और प्रतीयमान प्रभेद होने से कुल ग्यारह प्रकार के व्यतिरेक स्वीकार किये हैं। भामह ने इस अलंकार का कोई विभाजन नहीं किया है।

आचार्य विश्वनाथ ने व्यतिरेक के भेद प्रभेद की कल्पना में पूर्व आचार्यों से प्राप्त विरासत का समुचित प्रयोग किया है। उनके अनुसार व्यतिरेक के कुल अड़तालिस प्रकार होते हैं।

मूल लक्षण

विष्णुधर्मोत्तर

गुणानां व्यतिरेकेण व्यतिरेकमुदाहृतम्।
उपमानविरुद्धैश्च गुणैस्तदपरम्मतम्॥ —वि० ध० पु० १४.५-६

दण्डी

शब्दोपात्ते प्रतीते वा सादृश्ये वस्तुनोर्द्वयोः।
तत्र यद् भेदकथनं व्यतिरेकः स कथ्यते॥ —का० द० २.१८६

भामह

उपमानवतोऽर्थस्य यद् विशेषनिदर्शनम्।
व्यतिरेकं तमिच्छन्ति विशेषापादनाद्यथा। —काव्या० २.७५

शिलामेघसेन

शब्दोपात्ते स्वभावे वा सादृश्ये वस्तुनोर्द्वयोः।
तत्र यद् भेद कथनं व्यतिरेकः स कथ्यते। —सि० व० ल० २०१

उद्भट

विशेषापादनं यत्स्यादुपमानोपमेययोः।
निमित्तादृष्टिदृष्टिभ्यां व्यतिरेको द्विधा स तु।
यो वैधर्म्येण दृष्टान्तो यथेवादिसमन्वितः।
व्यतिरेकोऽत्र सो ऽपीष्टो विशेषापादनान्वयात्।
श्लिष्टोक्तियोग्यशब्दस्य पृथक्पृथगुदाहृताः।
विशेषापादन यत्स्याद् व्यतिरेकः स च स्मृतः।··· —का.सा.सं. २.६-८

वामन—उपमेयस्य गुणातिरेकित्वं व्यतिरेकः। —का० सू० वृ० ४.३.२२

रुद्रट

यो गुण उपमेये स्यात्तत्परिपन्थी च दोष उपमाने।
व्यस्तसमस्तन्यस्तौ तौ व्यतिरेकं त्रिधा कुरुतः।

यो गुण उपमाने वा तत्परिपन्थी च दोष उपमेये ।
भवतो यत्र समस्तौ स व्यतिरेकोऽयमन्यस्तु ।।
—काव्या० ७.८६-८७

भोज

शब्दोपात्ते प्रतीते वा सादृश्ये वस्तुनोः द्वयोः ।
भेदाभिधानं भेदश्च व्यतिरेकश्च कथ्यते ।। —स० कं० ३.३२

कुन्तक

सति तच्छब्दवाच्यत्वे धर्मसाम्येऽन्यथा स्थितेः ।
व्यतिरेचनमन्यस्मात् प्रस्तुतोत्कर्षसिद्धये ।
शाब्दः प्रतीयमानो वा व्यतिरेकोऽभिधीयते ।
लोकप्रसिद्धसामान्य परिस्पन्दाद् विशेषतः । —वक्रो० जी० ३.३५,३७

मम्मट

उपमानाद् यदन्यस्य व्यतिरेकः स एव सः ।
—का० प्र० सू० १५६ का० १०५

रुय्यक

भेदप्राधान्ये उपमानादुपमेयस्याधिक्ये विपर्यये वा व्यतिरेकः ।
—अलं० स० २८

वाग्भट (प्रथम)

साम्यस्य भेदकारणस्य चोक्तौ यद् द्वयोर्भेदकारणं स व्यतिरेकः ।
—काव्यानु० पृ. ३६

हेमचन्द्र

उत्कर्षापकर्षहेत्वोः साम्यस्य चोक्तावनुक्तौ चोपमेयस्याधिक्यं
व्यतिरेकः । —काव्यानु० सू० १३०,६.१८

शोभाकर मित्र

उपमेयादन्यस्य न्यूनत्वं प्रतिकूलत्वं वा व्यतिरेकः ।
सजातीयस्य तद्धर्मत्वञ्च । —अलं० र० २३-२४

जयदेव

व्यतिरेको विशेषश्चेदुपमानोपमेययोः । —चन्द्रा० ५.५७

विद्यानाथ

भेदप्रधानसाधर्म्यमुपमानोपमेययोः ।
आधिक्याल्पत्वकथनाद् व्यतिरेकः स उच्यते । —प्रताप० १८८

संघरक्खित

वाच्चे गम्ये थ वत्थूनं सदिसत्ते पभेदनं ।
व्यतिरेकोऽयमप्येकोभयभेदा चतुब्भिदो । —सुबोधा० २४३

विद्याधर

उपमानादुपमेयं यत्राधिकस्य गोचरीभवति ।
सति भेदप्राधान्ये व्यतिरेकोऽयं समाख्यातः । —एका० ८.२०

विश्वनाथ

आधिक्यगुणमुपमेयस्योपमानान्न्यूनताऽथवा ।
व्यतिरेकः······। —सा० द० १०.५५

अमृतानन्द योगी

शाब्दे प्रातीतिके वापि सादृश्ये सति वस्तुनोः ।
तयोर्यद् भेदकथनं व्यतिरेको मतो यथा । —अलं० सं० ५.२६-२७

वाग्भट (द्वितीय)

केनचिद् यत्र धर्मेण द्वयोः संसिद्धसाम्ययोः ।
भवत्येकतराधिक्यं व्यतिरेकः स उच्यते । —वाग्भटा० ४.८४

अप्पयदीक्षित

व्यतिरेको विशेषश्चेदुपमानोपमेययोः । —कुवल० ५७

पंडितराज जगन्नाथ

उपमानादुपमेयस्य गुणविशेषवत्त्वेनोत्कर्षो व्यतिरेकः ।
—रसगं० भा० ३ पृ० १५०

चिरञ्जीव

व्यतिरेको विशेषश्चेदुपमानोपमेययोः । —का०वि० २.३२

नरेन्द्रप्रभसूरि

विच्छित्तये यदन्यस्मात् उपमेयस्य बध्यते ।
आधिक्यमथ हीनत्वं व्यतिरेकः स कीर्त्तितः ।
—अलं० महो० ८.३८

भावदेव सूरि

व्यतिरेको विशेषो यदौपम्यस्योपमानतः । —काव्या० सं० ६.१४

परकालस्वामी

उक्तः कश्चिद्विशेषश्चेदुपमानोपमेययोः ।
तमाहुर्व्यतिरेकाख्यमलंकारं विचक्षणाः । —अलं० मणि० ७१

नरसिंहकवि

भेदप्रधानसाधर्म्यमुपमानोपमेययोः ।
आधिक्याल्पत्वकथनाद् व्यतिरेकः स उच्यते । —नञ्रा० पृ० २०१

विश्वेश्वर

उभयोः साम्यप्रोक्तौ विशेष उपमेये व्यतिरेकः। —अलं० मु० २८

भट्ट देवशंकर

उपमाने वोपमेये विशेषश्चेन्निबध्यते।
व्यतिरेकालंकृतिः सा प्रोक्तालकारवित्तमैः। —अलं० मञ्जू० ३७

वेणीदत्त

उपमानाद् यदाधिक्यमुपमेयस्य कथ्यते।
तदेव व्यतिरेकाख्यमलंकारं प्रचक्षते। —अलं० मञ्ज० १००

व्यत्यास

देश अथवा काल भेद से दोष का गुण के रूप में एवं गुण का दोष के रूप में प्रतिभान होने पर शोभाकर मित्र के अनुसार अन्वर्थ नामा **व्यत्यास अलंकार** होता है। इस अलंकार को शोभाकर के अतिरिक्त किसी अन्य ने स्वीकार नहीं किया है। वह चार प्रकार का हो सकता है—(१) देश भेद से दोष का गुण के रूप में प्रतिभान, (२) देश भेद से गुण का दोष के रूप में प्रतिभान, (३) काल भेद से दोष का गुण के रूप में प्रतिभान, एवं (४) कालभेद से गुण का दोष के रूप में प्रतिभान।

सर्वत्र समदृष्टित्वं गुणोऽयं खलु योगिनाम्।
अकीर्त्तिहेतुस्स महान् दोषस्तु पृथिवीपतेः॥

इत्यादि में देश भेद से समदृष्टिता गुण पृथ्वीपति में दोष के रूप में प्रतीत होता हुआ निबद्ध है, अतः यहां **व्यत्यास अलंकार** माना जाएगा।

मूल लक्षण

शोभाकर

गुणदोषयोरन्यथात्वं व्यत्यासः॥ —अलंकार रत्नाकर ६६

व्याघात

व्याघात अलंकार का सर्वप्रथम उल्लेख हमें रुद्रट के काव्यालंकार में मिलता है। उनके अनुसार 'किसी अन्य कारण के विरोधी न होने पर भी जहां कारण कार्य को उत्पन्न नहीं करता, वहां **व्याघात**

अलंकार माना जाता है। रुद्रट स्वीकृत **व्याघात** का यह लक्षण मम्मट आदि आचार्यों द्वारा स्वीकृत **विशेषोक्ति अलंकार** के लक्षण से प्रायः अभिन्न है (विशेषोक्तिरखण्डेषु कारणेषु फलावचः। का० प्र० सू० १०८)। मम्मट के अनुसार **व्याघात अलंकार** वहां मानना चाहिए, जहां किसी के द्वारा जिन साधनों से कोई कार्य किया गया है, दूसरे द्वारा उन्हीं साधनों द्वारा उससे विपरीत कार्य किया जाए। अन्य व्यक्ति द्वारा उसी उपाय से अन्यथा करण के पीछे कर्त्ता की विनिगीषु भावना रहा करती है।

रुय्यक ने मम्मट के उपर्युक्त व्याघात लक्षण को स्वीकार करते हुए (अलं० सं० ५१) एक अन्य प्रकार की भी उद्भावना की है, 'किसी कार्य को सम्पन्न करने के लिए सम्भावित हेतु विशेष का उस कार्य से विरुद्ध साधक के रूप में समर्थन किया जाना।' यहां भी सम्भावित कार्य की व्याहृति को लेकर निबद्ध होने के कारण **व्याघात** अलंकार कहा जाता है। यहां सम्भावित कार्य के विरुद्ध दूसरे कार्य का साधन सुकर इसलिए होता है कि इस कारण की दूसरे कार्य के कारण से अनुरूपता रहती है। इस अलंकार में कार्य रूप में अभीष्ट की कार्यता समाप्त नहीं होती, अपितु उससे विपरीत कार्य का सुकरता से सम्पादन हो जाता है। (सौकर्येण कार्यविरुद्धक्रिया च। (वृत्ति) किञ्चित्कार्यं निष्पादयितुं सम्भाव्यमानः कारणविशेषः तत्कार्यविरुद्धनिष्पादकत्वेन यत्समर्थ्यते सोऽपि सम्भाव्यमानकार्यव्याहृतिनिबन्धनत्वाद् व्याघातः। कार्यविरुद्धनिष्पत्तिश्च कार्यापेक्षया सुकरा तस्य कारणस्यात्यन्तं तदानुगुण्यात्। अलं० सं० पृ० १७५)।

जयरथ के अनुसार इस अलंकार के मूल में व्यतिरेक अलंकार अवश्य रहा करता है। कारण यह है कि किसी कारण के द्वारा एक कार्य की सिद्धि की गयी, उससे भिन्न कारण पूर्वकृत से विपरीत परिणाम उत्पन्न कर देता है, तो उस स्थिति में विपरीतकारी कारण में वैलक्षण्य मानना ही चाहिए, तथा समान कार्य सम्बद्धता रूप साधारण धर्म दोनों कारणों में विद्यमान है ही, अतः वैलक्षण्य के कारण व्यतिरेक की सत्ता को अस्वीकार नहीं किया जा सकता (अनेनास्य व्यतिरेकं विनोत्थानमेव न स्यादिति सूचितम्। तथा हि येन केनचित् साधितं तदन्येनान्यथा क्रियते तदा तस्य ततोऽन्यथा करणानुपपत्त्या

वैलक्षण्यमवश्यमभ्युपगन्तव्यम् । अतश्चास्य सर्वात्मना व्यतिरेको निमित्तत्वं यायात् । विमर्शिनी पृ० १७४-१७५) ।

परवर्ती आलंकारिकों ने प्रायः इस प्रसंग में मम्मट अथवा रुय्यक का ही अनुसरण किया है। किन्तु शोभाकर मित्र ने के पूर्वोक्त प्रकार के लक्षण स्थान पर 'एक ही उपाय द्वारा उत्पत्ति और विनाश का निबन्धन बताना **व्याघात अलंकार** है' यह लक्षण किया है। जयदेव विद्यानाथ चिरंजीव ने इस प्रसंग में मम्मट का अनुकरण किया है, जबकि नरेन्द्रप्रभ सूरि विश्वनाथ तथा अप्पयदीक्षित रुय्यक का अनुसरण करते हैं ।

दृशा दग्धं मनसिजं जीवयन्ति दृशैव याः ।
विरूपाक्षस्य जयिनीः ताः स्तुभो वामलोचनाः ॥

राजशेखरकृत विद्धशालभञ्जिका (अंक० १) गत इस पद्य को मम्मट रुय्यक शोभाकर विश्वनाथ आदि आचार्यों ने इस अलंकार के उदाहरण के रूप में उद्धृत किया है। यहां "शिव' ने जिस 'काम' को नेत्र द्वारा जलाकर नष्ट कर दिया था, उसी कामदेव को सुनयनी कामिनियां नेत्रों के द्वारा ही जीवित करती हैं। ऐसा करते हुए वे शिव को ही जीत रही हैं।" ऐसा कहा गया है। इस प्रकार शिव द्वारा नेत्ररूपी साधन के द्वारा किये गये कार्य का कामिनियों द्वारा नेत्र रूपी साधन के द्वारा ही अन्यथा करण होने से यहां **व्याघात अलंकार** का प्रथम प्रकार है (अत्र दृष्टिलक्षणेनोपायेन स्मरस्य हरेण दाहविषयत्वं निष्पादितम्। मृगनयनाभिः पुनस्तेनैवोपायेन तस्य जीवनीयत्वं क्रियते। तच्च दाहविषयत्वस्य प्रतिपक्षभूतम् । तेन व्याघाताख्योऽयमलंकारः। अलं० स० पृ० २८)।

विश्वनाथ ने सौकर्यपूर्वक कार्य से विरुद्ध क्रिया का एक कार्य में ही निबन्धन को द्वितीय प्रकार का व्याघात अलंकार माना है । इस भेद की चर्चा पूर्व पृष्ठों में हो चुकी है। इस प्रकार में दो बातों का होना आवश्यक है—

(१) किसी व्यक्ति द्वारा किसी एक कारण से एक कार्य के उत्पादन की सम्भावना की जा रही हो। (२) दूसरे व्यक्ति द्वारा उसी कारण से उससे विपरीत कार्य की सम्भावना की जाती है। प्रथम

प्रकार में एक कर्त्ता द्वारा सम्पन्न कार्य का दूसरे द्वारा व्याघात होता है, जबकि इस द्वितीय प्रकार में भिन्न कार्य की सम्भावना निबद्ध होती है। इस प्रकार के उदाहरण के रूप में हम निम्नलिखित पद को देख सकते हैं—

इहैव त्वं तिष्ठ द्रुतमहमहोभिः कतिपयैः
समागन्ता कान्ते मृदुरसि न चायाससहना।
मृदुत्वं मे हेतुः सुभग भवतः गन्तुमधिकं
न मृद्वी सोढा यद् विरहकृतमायासमसमम् ॥

इस पद्य में पति द्वारा नायिका के सहगमन निषेध के लिए नायिका की मृदुता को हेतु माना गया है, जब कि नायिका द्वारा उस मृदुता को ही निषेध के निषेधक के रूप में अर्थात् सहगमन के प्रकट हेतु के रूप में प्रस्तुत किया गया है। इस प्रकार एक ही कारण से विरुद्ध क्रिया की सम्भावना होने से यहां द्वितीय प्रकार का **व्याघात अलंकार** है।

मूल लक्षण

रुद्रट

अन्यैरप्रतिहतमपि कारणमुत्पादनं न कार्यस्य।
यस्मिन्नभिधीयेत व्याघातः स इति विज्ञेयः॥ —काव्या० ६.५२

मम्मट

यद् यथा सधितं केनाप्यपरेण तदन्यथा।
तथैव यद् विधीयेत स व्याघात इति स्मृतः। —का० प्र० सू० २०६

रुय्यक

यथासाधितस्य तथैवान्येनान्यथा करणम् व्याघातः।
सौकर्येण कार्यविरुद्धक्रिया च। —अलं. स. ५१-५२

वाग्भट (प्रथम)

एकेन कृतं कार्यमपरेण तथैवान्यथा विधीयते सः व्याघातः।
—काव्यानु. पृ. ४४

शोभाकर

उत्पत्तिविनाशयोरेकोपायत्वे व्याघातः। —अलं.रत्न. ६४

जयदेव

स्याद् व्याघातोऽन्यथाकारि वस्त्वन्यक्रियमुच्यते । —चन्द्रा. ५.८४

विद्यानाथ

येन यत्साधितं वस्तु तेनैव क्रियतेऽन्यथा ।
अन्येन तदलंकारो व्याघात इति कथ्यते ।। —प्रताप. ८.२५५

विश्वनाथ

व्याघातः स तु केनापि वस्तु येन यथाकृतम् ।
तेनैव चेदुपायेन कुरुतेऽन्यस्तदन्यथा ।
सौकर्येण च कार्यस्य विरुद्धं क्रियते यदि । —सा० द० १०.७४-७५

अप्पयदीक्षित

स्याद् व्याघातोऽन्यथाकारि तथाऽकारि क्रियते चेत् ।
सौकर्येण निबद्धापि क्रिया कार्यविरोधिनी । —कुवल. १०२-१०३

पंडितराज रागन्नाथ

यत्र ह्येकेन कर्त्ता येन कारणेन कार्यं किंचिन् निष्पादितं निष्पिपादयिषितं वा, तदन्येन कर्त्रा तेनैव कारणेन तद् विरुद्धकार्यस्य निष्पादनेन निष्पिपादयिषया वा व्याहन्यते स व्याघातः । —रसगं. भा. ३. पृ. ५४१

चिरञ्जीव

व्याघातोऽन्यक्रियाकारि क्रियामन्यां करोति चेत् । — का. वि. २४५

नरेन्द्रप्रभसूरि

साधितं यद्यथैकेन तथैवान्यस्तद्विदन्यथा ।
यत्साधयति स ज्ञेयो व्याघातः सोऽपरः पुनः ।
मुख्यकार्यविरुद्धस्य या सौकर्येण निर्मितिः ।
—अलं. महो. ८.६०-६१

नरसिंह कवि

येन यत्साधितं वस्तु तेनैव क्रियतेऽन्यथा ।
अन्येन तदलंकारो व्याघात इति कथ्यते । —नञ्रा. पृ. २१६

भट्ट देवशंकर

तथाकार्यन्यथाकारि साधनं क्रियते यदि ।
व्याघातालंकृतिः प्रोक्ता तदा काव्यविदां वरैः ।
यत्साधनीकृतं वस्तु केनचिदपरेण तु ।

तद् विरुद्धसाधनतां नीयतेऽत्रापि तं विदुः।
सौकर्येण क्रिया यत्राप्युक्तकार्यविरोधिनी।
निबद्धचतेऽसौ तत्रापि व्याघातालंकृतिर्मता।
—अलं० मञ्जू० ७९-७६

वेणीदत्त
एकेन साधितं वस्तु साधयेच्चेत् परोऽन्यथा।
उपायेन तु तेनैव व्याघातस्तर्हि कथ्यते। —अलं० मंज० २३६

व्याजनिन्दा

व्याज निन्दा अलंकार को केवल अप्पयदीक्षित ने स्वीकार किया है। अन्य किसी आचार्य ने इस नाम का उल्लेख भी नहीं किया है। इनके अनुसार जहां किसी की निन्दा के द्वारा अन्य की निन्दा की व्यञ्जना हो रही हो वहां **व्याजनिन्दा अलंकार** मानना चाहिए।

विधिरेव विशेषगर्हणीयः, करट त्वं रट कस्तवापराधः।
सहकारतरौ चकार यस्ते सहवासं सरलेन कोकिलेन॥

इस पद्य में विधि की निन्दा से करट (कौए) की निन्दा प्रतीत होती है, अतः यहां **व्याजनिन्दा अलंकार** माना जाएगा। स्मरणीय है कि निन्दा के व्याज से स्तुति अथवा स्तुति के व्याज से निन्दा को भिन्न भिन्न आलंकारिकों के मत में **व्याजस्तुति स्तुतिनिन्दा** एवं **निन्दा स्तुति** अलंकार नाम दिये जाते हैं।

मूल लक्षण

अप्पयदीक्षित
निन्दायाः निन्दया व्यक्तिर्व्याजनिन्देति गम्यते॥ —कुवलयानन्द ७२

विश्वेश्वर
निन्दाया निन्दया व्यक्तिर्व्याजनिन्देति गीयते।
—अलंकार मुक्तावली ३१

श्रीकृष्ण ब्रह्मतन्त्रपरकालस्वामी
व्याजनिन्दा तु निन्दाया निन्दया व्यङ्गचता यदि।
—अलंकार मणिहार ९१

व्याजस्तुति

व्याज स्तुति अलंकार की चर्चा नाट्यशास्त्र विष्णुधर्मोत्तरपुराण एवं अग्निपुराण में नहीं प्राप्त होती। इसका सर्वप्रथम उल्लेख दण्डी ने किया है। भामह उद्‌भट वामन आदि प्रायः सभी परवर्ती आलंकारिकों ने इसे स्वीकार किया है। किन्तु रुद्रट कुन्तक विद्याधर वाग्भट्ट (द्वितीय) शौद्धोदनि केशवमिश्र एवं चिरञ्जीव ने इस अलंकार की कोई चर्चा नहीं की है। रसगंगाधर में यद्यपि इसके लक्षण उदाहरण उपलब्ध नहीं है (क्योंकि यह ग्रन्थ ही दुर्भाग्यवश पूर्ण न हो सका अथवा पूर्ण उपलब्ध नहीं है) तथापि अन्य प्रसंग में विवेचन को देखकर (जिसकी चर्चा यथा प्रसंग की जायगी) यह कहा जा सकता है कि जगन्नाथ को यह अलंकार अस्वीकृत नहीं है।

दण्डी के अनुसार **व्याजस्तुति** अलंकार में प्रत्यक्षतः निन्दा करते हुए प्रस्तुत की स्तुति की जाती है (का० द० २.३४३)। शिलामेघसेन ने दण्डी का शब्दशः अनुसरण किया है (सिय० ३२३) उद्‌भट (का० सा० सं० ५.६) एवं वामन (का० सू० वृ० ४.३.२४) भी दण्डी का अनुगमन करते हैं। भामह के अनुसार **व्याजस्तुति** में अतिशय गुणशाली अप्रस्तुत की प्रशंसा करते हुए उसकी तुलना में प्रस्तुत की निन्दा की जाती है तथा प्रस्तुत की निन्दा में भी स्तुति विवक्षित होती है (काव्या० ३.३१)।

भामह के इस लक्षण में अप्रस्तुत के साथ तुलना को सम्मिलित किया गया है, जिसका समावेश दण्डी ने नहीं किया था। भोज ने निन्दा के माध्यम से स्तुति एवं स्तुति के माध्यम से निन्दा को लेश अलंकार कहा था उनकी यह भी मान्यता रही है कि इससे (लेश से) पृथक् व्याजस्तुति मानने की कोई आवश्यकता नहीं है। (स० कं० ५.५८) और इस प्रकार भोज के अनुसार लेश का यह लक्षण ही **व्याजस्तुति** का लक्षण माना जा सकता है। भोज से पूर्व रुद्रट ने लेश को लगभग इन्हीं शब्दों में परिभाषित करते हुए इसे (लेश को) ही स्वीकार किया था तथा उन्होंने **व्याजस्तुति** की चर्चा भी नहीं की। रुद्रट ने ही नहीं दण्डी ने भी किन्हीं अन्य आचार्यों का उल्लेख करते हुए छलपूर्वक की गयी है निन्दा या स्तुति को अर्थात् निन्दा के बहाने स्तुति अथवा स्तुति के बहाने निन्दा को **लेश अलंकार** बताया का (लेशमेके विदुर्निन्दां स्तुतिं

वा लेशतः कृताम् । का० द० २६८)। यदि दण्डी के द्वारा उल्लिखित लेश की इस परिभाषा को दण्डी का अभिमत माना जाए तो स्वयं दण्डी द्वारा दी गई **व्याजस्तुति** की परिभाषा के अनुसार व्याज-स्तुति अलंकार लेश का केवल एक भाग बनकर रह जाता है। यही स्थिति अप्पयदीक्षित द्वारा कुवलयानन्द में दी गई व्याजस्तुति और लेश की परिभाषा की है (उक्तिर्व्याजस्तुतिर्निन्दास्तुतिभ्यां स्तुति-निन्दयोः। कुवल० ७०। लेशः स्याद् दोषगुणयोर्गुणदोषत्वकल्पनम्। वही १३८)।

भोज के अनन्तर मम्मट ने भोज द्वारा दी गई लेश की परिभाषा को ही शब्दान्तर से व्याजस्तुति की परिभाषा के रूप में स्वीकार किया है। (का० प्र० ११२)। मम्मट के अनन्तर रुय्यक (पृ० १४८) हेमचन्द्र (काव्यानु ६.१३) शोभाकर मित्र (पृ० ६५) जयदेव (पृ० ५.६९) विद्यानाथ (८.२०३) विद्याधर (८.३०) अप्पयदीक्षित (कु० ७०) नरेन्द्रप्रभ सूरि (८.४८), भावदेवसूरि (६.२०) एवं नरसिंह कवि (पृ० २०४) आदि सभी ने इसकी परिभाषा के प्रसंग में मम्मट का ही अनुगमन किया है। इतना अवश्य स्मरणीय है कि हेमचन्द्र ने समान लक्षण करते हुए भी **व्याजस्तुति** के स्थान पर **व्याजोक्ति** नाम दिया है (स्तुतिनिन्दयोरन्यपरता व्याजोक्तिः। काव्यानु० ६.१६)।

इस प्रसंग में यह भी स्मरणीय है कि वामन, रुय्यक, मम्मट, शोभाकर, जयदेव, विद्यानाथ, संघरक्खित, विद्याधर, विश्वनाथ, अप्पयदीक्षित, चिरञ्जीव, नरेन्द्रप्रभ सूरि, भावदेव सूरि एवं नरसिंह कवि व्याजस्तुति से भिन्न व्याजोक्ति अलंकार मानते हैं; जिसके स्वरूप का विवेचन आगे किया जायगा। संघरक्खित इस अलंकार को व्याज-वण्णन (व्याज वर्णना) नाम से पुकारते हैं तथा लक्षण के प्रसंग में दण्डी आदि प्राचीन आचार्यों का अनुगमन करते हैं। विश्वनाथ इस प्रसंग में मम्मट एवं रुय्यक आदि का अनुगमन करते हैं। इस प्रसंग में यह भी स्मरणीय है कि चिरञ्जीव व्याजनिन्दा नाम से एक स्वतन्त्र अलंकार मानते हैं (स्तुतिव्याजेन निन्दायां स्तुतिनिन्दाभिधीयते का० वि० २.३७) जो मम्मट आदि की व्याजस्तुति में ही अन्तर्भूत है।

आचार्य मम्मट एवं रुय्यक आदि ने इस अलंकार की संज्ञा को अन्वर्थ स्वीकार किया है। उनके अनुसार इस नाम की व्युत्पत्ति दो

प्रकार से हो सकती है व्याजरूपता (स्तुतिव्याजेन वा स्तुतिः का० प्र० पृ० ७३०) स्तुति से निन्दा अर्थ की प्रतीत होने पर प्रथम व्युत्पत्ति-लभ्य अर्थ एवं निन्दा से स्तुति अर्थ प्रतीति होने पर द्वितीय व्युत्पत्ति लभ्य अर्थ ग्रहण किया जाएगा। रुय्यक ने भी इस तथ्य को अविकल स्वीकार किया है ('यत्र स्तुतिरभिधीयमानाऽपि प्रमाणान्तराद् बाधितस्वरूपा निन्दायां पर्यवस्यति, तत्रासत्यत्वाद् व्याजरूपास्तुति-रित्यनुगमेन तावदेका व्याजस्तुतिः। यत्रापि निन्दाशब्देन प्रतिपद्यमाना पूर्ववद्बाधितस्वरूपा स्तुतिः पर्यवसिता भवति सा द्वितीया व्याजस्तुतिः व्याजेन निन्दामुखेन स्तुतिरिति कृत्वा'। अ० स० पृ० १४२-१४३)।

स्तनयुगमुक्ताभरणः कण्टकिताङ्गयष्टयो देव ।
त्वयि कुपितेऽपि प्रागिव विश्वस्तद्विट् स्त्रियो जाताः ।

इस पद्य में प्रथम राजा की निन्दा प्रतीत होती है कि वह शत्रुओं का कुछ भी न बिगाड़ सका, क्योंकि शत्रु स्त्रियां अब भी पूर्व की भाँति रह रही हैं, किन्तु श्लेषवशात् द्वितीय अर्थ की प्रतीति होने पर राजा की प्रशंसा रूप अर्थ प्रगट होता है।

व्याजस्तुतिस्तव पयोद मयोदितेयं,
संजीवनाय जगतस्तव जीवनानि ।
स्तोत्रं तु ते महदिदं घन धर्मराज—
साहाय्यमर्जयसि यत्पथिकान्निहत्य ।।

इस पद्य में प्रथमतः ऐसा प्रतीति होता है कि पयोद (मेघ) की स्तुति की जा रही है; किन्तु पर्यवसान में विरहीजनों को पीड़ा पहुंचाने के कारण उसकी निन्दा की प्रतीति होती है।

व्याजस्तुति अलंकार में भले ही स्तुति से निन्दा अथवा निन्दा से स्तुति अर्थ की प्रतीति होती है। तथापि यह ध्वनि से अभिन्न है, ऐसा नहीं कहा जा सकता। क्योंकि ध्वनि में वाच्यार्थ की निर्बाध प्रतीति होते हुए व्यंग्यार्थ का बोध होता है, जबकि व्याजस्तुति में प्रथम अर्थ बाधित होने पर अन्य अर्थ की प्रतीति होती है (आमुखेत्यादिविशेषणेन तथा पर्यवसानाभावं वदन्बाधितत्वमभिप्रैति। अतएव नास्या ध्वनि-त्वम्। ध्वनौ हि निर्बाधेन वाच्येनागूरणमहिम्नाऽर्थान्तरमवगम्यते। न चैवं प्रकृते। रसगं. भा. ३ पृ. ४१६)। **व्याजस्तुति** अलंकार में वाच्य से

भिन्न प्रतीत होने वाले स्तुति या निन्दा अर्थ में ही चमत्कार होता है अतः यह **अप्रस्तुत प्रशंसा** से भी अभिन्न नहीं हो सकती (स्तुति-निन्दारूपत्वस्य विच्छित्तिविशेषस्य भावादप्रस्तुतप्रशंसातो भेदः । अ० स० पृ० १४३)।

अभिनवगुप्त ने प्रासंगिक रूप से व्याजस्तुति का निम्नलिखित उदाहरण प्रस्तुत किया है, जो द्रष्टव्य है—

"किं वृत्तान्तैः परगृहगतैः किन्तु नाहं समर्थ—
स्तूष्णीं स्थातुं प्रकृतिमुखरो दाक्षिणात्यस्वभावः ।
देशे देशे विपणिषु तथा चत्वरे पानगोष्ठ्या—
मुन्मत्तेव भ्रमति भवतो वल्लभा देव कीर्तिः"। लोचन ।

रुय्यक एवं जयरथ ने इसमें व्याजस्तुति की संभावना का निषेध करते हुए यह स्थापना करनी चाही है कि स्तुतिमुखेन निन्दा अथवा निन्दामुखेन स्तुति करते हुए यदि निन्दा एवं स्तुति का शब्दतः कथन कर दिया जाए, तो वहाँ **व्याजस्तुति** अलंकार नहीं होता। अर्थात् **व्याजस्तुति** में पर्यवसान में प्रतीत होने वाले वाच्यार्थ से भिन्न अर्थ कथमपि वाच्य नहीं होना चाहिए (किं वृत्तान्तै० इत्यत्र प्रक्रान्तापि स्तुतिपर्यवसायिनी निन्दा हन्त कीर्त्तिरितिभणित्या उन्मूलितेति न प्ररोहं गमिता···। अ० स० पृ० १४४) 'अस्याश्च निन्दास्तुत्योर्वाच्यत्वे स्तुतिनिन्दयो र्यदा गम्यत्वमेव भवति तदैवालंकारत्वं नान्यदेति। विम० पृ० १४३)

मूल लक्षण

दण्डी

यदि निन्दन्निव स्तौति व्याजस्तुतिरसौ स्मृता ।
दोषा भासा गुणा एव लभन्ते यत्र सन्निधिम् ॥
—का. द. २.३४३

भामह

दूराधिकगुणस्तोत्रव्यपदेशेन तुल्यताम् ।
किञ्चिद्विधित्सोर्या निन्दाव्याजस्तुतिरसौ यथा ॥ —काव्या. ३.३१

शिलामेघसेन

दण्डी अनुकृत । —२२३.२२५

उद्भट

शब्दशक्तिस्वभावेन यत्र निन्देव गम्यते ।
वस्तुतस्तु स्तुतिः श्रेष्ठा व्याजस्तुतिरसौ मता ॥ —का. सा. सं. ५.६

वामन

सम्भाव्यविशिष्टकर्माकरणान्निन्दा स्तोत्रार्था व्याजस्तुतिः।
—का. सू. वृ. ४.३.२४

भोज

दोषस्य यो गुणीभावो दोषीभावो गुणस्य यः ।
लेशः स्यात्ततो नान्या व्याजस्तुतिरपीष्यते ॥ —स. कं. ५.५८

मम्मट

व्याजस्तुतिर्मुखे निन्दा स्तुतिर्वा रूढिरन्यथा ।
—का. प्र. सू. १६६ का. ११८

रुय्यक

स्तुतिनिन्दाभ्यां निन्दास्तुत्योर्गम्यत्वे व्याजस्तुतिः ।
—अलं. स. ३७

वाग्भट्ट (प्रथम)

स्तुतौ निन्दा निन्दायां स्तुति र्यत्र पर्यवसीयते सा व्याजस्तुतिः ।
—काव्यानु. पृ. ३६

हेमचन्द्र

स्तुतिनिन्दयोरन्यपरता व्याजोक्तिः । —काव्यानु. ६.६ सू. १२८

शोभाकरमित्र

स्तुतिनिन्दाभ्यां व्याजस्तुतिः । —अलं. र. ३६

जयदेव

उक्ति र्व्याजस्तुतिर्निन्दास्तुतिभ्यां स्तुतिनिन्दयोः । —चन्द्रा. ५.६६

विद्यानाथ

निन्दया वाच्यया यत्र स्तुतिरेवावगम्यते ।
स्तुत्या वा गम्यते निन्दा व्याजस्तुतिरसौ मता ॥ —प्रताप. ८.२.३

संघरक्खित

थुतिं करोति निन्दन्तो विय तं व्याजवण्णनं ।
दोसाभासा गुणा एव यन्ति सन्निधिं अत्र हि ॥ —सुबोधा. २८१

विद्याधर

यत्र प्रकान्तायां स्तुतौ कथंचित्प्रतीयते निन्दा।
निन्दायां स्तुतिरथवा सेयं व्याजस्तुतिर्द्विविधा ।। —एका. ८.३०

विश्वनाथ

उक्ता व्याजस्तुतिः पुनः ।
निन्दास्तुतिभ्यां वाच्यायां गम्यत्वे स्तुतिनिन्दयोः ।।—सा.द. १०.५९-६०

अमृतानन्द यति

यदि निन्दन्निव स्तौति व्याजस्तुतिरसौ यथा। —अलं. सं. ५.४६

अप्पयदीक्षित

उक्तिर्व्याजस्तुतिर्निन्दास्तुतिभ्यां स्तुतिनिन्दयोः। —कुवल. ७०

पंडितराज जगन्नाथ

आमुखप्रतीताभ्यां निन्दास्तुतिभ्यां स्तुतिनिन्दयोः
क्रमेण पर्यवसानं व्याजस्तुतिः ।। —रसगं. भा. ३. पृ. ३७५

नरेन्द्रप्रभसूरि

व्याजस्तुतिः सा या स्तुत्या निन्दया वान्यगम्यता। —अलं. महो. ८.४८

भावदेवसूरि

व्याजस्तुतिर्मुखे निन्दास्तुतिश्चार्थोऽन्यथा पुनः । —काव्या. सं. ६-२०

श्रीकृष्णब्रह्मतन्त्र परकालस्वामी

स्तुत्याऽभिव्यज्यते निन्दा निन्दया वा स्तुतिर्यदि।
तत्र व्याजस्तुतिं नाम प्राज्ञाः प्राहुरलंकृतिम् ।। —अलं. मणि. ८९

नरसिंह कवि

यत्र वाच्या स्तुतिर्निन्दां निन्दा वा स्तुतिमर्पयेत्।
तत्र व्याजस्तुतिं नामालंकारं कवयो विदुः ।। —नञ्रा. पृ. २०४

विश्वेश्वर

व्याजस्तुतिर्विपर्ययपर्यवसानेऽस्तुतिस्तुत्योः। —अलं० मु० ३१

भट्ट देवशंकर

क्रियमाणास्तुतिर्यत्र निन्दायां पर्यवस्यति।
निन्दा यत्र स्तुतौ तद्वद् व्याजस्तुतिरलंकृतिः ।। —अलं. मंजू. ४७

वेणीदत्त

स्तुति निन्दामुखेनैव निन्दा स्तुतिमुखेन च ।
द्विविधा रसशास्त्रज्ञै र्व्याजस्तुतिरुदीरिता ।। —अलं. मञ्ज. १२६

व्याजोक्ति

व्याजोक्ति का अर्थ है व्याजपूर्वक कहना, अर्थात् बहाने से कहना अथवा बहाने के लिए कहना। **व्याजोक्ति अलंकार** के क्षेत्र में 'व्याज के लिए कहना' लिया गया है, जिसमें किसी प्रकट हुए तथ्य को छुपाना उद्दिष्ट रहता है [वस्त्वन्तर प्रक्षेपरूपस्य व्याजस्य वचनाद् व्याजोक्तिः। अलं० स० पृ० २१८]।

इस अलंकार का विवरण सर्वप्रथम हमें वामन के काव्यालंकार सूत्र में मिलता है। उनके अनुसार जहां व्याज सत्य के सदृश हो वहां **व्याजोक्ति** अलंकार होता है। वामन के अनुसार उनसे पूर्ववर्त्ती कुछ आचार्य इसे मायोक्ति के नाम से स्मरण करते रहे हैं [यां मायोक्ति-रित्याहुः। का० सू० वृत्ति ४.३.२५ पृ० १४२]। मम्मट ने उपर्युक्त लक्षण को अधिक स्पष्ट करते हुए 'प्रकट हुई वस्तु का व्याज से निगूहन व्याजोक्ति है' ऐसा लक्षण किया है। [का० प्र० का० ११८ सू० १८४]। उपर्युक्त लक्षण को ही शब्दान्तर से प्रकट करते हुए रुय्यक शोभाकर विद्याधर विश्वनाथ नरसिंह कवि नरेन्द्रप्रभसूरि भावदेव-सूरि विश्वेश्वर भट्ट देवशंकर एवं वेणीदत्त ने स्वीकार किया है।

इस अलंकार के भेद प्रभेद के सम्बन्ध में शोभाकर मित्र के अतिरिक्त प्रायः सभी मौन हैं। उनके अनुसार किसी वस्तु के उद्भेद की आशंका होने पर अथवा उद्भेद हो जाने पर निगूहन किया जा सकता है। यह निगूहन वचनों के माध्यम से भी हो सकता है और चेष्टा आदि के द्वारा भी। फलतः **व्याजोक्ति** अलंकार के चार प्रकार हो सकते हैं [यत्राशंक्यमाणस्योद्भेदस्योत्पन्नस्य वा वचनेन चेष्टादिना वा प्रच्छादनं सा चतुर्धा व्याजोक्तिः। अलं० र० १०४ वृत्ति पृ० १७६]। **व्याजोक्ति** अलंकार की योजना के तीन अंश होते हैं: वस्तु का गोपन, गोप्य का कथमपि उद्भेद, वास्तविक कारण का निषेध करने के लिए अन्य कारण का कथन।

शैलेन्द्रप्रतिपाद्यमानगिरिजाहस्तोपगूढोल्लसद्
रोमाञ्चादि-विसंस्थुलाखिलविधिव्यासङ्गभङ्गाकुलः।
आः शैत्यं तुहिनाचलस्य करयोरित्यूचिवान् सस्मितं
शैलान्तःपुरमातृमण्डलगणैर्दृष्टोऽवताद् वः शिवः॥

इस पद्य में विवाह मंगल के समय पाणिग्रहण की वेला में पार्वती के प्रथम कर स्पर्श से उत्पन्न रोमाञ्च आदि द्वारा मनोभाव के उद्भिन्न होने पर शिव द्वारा 'आः हिमालय के हाथ कितने शीतल हैं' कहकर रोमांच के प्रकट कारण को छिपाने के लिए हिमाचल के हाथ की शीतलता को कारण के रूप में निबद्ध किया गया है, मानों इस रोमांच का कारण शीतलता है, पार्वती के कर स्पर्श से उद्भिन्नरति-भाव नहीं। इस प्रकार यहां **व्याजोक्ति अलंकार** है [अत्र रोमाञ्चाद् भिन्नो रतिभावः शैत्यप्रक्षेपणेनापलापितः। अलं० स० पृ० २१६]।

उद्भट रुय्यक आदि आलंकारिकों ने **व्याजोक्ति अलंकार** को स्वीकार नहीं किया है। उनके अनुसार जिस प्रकार सादृश्य प्रतीति के लिए अपह्नव करने पर **अपह्नुति अलंकार** होता है, उसी प्रकार जहां अपह्नव के लिए सदृश का अनुसन्धान किया जाए वहां पर भी अपह्नुति अलंकार होना चाहिए। [यथा सादृश्याय योऽपह्नवः सा अपह्नुतिः तथाऽपह्नवायापि यत्सादृश्यं सापि अपह्नुतिः। अलं० स० पृ० २१६]। स्मरणीय है कि **व्याजोक्ति** अलंकार में अपह्नव के लिए सदृश की योजना की जाती है, अतः ऐसे स्थलों पर भी **अपह्नुति** अलंकार मानना चाहिए [व्याजोक्तौ चोत्तरः प्रकारो विद्यते, तत्कथम् इयम् अलंकारान्तरेण कथ्यते। वही पृ० २१६]।

वस्तुतः व्याजोक्ति का अपह्नुति में अन्तर्भाव नहीं किया जा सकता। कारण यह है कि अपह्नुति अलंकार में अपह्नूयमान विषय का उपादान अनिवार्यतः आवश्यक होता है, जब कि व्याजोक्ति में विषय का उपादान अनिवार्य नहीं है। इसके अतिरिक्त एक अन्तर यह भी है कि अपह्नुति में प्रकृत और अप्रकृत में उपमानोपमेयभाव रहता है, जबकि व्याजोक्ति में उपमानोपमेय भाव का सर्वथा अभाव रहता है [न चैषा अपह्नुतिः प्रकृताप्रकृतोभयनिष्ठस्य साम्यस्य इहासंभवात्। का० प्र० पृ० ७६४। तत्र अपह्नुतौ उपमेयनिषेधपूर्वकमुपमानव्यवस्थापनम्। अत्र तु किंचिद् निषिद्ध्यैव निमित्तान्तर प्रयुक्तत्वज्ञापनम्। का० प्र० प्र० उद्योत पृ० ७६४।]

मूल लक्षण

वामन

व्याजस्य सत्यसारूप्यं व्याजोक्तिः। —काव्यालंकार सूत्रवृति ४.३-२५

मम्मट

व्याजोक्तिश्छद्मनोद्भिन्नवस्तुरूपनिगूहनम् ।

—का. प्र. सू. १८४ का० ११८

रुय्यक

उद्भिन्नवस्तूनिगूहनं व्याजोक्तिः । —अलंकारसर्वस्व ७७

वाग्भट (प्रथम)

उद्भूतवस्तुनश्छद्मना निगूहनं व्याजोक्तिः । —काव्यानुशासन पृ० ४४

शोभाकर

उद्भेदप्रच्छादनं व्याजोक्तिः । —अलंकाररत्नाकर १०४

जयदेव

व्याजोक्तिः शंकमानस्य छद्मना वस्तुगोपनम् । —चन्द्रालोक ५.१०५

विद्यानाथ

व्याजोक्तिः सा समुद्भूतं वस्तु यत्र निगूह्यते । —प्रतापरुद्रीय ८.१३०

संघरक्षित

थुतिं करोति निन्दन्तो वि यं तं व्याजवण्णनम् ।
दोसाभासा गुणा एव यन्ति सन्निधिं अत्र हि ॥

—सुबोधालंकार २८१

विद्याधर

यत्रोद्भिन्नं किञ्चिद्वस्तु कुतश्चिन्निगूह्यते भूयः ।
वस्त्वन्तरनिक्षेपाद् व्याजोक्ति तामुशन्त्येताम् ॥ —एकावली ८.७०

विश्वनाथ

व्याजोक्तिगोपनं व्याजादुद्भिन्नस्यापि वस्तुनः ।

—साहित्यदर्पण १०.९२

अप्पयदीक्षित

व्याजोक्तिरन्यहेतूक्त्या यदाकारस्य गोपनम् । —कुवलयानन्द १५३

चिरञ्जीव

व्याजोक्तिः शंकमानस्य छद्मना वस्तुगोपनम् । —काव्यविलास २.५६

नरेन्द्रप्रभसूरि

व्याजोक्तिर्गोपनं यत्र व्याजादुद्भिन्नवस्तुनः ।

—अलंकार महोदधि ८.८१

भावदेव सूरि

व्याजोक्तिर्गोपनम् । —काव्यालंकार सार संग्रह ६.२५

नरसिंह कवि

यत्नेन संवृतं वस्तु कुतश्चिद् विवृतं यदि।
निगूह्यतेऽन्यविधया व्याजोक्तिर कथ्यते।

—नञ्राजयशोभूषण पृ० १८८

भट्ट देवशंकर पुरोहित

अन्यहेतूक्तिभिर्यत्र यदाकारस्य ोपनम्।
क्रियते तत्र सा प्रोक्ता व्याजोक्तिरित्यलंकृतिः॥

—अलंकार मञ्जूषा ११६

वेणीदत्त

व्याजेन गोपनं यत्र कथञ्चिद् व्यक्तवस्तुनः।
व्याजोक्तिं तमलङ्कारं व्याहरन्ति मनीषिणः॥

—अलंकारमञ्जरी १६२

विश्वेश्वर

व्याजोक्तिर्विशदीभवदर्थस्यापह्नुतिर्मिषतः॥

—अलंकार मुक्तावली ३६

परकालस्वामी

हेत्वन्तरोक्त्या व्याजोक्तिर्यदाकारस्य गूहनम्। —अलं० मणि० १५५

व्यासङ्ग

अन्य के सम्पर्क (आसङ्ग) से अनुभव स्मृति अथवा क्रिया आदि का प्रत्यूह अर्थात् इनमें अन्तराय का निबन्धन होने से **व्यासङ्ग अलंकार** होता है। इस अलंकार को केवल शोभाकर मित्र ने ही स्वीकार किया है।

तस्याः सान्द्रविलेपनस्तनतटप्रश्लेषमुद्राङ्कितं
किं वक्षश्चरणानति व्यतिकरव्याजेन गोपाय्यते।
इत्युक्ते क्व तदित्युदीर्य सहसा तत्संप्रमार्ष्टुं मया
सा श्लिष्टा रभसेन तत्सुखवशात्तस्याश्च तद् विस्मृतम्॥

प्रस्तुत पद्य में अनुभूयमान स्तनमुद्रांकितत्व का आलिङ्गन सुखानुभव से तिरोधान निबद्ध है, अतः यहां शोभाकर के अनुसार **व्यत्यास अलंकार** मानना चाहिए।

मूल लक्षण

शोभाकर

अनुभवस्मृत्यादिप्रत्यूहे व्यासङ्गः ॥ —अलंकार रत्नाकर २१

शब्द (आगम)

आगम (शब्द) अलंकार प्रमाणमूलक अलंकारों में अन्यतम है। दार्शनिकों में इस प्रमाण को चार्वाक वैशेषिक एवं बौद्ध दार्शनिकों को छोड़कर सभी ने स्वीकार किया है। दार्शनिकों में स्वीकृत इस प्रमाण को आलंकारिकों में भोज अमृतानन्द यति एवं परकाल स्वामी ने सुस्पष्ट लक्षण देकर एवं अप्पयदीक्षित तथा भट्ट देवशंकर पुरोहित ने लक्षण के बिना ही केवल उदाहरण देकर स्वीकार किया है। इनके अनुसार आप्तवचन को अर्थात् आप्तपुरुष के परार्थ उपदेश को **आगम अलंकार** नाम दिया जाता है।

नाघाय मृगया राज्ञामिति जानन्नपि स्वयम् ।
जहौ तां माधवो वीरो न हिंस्यादिति भावयन् ॥

प्रस्तुत पद्य में 'राजाओं के लिए मृगया (शिकार) पाप नहीं है' इस अंश में स्मृति वचन का एवं हिंसा न करे (न हिंस्यात् सर्वाभूतानि) अंश में श्रुति वचन का प्रामाणिकतया निबन्धन किया गया है, अतः यहां **आगम (शब्द) अलंकार** माना जाएगा।

मूल लक्षण

भोज

यदाप्तवचनं तद्विज्ञेयमागमसंज्ञया ॥ —सरस्वती कंठाभरण ३.९

अमृतानन्दयोगी

यथार्थदर्शिनः पुंसो यथादृष्टार्थवादिनः ।
उपदेशः परार्थो यः आगमः सम्मतो यथा ॥

—अलकार संग्रह ५.५९-६०

अप्पयदीक्षित

अष्टौ प्रमाणालंकाराः प्रत्यक्षप्रमुखाः क्रमात् ॥ —कुवलयानन्द १७१

भट्ट देवशंकर पुरोहित

(लक्षण नहीं उदाहरण मात्र)

श्रीकृष्णब्रह्मतन्त्र परकालस्वामी

स शब्दो यत्तु शब्दस्य प्रमाणत्वेन कीर्तनम् ।
श्रुतिस्मृतीतिहासादिरूपः शब्दः इतीर्यते ॥

—अलंकार मणिहार १७८

श्रृंखला

श्रृंखला अलंकार को केवल शोभाकर मित्र ने स्वीकार किया है। उनके अनुसार जहां पूर्व-पूर्व उत्तर-उत्तर की अपेक्षा रखता हो अथवा उत्तर-उत्तर पूर्व-पूर्व की अपेक्षा रखता हो, वहां **श्रृंखला अलंकार** माना जाता है। (१) उनके अनुसार यद्यपि यह सापेक्षता '**कारण माला**' और '**एकावली**' दोनों अलंकारों में होती है, तथापि वे दोनों अलंकार इससे सर्वथा भिन्न हैं; क्योंकि 'कारणमाला' में पूर्व पूर्व उत्तर उत्तर के प्रति कारण होता है, जबकि '**एकावली**' में पूर्व-पूर्व प्रत्येक परवर्ती के लिए विशेषण हुआ करता है। पण्डितराज जगन्नाथ के अनुसार श्रृंखला बद्धता चारुत्व हेतुक है, किन्तु उसे स्वतन्त्र अलंकार न मानकर उसका चमत्कार '**कारणमाला**' एवं '**एकावली**' आदि अलंकारों में ही देखा जा सकता है, अर्थात वह स्वतन्त्र अलंकार न होकर **कारणमाला** आदि का मूल है। (२) शोभाकर के अनुसार **श्रृंखलागत** सापेक्षता आश्रयाश्रयिभावरूप, कार्यकारणभाव रूप, भूष्यभूषकभावरूप, उपमानोपमेयभावरूप, पीड्यपीडकभावरूप, उत्तरोत्तर वाञ्छारूप, उत्तरोत्तर वञ्चनरूप, उपहास्य उपहासकभाव रूप आदि भाव से अनेक प्रकार का हो सकती है।

यथा—

आकारसदृशप्रज्ञः प्रज्ञया सदृशागमः ।
आगमैः सदृशारम्भः प्रारम्भसदृशोदयः ॥

इस पद्य में उत्तरोत्तर उपमानोपमेयभाव विद्यमान है।

यथा बालत्वलीलाः यौवनसमये जनं हासयन्ति ।
तारुण्यविलसितान्यपि वयः परिणामे तथैव ॥

इस पद्य में उत्तरोत्तर उपहासकत्व निबद्ध है।

शोभाकर मित्र के अनुसार श्रृंखला में उत्तरोत्तर कार्यकारण भाव

अथवा विशेषण विशेष्यभाव भी हो सकता है। किन्तु उनके अनुसार ही उत्तरोत्तर कार्य कारणभाव के रहने पर **कारणमाला** एवं उत्तरोत्तर विशेष्य विशेषणभाव रहने पर **एकावली अलंकार** होता है। अतः इन्हें शृंखला अलंकार में भी मानना निर्दोष नहीं है। शोभाकर के अनुसार इन स्थलों में **शृंखला अलंकार** मानना चाहिए।

स्मरणीय है कि मम्मट रुय्यक आदि आचार्यों ने इस प्रकार के स्थलों में रसनोपमा रसनारूपक आदि नामों से उपमा या रूपक आदि अलंकारों के एक प्रकार के रूप में स्वीकार किया है। उनके अनुसार **शृंखला** स्वतन्त्र अलंकार भले ही स्वीकार न किया गया हो, किन्तु फिर भी उन्होंने **शृंखला** को चारुत्व का हेतु अवश्य स्वीकार किया है।

मूल लक्षण

शोभाकर

उत्तरोत्तरोत्तरस्य पूर्वपूर्वानुबन्धित्वं विपर्ययो वा शृंखला।

—अ० र० ६६

उत्तरोत्तरस्याश्रयत्वादिना पूर्वं पूर्वं प्रति, पूर्वस्य पूर्वस्योत्तरमुत्तरं प्रति वा सापेक्षत्वं शृंखला। अत्र पूर्वस्य पूर्वस्योत्तरोत्तरहेतुत्वे कारणमाला, तथा यथापूर्वं परस्य विशेषणतया स्थापनापोहेन एकावली।

—अ० र० पृ० १६५

पंडितराज जगन्नाथ

पंक्तिरूपेण निबद्धानां पूर्वपूर्वस्योत्तरोत्तरस्मिन्नुत्तरोत्तरस्य वा पूर्व पूर्वस्मिन् संसृष्टत्वं शृंखला। इयं च न स्वतन्त्रोलंकारः वक्ष्यमाणप्रभेदगतार्थत्वात्। —रसगंगाधर भाग ३ पृ० ५५१

श्रुत्यनुप्रास (अनुप्रास भेद)

अनुप्रास अलंकार वर्णों की आवृत्ति के कारण उत्पन्न शब्द साम्य पर आश्रित होता है। इसमें कभी किसी वर्ण की एक बार आवृति हो सकती है, और कभी अनेक बार। इस आधार पर वृत्त्यनुप्रास और छेकानुप्रास भेद हुआ करते हैं। वाक्य अथवा पद्य के आदि अथवा अन्त्यवर्णों की आवृत्ति होने से भी अनुप्रास के भेद किये जा सकते हैं, किन्तु इनमें से केवल अन्त्यानुप्रास नामक भेद की ही चर्चा आलंकारिकों ने की है

जब कभी वर्ण की आवृत्ति न होकर समानश्रुति वाली विभिन्न ध्वनियों की आवृत्ति हुआ करती है, तब उन स्थलों में विश्वनाथ तथा नरेन्द्र-प्रभसूरि आदि आचार्यों ने श्रुत्यनुप्रास स्वीकार किया है। स्मरणीय है कि श्रुत्यनुप्रास' को किसी भी आचार्य ने स्वतन्त्र अलंकार नहीं मानना चाहा है। विश्वनाथ आदि जिन आचार्यों ने इसको स्वीकार किया है, उन्होंने इसे अनुप्रास भेद के रूप में ही स्वीकार किया है स्वतन्त्र अलंकार के रूप में नहीं। (द्रष्टव्य अनुप्रास अलंकार)

श्लेष

श्लेष अलङ्कार सर्वप्रिय अलङ्कारों में अन्यतम है। केवल कुंतक एवं पण्डितराज जगन्नाथ दो ही ऐसे आचार्य हैं, जो इस अलङ्कार की चर्चा नहीं करते। भरतकृत नाट्यशास्त्र एवं अग्निपुराण में अलङ्कारों में श्लेष की चर्चा नहीं हुई है, किन्तु यहाँ गुणों में श्लेष की सर्वप्रथम गणना की गयी है (श्लेषः प्रसादः समता माधुर्यं सुकुमारता (ना.शा. २.११०)। दण्डी ने आचार्य भरत का अनुसरण करते हुए इसे गुणों में तो परिगणित किया ही है, अर्थालङ्कारों में भी अन्यतम माना है। भामह, शिलामेघ-सेन उद्भट, वामन, रुय्यक, शोभाकरमित्र, विद्यानाथ संघरक्खित, अमृतानन्दयोगिन्, वाग्भट (द्वितीय), अप्पयदीक्षित एवं नरेन्द्रप्रभसूरि शब्दश्लेष की चर्चा नहीं करते; किन्तु अर्थालङ्कारों के मध्य श्लेष अलंकार का सोदाहरण विवेचन करते हैं। जबकि रुद्रट, भोज, मम्मट, हेमचन्द्र, जयदेव, नरेन्द्रप्रभसूरि, भावदेवसूरि एवं नञ्राज यशोभूषण के रचयिता नरसिंह कवि ने इसका विवेचन शब्दालंकार और अर्था-लङ्कार दोनों में करते हुए इसका पृथक् पृथक् स्वरूप निर्धारित किया है। शब्दशक्तिमूला ध्वनि के द्वारा भी अनेक अर्थ का बोधन होता है। किन्तु उसका स्वरूप भी शब्दश्लेष और अर्थश्लेष दोनों से भिन्न है, यद्यपि प्रायः सभी आचार्यों ने श्लेष की परिभाषा देते हुये अनेक अर्थ की प्रतीति को ही लक्षक तत्त्व के रूप में स्वीकार किया है।

कहने का तात्पर्य यह है कि अनेकार्थता मात्र को श्लेष का लक्षण मानने पर शब्दश्लेश अर्थश्लेष एवं शब्दशक्तिमूला ध्वनि का सीमा विभा-जन सम्भव न हो सकेगा। इस सम्बन्ध में स्मरणीय है कि जहाँ प्रकरण

आदि (संयोगो विप्रयोगश्च साहचर्यं विरोधिता, अर्थः प्रकरणं लिङ्गं शब्दस्यान्यस्य सन्निधिः । सामर्थ्यमौचिती देशः कालो व्यक्तिः स्वरादयः, शब्दार्थस्यानवच्छेदे विशेषस्मृतिहेतवः । वाक्यपदीय) द्वारा अर्थ का नियमन नहीं होता, वहाँ **श्लेष अलङ्कार** होता है। श्लेषालंकार में अर्थ भेद का दर्शन होने से शब्दभेद का भी अनुमान कर लिया जाता है, क्योंकि केवल एक शब्द रहने पर उससे एक अर्थ का बोध होने पर शक्त्यन्तर के बिना अर्थान्तर की प्रतीति संभव नहीं है, तथा स्व अर्थ बोधन करके अभिधा के विरत हो जाने पर पुनः उसका उत्थान संभव नहीं है, अतः श्लेष अलंकार में अनेकार्थ बोधन के लिए अनेक शब्दों की कल्पना की जाती है। (अर्थभेदेन शब्दभेदः' सा० द० लोचन)।

शब्दश्लेष अलंकार और अर्थश्लेष अलंकारों के भेद विवेचन के सम्बन्ध में स्मरणीय है कि जहां दो भिन्न किन्तु समान श्रुति वाले शब्दों के द्वारा (जो एक बार में ही उच्चरित हों) क्रमशः निज निज अर्थ की प्रतीति हो रही है वहां **शब्दश्लेष** अलंकार होता है। **शब्दश्लेष** में यह अनिवार्य है कि शब्द का परिवर्तन कर देने पर उभयार्थ की प्रतीति न होगी। जहां शब्द में परिवर्तन करने पर भी उभयार्थ प्रतीति में व्याघात न हो वहाँ **अर्थश्लेष** होता है। (भिन्नयोरपि समानश्रुत्योः शब्दयोस्तत्तन्न्यायेन उच्चरितयोः क्रमेण स्वस्वार्थबोधनं यत्र तत्र शब्दश्लेषः। शब्दपरिवृत्तिसहत्वे त्वर्थश्लेषः। सा. द. लोचन)।

श्लेष और शब्दशक्तिमूला ध्वनि के मध्य अन्तर के प्रसंग में आचार्य आनन्दवर्धन की मान्यता है कि शब्दशक्तिमूलध्वनि केवल अलंकार-रूप ही हो सकती है, वस्तुरूप नहीं (आक्षिप्त एवालंकारः शब्दशक्त्या प्रकाशते। यस्मिन्ननुक्तशब्देन शब्दशक्त्युद्भवो हि सः। ध्वन्यालोक २.२०)। अतः जहाँ दो वस्तुरूप अर्थों की प्रतीति होती है, वहाँ **श्लेष अलङ्कार** ही होगा (वस्तुद्वये च शब्दशक्त्या प्रकाशमाने श्लेषः। ध्वन्यालोक वृत्ति २.२१) अलंकार प्रतीति में भी जहाँ शब्दशक्त्या साक्षात् अन्य अलंकार वाच्य रूप से प्रतीत होता है, वहां भी श्लेष **अलङ्कार** ही होता है। (यत्र शब्दशक्त्या साक्षादलंकारान्तरं वाच्यं सत्प्रतिभासते सः सर्वः श्लेषविषयः। वही वृ० २.२१ पृ० १६५)।

इसके विपरीत जहां शब्दशक्ति के सामर्थ्य से आक्षिप्त अलंकारान्तर की प्रतीति होती है, वहां **शब्दशक्तिमूला ध्वनि** होती है। (यत्र

तु शब्दशक्त्या सामर्थ्याक्षिप्तं वाच्यव्यतिरिक्तं, व्यङ्ग्यमेवालंकारान्तरं प्रकाशते स ध्वनेः विषयः (वही २.२१ पृ० १६५) । यदि अलंकारान्तर आक्षिप्त होकर प्रतीत हो रहा हो, किन्तु शब्दान्तर से उसके स्वरूप का अभिधान भी हो रहा हो, वहां **शब्द शक्तिमूलध्वनि** न होकर **श्लेष अलङ्कार** ही माना जाता है। (स चाक्षिप्तोऽलंकारो यत्र पुनः शब्दान्तरेणाभिहितस्वरूपस्तत्र च शब्दशक्त्युद्भवानुरणनरूपव्यङ्ग्य-ध्वनिव्यवहारः । (ध्वन्यालोक पृ० १६९) एवं जातीयकः सर्व एव भवतु कामं वाच्य (शब्द) श्लेषस्य विषयः। वही २.२१ पृ० १७०) उदाहरणार्थ—

तस्या विनाऽपि हारेण निसर्गादेव हारिणौ ।
जनयामासतुः कस्य विस्मयं न पयोधरौ ॥

यहां विरोधाभास की साक्षात्प्रतीति होने से **श्लेष अलङ्कार है ।**

दृष्ट्या केशव गोपरागहृतया किंचिन्न दृष्टं पुरा,
तेनैव स्खलिताऽस्मि नाथ पतितां किं नाम नालम्बसे ।
एकस्त्वं विषमेषु-खिन्नमनसां सर्वाबलानां गतिः
गोप्यैवं गदितः सलेशमवताद् गोष्ठे हरि र्वश्चिरम् ॥

इस पद्य में द्वितीय अर्थ की प्रतीति के लिए कवि ने 'सलेश' पद का निबन्धन कर दिया है, फलतः अभिधा ही प्रतिप्रसूत होकर द्वितीय अर्थ का बोध कराती है, अतः यहां भी **श्लेष अलङ्कार** ही होगा। इसके विपरीत :—

दत्तानन्दाः प्रजानां समुचितसमयाकृष्टसृष्टैः पयोभिः
पूर्वाह्णेविप्रकीर्णा दिशि दिशि विरमन्त्यह्नि संहारभाजः।
दीप्तांशोर्दीर्घदुःखप्रभवभवभयोदन्वदुत्तारनावो,
गावो वः पावनानां परमपरिमितां प्रीतिमुत्पादयन्तु ॥

इस पद्य में प्राकरणिक अर्थ के साथ ही शब्द शक्ति से आप्राकरणिक अर्थ की भी प्रतीति होने पर असम्बद्धार्थकता उपस्थित न हो अतः प्राकरणिक एवं अप्राकरणिक अर्थों के मध्य उपमानोपमेय भाव की कल्पना की जाती है, अतः यहां और ऐसे अन्य स्थलों में **शब्दशक्तिमूल उपमालङ्कार ध्वनि** होगी, **श्लेषालंकार** नहीं।

भेद-प्रभेद

श्लेष अलंकार दो प्रकार का है: (१) शब्दश्लेष, (२) अर्थश्लेष। विश्वनाथ के अनुसार शब्दश्लेष तीन प्रकार का है: सभङ्गश्लेष, अभङ्गश्लेष एवं उभयात्मक। शब्दश्लेष के उदाहरण के रूप में 'येन ध्वस्तमनोभवेन' इत्यादि पद्य को देखा जा सकता है। आनन्दवर्धन ने (पृ० १६४) इस पद्य को इसी रूप में उद्धृत किया था। इसकी व्याख्या करते हुए आचार्य अभिनवगुप्त इस पद्य का निम्नलिखित रूप से विष्णु और शिव पक्ष में अर्थ प्रस्तुत करते हैं। (विष्णु पक्ष में—"येन ध्वस्तं बालक्रीडायाम् अनः शकटम्। अभवेन अजेन सता, बलिनो दानवान् यो जयति तादृग् येन कायः वपुः पुराऽमृतहरणकाले स्त्रीत्वं प्रापितः। यश्च उद्वृत्तं समदं कालियाख्यं भुजङ्गं हतवान्। रवे शब्दे लयो यस्य 'अकारो विष्णुः' इत्युक्तेः। यश्च अगं गोवर्धनपर्वतं गां च भूमिं पातालगतामधारयत्। यस्य च नाम स्तुत्यमृषयः आहुः किं तत्, शशिनं मथ्नातीति क्विप्, तस्य शिरोहरः मूर्धापहारकः। स त्वां माधवः विष्णुः सर्वदः पायात्। कीदृक् अन्धकनाम्नां जनानां येन क्षयो निवासो द्वारकायां कृतः। यद्वा मौसले इषीकाभिस्तेषां क्षयो विनाशो येन कृतः। (लोचन पृ० ९५)।"

इसी पद्य का शिवपरक अर्थ अभिनव ने निम्नलिखित शब्दों में किया है 'येन ध्वस्तकामेन सता बलिजितः विष्णोः कायः पुरा त्रिपुरदहनावासरे अस्त्रीकृतः शरत्वं नीतः। उद्धृत्ता भुजङ्गा एव हारवलयाश्च यस्य। गंगां मन्दाकिनीं च योऽधारयत्। यस्य च ऋषयः शशिमत् चन्द्रयुक्तं शिर आहुः। हर इति च नाम स्तुत्यमाहुः। स भगवान् स्वयमेवान्धकासुरस्य विनाशकारी त्वां सर्वदा सर्वकालम् उमायाः धवो वल्लभः पायात्। (लोचन पृ० ९५-९६)।

प्रस्तुत पद्य में क्योंकि ध्वस्तमनोभवेन पद को 'ध्वस्तम् अनः अभवेन' तथा 'ध्वस्तःमनोभवः येन तेन' इन दो प्रकार से खण्ड (भङ्ग) करके अर्थ किया जाता है, अतः इस अंश में इसे सभङ्गश्लेष कहा जाएगा। तथा 'अन्धकक्षयकरः' पद में अन्धक+क्षय+कर एक ही प्रकार से खण्ड करके दो अर्थ प्राप्त होते हैं, अतः इस अंश में अभङ्गश्लेष कहा जाएगा। फलतः समग्र पद्य को उभयात्मक श्लेष का उदाहरण कह सकते हैं। क्योंकि इस प्रकार के उदाहरणों में समानार्थ

अन्य शब्द रख देने पर श्लेष समाप्त हो जाता है, अतः अन्वयव्यतिरेक के आधार पर इसे **शब्द श्लेष** कहा जाता है। **अर्थश्लेष** में समानार्थक अन्य पद को परिवर्तित कर देने पर भी **श्लेष अलंकार** अथवा दो अर्थों की प्रतीति में बाधा नहीं होती, अतः उसे **अर्थश्लेष** कहा जाता है।

श्लेष के इस प्रकार को शब्दालंकार माना जाए या अर्थालंकार इस विषय पर काव्यशास्त्र के आचार्यों में परस्पर ऐकमत्य नहीं है। उद्भट के अनुसार श्लेष (उनके शब्दों में श्लिष्ट) केवल एक अर्थालंकार है, तथा यह उनके अनुसार अर्थश्लेष एवं शब्दश्लेष भेद से दो प्रकार का होता है। विश्वनाथ के शब्दों में हम इन भेदों को क्रमशः अभङ्गश्लेष एवं सभङ्ग श्लेष कह सकते हैं (एक प्रयत्नोचार्य्याणां तच्छायां चैव बिभ्रताम् । स्वरितादिगुणैर्भिन्नैर्बन्धः श्लिष्टमिहोच्यते ॥ ...... द्विविधैरर्थशब्दोक्तिविशिष्टं तत्प्रतीयताम्। का० सा०सं० ४.९-१०)।

काव्य प्रकाशकार मम्मट ने उद्भट की मान्यता की कठोर शब्दों में आलोचना की है। उनका कहना है कि 'ननु स्वरितादिगुणभेदात् भिन्नप्रयत्नोच्चार्याणां, तदभावादभिन्नप्रयत्नोच्चार्याणां च शब्दानां बन्धेऽलंकारान्तरप्रतिभोत्पत्तिः शब्दश्लेषोऽर्थश्लेषश्चेति द्विविधोऽप्यलंकारमध्ये परिगणितोऽन्यैरिति कथमयं शब्दालंकारः। उच्यते। इह दोषगुणालंकाराणां शब्दार्थगतत्वेन यो विभागः सः अन्वयव्यतिरेकाभ्यामेव व्यवतिष्ठते । तथाहि कष्टत्वादिगाढत्वाद्यनुप्रासादयः व्यर्थत्वादि प्रौढ्याद्युपमादयस्तद्भावतदभावानुविधायित्वादेव शब्दार्थगतत्वेन व्यवस्थाप्यन्ते। 'स्वयं च पल्लवताम्र' इति अभङ्गः 'प्रभात सन्धीव' इति सभङ्गः, इति द्वावपि शब्दसमाश्रयाविति द्वयोरपि शब्दश्लेषत्वमुपपन्नम् ! नत्वाद्यस्यार्थश्लेषत्वम् । अर्थश्लेषस्य तु स विषयो यत्र शब्दपरिवर्तनेऽपि न श्लेषत्वखण्डना। यथा स्तोकेनोन्नतिमायाति स्तोकेनायात्यधो गतिम्। अहो सुसदृशीवृत्तिस्तुलाकोटेः खलस्य च। का०प्र० ५७८-५८३)। इस प्रकार मम्मट के मत में 'शब्द परिवृत्त्यसहश्लेष' शब्दश्लेष है तथा 'शब्द परिवृत्तिसह' अर्थश्लेष है।

रुय्यक श्लेष अलंकार को उद्भट के समान अर्थालंकारों में ही रखते हैं तथा इसके तीन भेद करते हैं: **शब्द श्लेष, अर्थ श्लेष** और **उभय श्लेष**। शब्दश्लेष अलंकार में वस्तुतः शब्द दो या अधिक होते हैं, उनमें स्वरित आदि स्वरों का भेद अनिवार्यतः होता है। किन्तु उनका

उच्चारण एक प्रयत्न से ही होता है, अत: सरेस आदि मसाले से चपके हुए दो काष्ठों की भाँति भिन्न होकर भी एक प्रतीत होते हैं। इसमें प्राय: पद भङ्ग होता है। अर्थश्लेष में स्वर आदि का भेद नहीं होता। उभय श्लेष वहाँ होता है जहाँ दोनों प्रकार एक पद्य में प्राप्त हों ('एष च शब्दार्थोभयगतत्वेन वर्त्तमानत्वात् त्रिविधः । तत्रोदात्तादिस्वर-भेदात् प्रयत्नभेदाच्च शब्दाश्रयत्वे शब्दश्लेषः, यत्र प्रायेण पदभङ्गो भवति। अर्थश्लेषस्तु यत्र स्वरादिभेदो नास्ति। अत एव तत्र न सभङ्ग-पदत्वम्। सङ्कलनया तूभयश्लेषः।' अ० स० पृ० १२३)

पंडितराज जगन्नाथ भी लगभग इसी सिद्धान्त को स्वीकार करते हैं ('सोऽयं श्लेषः सभङ्गोऽभङ्गश्चार्थालंकार एवेत्यौद्भटाः । उभावप्येतौ शब्दालंकारौ। शब्दस्य परिवृत्त्यसहत्वादन्वयव्यतिरेकाभ्यां तदाश्रितत्वावधारणात् । तृतीयस्त्वर्थाङ्कारः । अर्थमात्राश्रितत्वात् इति मम्मटाः। अन्वयव्यतिरेकाभ्यां हि हेतुत्वावगमो घटं प्रति दण्डा-देरिवास्तु। न त्वाश्रयत्वावगमः। स तु पुनस्तद्वृत्तित्वज्ञानाधीनः। इह हि सभङ्गश्लेषस्य शब्दद्वयवृत्तित्वं जतुकाष्ठन्यायेन, अभङ्गस्य चार्थ-द्वयवृत्तित्वमेकवृन्तगतफलद्वयवच्च स्फुटमेवेत्येकस्य शब्दालंकार-त्वमपरस्यार्थालंकारत्वम्···इत्यलंकारसर्वस्वकारादयः (रसगं. भा. ३ पृ० ४०१-४०२)।

कभी-कभी श्लेष एवं शब्दशक्तिमूला ध्वनि के मध्य सन्देह होने लगता है कि अन्यतम में किसे स्वीकार किया जाए। वस्तुत: दोनों का क्षेत्र परस्पर सर्वथा भिन्न है। श्लेष अलंकार में विशेष्य और विशेषण दोनों ही श्लिष्ट हुआ करते हैं। ध्वनि में भी दोनों श्लिष्ट हो सकते हैं, किन्तु दोनों में अन्तर यह है कि श्लेष में विशेष्य पद द्वारा प्राप्त दोनों अर्थ प्रस्तुत या अप्रस्तुत होते हैं, जबकि ध्वनि में वाचक शक्ति के नियमन के कारण केवल प्राकरणिक अर्थ ही वाच्य होता है। किन्तु विशेषण पदों के उभयार्थक होने के सामर्थ्य से व्यञ्जना द्वारा अन्यार्थ की प्रतीति होती है। विश्वनाथ द्वारा उद्धृत 'प्रवर्त्तयन् क्रियाः साध्वीः मालिन्यं हरितां हरन्। महसा भूयसा दीप्तो विराजति विभाकरः।' (सा०द० १०.५७ पृ० ५७०) पद्य में श्लेष है, क्योंकि यहां विभाकर पदवाच्य सूर्य एवं राजा विशेष दोनों ही प्रस्तुत हैं। इसके विपरीत 'दुर्गालंघितविग्रहो' इत्यादि पद्य में प्रकरण से पता चलता है कि यहां

प्रस्तुत अर्थ उमादेवी का पति राजा है एवं अमेस्तुत शिवरूप अर्थ की प्रतीति व्यञ्जना शक्ति के माध्यम से होती है। इसी प्रकार ध्वन्यालोक में उद्धृत—

'उन्नतः प्रोल्लसद्हारः कालागुरुमलीमसः।
पयोधरभरस्तन्व्याः कं न चक्रेऽभिलाषिणम्।"

पद्य में प्रस्तुत स्त्री वर्णन है तथा व्यंजना शक्ति के कारण मेघ विषयक अर्थ की प्रतीति होती है। तथा दोनों अर्थों में असम्बद्धार्थकता के निराकरण के लिए उपमा अलंकार भी व्यंग्य होता है। गोविन्द ठकुर ने इस तथ्य को निम्नलिखित शब्दों में प्रगट किया है :—यत्रोभयोस्तात्पर्यं स श्लेषः। यत्र त्वेकस्मिन्नेव तत् सामग्रीमहिम्ना तु द्वितीयार्थप्रतीतिः सा व्यञ्जना।" (का० प्रदीप पृ० ५५)। इसे ही विद्याधर ने निम्नलिखित शब्दों में स्पष्ट किया है :—'विशेष्यविशेषणसाम्येन पुनर्यत्र प्रकरणादिना प्रकृतार्थ एव श्रृंखलितायामभिधायामप्रकृतार्थाभिधानाय सामर्थ्यविधुरत्वेऽपि शब्दस्याप्रकृतार्थोऽपि प्रतीतिसरणिमनुसरति तत्र शब्दशक्तिमूलानुरणनरूपव्यंग्यो ध्वनिः।" (एका० पृ० २६१)

श्लेष और समासोक्ति में भी परस्पर अन्तर स्पष्ट है : श्लेष में विशेषण और विशेष्य दोनों श्लिष्ट होते हैं, जबकि समासोक्ति में केवल विशेषण श्लिष्ट होता है। श्लेष में दोनों अर्थ या तो प्रस्तुत होते हैं अथवा अप्रस्तुत, जबकि समासोक्ति में एक प्रस्तुत होता है और दूसरा अप्रस्तुत (केवलविशेषणसाम्यं समासोक्तावुक्तं, विशेष्ययुक्तविशेषणसाम्यं त्वधिकृत्येदमुच्यते।" अ० स० पृ० १२१। "नायं समासोक्तिः, विशेषणमात्रसाम्यस्य तां प्रति प्रयोजकत्वात्। विशेष्यविशेषणसाम्यमधिकृत्य चास्य (श्लेषस्य) प्रवृत्तत्वात्।" एका० पृ० २५९। "यत्र तु न विशेष्ये श्लेषः नापि द्वितीयार्थोपस्थितिं विनाऽन्वयानुपपत्तिः, तत्र प्रस्तुतान्वयबोधोत्तरं विशेषणश्लेषमात्रमाहात्म्येन अप्रस्तुतवृत्तान्ते उपस्थिते व्यञ्जनया तदभिन्नप्रस्तुतवृत्तान्तारोपः प्रकृते तत्र समासोक्तिः।" का० प्र० प्र० उद्योत पृ० ७२)।

श्लेष अलंकार के सम्बन्ध में एक बात और ध्यान देने की है कि श्लेष की अन्य अलंकारों के साथ सहभाव की प्रायः सभी आलंकारिकों

ने चर्चा की है। यहाँ प्रश्न यह हो सकता है कि अन्य अलंकारों के साथ विद्यमान श्लेष (१) सभी अलंकारों का बाधक होकर स्थित रहता है अथवा (२) यह अन्य अलंकारों से बाध्य होकर स्थित होता है, अथवा (३) बाध्यबाधक भाव के बिना इनका परस्पर सांकर्य होता है? (अयं चालंकारः प्रायेणालङ्कारान्तरस्य विषयमभिनिविशते, तत्र किमस्य बाधकत्वं स्यादाहोस्वित्संकीर्णत्वमुताहो बाध्यत्वम्। रसगं० भा. ३ पृ०३६३) इनमें से प्रथम पक्ष उद्‌भट का है। क्योंकि उनके अनुसार इसमें पदों द्वारों अलंकारान्तर की प्रतिभा प्रगट होती है (अलंकारान्तरगतां प्रतिभां जनयत्पदैः। द्विविधैरप्य शब्दोक्तिविशिष्टं तत्प्रतीयताम्। का० सा० सं० ४.२५) अतः इसे अन्य अलंकारों का बाधक होना चाहिए। विद्याचक्रवर्त्ती का भी यही मत है (शब्दार्थोभयनिष्ठोऽयं सर्वालंकार-बाधकः। अ० स० निकृष्टार्थकारिका ६५) (इत्यलंकारान्तर विविक्तोऽयं श्लेषस्य विषय इति नाशंकनीयम्। अपह्नुतेरत्र विद्यमान-त्वात्।···तेनालंकारान्तरविविक्तो नास्य विषयोऽस्तीति सर्वा-लंकारापवादोऽयम् इति स्थितम्। अ०स०पृ० १३१-१३२)।

दूसरा पक्ष दण्डी एवं जगन्नाथ का कहा जा सकता है। जिनकी मान्यता है कि सभी अलंकारों के बीच श्लेष विद्यमान रहता है और उनकी शोभा बढ़ाता है (श्लेषः सर्वासु पुष्णाति प्रायो वक्रोक्तिषु श्रियम्। द्विधा भिन्नं स्वभावोक्तिर्वक्रोक्तिश्चेति वाङ्मयम् (का० द० ३६३)। एवम् अयं चोपमेव स्वतन्त्रोऽपि तत्र-तत्र सकलालंकारानु-ग्राहकतया स्थितः सरस्वत्या नवं नवं सौभाग्यमावहन्नानाविधेषु लक्ष्येषु सहृदयैर्विभावनीयः इति (रसगं० भा० ३, पृ० ३२७)। 'अत्राहुरुद्‌भटाचार्या :—'येन नाप्राप्ते य आरभते स तस्य बाधकः' इति न्यायेनालंकारान्तरविषयः एवायमारभ्यमाणोऽलंकारान्तरं बाधते नचास्य विविक्तः कश्चिदस्य विषयो यत्र सावकाशो नान्यं बाधेत।'···तस्मादुपमादिप्रतिभोत्पत्तिहेतुः श्लेष एव स्वविषये सर्वत्रा-लंकार इति। (२) एतच्चापरे न क्षमन्ते···श्लेषस्य नापवादकत्वंसंकीर्ण त्वं तु स्यात्। (३) अलंकारान्तरोपस्कारकतया स्थितः श्लेषः कथंकारं स्वगृहस्थ इव श्लेषालंकारव्यपदेशं वोढुमीष्टामिति बाध्यप्राय एव इत्याहुः। (रसगं० भा० ३ पृ० ३०३-३०५, ३०८)

तृतीय पक्ष मम्मट आदि कुछ आलंकारिकों का है। उनके अनुसार

क्योंकि 'देव ! त्वमेव' इत्यादि पद्य में उपमा आदि से स्वतन्त्र श्लेष का विषय है, तथा वह अन्य अलंकारों का बाधक नहीं है, फलतः जहां श्लेष का अन्य अलंकारों के साथ सहभाव है, वहां संकर अलंकार ही मानना चाहिए ('देव ! त्वमेव पातालमाशानां त्वं निबन्धनम् । त्वं चामर-मरुद्भूमिरेको लोकत्रयात्मकः ।। इत्यादिः श्लेषस्य चोपमाद्यलंकार-विविक्तोस्ति विषयः इति द्वयोर्योगे संकर एव' (का० प्र० पृ० ५८६-८७)। इसे ही स्पष्ट करते हुए भट्टवामन ने कहा है कि :—"एवं च श्लेषस्योपमाद्यसंकीर्णविषयसत्त्वात् सामान्यविशेषभावोनास्तीति नोपमा बाधकत्वं श्लेषस्येति सिद्धम् । ततश्चालंकारान्तरयोरुपमा-श्लेषयोरप्येकत्रोपनिपाते संकरालंकार एव युक्त इति वरमभ्युपगन्तव्य मित्याह द्वयोर्योगे संकर एवेति ।" (बालबोधिनी पृ० ५८७) । रुय्यक ने इन तीनों पक्षों को इस प्रकार प्रस्तुत किया है :—एष च नाप्राप्तेषु अलंकारान्तरेष्वारभ्यमाणस्तद्बाधकत्वेन तत्प्रतिभोत्पत्तिहेतुरिति-केचित् । 'येन ध्वस्तमनोभवेन' इत्यादौ विविक्तोऽस्य विषय इति निरवकाशत्वाभावान्नान्यबाधकत्वमित्यन्यैः सह संकरः । दुर्बलत्वा-भावान्नान्यबाध्यत्वमित्यन्ये (अ० स० पृ० १२५) ।

इस अलंकार के विभाजन के सम्बन्ध में मुख्य रूप से दो सम्प्रदाय हैं। जयदेव एक-२ पदों के पृथक् पृथक् अर्थों का वाचक होने पर खण्डश्लेष मानते हैं एवं पदस्तोम (पद समूह) के पृथक् अर्थवाची होने पर भङ्गश्लेष स्वीकार करते हैं (खण्डश्लेषः पदानां चेदेकैकं पृथगर्थता । भङ्गश्लेषः पदस्तोमस्यैव चेत्पृथगर्थता । चन्द्रालोक ५.६१.६२) । रुद्रट के अनुसार वर्ण, पद, लिङ्ग, भाषा, प्रकृति, प्रत्यय, विभक्ति एवं वचन भेद से यह आठ प्रकार का है । विश्वनाथ भी रुद्रट स्वीकृत इन भेदों को ही अविकल रूप से स्वीकार करते हैं । सरस्वतीकण्ठा-भरणकार भोज वर्णश्लेष एवं लिङ्गश्लेष की चर्चा नहीं करते, अतः उनके अनुसार शब्दश्लेष के केवल ६ भेद ही होते हैं। मम्मट ने रुद्रट स्वीकृत आठ भेदों को अविकल रूप से स्वीकार करके एक नवम प्रकार का श्लेष भी माना है, जहां प्रकृति आदि आठों तत्त्व अलग अलग श्लिष्ट नहीं होते, किन्तु फिर भी अन्यार्थ की प्रतीति होती है (भेदा-भावात्प्रकृत्यादेर्भेदोऽपि नवमो भवेत् । (का० प्र० सू० १२० का० ८५) आचार्य हेमचन्द्र प्रकृति प्रत्यय आदि श्लेष मानते हुए भी सभङ्ग एवं

अभङ्ग श्लेष भी मानते हैं। विश्वनाथ जहां रुद्रट उद्भावित शब्द श्लेष के आठ भेदों को स्वीकार करते हैं, वहीं वे हेमचन्द्र स्वीकृत सभङ्ग और अभङ्ग श्लेष भेदों को साथ ही सभङ्ग एवं अभङ्ग के संयुक्त रूप उभयात्मक श्लेष भेद को भी स्वीकार करते हैं। अन्य आलंकारिकों में नरेन्द्रप्रभसूरि एवं केशव मिश्र ने भी रुद्रट उद्भावित वर्ण प्रकृति आदि आठों श्लेष भेदों को स्वीकार किया है। आचार्य हेमचन्द्र ने उपर्युक्त आठ भेदों के अतिरिक्त विविध भेदों की कल्पना की है जिससे उनकी कुल संख्या सत्तावन हो गयी है । शब्दश्लेष को स्वीकार करने वाले आचार्यों में से विष्णुधर्मोत्तर पुराणकार एवं भावदेवसूरि तथा नञ्राजयशोभूषणकार नरसिंह कवि ने इस अलंकार के भेद प्रभेदों की कोई चर्चा नहीं की।

प्रतिकूलतामुपगते हि विधौ विफलत्वमेति बहु साधनता।
अवलम्बनाय दिनभर्तुरभून्न पतिष्यतः करसहस्रमपि ॥

पद्य में चन्द्रवाचक 'विधु' शब्द एवं भाग्य अथवा विधातावाचक विधि के सप्तमी एकवचनान्त रूप समान होने से यहाँ वर्णश्लेष हैं। 'कर' पद से किरण एवं हाथ इन दो अर्थों की प्रतीति होने से यहां पदश्लेष भी है।

किरणा हरिणाङ्कस्य दक्षिणश्च समीरणः,
कान्तोत्सङ्गजुषां नूनं सर्व एव सुधाकिरः।

इस पद्य में सन्धिविच्छेद की स्थिति में सर्वः और सर्वे दोनों ही सम्भव हैं अतः यहां वचन श्लेष भी है। 'सर्वे' बहुवचनान्त पाठ की स्थिति में विधेय 'सुधाकिरः' पद क्विप् प्रत्यान्त; एवं 'सर्वः' एकवचनान्त पाठ की स्थिति में क प्रत्यान्त होने से वचन एवं प्रत्यय श्लेष समान रूप से माना जाएगा।

विकसन्नेत्रनीलाब्जे तथा तन्व्या स्तनद्वयी।
तव दत्तां सदामोदं लसत्तरलहारिणी ॥

इस पद्य में नेत्राब्जे और स्तनद्वयी के विशेषण 'हारिणी' में नपुंसक लिङ्ग द्विवचन एवं स्त्रीलिङ्ग एक वचन अर्थ की प्रतीति होने से लिङ्ग एवं वचन श्लेष एक साथ है।

अयं सर्वाणि शास्त्राणि हृदिज्ञेषु च वक्ष्यति।
सामर्थ्यकृदमित्राणां मित्राणां च नृपात्मजः॥

इस पद्य में हृदय के अधिकरण होने पर ज्ञानार्थवाची 'वह्' धातु एवं 'ज्ञ' की अधिकरणता में कथनार्थक वह् धातु का तथा सामर्थ्यकृत्' पद में अमित्र से सम्बन्ध की स्थिति में कृन्त्' धातु एवं मित्र से सम्बन्ध की स्थिति में 'कृ' धातु होने से धातुश्लेष है।

पृथुकार्त्तस्वरपात्रं भूषितनिःशेषपरिजनं देव।
विलसत्करेणुगहनं सम्प्रति सममावयोः सदनम्॥

विश्वनाथ इस पद्य में प्रकृतिश्लेष मानते हैं, पदश्लेष नहीं, किन्तु लोचनकार पदश्लेष न मानकर प्रकृतिश्लेष स्वीकार करते हैं। इनका कहना है कि यहां विभक्ति लिङ्ग और वचन आदि सभी समान हैं केवल (प्रातिपदिकों) में भेद होने से प्रकृतिश्लेष ही मानना चाहिये। उनकी यह भी मान्यता है कि समस्त पद 'पृथुकार्त्तस्वरपात्रम्' में पृथुक आर्तस्वर पात्र अथवा पृथु कार्त्तस्वर (सुवर्ण) पात्र पदच्छेद करने पर समासगत प्रकृतियों में ही श्लेष मानना चाहिये, विभक्त्यन्त पदों में नहीं। क्योंकि इसी प्रकरण में विश्वनाथ स्वयं कहते हैं कि शब्दों के श्लिष्ट होने पर जहां विभक्तियों में भेद न हो वहां प्रकृति श्लेष ही मानना चाहिये। (शब्दानां श्लिष्टत्वेऽपि विभक्तेरभेदात्प्रकृतिश्लेष एव। साहित्यदर्पण) जहां विभक्ति और प्रकृति दोनों में ही श्लेष हो वहां पदश्लेष मानना चाहिए। इसीलिए विश्वनाथ नीतानामाकुलीभावम्' इत्यादि पद्य में लुब्ध-बहेलिया/ लोभी, शिलीमुख-वाण भ्रमर आदि शब्दों में श्लेष रहने पर भी विभक्ति अभेद के कारण प्रकृतिश्लेष ही मानते है, पदश्लेष नहीं।

सर्वस्वं हर सर्वस्य त्वं भवच्छेदतत्परः।
नयोपकारसाम्मुख्यमायासि तनुवर्त्तनम्॥

पद्य को विभक्ति श्लेष के उदाहरण के रूप में प्रस्तुत किया गया है, क्योंकि यहां प्रथम एवं द्वितीय चरण में प्रयुक्त क्रमशः 'हर' एवं 'भव' पदों में श्लेष है। हर पद एक ओर शिव के लिए सम्बोधन होने से सुप् (सम्बोधने प्रथमा) विभक्त्यन्त है और दूसरी ओर 'भू' धातु से विध्यर्थ में विहित लोट् लकार मध्यम पुरुष एकवचन होने से तिङ् विभक्त्यन्त

है; अतः यहाँ विभक्ति श्लेष माना जाता है।

यहां प्रश्न हो सकता है सुप् तिङ् विभक्तियां भी तो प्रत्यय अधिकार में विहित होने से प्रत्यय हैं, अतः इन्हें (विभक्त्यन्त उदाहरणों को) प्रत्ययश्लेष मानने से भी काम चल सकता है। विभक्तिश्लेष नामक पृथक् श्लेष मानने की क्या आवश्यकता है? आचार्य विश्वनाथ इस प्रसङ्ग में इतना ही कहना पर्याप्त समझते हैं कि सामान्य प्रत्ययगत चमत्कार की अपेक्षा सुबन्त एवं तिङन्त विभक्तियों के श्लेष में सहृदय-जनों को चमत्कार विशेष (प्रत्ययश्लेष के चमत्कार से भिन्न चमत्कार) की अनुभूति होती है, अतः विभक्तिश्लेष भेद की गणना स्वतन्त्र रूप से की गई है।

विश्वनाथ ने श्लेषालंकार के भेदों में भाषाश्लेष नामक श्लेष भी अपने पूर्ववर्ती आचार्यों के समान ही स्वीकार किया है। किन्तु एक प्रकार के शब्दों द्वारा ही एक पद्य में अनेक भाषाओं में समान रूप से अर्थप्रतीति होने पर उन्होंने **भाषासम अलंकार** स्वीकार किया है। यहां सन्देह हो सकता है कि दोनों अलंकारों में समान प्रकार की पद योजना होने पर अनेक भाषाओं की स्थिति से यहां उन भाषाओं के अनुसार अर्थबोध होता है, तो दो पृथक् अलंकारों को मानने की क्या आवश्यकता है? इस सन्देह का अत्यन्त संक्षिप्त समाधान यह है कि **भाषासम** अलंकार में भाषा भेद से वाक्यार्थ में भी भेद होता है, अतः दोनों को पृथक्-पृथक् स्वीकार करना ही उचित है।

सभङ्ग और अभङ्ग श्लेष क्योंकि पूर्वोक्त वर्ण श्लेषादि में ही हुआ करते हैं, अतः उन आठ भेदों में तीन का गुण होने से कुल (८ × ३ = २४) भेद हो सकते हैं।

सभङ्ग श्लेष तो शब्द श्लेष ही होना चाहिए, 'अभङ्ग श्लेष' को भी अर्थ श्लेष मानना उचित नहीं है, क्योंकि सभङ्ग श्लेष में उदात्त आदि भिन्न स्वर एवं भिन्न प्रयत्न से उच्चार्यमाणता आदि के कारण भिन्न शब्दों का 'जतुकाष्ठन्याय' से श्लेष होता है। अभङ्ग श्लेष में तो प्रयत्न आदि के अभेद के कारण शब्दों में भी अभेद रहने पर एक वृन्तगत दो फलों की भांति एक शब्द से दो अर्थों की प्रतीति होने पर 'यो यदाश्रितः स तदलंकारः' इस सिद्धान्त के अनुसार सभङ्ग श्लेष को शब्दालंकार एवं अभङ्ग श्लेष को अर्थालंकार मानना चाहिये,

यह सन्देह हो सकता है रुय्यक आदि आचार्य पूर्वाचार्यों के इस सिद्धान्त को ही स्वीकार करते हैं, किन्तु इस प्रसङ्ग में ध्यान देने योग्य बात यह है कि ध्वनि सिद्धान्त के प्रवर्तक आचार्य आनन्दवर्धन के अनुसार शब्द शक्तिमूलाध्वनि एवं अर्थशक्तिमूला ध्वनि का विभाजन अथवा शब्दशक्तिमूल गुणीभूत व्यङ्ग्य एवं अर्थशक्तिमूल गुणीभूतव्यङ्ग्य का निर्धारण केवल इसी आधार पर किया जाता है कि उसकी प्रतीति में शब्दगत प्राधान्य है अथवा अर्थगत। अन्यथा शब्द और अर्थ परस्पर सापेक्ष हैं और पूर्ण सम्पृक्त है, बिना अर्थ के किसी शब्द की कहीं भी अवस्थिति नहीं है, अर्थ भी शब्द के बिना न तो प्रगट हो सकता है और न संज्ञा आदि (शब्दों) के बिना अर्थात् इससे सर्वथा परे होकर अर्थ का बोध ही सम्भव है। इसलिए उनका प्राधान्य अथवा और अप्राधान्य ही शाब्दी व्यञ्जना और आर्थी व्यञ्जना अथवा शब्दशक्तिमूला एवं अर्थशक्तिमूला ध्वनि के विभाजन का हेतु स्वीकार किया जाता है इसी प्रकार शब्द दोषों और अर्थ दोषों, शब्द गुणों और अर्थगुणों, तथा शब्दालंकारों और अर्थालंकारों के मध्य विभाजन का आधार यही स्वीकार किया जाता है कि जहां शब्द परिवर्तन से, उक्त काव्य तत्त्व (दोष गुण अलंकार आदि) का व्याघात हो जाये, वहां उसे शाब्द अर्थात् शब्द दोष आदि माना जाय एवं जहां अर्थ को अक्षुण्ण रखते हुए शब्द में परिवर्तन करने पर भी कोई अन्तर न आये वहां अर्थ दोष आदि होने चाहिये। शब्द परिवृत्तिसहत्व और असहत्व को इस प्रसङ्ग में विभाजक मानना चाहिए। शब्द श्लेष में सामान्य रूप से भले ही एक शब्द ही दृष्टिगोचर हो रहा हो, किन्तु वस्तुतः वहां एक शब्द में अनेक शब्द श्लिष्ट रहते हैं। 'प्रतिकूलतामुपगते' इत्यादि इसके उदाहरण हैं। यहाँ 'कर' आदि शब्दों के स्थान पर अन्य समानार्थक हस्त आदि शब्दों का प्रयोग करने से श्लिष्टार्थ की प्रतीति नहीं होती, अतः उसमें शब्दालंकारत्व होगा। 'स्तोकेनोन्नतिमायाति' में शब्द परिवर्तन से भी श्लिष्ट अर्थ में कोई व्याघात नहीं, अतः यहां अर्थ श्लेष मानना ही उचित है।

कुछ लोगों की मान्यता है कि यह अलंकार अन्य अलंकारों के बिना दृष्टिगोचर नहीं होता, जबकि अन्य अलंकार श्लेष के बिना सम्भावित हैं। अतः अन्यथानुपपत्त्या श्लेष को अन्य सभी अलंकारों का बाधक

माना चाहिये। यथा—

'उपोढरागेण विलोल तारकं तथा गृहीतं शशिना निशामुखम्।
यथा समस्तं तिमिरांशुकं तया पुरोपरागाद् गलितं न लक्षितम्'।

अर्थात् 'चन्द्रमा ने बढ़ते हुये राग (लालिमा/प्रेम) के साथ चञ्चल (तारे/आंखों के तारक) वाले निशा के मुख (प्रारम्भ/मुख) को इस प्रकार से ग्रहण किया कि उसने (नायिका रूप निशा ने) समस्त तिमिर रूपी अंशुक को सामने से स्खलित होते हुए भी कभी नहीं देखा।' इस पद्य में 'राग,' 'तारक,' और 'मुख' पदों से दो-दो अर्थों की प्रतीति होती है। एक की संगति निशा अर्थ के साथ और दूसरे अर्थ की संगति नायिका अर्थ के साथ होती है। इस प्रकार दो अर्थों की प्रतीति होने पर भी क्योंकि द्वितीय अभिधेय न होकर व्यङ्ग्य है। अतः यहाँ श्लेष अलङ्कार की कल्पना भी सम्भव नहीं है। इसी प्रकार—

एणालं सम्भ्रमेण, त्यज गवय! भयं सैरिभ! स्वैरमास्व
क्षोभं मा यास्तरक्षो! विहर गिरिदरीः स्वेच्छयैवाच्छभल्ल।
पारिन्द्रः पारदृश्वा निखिलवनभुवः केवलं मोदतेऽसौ
माद्यत्कुम्भीन्द्रकुम्भस्थलगलितघनस्थूलमुक्ताफलौघैः।

प्रस्तुत पद्य में अप्रस्तुत सिंह की प्रशंसा द्वारा प्रतीयमान अर्थ राजप्रशंसा की प्रतीति होती है, किन्तु यह अर्थ अभिधेय नहीं है, अतः यहां भी श्लेष अलंकार की सम्भावना नहीं है।

विद्वन्मानसहंस! वैरिकमलासंकोचदीप्तद्युते!
दुर्गामार्गणनीललोहित! समित्स्वीकार वैश्वानर!
सत्यप्रीतिविधानदक्ष! विजय प्राग्भावभीम प्रभो!
साम्राज्यं वरवीर! वत्सरशतं वैरिञ्चमुच्चैः क्रियाः॥

प्रस्तुत पद्य में श्लिष्ट परम्परित रूपक अलंकार है। यहां 'मानस' इत्यादि पदों द्वारा 'चित्त' एवं 'सरोवर' रूप दो अर्थों की प्रतीति होने पर भी द्वितीय अर्थ की संगति रूपक के ही माध्यम से हो पाती है, अतः श्लेष अलंकार रूपक अलंकार द्वारा बाधित हो जाता है। विरोधाभास तथा पुनरुक्तवदाभास अलंकारों में भी क्रमशः विरुद्ध रूप एवं पुनरुक्त रूप अर्थ केवल आभासित मात्र होता है। प्राकरणिक अर्थ के समकक्षतया उसकी प्रतीति नहीं होती, अतः यहां भी श्लेष अलंकार नहीं

माना जा सकता। क्योंकि श्लेष में दोनों अर्थों की समकक्षता अनिवार्य रूप से आवश्यक है। अतएव दोनों ही अर्थों के प्राकरणिक होने पर 'येन ध्वस्तमनोभवेन' इत्यादि पद्य में एवं दोनों ही अर्थों के अप्राकरणिक होने पर 'नीतानामाकुलीभावम्' इत्यादि पद्य में श्लेष अलंकार माना जाता है। प्राकरणिक अथवा अप्राकरणिक अर्थों में एक धर्मों से अभिसम्बन्ध होने के कारण जहां तुल्योगितालंकार रहता है, (पदार्थानां प्रस्तुतानामन्येषां वा यदा भवेदेकधर्माभिसम्बन्धः स्यात्तदा तुल्योगिता। सा० द० १०.४८), वहां निरवकाश होने के कारण (निरवकाशो विधिः बलीयान्। परिभाषेन्दु शेखर) एवं श्लेष में चमत्कारातिशय होने के कारण श्लेष अलंकार ही मानना उचित है।

'स्वेच्छोपजातविषयोऽपि' इत्यादि पद्य में प्राकरणिक अर्थ अल्प बुद्धि स्वामी एवं अप्राकरणिक अर्थ प्रसूनविशिख (काम) में एक धर्माभिसम्बन्ध के कारण जहां दीपक अलंकार रहता है ('अप्रस्तुतप्रस्तुतयोः दीपकं तु निगद्यते।' सा० द० १०.४९) वहां भी श्लेष निरवकाश है और अतिशय चमत्कारी भी; अतः यहाँ श्लेष अलंकार को दीपक अलंकार का बाधक होना चाहिए।

'सकलकलं पुरमेतज् जातं सम्प्रति सुधांशु बिम्बमिव' इत्यादि उपमालंकार के उदाहरण में भी यही स्थिति है। इन अलंकारों के क्षेत्र से बाहर श्लेष अलंकार की सम्भावना ही नहीं बन पाती, जबकि श्लेष के अभाव में भी तुल्योगिता आदि अलंकारों के असंख्य उदाहरण हैं, अतः ऐसे सभी-सभी स्थलों में श्लेष अलंकार मानना ही उचित है अन्यथा श्लेष अलंकार का क्षेत्र ही सन्दिग्ध हो जाएगा।

कहने का तात्पर्य यह है कि श्लेष निरवकाश नहीं रहता है, क्योंकि 'येन ध्वस्तमनोभवेन' इत्यादि पद्य में श्लेष अलंकार ही है। तुल्योगिता अलंकार में प्राकरणिक और अप्राकरणिक अर्थों में दोनों को वाच्य नहीं होना चाहिए। अतः तुल्ययोगिता की सम्भावना स्वीकार करने पर एक अर्थ को व्यङ्ग्य मानना पड़ेगा। ऐसी स्थिति में श्लेष की कल्पना कैसे सम्भव हो सकेगी। अतः 'येनध्वस्तमनोभवेन' इत्यादि पद्य में स्वतन्त्र रूप से श्लेष अलंकार ही माना जाएगा।

इसके साथ यह भी स्मरणीय है कि तुल्ययोगिता अलंकार में प्राकरणिक और अप्राकरणिक धर्मरूप अर्थों में अभिसम्बद्ध धर्म एक ही

रहता है, (एकधर्माभिसम्बन्धात्तुल्ययोगिता सा० द० १०.४८) अनेक नहीं। जबकि 'येनध्वस्तमनोभवेन' आदि पद्य में अनेक धर्मियों में अभिसम्बद्ध धर्म पृथक् पृथक् हैं एक नहीं है। अतएव यहाँ तुल्योगिता अलंकार नहीं हो सकता।

'सकलकलम्' इत्यादि पद्य में यदि श्लेष अलंकार स्वीकार किया जाएगा तो पूर्णोपमा अलंकार के लिए कहीं अवकाश ही नहीं बच सकेगा। क्योंकि जिस प्रकार 'सकलकलम्' इत्यादि पद्य में शब्द श्लेष को पूर्णोपमा का बाधक मानेंगे उसी प्रकार कमलमिव मुखं मनोज्ञमेतत्' इत्यादि पद्य में श्लेष को उपमा का बाधक मानना होगा।

यहां एक प्रश्न यह हो सकता है कि उपमा अलंकार उपमान और उपमेय के मध्य साम्य रहने पर होता है, तथा साम्य के लिए उपमान और उपमेय में समान गुण अथवा क्रिया का होना आवश्यक है, किन्तु 'सकलकलम्' इत्यादि पद्य में गुण अथवा क्रियामूलक साम्य नहीं है, अत: इस पद्य में उपमा अलंकार कैसे हो सकता है ? इस प्रश्न के उत्तर में विश्वनाथ ने आचार्य रुद्रट के 'स्फुटमर्थालंकारौ' (काव्या० ४.३२) को उद्धृत करते सिद्धान्ततः स्वीकार किया है कि गुण और क्रिया साम्य के समान ही शब्द साम्य भी उपमा का प्रयोजक है।

यहाँ यह विचारणीय हो सकता है कि उपमान और उपमेय में समानगुण अथवा क्रिया के विद्यमान रहने पर वास्तविक साधर्म्य रहता है, अत: गुण साम्य और क्रिया साम्य को उपमा का प्रयोजक मानना उचित है। किन्तु शब्द साम्य की स्थिति में साधर्म्य वास्तविक नहीं रहता, अत: इस स्थिति में शब्दश्लेष युक्त 'सकलकलम्' इत्यादि पद्य में वास्तविक साम्य के अभाव में उपमा की सम्भावना का प्रश्न ही नहीं है। अर्थश्लेष विशिष्ट 'कमलमिव मुखं मनोज्ञमेतत्' इत्यादि पद्य में गुण और क्रिया के साम्य के कारण वास्तविक साधर्म्य होने से पूर्णोपमा की सम्भावना होगी और 'निरवकाशो विधिः बलीयान्' सिद्धान्त का का अनुसरण करते हुए अन्यथानुपपत्त्या पूर्णोपमा अलंकार ही माना जाएगा। अर्थात् यहां अर्थश्लेष पूर्णोपमा का बाधक न होगा।

आचार्य मम्मट आदि उपर्युक्त पक्ष का निषेध करते हुए कहते हैं कि उपमा का आधार मूलत: साधर्म्य है (साधर्म्यमुपमा भेदे'। का. प्र. ८७) वह चाहे गुणमूलक हो या क्रियामूलक अथवा शब्द साम्यमूलक

इससे कोई अन्तर नहीं पड़ता। जहाँ तक साधर्म्य के वास्तविक और अवास्तविक होने का प्रश्न है, सादृश्यमूलक अलंकारों में उसका (वास्तविकता और अवास्तविकता का) कोई महत्त्व नहीं है।

रूपक अलंकार भी साधर्म्य मूलक अलंकार है। आचार्य मम्मट रुय्यक आदि प्रायः सभी मध्य एवं उत्तरकालीन आचार्यों ने इसके उदाहरण के रूप में 'विद्वन्मानसहंस' पद्य को उद्धृत किया है। किन्तु क्या विद्वानों के मानस (चित्त) और मानसरोवर के मध्य अथवा प्रस्तुत राजा एवं अप्रस्तुत पक्षी हंस आदि के मध्य गुण क्रिया साम्य विद्यमान है? कदापि नहीं। ऐसी स्थिति में भी मम्मट आदि आचार्यों के द्वारा इस पद्य में रूपक अलंकार स्वीकार करने से यह स्पष्ट रूप से परि-लक्षित होता है कि सादृश्य मूलक अलंकारों के प्रसङ्ग में काव्यशास्त्र के आचार्यों की दृष्टि में साधर्म्य की वास्तविकता और अवास्तविकता का कोई महत्त्व नहीं है।

साथ ही यह भी स्मरणीय है कि जहाँ कहीं श्लेष और उपमा की एकत्र विद्यमानता दृष्टिगोचर होती है, वहां विचारणीय होगा कि दोनों में प्रधानता किसकी है? परीक्षा करने पर सर्वत्र एक ही तथ्य सामने प्रगट होता है कि श्लेष साम्य का निर्वाहक है, साम्य श्लेष का निर्वाहक नहीं है। फलतः उपमा को ही प्रधान मानना उचित होगा एवं 'प्राधान्येन व्यपदेशाः भवन्ति' इस सिद्धान्त के अनुसार ऐसे स्थलों पर उपमा आदि अलंकारों को स्वीकार करना ही प्रशस्त होगा।

श्लेष और उपमा आदि अलंकारों के संदर्भ में यह प्रश्न भी हो सकता है कि जब सिद्धान्ततः शब्दालंकारों में अङ्गाङ्गिभाव संकर स्वीकार नहीं किया जाता तो पूर्वोक्त स्थलों में श्लेष और उपमा के संकर का प्रश्न विचारणीय कोटि में भी नहीं आना चाहिये। इसका उत्तर यह है कि उपर्युक्त मान्यता केवल अनुप्रास आदि उन अलंकारों के सन्दर्भ में हैं, जिन अलंकारों की सत्ता के लिए अर्थ के विचार की आवश्यकता नहीं है। श्लेष में तो अर्थ विचारणीय रहता ही है। (अर्थानुसन्धानविरहिण्यनुप्रासादावेव तथानंगीकारात्। सा० द० पृ० ४६६)

जिस प्रकार श्लेष अलंकार की स्थिति में एक बार उच्चरित वाक्य से अनेक अर्थों की प्रतीति होती है, उसी प्रकार एक वाक्य द्वारा ही

एकाधिक अर्थों की प्रतीति शब्दशक्तिमूलाध्वनि की विद्यमानता में भी होती है, किन्तु दोनों का क्षेत्र परस्पर नितान्त भिन्न है। अनेकार्थक शब्दों का प्रयोग होने पर भी जहां संयोग आदि द्वारा वे किस अर्थ विशेष के वाचक हैं, यह नियमन हो जाता है, वहां यदि अन्य अर्थ की प्रतीति होती है, तो वह (शब्दशक्ति मूल) ध्वनि का विषय होता है (अनेकार्थस्य शब्दस्य वाचकत्वे नियन्त्रिते । संयोगाद्यैरवाच्यार्थधी-कृद्व्यापृतिरञ्जनम् । (का० प्र० पृ. १९) और जहां दोनों ही अर्थ प्राकरणिक होते है, अतः संयोग आदि द्वारा अर्थ का नियमन नहीं होता वहां श्लेष अलंकार हुआ करता है। श्लेष अलंकार की स्थिति में उपमा व्यतिरेक विरोध आदि अलंकार अनिवार्यतः वाच्य रूप से प्रकट होते हैं (यत्र शब्दशक्त्या साक्षादलङ्कारान्तरं वाच्यं सत्प्रतिभासते स सर्वः श्लेषविषयः। (ध्वन्यालोक पृ० १६५)। यथा पूर्वोदाहृत 'स्तोकेनोन्नतिमायाति' इत्यादि पद्य में तुलाकोटि और खल दोनों ही प्राकरणिक हैं, अतः यहां श्लेष अलंकार होगा। इसी प्रकार 'पृथुकार्त्तस्वर-पात्रम्' इत्यादि पद्य में 'समम् आवयोः सदनम्' कहते हुये राजगृह एवं भिक्षुक-गृह दोनों प्राकरणिक अर्थों के बीच उपमान उपमेय भाव वाच्य रूप से प्रतीत हो रहा है, अतः यहां उपमा सहित श्लेष अलंकार है। इसके विपरीत जहां शब्दशक्ति से आक्षिप्त वाच्य से भिन्न व्यङ्ग्य अलंकारान्तर की प्रतीति होती है, वहां ध्वनि का विषय होता है (यत्र तु शब्दशक्त्या सामर्थ्याक्षिप्तवाच्यव्यतिरिक्तं व्यङ्ग्यमेवालङ्कारान्तरं प्रकाशते स ध्वनेर्विषयः।' ध्वन्या० पृष्ठ १६५। 'यत्र तु सामर्थ्याक्षिप्तं सदलंकारान्तरं शब्दशक्त्या प्रकाशते स एव ध्वनेर्विषयः' (वही पृ० १७१)। आचार्य आनन्दवर्धन की यह भी मान्यता है कि शब्दशक्तिमूलध्वनि में शब्दशक्तिवशात् अलंकारान्तर की प्रतीति होती है, वहीं शब्दशक्तिमूलक ध्वनि होती है, यदि अलंकार की प्रतीति के बिना दो वस्तु रूप अर्थों की ही प्रतीति होती है, तो वहां ध्वनि न होकर श्लेष अलंकार ही होता है 'आचार्य मम्मट अलङ्कार एवं वस्तुमात्र में से अन्यतर की भी प्रधानतया प्रतीति होने पर शब्द शक्ति मूलाध्वनि स्वीकार करते हैं। विश्वनाथ आदि परवर्ती आचार्य भी इसी पक्ष का अनुसरण करते हुए दिखाई देते हैं।

मूल लक्षण

विष्णुधर्मोत्तर पुराण
द्व्यर्थवाचकैः शब्दैः श्लेष इत्यभिधीयते । —वि. ध. पु. १४.६

रुद्रट
वक्तुं समर्थमर्थं सुश्लिष्टाश्लिष्टविविधपदसन्धि ।
युगपदनेकं वाक्यं यत्र विधीयते स श्लेषः ॥ —काव्या. ४.१

भोज
एकरूपेण वाक्येन द्वयोर्भणनमर्थयोः ।
तन्त्रेण यत् स शब्दज्ञैः श्लेष इत्यभिशब्दितः ॥ —स. कं. २.६८

वाग्भट
वाच्यभेदेन भिन्ना यद् युगपद् भाषणस्पृशः ।
श्लिष्यन्ति शब्दाः श्लेषोऽसावक्षरादिभिरष्टधा ॥ —का. प्र. सू. ११६

वाग्भट (प्रथम)
एकैकस्यार्थस्य युगपदुक्तिः श्लेषो भङ्गाभङ्गाभ्यां
अखण्डितभेदैरभङ्गश्लेषः । —काव्यानु. पृ. ५१

हेमचन्द्र
अर्थभेदभिन्नानां शब्दानां भङ्गाभङ्गाभ्यां युगपदुक्तिः श्लेषः ।
—काव्यानु. १०९ पृ. २७२

जयदेव
खण्डश्लेषः पदानां चेत् एकैकं पृथगर्थता । —चन्द्रा. ५.६२

विश्वनाथ
श्लिष्टैपदैरनेकार्थाभिधाने श्लेष इष्यते । —सा. द. १०,११

केशव मिश्र
एकोच्चारणापह्नुतभेदत्वं श्लेषः । —अलं. शे. पृ. ३०

नरेन्द्रप्रभ सूरि
शब्दानां भिन्नवाच्यानामङ्गाङ्गिविधिस्पृशाम् ।
एकप्रयत्नोच्चार्यत्वं श्लेषो वर्णादिरष्टधा ॥ —अलं. महो. ७.२२

भावदेव सूरि
स श्लेषो यत्र भिन्नार्थाः शब्दाः श्लिष्यन्त्यभिन्नवत् । —काव्या. सं. ५.९

नरसिंह कवि

प्रकृताप्रकृतोभयगतमुक्तं चेच्छब्दमात्रसाधारण्यम् ।
श्लेषोऽयं श्लिष्टत्वं सर्वत्राद्यद्वयेनान्त्ये ॥
—नञ्राज यशोभूषण

वेणीदत्त

एकोच्चारणतो यत्र भिन्नार्थप्रतिपादकः ।
शब्दो भवति सः श्लेषोऽलंकारः समुदाहृतः ॥
—अलं. मञ्ज. २७. पृ. ६

श्लेष अर्थालंकार

दण्डी

श्लिष्टमिष्टमनेकार्थमेकरूपान्वितं वचः । —का. द. २.३१०

भामह

उपमानेन यत्तत्त्वमुपमेयस्य साध्यते ।
गुणक्रियाभ्यां नाम्ना च श्लिष्टं तदभिधीयते ।
लक्षणं रूपकेऽपीदं लक्ष्यते काममत्र तु ।
इष्टप्रयोगो युगपदुपमानोपमेययोः ॥ —काव्या. ३.१४-१५

उद्‌भट

एकप्रयत्नोच्चार्यमाणं तच्छायां चैव बिभ्रताम् ।
स्वरितादिगणैर्भिन्नैः बन्धः श्लिष्टमिहोच्यते ॥ —काव्या. सा. सं. ४.६

वामन

सधर्मेषु तन्त्रप्रयोगे श्लेषः । —काव्या. सू. ४.३.७

रुद्रट

यत्रैकमनेकार्थैः वाक्यरचितं पदैरनेकमेस्मिन् ।
अर्थे कुरुते निश्चयमर्थश्लेषः स विज्ञेयः ॥ —काव्या. १०.१

भोज

श्लेषोऽनेकार्थकथनं पदेनैकेन कथ्यते ।
पदक्रियाकारकैः स्याद् भिन्नाभिन्नैः स षड्विधः ॥ —स. कं. ४.८७

मम्मट

श्लेष स वाक्ये एकस्मिन्यत्रानेकार्थता भवेत् ।
—का. प्र. सू. १४७. का. ९६

रुय्यक

विशेष्यस्यापि साम्ये द्वयोर्वोपादाने श्लेषः ।। —अलं. सर्व ३३

वाग्भट (प्रथम)

एकस्मिन्वाक्येऽनेकार्थता श्लेषः । —काव्यानु. पृ. ४४

हेमचन्द्र

वाक्यस्यानेकार्थता श्लेषः । —काव्यानु. ६.१७. सू. १२६

शोभाकर मित्र

विशेषस्यापि साम्ये द्वयोर्वाच्यत्वे श्लेषः । —अलं. र. ४४

जयदेव

अर्थश्लेषोऽर्थमात्रस्य यद्यनेकार्थ संश्रयः । —चन्द्रा. ५.६२

विद्यानाथ

प्रकृताप्रकृतोभयगतम् उक्तं चेत् शब्दमात्रसाधर्म्यम् ।
श्लेषोऽयं श्लिष्टत्वं सर्वमाद्यद्वये नान्त्वे । —प्रताप. ८. १६०

संघरक्खित

सिलेषो वचनानेकाभिधेय्येक पदायुतं ।
अभिन्नपदवाक्यादिवसा तेधा यमीरितो ।। —सुबोधा. २६०

विद्याधर

यत्र विशेष्यविशेषणसाम्यं स श्लेष एष तु द्वेधा । —एका. ८.२६

विश्वनाथ

शब्दैः स्वभावादेकार्थैःश्लेषोऽनेकार्थवाचनम् । —सा. द. १०,५७

अमृतानन्द योगी

एकरूपमनेकार्थं श्लिष्टं बहुविधं यथा । —अलं. सं. ५.४१

वाग्भट (द्वितीय)

पदैस्तैरेव भिन्नै र्वा वाक्यं वक्त्येकमेव हि ।
अनेकमर्थं यत्रासौ श्लेष इत्युच्यते यथा ।। —वाग्भटा. ४.१२८

अप्पयदीक्षित

नानार्थं संश्रयः श्लेषो वर्ण्यावर्ण्योभयाश्रितः । —कुव. ६४
एतद्विवेचनं चित्रमीमांसाग्रन्थेद्रष्टव्यम् । —वही पृ. ८२)
(चित्रमीमांसाग्रन्थेत्वनुपलब्धम् —सम्पादकः ।)

पंडितराज जगन्नाथ

श्रुत्यैकयानेकार्थप्रतिपादनं श्लेषः । —रसगं. भा. ३. पृ. २६४

चिरञ्जीव

श्लेषः पदे चेन्नानार्थप्रतीतिः स प्रयोजना। —का. वि. २.३५

नरेन्द्रप्रभ सूरि

वाक्यमेकमनेकार्थं यत्र श्लेषः स भण्यते। —अलं. महो. ८.४६

भावदेव सूरि

एकरूपमनेकार्थं यत्र स श्लेष उच्यते। —काव्या. सं. ६-२४

परकालस्वामी

वर्ण्यावर्ण्योभयालम्बी श्लेषोऽनेकार्थसंश्रयः ।
आद्योऽष्टधा वर्णपदलिङ्गभाषाविभक्तिभिः ।
प्रकृति प्रत्ययाभ्यां च वचनैः श्लेष इतीर्यते ॥ —अलं. मणि. ७७-७८

नरसिंह कवि

प्रकृताप्रकृतोभयगतमुक्तं चेत् शब्दमात्रसाधर्म्यम् ।
श्लेषोऽयं श्लिष्टत्वं सर्वत्राद्यद्वये नान्त्ये ॥ —नञ्रा. पृ. २०१

विश्वेश्वर

उभयविशेष्यान्वितयोरेकेन प्रोक्तिरर्थयोः श्लेषः। —अलं. मु. १५०

संकर

अनेक अलंकारों की एकत्र स्थिति होने पर यदि निरपेक्ष भाव का अभाव हो तो वहां संकर अथवा संकीर्ण अलंकार होता है। दण्डी के अनुसार अलंकारों की संकीर्णता की दो स्थितियां होती हैं : अंगांगिभाव से स्थिति, सभी अलंकारों की समकक्ष स्थिति (अङ्गाङ्गिभावावस्थानं सर्वेषां समकक्षता। इत्यलंकार संसृष्टेर्लक्षणीया द्वयी गतिः। का. द. २. ३६०)। रुद्रट ने भी व्यक्तांश एवं अव्यक्तांश नाम से संकर के केवल दो प्रकार माने थे (योगवशादेतेषां तिलतन्दुलवच्च दुग्धजलवच्च। व्यक्ताव्यक्तांशत्वात्संकर उत्पद्यते द्वेधा। काव्या. १०. २५)। दण्डी स्वीकृत द्वितीय भेद (सर्वेषा समकक्षता) तथा रुद्रट स्वीकृत प्रथम व्यक्तांश संकर को परवर्त्ती आचार्यों ने संसृष्टि के नाम से स्वीकार किया है।

उद्भट ने संकर अलंकार के चार प्रकार स्वीकार किये हैं: **सन्देह शब्दार्थवर्त्ती एकशब्दाभिधान अनुग्राह्य-अनुग्राहक**। (अनेकालंक्रियोल्लेखे समं तद् वृत्त्यसंभवे। एकस्य च ग्रहे न्यायदोषाभावे च

संकरः । शब्दार्थवर्त्यलंकाराः वाक्ये एकत्र भासिनः संकरो वा, एकाभिधान संकरस्तु । एकवाक्यांशप्रवेशाद्वाभिधीयते । परस्परोपकारेण यत्रालंकृतयः स्थिताः । स्वातन्त्र्येणात्मलाभं नो लभन्ते सोऽपि संकरः । का. सा. सं. ५.१३)

परवर्त्ती आलंकारिकों ने उद्भट द्वारा स्वीकृत द्वितीय प्रकार अर्थात् एक वाक्य में शब्दालंकारों और अर्थालंकारों के सहभाव को संकर अलंकार के रूप में स्वीकृति नहीं दी है, अपितु उसे संसृष्टि के अन्तर्गत स्वीकार किया है। हेमचन्द्र ने उपर्युक्त तीन भेदों के साथ ही अलंकारों की स्वातन्त्र्येण स्थिति में शब्दालंकारत्व और अर्थालंकारत्व का विचार किये बिना ही संकर का एक प्रकार माना है। इस प्रकार उनके अनुसार भी अलंकारों की स्वातन्त्र्येण स्थिति, अंङ्गाङ्गिभाव से स्थिति संशय तथा एकत्र निरपेक्ष भाव से स्थिति । इस आधार पर संकर अलंकार के चार प्रकार स्वीकार किये जाते हैं। (स्वातन्त्र्याङ्गत्वसंशयैकपद्यैरेषामेकत्र स्थितिः संकरः (काव्यानु. ६.३१ सूत्र १४३)।

जैसा कि पहले कहा जा चुका है, स्वातन्त्र्येण स्थिति को परवर्त्ती आलंकारिकों ने **संसृष्टि अलंकार** के नाम से पृथक् अलंकार स्वीकार किया है। संकर के शेष तीन प्रकार अर्थात् संदेह एकाश्रयानुप्रवेश एवं अङ्गागिभाव रूप संकर भेदों को आचार्य मम्मट (का. प्र. १४०) रुय्यक (अलं. स. पृ० २४८) विद्यानाथ (प्रताप. ६.५) नरेन्द्रप्रभ सूरि (अलं. म. ८. ८८) विद्याधर (एका. पृ. ३३४) विश्वनाथ (सा. द. १०. ९८) नरसिंह कवि (का. वि. पृ. २२१) भट्टदेवशंकर (अलं. मंजू. पृ० १३४-३५) एवं वेणीदत्त (अलं. मंज. २३९) ने स्वीकार किया है उनकी मान्यता है कि मिश्रत्व की संभावना तीन प्रकार की ही है, अतः उपर्युक्त तीन प्रकार का संकर स्वीकार किया जाता है (मिश्रत्वमङ्गाङ्गिभावेन सशयेन एकवाक्यानुप्रवेशेन च त्रिधा भवत् संकरं त्रिभेदमुत्थापयति । अलं. स. पृ. २४८) ।

'आकृष्टिवेगविगलद्भुजगेन्द्रभोग-
निर्मोकपट्टपरिवेष्टनयाऽम्बुराशेः ।
मन्दव्यथाव्युपशमार्थमिवाशु यस्य
मन्दाकिनी चिरमवेष्टत पादमूले ॥

इस पद्य में **अपह्नुति श्लेष अतिशयोक्ति उत्प्रेक्षा** एवं **समासोक्ति** अलंकारों का अंगांगिभाव होने के कारण **संकर अलंकार** है। इनमें निर्मोक पट्ट के अपह्नव के साथ मन्दाकिनी का आरोप है, अतः इस अंश में **अपह्नुति** अलंकार है (प्रकृतं यन्निषिध्यान्यत्साध्यते सात्वपह्नुतिः। सा. द. १०. ३९)। यह **अपह्नुति श्लेष** अलंकार की उत्थापिका है। यह श्लेष **अतिशयोक्ति** का अंग है (सिद्धत्वेऽध्यसायस्यातिशयोक्ति र्निगद्यते। वही १०. ४६)। यह अतिशयोक्ति भी उत्प्रेक्षा की अंग है (भवेत्संभावनोत्प्रेक्षा प्रकृतस्य परात्मना। वही १०. ४०)। तथा यह **उत्प्रेक्षा** नायक नायिका व्यवहार की प्रतीति का हेतु होने से **समासोक्ति** अलंकार की अंग हो रही है।

अनुरागवती सन्ध्या दिवसस्तत्पुरस्सरः।
अहो दैवगतिश्चित्रा तथापि न समागमः॥

इस पद्य में प्रधान अलंकार विशेषोक्ति है। क्योंकि यहां सन्ध्यारूपी नायिका एवं दिवसरूपी नायक के सानुराग और पुरस्सर रूप कारण के होने पर भी समागम रूप कार्य का अभाव है (सति हेतौ फलाभावे विशेषोक्तिस्तथा द्विधा। वही १०.६७)। जो नायिका व्यवहार समारोप रूपा समासोक्ति से उत्थापित है (समासोक्तिः समैर्यत्र कार्यलिङ्गविशेषणैः। व्यवहारसमारोपः प्रस्तुतेऽन्यस्य वस्तुनः। वही १०. ५६-५७)। इस प्रकार यहां विशेषोक्ति और समासोक्ति अलंकार है।

जहां एक ही लक्ष्य में अनेक अलंकारों में से अन्यतम के होने का सन्देह हो वहाँ सन्देह संकर अलंकार होता है।

इदमायति गगने भिन्दानं सन्ततं तमः।
अमन्दनयनानन्दकरं मण्डलमैन्दवम् ॥

इस पद्य में मुख चन्द्र के रूप में अध्यवसित है (अतिशयोक्ति) अथवा मुख पर चन्द्र का आरोप हुआ है (रूपक) इस सन्देह के कारण **सन्देह संकर** अलंकार कहा जाएगा (सिद्धत्वेध्यवसायस्यातिशयोक्ति र्निगद्यते (सा. द.) 'रूपकं रूपितारोपे विषये निरपह्नवे' (सा.द. १०.२८) प्रस्तुत पद्य में **तुल्ययोगिता** (एकधर्माभिसम्बन्धः स्यात्तदा तुल्ययोगिता (सा. द. १०. ४०) एवं **दीपक** (प्रस्तुताप्रस्तुतयोर्दीपकं तु निगद्यते। अथ कारकमेकं स्यादनेकासु क्रियासु चेत्। सा. द. १०.४९)

अलंकारों का सन्देह भी माना जा सकता है। क्योंकि मुख एवं चन्द्र मण्डल दोनों को प्रकृत मानने पर तुल्ययोगिता अलंकार की, तथा मुख को प्रकृत एवं चन्द्र को अप्रकृत मानने पर **दीपक अलंकार** की सम्भावना है। दोनों अलंकारों में अन्यतम के निर्धारण के लिए साधक अथवा बाधक प्रमाणों का अभाव है, अतः यहां **सन्देह संकर अलंकार** स्वीकार किया जाएगा।

इसके अतिरिक्त विशेषण साम्यवश अप्रस्तुत मुख के गम्यमान होने पर **समासोक्ति** अलंकार अथवा अप्रस्तुत चन्द्र के वर्णन से प्रस्तुत मुख की प्रतीति होने से **अप्रस्तुत प्रशंसा** अलंकार की भी सम्भावना है (विशेषणसाम्यादप्रस्तुतस्य गम्यत्वे समासोक्ति (अ० स० ३१) अप्रस्तुतात् प्रस्तुतं चेद् गम्यते पंचधा ततः। (सा. द. १०.५६)। इसके अतिरिक्त चन्द्र वर्णन के माध्यम से उद्दीपन काल उपस्थित हो गया है, यह पर्याय कथन होने से यहां **पर्यायोक्त** अलंकार होने की संभावना है। (पर्यायोक्तं यदा भंग्या गम्यमेवाभिधीयते। वही. १०.६०) इन अनेक अलंकारों के लिए साधक और बाधक प्रमाणों के अभाव में अलंकार विशेष का निर्णय दुष्कर होने से यहां सन्देह संकर अलंकार माना जाएगा।

'मुखचन्द्रं पश्यामि' इत्यादि वाक्यों में 'मुखचन्द्रम्' पद में समास दो प्रकार से हो सकता है, 'मुखं चन्द्र इव' अर्थात् चन्द्र के समान मुख (उपमितं व्याघ्रादिभिः सामान्याप्रयोगे। पाणिनि २.१.५१) तथा 'मुखमेव चन्द्रः' अर्थात् मुखरूपी चन्द्र या मुख ही चन्द है: (तत्पुरुषः समानाधिकरणः कर्मधारयः। पा. २.२.४२)। इनमें प्रथम प्रकार में तत्पुरुष समास होगा, तथा द्वितीय प्रकार में कर्मधारय। तत्पुरुष समास की स्थिति में **उपमा** अलंकार तथा कर्मधारय की स्थिति में रूपक अलंकार की प्राप्ति है। यहां निबद्ध 'पश्यामि' क्रिया रूपक और उपमा के सन्देह निवारण में कोई सहायता नहीं कर पाती। यदि 'पश्यामि क्रिया के स्थान पर 'चुम्बति' क्रिया का प्रयोग हो तो उपमा का निश्चय हो सकेगा, क्योंकि चन्द्र के साथ चुम्बन क्रिया की संगति न हो सकेगी। इसी प्रकार पश्यामि के स्थान पर 'प्रकाशते' क्रिया का प्रयोग रूपक का साधक होगा, क्योंकि प्रकाशन क्रिया का सम्बन्ध चन्द्र से हो सम्भव है। मुख पर चन्द्रत्व का आरोप होने पर

'प्रकाशन' क्रिया का लक्षणा द्वारा शोभन अर्थ प्राप्त हो सकेगा (श्रुत्या सम्बन्धविरहात् यत्पदेन पदान्तरम्। गुणवृत्तिप्रधानेन युज्यते रूपकं तु तत्। का. सा. सं. १.११)

'राजनारायणं लक्ष्मीस्त्वामालिङ्गति ध्रुवम्।' इस वाक्य में राजनारायण पद में भी 'राजानारायण: इव' विग्रह करने पर उपमा अलंकार तथा 'राजा एवं नारायण:' विग्रह करने पर रूपक अलंकार होना चाहिए। अलंकार विषयक सन्देह का निवारण यहां 'आलिङ्गति' क्रिया से हो जाता है, क्योंकि किसी स्त्री द्वारा नायक का आलिङ्गन उचित है, तथा यहां लक्ष्मी द्वारा आलिङ्गन कहा गया है। लक्ष्मी के सुविदित नायक नारायण ही हैं। अत: राजा पर नारायण का आरोप मानने पर लक्ष्मीकृत आलिङ्गन क्रिया के औचित्य में कोई बाधा उपस्थित न होगी। अत: राजा पर नारायण का आरोप ही स्वीकार किया जाएगा। इस प्रकार यहां पर रूपक अलंकार का साधक प्रमाण है।

एकाश्रयानुप्रवेश संकर नामक भेद प्रकार में एकाश्रय-अनुप्रवेश का तात्पर्य है कि शब्द अथवा अर्थरूपी एक ही आश्रय में अनेक अलंकारों की संभावना होना। सन्देह संकर में दो या अधिक अलंकारों में अन्यतम के स्वीकार्य होने के सम्बन्ध में साधक अथवा बाधक प्रमाण के न होने के कारण अनिश्चय की स्थिति रहती है, किन्तु इस भेद में एक से अधिक अलंकार होना सुनिश्चित होता है। उदाहरण के रूप में हम निम्नलिखित पद्य को देख सकते है :—

> 'कटाक्षेणापीषत्क्षणमपि निरीक्षेत यदि सा
> तदानन्दः सान्द्रः स्फुरति पिहिताशेषविषयः।
> सरोमाञ्चोदञ्चत्कुचकलशनिर्भिन्न विसनः
> परीरम्भारम्भः क इव भवितास्भोरुहदृशः॥

इस पद्य में 'क्ष' एवं 'ण' ध्वनियों की दो बार आवृत्ति होने से छेकानुप्रास होना चाहिए (छेको व्यंजनसंघस्य सकृत्साम्यमनेकधा। सा. द. १०.३१ संख्यानियमे छेकानुप्रासः। द्वयोर्व्यंजनसमुदाययोः परस्परमनेकधा सादृश्यं संख्यानियमः। अलं. स. पृ. २४)। साथ ही 'कटाक्ष' 'क्षण' एवं 'निरीक्षेत' पदों में संख्या नियम के बिना अनेकधा

आवृति होने से वृत्यनुप्रास भी प्राप्त है (अन्यथा तु वृत्त्यनुप्रासः
अलं. स. पृ. २३)। इस प्रकार यहां एकत्र ही वृत्यनुप्रास एवं छेकानु-
प्रास की प्राप्ति होने से **एकाश्रयानुप्रवेश** नामक **संकर अलंकार** होगा।
इसी प्रकार इसी पद्य के उत्तरार्ध में 'अञ्च' वर्ण ध्वनियों एवं 'म्भ'
वर्ण ध्वनियों की भी आवृत्ति होने से छेकानुप्रास अलंकार है। साथ
ही इसी पद्य में 'यदि कटाक्ष से ही सर्वविस्मृतिकारी सान्द्र आनन्द
होता है, तो 'परीरम्भ होने पर क्या स्थिति होगी' यह कथन होने से
अर्थापत्ति अलंकार भी है (दण्डापूपिकया अन्यार्थावगमो अर्थापत्तिः।
सा. द. १०. ८३) इस प्रकार इस पद्य में दोनों प्रकार से **एकाश्रयानु-
प्रवेश संकर** अलंकार है।

इसी प्रकार—

अहिणह पओअ रसिएसु पहिअ सामाइएसु दिअसेसु।
रहस पसारिअ गीआणं णिच्चजं मोर विन्दाणं।।
(अभिनवपयोदरसितेषु पथिकश्यामायितेषु दिवसेषु।
रभस प्रसारित ग्रीवाणां नृत्यं मयूरवृन्दानाम्।)

इस पद्य में 'सामाइएसु' (श्यामायितेषु) पद में उपमानार्थक क्यङ्
प्रत्यय स्वीकार करने की स्थिति में उपमा अलंकार (साम्यं वाच्यम-
वैधर्म्यं वाक्यैक्य उपमा द्वयोः। सा. द. १०. १४) तथा इसी पद का
'पथिकसामाजिकेषु' अनुवाद करके 'पथिकाः सामाजिका एव'
व्युत्पत्ति करने पर पथिक पर सामाजिक का आरोप होने से **रूपक अलं-
कार** होगा (रूपकं रूपितारोपो विषये निरपह्नवे। सा. द. १०.२८)।
इस प्रकार 'पहिअ सामाइएसु' पद रूप एक आश्रय में उपमा और रूपक
इन दो अर्थालंकारों की सम्भावना होने से **एकाश्रयानुप्रवेश संकर**
अलंकार होगा (पथिकान्प्रति श्यामा इव आचरन्तीति प्रत्ययेन लुप्ता
निर्दिष्टा। पथिक सामाजिकेषु इति कर्मधारयस्य स्पष्टत्वात् रूपकम्।
सा. द. लोचन पृ. २३०)।

एकाश्रयानु प्रवेश संकर अलंकार के सम्बन्ध में आचार्यों में परस्पर
भिन्न मान्यताएं हैं। आचार्य मम्मट के अनुसार 'एक स्थल पर शब्दा-
लंकार एवं अर्थालंकार दोनों की सम्भावना हो तो वहां **एकाश्रयानु
प्रवेश संकर** अलंकार होता है (स्फुटमेकत्र विषये शब्दर्थालंकृतिद्वयम्।

व्यवस्थितञ्च········। का. प्र. सू. २१०)। इसके विपरीत रुय्यक के अनुसार एकत्र समावेश होने पर **एकवाचकानुप्रवेश संकर** होता है (अलं. स. २५४)। मम्मट के टीकाकार गोविन्द ठक्कुर शब्द-अर्थ-अलंकारों को संकर में असंभावना मानते हुए ऐसी स्थिति को प्रायोवाद अर्थात् कल्पना मात्र स्वीकार करते हैं, अर्थात् उनके अनुसार शब्दालंकारों और अर्थालंकारों की एकत्र स्थिति की संभावना भले की जा सके उनका मिलना दुष्कर है (शब्दार्थालंकृतीति प्रायोवादः शब्दालंकार-योरप्यतद् दर्शनात् । का. प्र. प्रदीप)। इस प्रकार उपर्युक्त भेद से संकर अलंकार तीन प्रकार का है।

मूल लक्षण

दण्डी

नानालंकारसंसृष्टिः संकीर्णं तु निगद्यते ।
इत्यलंकारसंसृष्टे र्लक्षणीया द्वयीगतिः ॥ — काव्यादर्श. २.३५९-३६०

शिलामेघसेन

उपमा रूपकाद्यैस्त्वलंकारैरलङ्कृतम् ।
रत्नदाममनोहारि संकीर्णमिति कथ्यते ॥ —सियवसलकर ३३३

उद्भट

अनेकालङ्क्रियोल्लेखे समं तद्वृत्त्यसम्भवे ।
एकस्य च ग्रहे न्यायदोषाभावे च संकरः ।
शब्दार्थवर्त्यलंकाराः वाक्य एकत्र भासिनः ।
संकरो वा एकवाक्यांशप्रवेशाद्वाऽभिधीयते ।
परस्परोपकारेण यत्रालंङ्कृतयः स्थिताः ।
स्वातन्त्र्येणात्मलाभं वा लभन्ते सोऽपि संकरः ।
—काव्यालंकारसार संग्रह ५.११-१३

रुद्रट

योगवशादेतेषां तिलतन्दुलवच्च दुग्धजलवच्च ।
व्यक्ताव्यक्तांशत्वाच्च संकर उपपद्यते द्वेधा ॥ —काव्यालंकार १०.२५

मम्मट

अविश्रान्तिजुषामात्मन्यङ्गाङ्गित्वं तु सङ्करः ।
एकस्य च ग्रहे न्यायदोषाभावादनिश्चयः ॥
—काव्यप्रकाश सू. २०८-२०९ का. १४०

स्फुटमेकत्र विषये शब्दार्थालङ्कृतिद्वयम् । व्यवस्थितञ्च ....।

—वही सू. २१० का. १४१

रुय्यक

क्षीरनीरन्यायेन तु संकरः । —अलंकार सर्वस्व ८६

वाग्भट (प्रथम)

स्वातन्त्र्येणाङ्गत्वेन संशयेनैकपद्येन वाऽलंकाराणामेकत्रावस्थानं संकरः ॥

—काव्यानुशासन पृ. ४५

हेमचन्द्र

स्वातन्त्र्याङ्गत्वसंशयैकपद्यैरेषामेकत्र स्थितिः संकरः ।

—काव्यानुशासन ६.३१ सू. १४३

शोभाकर

अङ्गत्वे तु संकरः । —अलंकाररत्नाकर ११२

जयदेव

..............तथा संसृष्टिसंकरौ ।

एतेषामेव विन्यासान्नालङ्कारान्तराण्यमी ॥ —चन्द्रालोक ५.११४

विद्यानाथ

नीरक्षीरनयायत्र सम्बन्धः स्यात्परस्परम् ।

अलङ्कृतीनामेतासां संकरः स उदाहृतः ॥ —प्रतापरुद्रीयम् ९.५

संघरक्खित

अङ्गाङ्गिभावा सदिसफलभावा च बन्धने ।

संसग्गो लंकतीनं यो तं मिस्सं ति पवुच्चति ॥ —सुबोधालंकार ३३३

विद्याधर

कथितस्तु संकरोऽयं त्रिविधो यः नीरक्षीरवद् भवति ।

त्रिविधोऽङ्गाङ्गिभावेन संशयेनैकवाचानुप्रवेशेन च ॥

—एकावली ८.७४

विश्वनाथ

अङ्गाङ्गित्वेऽलङ्कृतीनां तद्वदेकाश्रयस्थितौ ।

सन्दिग्धत्वे च भवति संकरस्त्रिविधः पुनः । —साहित्यदर्पण १०.१४४

वाग्भट (द्वितीय)

तथोक्तानां संसर्गः संकरं विदुः ॥ —वाग्भटालंकार ४.१४४

नरेन्द्रप्रभ सूरि

स्वीकृत्य समवायाख्यं सम्बन्धं क्षीरनीरवत् ।
संसृत्यन्ते पुनर्यस्मिन् केप्यमी सैष संकरः ॥ —अलंकार महोदधि ८ ८१

नरसिंह कवि

क्षीरनीरनयाद्योगः संकरः समुदीयेर्त ॥ —काव्यविलास पृ. २२१

भट्ट देवशंकर पुरोहित

अस्फुटानेकालङ्काराणां मेलने तु क्षीरनीरन्यायेन संकरः । स च कुत्र-चिदङ्गाङ्गिभावेन कुत्रचित्समप्राधान्येन कुत्रचित्सन्देहेन, कुत्रचिदेक वाचकानुप्रवेशेन । —अलंकार मंजूषा पृ. १३४-१३५

वेणीदत्त

अङ्गाङ्गिभावे सन्देहे तथैकाश्रयवेशने ।
सापेक्षताऽलंकृतीनां संकर स्त्रिविधः स्मृतः ॥ —अलंकार मंजरी २३९

विश्वेश्वर

एकमपेक्ष्यान्यस्य प्रादुर्भावे तु सङ्करः प्रोक्तः ॥ —अलंकार मुक्तावली ५३

संसृष्टि

संकर अलंकार के समान **संसृष्टि अलंकार** भी एक पद्य में एकाधिक अलंकारों के समवेत होने पर होता है । अलंकारों की एकत्र स्थिति दो प्रकार से हो सकती है : तिलतण्डुलवत् परस्पर निरपेक्ष भाव से, तथा नीरक्षीरवत् एकत्र ग्रथित अलंकारों की परस्पर सापेक्ष भाव से स्थिति । प्राचीन आचार्य दोनों स्थितियों में अलंकार भेद की कल्पना नहीं करते रहे हैं । किन्तु उद्भट मम्मट अथवा इनसे परवर्त्ती आचार्य प्रथम स्थिति अर्थात् अनेक अलंकारों की निरपेक्ष भाव से स्थिति में **संसृष्टि अलंकार** मानते हैं । इन आचार्यों के अनुसार अलंकारों में सापेक्षभाव रहने पर **संकर अलंकार** होगा । (संकर अलंकार का विवरण इससे पूर्व किया गया है, जो वहीं द्रष्टव्य है) ।

भरत के नाट्यशास्त्र में तथा विष्णुधर्मोत्तर एवं अग्निपुराणों में अनेक अलंकारों की एकत्र समष्टि के सम्बन्ध में कोई चर्चा नहीं है । दण्डी, भामह, शिलामेघसेन तथा हेमचन्द्र अलंकार समष्टि की स्थिति में संकर और ससृष्टि का विभाजन नहीं करते (नानालंकार संसृष्टिः संकीर्णं तु निगद्यते । इत्यलंकार संसृष्टे र्लक्षणीया द्वयीगतिः । (का. द. २.२५९-२६०) । वराभूषा संसृष्टिर्बह्वलंकार योगतः । रचिता

रत्नमालेव सा चैव मुदिता यथा। (काव्या. ३. ४९)। उपमारूपकादिभिः विविधैरलंकृतम्। रत्नदाम इव मनोहरं संकीर्णमिति कथ्यते। (सिय. ३३३)। स्वातन्त्र्याङ्गत्वसंशयैकपद्यैरेषामेकत्र स्थितिः संकरः (काव्यानु. ६.३१ सू. १४३)। शोभाकर संसृष्टि को स्वतन्त्र अलंकार नहीं मानना चाहते। उनका कहना है कि 'संसृष्टि को अलंकार मानने पर अन्य अलंकारों की स्थिति शोचनीय हो जाएगी। क्योंकि शब्दालंकार एवं अर्थालंकार प्रायः व्यस्त अथवा समस्त रूप से एकत्र विद्यमान रहते हैं। उदाहरणार्थ वृत्त्यनुप्रास में **अतिशयोक्ति** या **स्वाभावोक्ति** की सत्ता अनिवार्यतया रहती है। अथवा भङ्ग्यन्तर अभिधानरूप **पर्यायोक्त** अलंकार अवश्य रहेगा। अन्य अलंकारों के साथ रस आदि की भी किसी न किसी रूप में स्थिति रहने से **रसवत्** आदि अलंकार अनिवार्यतः रहेगें। यदि कदाचित् रस आदि के सम्पर्क से रहित कोई उदाहरण प्राप्त हो, तो वहां रसादि के अभाव के कारण काव्यत्व का होना भी सन्दिग्ध हो जाएगा। फलतः संसृष्टि के अतिरिक्त शुद्ध अलंकारों के उदाहरण मिलना असंभव होगा (संसृष्टिर्नालंकारान्तरं पूर्वेषां सर्वेषामलंकाराणाम् अभावप्रसंगात्। शब्दालंकाराणां हि प्रायशो व्यस्तसमस्तत्वेन स्थितिः। तत्र संसृष्टेरलंकारत्वाभ्युपगमेऽनुप्रासादीनां विषयापहारो भवेत्। शुद्धानामनुप्रासोपमादित्वं मिश्रत्वे तु संसृष्टिरिति चेदन्ततो वृत्त्यनुप्रासेनातिशयोक्त्या स्वभावोक्त्या प्रतिभया पर्यायोक्तेन वा भंग्यन्तराभिधानरूपेण भवदभ्युपगतेन······ ·················रसवदाद्यलंकारैर्वा अवश्यं भाविनि संसर्गे शुद्धत्वाभावात्। अलं. र. पृ. १९४)

जैसा कि ऊपर संकेत किया जा चुका है मिश्र अलंकारों की सर्वप्रथम चर्चा दण्डी-भामह ने की है। दण्डी के अनुसार अनेक अलंकारों की संसृष्टि को संकीर्ण कहा जाता है। दण्डी ने इस अलंकार की संज्ञा के लिए संकीर्ण पद का तथा लक्षण के लिए संसृष्टि पद का प्रयोग किया है। उनके द्वारा दिये गये लक्षण में संकर और संसृष्टि में कोई अन्तर स्वीकार नहीं किया गया है।

भामह ने अनेक अलंकारों की समष्टि को संकर अथवा संकीर्ण नाम न देकर संसृष्टि कहना उचित समझा है। भामह के अनुसार संसृष्टि का आकर्षण रत्नमाला के अनुसार होता है। भोज हेमचन्द्र वाग्भट

(द्वितोय) ने संकर और संसृष्टि दोनों को ही एक नाम से स्वीकार करते हुए संकर के भेद के रूप में संसृष्टि को रखना चाहा है। इसके विपरीत कुन्तक ने भामह का अनुसरण करते हुए सम्पूर्ण अलंकार समष्टि को संसृष्टि नाम दिया है। वामन ने परवर्त्ती आचार्यों द्वारा स्वोकृत संकर को अर्थात् अङ्गाङ्गिभाव की स्थिति में जहां एक अलंकार दूसरे अलङ्कार का हेतु बन रहा है, वहां भी संसृष्टि नाम दिया है, संकर नहीं (अलंकारस्यालंकारयोनित्वं संसृष्टिः। का. सू. ४.३.३०)। शोभाकर संकर को स्वीकार करते हैं, किन्तु संसृष्टि का निषेध करते हैं, इसकी चर्चा अभी ऊपर हो चुकी है। इसके विपरीत जयदेव संसृष्टि को स्वीकार करके भी संकर का निषेध करते हैं (शुद्धिरेक प्रधानत्वं तथा संसृष्टि संकरौ। एतेषामेव बिन्यासान्नालंकारान्तराण्यमी। चन्द्रालोक ५.११४)।

उद्भट प्रथम आचार्य हैं, जिन्होंने संकर और संसृष्टि को पृथक् पृथक् अलंकार के रूप में स्वीकार किया है। मम्मट रुय्यक विद्यानाथ नरेन्द्रप्रभसूरि विद्याधर विश्वनाथ एवं नरसिंह कवि आदि आचार्यों ने संकर और संसृष्टि दोनों को स्वतन्त्र अलंकार माना है।

देवः पायादपायान्नः स्मेरेन्दीवरलोचनः।
संसारध्वान्तविध्वंसहंसः कंसनिषूदनः ॥

इस पद्य के प्रथम पाद में यमक और अनुप्रास की परस्पर निरपेक्ष भाव से स्थिति होने से संसृष्टि अलंकार माना जाएगा। (सत्यर्थे पृथगर्थायाः स्वरव्यंजनसंहतेः। क्रमेण तेनैवावृत्तिर्यमकं विनिगद्यते। (सा. द. १०.८) अनुप्रासः शब्दसाम्यं वैषम्येऽपि स्वरस्य यत्। (वही १०.३)। यहां द्वितीय चरण में उपमा अलंकार का तथा तृतीय चतुर्थ चरणों में रूपक अलंकार का निबन्धन है (साम्यं वाच्यमवैधर्म्यं वाक्यैक्य उपमा द्वयोः (वही. १०२४)। रूपकं रूपितारोपे विषये निरपह्नवे (वही. १०.२८)।

इस प्रकार प्रथम चरण में दो शब्दालंकारों एवं शेष चरणों में दो अर्थालंकारों की एकत्र स्थिति होने से तथा इन अलंकारों में परस्पर संदेह अङ्गाङ्गिभाव अथवा एकाश्रयानुप्रवेश का अभाव होने अर्थात् निरपेक्ष भाव से इनकी स्थिति होने से इस पद्य में **शब्दालंकार संसृष्टि** एवं **अर्थालंकार संसृष्टि** अर्थात् **उभयालंकार** संसृष्टि अलंकार माना जाता है।

मूल लक्षण

दण्डी

नानालंकारसंसृष्टिः संकीर्णन्तु निगद्यते।
इत्यलंकारसंसृष्टेर्लक्षणीया द्वयी गतिः॥ —काव्यादर्श० २.२५६-२६०

भामह

वराविभूषा संसृष्टिर्बह्वलंकारयोगतः।
रचिता रत्नमालेव सा चैवमुदिता यथा। --काव्यालंकार ३.४६

उद्‌भट

अलंकृतीनां बह्वीनां द्वयोर्वापि समाश्रयः।
एकत्र निरपेक्षायां मिथः संसृष्टिरुच्यते॥
—काव्यालंकार सारसंग्रह ६.५०

वामन

अलंकारस्यालंकारयोनित्वं संसृष्टिः॥ —काव्यालंकारसूत्र ४.३.३०

भोज

संसृष्टिरिति विज्ञेया सर्वालंकारसंकरः॥
तिलतन्दुलवद् व्यक्ता छायादर्शवदेव च॥
अव्यक्ता क्षीरजलवत् पांशुपानीयवच्च सा॥ —४.९१
व्यक्ताव्यक्ता च संसृष्टिर्नरसिंहवदिष्यते।
चित्रवर्णवदन्यस्मिन्नानालंकारसंकरे।
—सरस्वती कण्ठाभरण ४.९०-९२

मम्मट

सेष्टा संसृष्टिरेतेषां भेदेन यदिह स्थितिः॥
—काव्यप्रकाश सू० २०७ का० १३९

रुय्यक

एषां तिलतन्दुलन्यायेन मिश्रत्वे संसृष्टिः॥ —अलंकार सर्वस्व ८५

शोभाकर (निषेध)

न संसृष्टिः पूर्वहानाच्चारुत्वाभावाच्च। —अलंकार रत्नाकर १११

विद्यानाथ

तिलतन्दुलसंश्लेषन्यायाद् यत्र परस्परम्।
संश्लिष्येयुरलंकाराः सा संसृष्टि निगद्यते।. —प्रतापरुद्रीयम् ९१

विद्याधर

अथ सर्वेषामेषामन्योन्याश्लेषपेशलावधुना ।
कथयामोऽलंकारौ सहृदयचेतश्चमत्कृतये ।।
एषां तिलतन्दुलवन्मिश्रत्वेनाभ्यदायि संसृष्टिः ।। —एकावली ८.७५

विश्वनाथ

मिथोऽनपेक्षमेतेषां स्थितिः संसृष्टिरुच्यते ।। —साहित्यदर्पण १०.९०

नरेन्द्रप्रभसूरि

त एते यत्र सम्पृक्तास्तिलतन्दुलवन्मिथः ।
स्वातन्त्र्येणावतिष्ठन्ते संसृष्टिः साभिधीयते । —अलंकारमहोदधि ८.८७

भावदेवसूरि

संसृष्टिर्यत्रालङ्कारभेदाभेदेन भूरिशः । —काव्यालंकारसारसंग्रह ६.४८

नरसिंहकवि

तिलतन्दुलसंश्लेषभङ्ग्या यत्स्यात्परस्परम् ।
अलङ्कृतीनां घटना सा संसृष्टिर्निगद्यते ।। —काव्यविलास पृ. २२०

विश्वेश्वर

संसृष्टिस्तु परस्परमनपेक्षस्थितिरनेकस्य ।। —अलंकार मुक्तावली ५३

भट्टदेवशंकर पुरोहित

यत्रानेकालङ्काराणां मेलनं, तत्र स्फुटतया भेदप्रतीतौ तिलतन्दुलन्यायेन संसृष्टिः । —अलंकार मञ्जूषा पृ० २३३

वेणीदत्त

चमत्कारप्रसूरेककाव्येऽलङ्कारयो र्मिथः ।
स्थितिर्या नैरपेक्ष्येण सा संसृष्टिरिहोच्यते ।। —अलंकार मञ्जूषा २३८

सन्देह (संशय)

सन्देह अलंकार का उल्लेख भरत के नाट्यशास्त्र व्यास के विष्णुधर्मोतर पुराण अथवा अग्निपुराण में नहीं है। दण्डी ने **उपमा अलंकार** के भेद के रूप में इसकी सर्वप्रथम कल्पना की है। दण्डी के उत्तरकालीन आचार्यों में शिलामेघसेन संघरक्खित अमृतानन्द योगी केशवमिश्र एवं पंडितराज जगन्नाथ को छोड़कर प्रायः सभी ने स्वीकार किया है। यह दूसरी बात है कि किसी ने उसे **ससन्देह** नाम से अन्य ने **सन्देह** नाम से और किसी ने **संशय** या **ससंशय** नाम से इसका विवरण दिया है।

आचार्य उद्भट इसे **सन्देह** और **ससन्देह** दोनों नामों से स्मरण करते हैं। राजानक तिलक ने भी परम्परा में दोनों नाम के प्रचलित होने का संकेत किया है।

मम्मट **संशय** एवं **सन्देह** के बीच थोड़ा अन्तर स्वीकार करते हैं। उनका कहना है कि प्रकृत और अप्रकृत के मध्य भेद कथन होने पर **सन्देह** तथा भेद कथन न होने पर **संशय अलंकार** होता है। भामह एवं पंडितराज जगन्नाथ इसे **ससन्देह** नाम से स्मरण करते हैं। शेष कुन्तक रुय्यक हेमचन्द्र शोभाकर जयदेव विद्यानाथ विद्याधर आदि प्रायः सभी आलंकारिक आचार्य **सन्देह** नाम से ही इसका विवरण प्रस्तुत करते हैं।

कवि की चित्तवृत्ति एवं सहृदय की बोध रूपा वृत्ति, जिसे एक शब्द में काव्य प्रतीति कह सकते हैं, को सामान्यतः तीन कोटियों में विभाजित किया जा सकता है (१) निश्चयात्मक सत् प्रतीति (२) निश्चयात्मक असत्प्रतीति एवं (३) अनिश्चयात्मक प्रतीति। यहां सत् असत् अथवा अनिश्चयात्मक प्रतीति शब्दों का प्रयोग दार्शनिक परिभाषा के अनुसार न होकर कवि और सहृदय की काव्यजगत् की प्रतीति के अनुसार है। 'मुखं चन्द्रः' में यद्यपि शास्त्रीय अथवा लौकिक दृष्टि से मुख को चन्द्र समझना मिथ्याज्ञान और इसी कारण अविश्वसनीय हो सकता है, किन्तु काव्य जगत् में चन्द्र के समान आह्लादक होने से 'मुख चन्द्र है' यह प्रतीति कवि और सहृदय के लिए निश्चयात्मक सत्प्रतीति कही जाएगी।

'कनकद्रवकान्तिकान्त्या मिलितं राममुदीक्ष्य कान्तया।
चपलायुतवारिद भ्रमान्ननृते चातकपोतकैर्वने ॥'

रसगं. भा. २. पृ. ६४३

पंडितराज जगन्नाथ के उपर्युक्त पद्य में राम और सीता को देख कर विद्युत से युक्त मेघ का भ्रम निश्चयात्मक असत्प्रतीति है। यह प्रतीति कवि प्रतिभोत्थापित है। लोक में ऐसी प्रतीति की संभावना नहीं हो सकती।

इसी प्रकार—

किं तारुण्यतरोरियं रसभरोद्भिन्ना नवा वल्लरी
लीला प्रोच्छलितस्य किं लहरिका लावण्यवारान्निधेः।

उद्गाढोत्कलिकावतां स्वसमयोपन्यासविस्रम्भिणः
किं साक्षादुपदेश यष्टि रथवा देवस्य शृंगारिणः ॥

पद्य में कामिनी को देखकर तारुण्य रूपी वृक्ष की नवमंजरी होने की अनिश्चयात्मक प्रतीति भी लोक अथवा शास्त्र में सम्भव नहीं है। यह प्रतीति भी कवि प्रतिभोत्थापित है, अतः केवल काव्य प्रतीति की विषय है। इन तीन प्रतीतियों में प्रथम **रूपक परिणाम उत्प्रेक्षा अतिशयोक्ति** आदि अलंकारों की स्थिति में होती है, द्वितीय **भ्रांतिमान्** तथा तृतीय **सन्देह अलंकार** की स्थिति में काव्यों में देखी जा सकती है।

सन्देह अलंकार में प्रकृत में अप्रकृत का कवि प्रतिभोत्थापित संशय हुआ करता है। इसमें विचाररूपी तुला के दोनों पलड़े अनियत रूप से ऊपर नीचे उठा-झुका करते हैं। इसमें न कोई एक पक्ष शिथिल रहता है और न दूसरा पक्ष सुदृढ। कवि इन्हें संशय की तुला पर रख कर प्रकृत और अप्रकृत में भेद का बोध कराता है।

यह कवि प्रतिभोत्थापित सन्देह सादृश्यमूलक आरोप अथवा अध्यवसाय पर आश्रित रहता है। भोज के अनुसार वह चिन्ता आदि के कारण भी उत्पन्न हो सकता है। शोभाकर के अनुसार सन्देह साधर्म्य के अतिरिक्त वैधर्म्य आदि निमित्तान्तर पर भी आश्रित हो सकता है। सन्देह के मूल में विद्यमान यह सादृश्य वाच्य और प्रतीयमान दोनों प्रकार का हो सकता है। यद्यपि प्रतीयमान सादृश्य की चर्चा केवल भोज ने की है, अधिकांश अन्य आलंकारिक इस प्रश्न पर मौन हैं। पंडितराज के अनुसार यह सन्देह लक्षणा अथवा व्यञ्जना के द्वारा भी काव्य में प्रकट हो सकता है। इस आधार पर वे **सन्देह अलंकार** में भेद-प्रभेदों की कल्पना करते हैं। भोजराज इस अलंकार का विभाजन एक विषय एवं अनेक विषय के आधार पर भी करते हैं। शोभाकरमित्र विषय के अपह्नव तथा विषय के अभाव में भी सन्देह को स्वीकार करते हैं। इसके अतिरिक्त पंडितराज जगन्नाथ सादृश्य के अनुगामी एवं बिम्ब प्रतिबिम्ब भाव रूप से निर्दिष्ट होने की स्थिति में भी सन्देह अलंकार मानते हुए इसका विभाजन करते

हैं। उनके अनुसार यह आरोपमूलक और अध्यवसाय मूलक भी हो सकता है 'एवमारोपमूलोऽयं सन्देहालंकारः। रसगं. भा. २ पृ० ६११) अध्यवसानमूलोऽपि दृश्यते (पृ. ६१२), ·· - ···अस्मिंश्च संशये नाना कोटिषु क्वचिदेक एव समानो धर्मः, क्वचित्पृथक्, सोऽपि क्वचिदनुगामी, क्वचिद् बिम्बप्रतिबिम्बभावमापन्नः, क्वचिद् अनिर्दिष्टः, क्वचिन्निर्दिष्टः (पृ. ६२६)। अयं च क्वचिद् अनाहार्यः क्वचिदाहार्यः (पृ. ६३४)। विश्वनाथ और पंडितराज जगन्नाथ सन्देह अलंकार को तीन प्रकार का मानते हैं: शुद्ध अर्थात् निश्चय के अंश से रहित, निश्चय गर्भ और निश्चयान्त। (शुद्धो निश्चयगर्भोऽसौ निश्चयान्त इति त्रिधा। सा. द. १०. ३६। सा च शुद्धा निश्चयगर्भा निश्चयान्ता चेति त्रिविधा। रसगं. भा. २ पृ. ६०८)।

सन्देह के ये तीनों भेद विद्यानाथ नरेन्द्रप्रभसूरि नरसिंह कवि आदि ने भी स्वीकार किये हैं। आचार्य रुद्रट ने सर्वप्रथम इन भेदों की उद्भावना की थी, किन्तु उन्होंने शुद्ध भेद को **अनिश्चयान्त** नाम दिया था। निश्चयगर्भ को उन्होंने **सनिश्चय** नाम से स्मरण किया था। निश्चयान्त नाम उनके द्वारा ही प्रस्तावित है, जो उत्तरकाल में भी मान्य रहा है। आचार्य भोज और शोभाकर द्वारा स्वीकृत वितर्क अलंकार इस **निश्चयान्त** सन्देह का ही समानान्तर है। पूर्व उद्धृत 'किन्तारुण्यतरोः' पद्य में क्योंकि निश्चय के हेतु उन्मुखता नहीं है, अतः उक्त पद्य में शुद्ध सन्देह माना जाता है।

जहां पर संशय की उद्भावना करके पर्यवसान में निश्चय का निबन्धन हो, तो वहां **निश्चयान्त सन्देह अलंकार** माना जाता है। यह अनेक अवसरों पर प्रासंगिक रूप से कहा जा चुका है कि कोई भी अलंकार कविप्रतिभोत्थापि स्थिति अथवा भावविशेष का शाब्दिक निबन्धन विशेष होता है। प्रस्तुत सन्देह अलंकार भी कवि प्रतिभोत्थापित संशय का निबन्धन होने पर ही हुआ करता है, सन्देह सामान्य की स्थिति में उसकी अलंकारता नहीं होती। फलतः 'स्थाणुर्वा पुरुषो वा' इत्यादि संशय सामान्य के निदर्शन सन्देह अलंकार के क्षेत्र में नहीं आते।

आचार्य भोज और शोभाकर मित्र ने सन्देह के प्रकरण में ही वितर्क नामक अलंकार को स्वीकार किया है। शोभाकर के अनुसार

सन्देह में एकतर पक्ष के साधक अथवा बाधक प्रमाणों का अभाव रहता है, अतः वितर्क को स्वतन्त्र अलंकार मानना चाहिए। 'अयं मार्त्तण्डः किं स खलु तुरगैः सप्तभिरितः' इत्यादि में प्रकृत राजा पर अप्रकृत मार्त्तण्ड होने का आरोपमूलक वितर्क किया गया है। आचार्य मम्मट एवं रुय्यक आदि आचार्यों ने इस पद्य को **निश्चयगर्भ सन्देह अलंकार** के उदाहरण के रूप में प्रस्तुत किया है। क्योंकि **वितर्क** की प्रतीति में भी एक कोटिक ज्ञान नहीं रहता, इसमें भी **सन्देह** की भांति दोलायमान नाना कोटिक प्रतीति होती है, दोनों ही सादृश्यमूलक अलंकार हैं, अतः वितर्क को सन्देह से भिन्न स्वतन्त्र अलंकार मानना उचित नहीं है। अलंकार होने के लिए यह आवश्यक है कि वह प्रस्तुत अर्थ का उपस्कारक हो। इसमें कोई सन्देह नहीं है कि वितर्क की स्थिति में भी सन्देह की भांति ही प्रस्तुत विषय में सौन्दर्य की प्रतीति होती है, किन्तु वह प्रतीति सन्देहप्रतीति उससे होने वाले चमत्कार से भिन्न नहीं है। अतः मम्मट रुय्यक आदि आचार्यों की मान्यता है कि वितर्क का अन्तर्भाव सन्देह के अन्तर्गत ही करना चाहिए। भोज ने **वितर्क अलंकार** के जिन भेदों की कल्पना की है, उन सभी का अन्तर्भाव **सन्देह अलंकार** में किया जाना सम्भव है। अतः **सन्देह अलंकार** के उपर्युक्त तीनों भेदों को मानने के बाद वितर्क को स्वतन्त्र अलंकार मानने की आवश्यकता नहीं रहती।

मूल लक्षण

दण्डी

……ससन्देहावुपमास्वेव दर्शितौ। —का० द० २.३५८

भामह

उपमानेन तत्त्वं च भेदं च वदतः पुनः।
ससन्देहं वचः स्तुत्यै ससन्देहं विदु र्बुधाः। —काव्या० ३.४३

उद्भट

(भामह अनुक्त) तथा
अलंकारान्तरच्छायां यत्कृत्वा धीषु बन्धनम्।
असन्देहेऽपि सन्देह रूपं 'सन्देह' नाम तत्। — का० सा० सं० ६.२-३

वामन

उपमानोपमेयसंशयः सन्देहः। —का० सू० वृ० ४.३.११

रुद्रट

वस्तुनि यत्रैकस्मिन्ननेकविषयस्तु भवति सन्देहः।
प्रतिपत्तुः सादृश्यादनिचयः संशय इति सः।
उपमेये सदसंभवि विपरीतं वा तथोपमानेऽपि।
यत्र स निश्चयगर्भस्ततो परो निश्वयान्तोऽन्यः।
यत्रानेकत्रार्थे सन्देहस्त्वेककारत्वगतः।
स्यादेकत्वगतो वा सादृश्यात्संशयः सोऽन्यः।
—काव्या० ८.५९,६१,६५

भोज

अर्थयोरति सादृश्याद् यदा दोलायते मनः।
तमेकानेकविषयं कवयः संशयं विदुः। —स० कं० ४.४१

कुन्तक

यस्मिन्नुपेक्षितं रूपं सन्देहभित्ति वस्तुनः।
उत्प्रेक्षान्तरसद्भावाद् विच्छित्यै······(सन्देहो मतः) —वक्रो० ३.४२

मम्मट

ससन्देहस्तु भेदोक्तौ तदनुक्तौ च संशयः। —का० प्र. सू. १३८ का० ९२

रुय्यक

विषयस्य सन्दिह्यमानत्वे सन्देहः। —अलं० स० १७

वाग्भट (प्रथम)

सादृश्यात्प्रतिपत्तिसंशयः सन्देहः। —काव्यानु० पृ० ३९

हेमचन्द्र

स्तुत्यै संशयोक्तिः ससन्देहः। —काव्यानु० ६.२० सू० १३२

शोभाकर मित्र

तस्यापि सन्दिह्यमानत्वे सन्देहः। —अलं० र० ३०

जयदेव

स्यात्स्मृतिभ्रान्तिसन्देहैःतदेवालंकृतित्रयम्। —चन्द्रा० ५.३१

विद्यानाथ

विषयो विषयी यत्र सादृश्यात्कविसम्मतात्।
सन्देहगोचरौ स्यातां सन्देहालंकृतिश्च सा। —प्रताप० ८.६३

विद्याधर

संशयमप्रकृतेऽर्थे सन्देहोऽयं समाख्यातः। —एका० ८.८

विश्वनाथ

सन्देहः प्रकृतेऽन्यस्य संशयः प्रतिभोत्थितः। —सा० द० १०.३३

वाग्भट (द्वितीय)

इदमेतदिदं वेति साधर्म्याद् बुद्धि र्हि संशयः।
हेतुभिर्निश्चयः सोऽपि निश्चयान्त इति स्मृतः। —वाग्भटालंकार

अप्पय दीक्षित

(१) बुद्धिः सर्वात्मनान्योन्याक्षेपिनानार्थसंश्रयः।
सादृश्यमूला वार्थस्पृक् सन्देहालंकृतिर्मता। —चित्रमी०

(२) स्यात्स्मृतिभ्रान्तिसन्देहैस्तदङ्काऽलंकृतित्रयम्। —कुव० २४

पंडितराज जगन्नाथ

(१) सादृश्यमूला भासमानविरोधका समबला नानाकोट्यवगाहिनी धीः रमणीया सन्देहालंकृतिः। —रसगं० भा० २ पृ० ६०४

(२) यद्वा सादृश्यहेतुका निश्चयसम्भावनान्यतरभिन्ना धी रमणीया संशयालंकृतिः'। —वही पृ० ६०७

चिरंजीव

(जयदेव अनुकृत)

नरेन्द्रप्रभ सूरि

सशंयस्तु सन्दिह्यमानत्वं प्रकृतस्य यत्। —अलं० महो० ८.१६

नरसिंह कवि

विषयो विषयी यत्र सादृश्यात्कविसम्मतात्।
सन्देहगोचरौ स्यातां सन्देहालंकृतिश्च सा॥ —नञ्रा० पृ० १७३

विश्वेश्वर

प्रकृते तदन्यविषया सादृश्यज्ञानजन्या वा।
बुद्धिर्निश्चय भिन्ना तामाचख्युः ससन्देहाम्। —अलं० मु० ११

वेणीदत्त

भेदोक्तिसहिता चैकाऽभेदोक्तिसहिता परा।
एवं द्वैविध्यमापन्ना सन्देहालंकृतिः समा। —अलं० मञ्जू० ५५

सन्देहाभास

सन्देह अथवा संशय अलंकार अधिकांश आचार्यों द्वारा स्वीकृत अलंकार है; किन्तु **सन्देहाभास अलंकार** को शोभाकरमित्र एवं श्रीकृष्ण ब्रह्मतन्त्र परकाल स्वामी के अतिरिक्त किसी अन्य आलंकारिक ने स्वीकार नहीं किया है। उनके अनुसार जहां सन्दिह्यमान दो पक्षों में अन्यतम के प्रति अवश्य स्वीकार्यत्व की विवक्षा हो वहां सन्देह बाधित हो जाता है एवं वह विशेष के प्रतीति की आकांक्षा की सूचना देता है, उस स्थिति में सन्देह प्रधान न होकर आभासित मात्र होता है, और वहां सन्देहाभास अलंकार माना जाता है। स्मरणीय है कि सन्देह में सादृश्य के कारण दो वस्तुओं में अन्यतम के होने का अनिश्चय होता है, तथा दोनों पक्षों में किसी के प्रति निश्चय विषयक झुकाव नहीं होता है। सन्देहाभास में सादृश्य की कोई प्रतीति नहीं होती। इसमें दो कार्यों में अन्यतम की कर्त्तव्यता का सन्देह होकर एक के प्रति तात्पर्येच्छा रहती है। सन्देह में चमत्कार सन्देह मूलक होता है एवं सन्देहाभास में सन्देह की आभासमानता में ही चमत्कार होता है। दो पक्ष में अन्यतम के प्रति तात्पर्य होने पर भी इसे विकल्पाभास से अभिन्न नहीं कहा जा सकता, क्योंकि सन्देह की विद्यमानता विकल्प में नहीं हुआ करती।

यथा—

वल्लभदृढोपगहनसुधारसः किं वा मानविषज्वाला।
करधृतकपोले भण सुन्दरि किं प्रियं तव॥

प्रस्तुत पद्य में मानवती नायिका से उसकी सखी (प्रिय की दूती) कहती है कि तुम्हें वल्लभ के गाढ आलिङ्गन अथवा मानजन्य विरह की वेदना में क्या प्रिय है? इस सन्देह मूलक प्रश्न में दूती का अभिप्राय वल्लभ के गाढ-आलिङ्गन के अवश्य स्वीकार्यत्व से है। अतः यहां सन्देह का आमुख में ही अवभासन होकर एकतर के अवश्य स्वीकार्यत्व में पर्यवसित होता है। अतः यहां **सन्देहाभास अलंकार** है।

मूल लक्षण

शोभाकर

सन्दिह्यमानयोरेकत्र तात्पर्येच्छा सन्देहाभासः ॥

सन्दिह्यमानयोरेकस्यावश्यस्वीकार्यत्वविवक्षायां सन्देहो बाधितत्वाद् विशेषप्रतीत्यर्थं यत्राभासत्वे पर्यवस्यति स सन्देहाभासः ।

—अलं० र० ५० पृ० ८८

परकालस्वामी

सम्भावनानिश्चयान्यतरभिन्ना मनोरमा ।
सादृश्यहेतुका बुद्धिः सन्देहालंकृतिर्मता ॥ —अलं० मणि० ४८

सम एवं साम्य

सम अलंकार विषम अलंकार से सर्वथा विपरीत है। इस अलंकार में अनुरूप होने के कारण ही दर्शनीय पदार्थों की श्लाघा की जाती है। रुद्रट एवं भोज ने साम्य नाम से इसका वर्णन किया था। कुन्तक संघरक्खित अमृतानन्द योगिन् वाग्भट (द्वितीय) शौद्धोदनि एवं केशव-मिश्र को छोड़कर प्रायः सभी आलंकारिकों ने इस अलंकार को स्वीकार किया है। इस अलंकार के स्वरूप के सम्बन्ध में यद्यपि सामान्यतः आचार्यों में कोई मतभेद नहीं है अर्थात् सभी इसे विषम से प्रतिकूल अनुरूप योजना के रूप में स्वीकार करते हैं, तथापि रुय्यक का कहना है कि इसे **विषम अलंकार** के तीनों भेदों के विपरीत न मानकर केवल अन्तिम अर्थात् तृतीय भेद के विपरीत ही मानना चाहिए। क्योंकि विषम अलंकार के प्रथम दो भेदों की विपरीत स्थितियों में कोई चमत्कार विशेष के दर्शन की संभावना नहीं है (यद्यपि विषमस्य भेदत्रय-मुक्तम् तथापि 'तत्' शब्देन सम्भवादन्त्यो भेदः परामृश्यते। पूर्वभेद-द्वयविपर्ययस्यानलंकारत्वात् । अन्त्यभेदविपर्ययस्तु चारुत्वात्समाख्योऽलंकारः। अलं. स. पृ. १६७)।

स्मरणीय है कि रुय्यक स्वीकृत विषम अलंकार का तृतीय भेद 'अत्यन्त अननुरूप अथवा विरूप की संघटना' किया जाना है। इसके विपरीत अनुरूप वस्तुओं की संघटना रुय्यक के अनुसार **सम अलंकार** है। विद्याधर के अनुसार भी सम अलंकार विषम के सभी भेदों के

विपरीत न होकर केवल **विरूप भेद**, जो उनके यहां (एकावली में) विषम का प्रथम प्रकार है, के विपरीत स्थिति में ही होगा (अस्य, विषमस्य, प्रथमभिदायाः सममिति कविविपर्यये कथितम्। एका. ८.३४। (वृत्ति) विपर्ययो अनुरूपसंघटनारूपश्चारुत्वहेतुत्वादलंकारत्वेन गणितः। इतर भेदद्वयस्व तु तदभावान्नालंकारत्वम्। वही पृ० २९०)

शोभाकर विषम के तीनों प्रकारों के विपर्यय में चारुत्व स्वीकार करते हुए **सम अलंकार** मानते हैं (तच्छब्देन त्रयाणां विषमभेदानां परामर्शः अलं. र. पृ० १०७)। पंडितराज जगन्नाथ भी इसी पक्ष का समर्थन करते हैं (यथा विषमालंकारस्त्रिभेदस्तथा तद् विपरीतभेदत्रययुक्तः समालंकारोऽपि प्रपञ्चितः। रसगं. भा. ३ पृ० ५१३)।

मम्मट के अनुसार सम अलंकार सद्वस्तु तथा असद्वस्तु का योग होने पर दो प्रकार का होता है (तत् सद्योगेऽसद्योगे च। का. प्र. पृ. ७८२)। रुय्यक भी अभिरूप विषयक एवं अनभिरूप विषयक नाम से **सम अलंकार** के दो भेद स्वीकार करते हुए मम्मट का अनुसरण करते हैं (स चाभिरूपानभि रूप विषयत्वेन द्विविधः। अलं. स. पृ० १६७)। विश्वनाथ सम में भेद की कल्पना नहीं करते।

शशिनमुपगतेयं कौमुदी मेघमुक्तम्
जलनिधिमनुरूपं जह्नुकन्यावतीर्णा।
इति समगुणयोगप्रीतितस्तत्र पौराः
श्रवणकटुनृपाणामेकवाक्यं विवव्रुः॥
(रघु. ६. ८५)

इस पद्य में इन्दुमती द्वारा अज का वरण कर लिये जाने पर इन्दुमती और अज की अनुरूपता को कौमुदी और चन्द्र की तथा जाह्नवी और जलनिधि की अनुरूपता के सदृश मानते हुए उसकी सराहना की गयी है।

मूल लक्षण

रुद्रट

सर्वालंकारं यस्मिन्नुभयोरभिधातुमन्यथा साम्यम्।
उपमेयोत्कर्षकरं कुर्वीतविशेषमन्यत्तत्तु॥

अथ क्रियया यस्मिन्नुपमानस्यैति साम्यमुपमेयम् ।
तत्सामान्यगुणादिककारणया तद् भवेत्साम्यम् ॥

—काव्या० ८.१०५-१०६

भोज

द्वयोर्यंयोक्तिचातुर्यात् औपम्यार्थोऽवगम्यते ।
उपमारूपकान्यत्वे साम्यमित्यामनन्ति तत् ।
तदानन्त्येन भेदानामसंख्याः तस्य तूक्तयः । —स० कं० ४.३०.३१

मम्मट

समं योग्यतया योगो यदि सम्भावितः क्वचित् ।

—का. प्र. सू. १९३ का. १२५

रुय्यक

तद्-(विषम-) विपर्ययः समम् । —अलं० स० ४६

वाग्भट्ट (प्रथम)

औचित्येनोत्कृष्टापकृष्टयोर्योगः समम् । —काव्यानु० पृ० ४०

हेमचन्द्र

योग्यतया योगः समम् । —काव्यानु० ६.२७ सू० १३९

शोभाकरमित्र

तद् विपर्ययः (विषमविपर्ययः) समम् । —अलं० र० ६१

जयदेव

सममौचित्यतोऽनेकवस्तुसम्बन्धवर्णनम् । —चन्द्रा० ५.७९

विद्यानाथ

सा समालंकृतिर्योगे वस्तुनोरनुरूपयोः । —प्रताप० ८.१६९

विद्याधर

अस्य (विषमस्य) प्रथमभिदायाः सममिति कविभिर्विपर्यये कथितम् ।

—एका० ८.३९

विश्वनाथ

समं स्यादानुरूप्येण श्लाघा योग्यस्य वस्तुनः । —सा० द० १०७१

अप्पयदीक्षित

समं स्याद् वर्णनं यत्र द्वयोरप्यनुरूपयोः ।
सारूप्यमपि कार्यस्य कारणेन समं विदुः ।
विनाऽनिष्टं च तत्सिद्धि र्यमर्थं कर्त्तुमुद्यतः । —कुव० ९१.९२,९३

पंडितराजजगन्नाथ

अनुरूपसंसर्गः समम् । —रसगं० भा० ३ पृ० ५०३

चिरञ्जीव

अन्योऽन्यं वस्तुसम्बन्धे सममौचित्यवर्णने । —का. वि. २.४२

नरेन्द्रप्रभसूरि

तत् समं सङ्गमो यत्र द्वयोरप्यनुरूपयोः । —अलं. महो. ८.५७

नरसिंहकवि

समानयोश्चेद् घटना समालंकृतिरुच्यते । —नञ्रा.

भट्टदेवशंकर

(१) अनुरूपयोर्द्वयोर्यत्र क्रियते यदि वर्णनम् ।
तर्हि तत्र परिज्ञेयं समालंकरणं बुधैः ॥

(२) कारणेन हि कार्यस्य सारूप्यमपि तद्विदुः ॥

(३) यदर्थं कर्त्तुमुद्युक्तस्तदवाप्तिर्भवेद्यदि ।
विनाऽनिष्टं तदप्याहुः समं काव्यार्थकोविदाः ॥

(४) इष्टार्थावाप्तिसत्त्वेऽपि श्लेषवशादसतोऽनिष्टार्थस्यापि यत्र प्रतीतिः तत्रापि समालंकारः स्वीक्रियते ।

(५) अनिष्टार्थप्रतीतिं विना श्लेषलब्धसदिष्टावाप्तिप्रतीतिर्यत्र तत्रापि समम् । —अलं. मञ्जू. ६४, ६५ एवं. वृत्ति ।

समता

जहां दोष का गुण से अथवा गुण का दोष से समाधान निबद्ध हो वहां **समता अलंकार** होता है। इस अलंकार को केवल शोभाकर नें ही स्वीकार किया है, किसी अन्य ने इसकी चर्चा भी नहीं की है।

यः कोटिहोमानलधूमजालै र्मलीमसीकृत्य दिशां मुखानि ।
तत्कीर्त्तिभिः क्षालयतिस्म शश्वदखण्डतारापति पाण्डुराभिः ॥

प्रस्तुत पद्य में होमानलधूम से दिशाओं के मुख का मलिन करना और उसी नायक द्वारा पूर्णचन्द्र की भांति पाण्डुर कीर्त्ति द्वारा उसका क्षालन अर्थात् दिशा मुखों का धवलीकरण करना निबद्ध होने से यहां **समता अलंकार** माना जाएगा।

मूल लक्षण

शोभाकर

तदन्याभ्यां समाधानं समता। —अलंकार रत्नाकर ६७

समाधि

समाधि शब्द का व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ हैं 'सम्यक् आधान, अर्थात् कारणान्तर की उपस्थिति से कार्यसिद्धि में सौकर्य उपस्थित होना। विद्याधर के अनुसार समाधि अलंकार की यह संज्ञा अन्वर्थ (यथार्थाभिधान) है (केनचित् कर्त्तुमुपक्रान्तस्य कारणान्तरव्यतिकरतः सौकर्यं सम्यगाधीयते, इति यथार्थाभिधानः समाधिनामायमलंकारः। एकावली पृ०३१५)।

इस अलंकार की सर्वप्रथम चर्चा हमें अग्निपुराण में प्राप्त होती है। भरत एवं भामह ने **समाधि** को अलंकार के रूप में न मानकर गुण के रूप में स्वीकार किया था (अन्यधर्मस्ततोऽन्यत्र लोकसीमानुरोधिना। सम्यगाधीयते यत्र सः समाधिः स्मृतो यथा। का. द. १.९३) **समाधि** का पूर्णतः यही लक्षण हमें अग्निपुराण में उपलब्ध होता है। किन्तु वहां इसे गुणों के मध्य न रखकर शब्दालंकारों के प्रकरण में निबद्ध किया गया है। भोज ने 'अन्य के धर्मों का अन्यत्र आरोप होने पर इसे अलंकार के रूप में स्वीकार किया है' (समाधिमन्यधर्माणामन्यत्रारोपणं विदुः। निरुद्भेदोऽथ सोद्भेदः स द्विधा परिपठ्यते। सर. कं. ४.४६ पृ०१९५)।

परवर्त्ती आलंकारिकों में मम्मट रुय्यक शोभाकरमित्र जयदेव विद्यानाथ नरेन्द्रप्रभसूरि विद्याधर विश्वनाथ अप्पयदीक्षित जगन्नाथ चिरञ्जीव भावदेवसूरि नरसिंह कवि भट्टदेशंकर पुरोहित एवं वेणीदत्त ने इसे समान रूप से स्वीकार किया है, किन्तु किसी ने भी भोज का अनुगमन नहीं किया है।

समाधि अलंकार में किसी कार्य के सम्पादन में एक कार्य के पर्याप्त होने पर भी सौकर्य हेतु अनेक कारण दैवात् उपस्थित हो जाते हैं। इस प्रकार इसके क्षेत्र में **समुच्चय** अलंकार का भ्रम हो सकता है, यद्यपि दोनों के मध्य अन्तर अत्यन्त सुस्पष्ट है, जिसकी चर्चा समुच्चय अलंकार के विवरण में द्रष्टव्य है। वहां कहा गया है कि समाधि में अन्य कारणों

की उपस्थिति हो जाने से कार्य सिद्धि में सौकर्यातिशय विवक्षित रहता है, यह सौकर्यातिशय ही **समाधि अलंकार** का जीवातु है। समुच्चय अलंकार में अनेक कारण **खले कपोत न्याय** से उपस्थित होते हैं। इसमें कारणों की सह उपस्थिति एवं अहमहमिका से उनको कार्य में प्रवृत्ति उसका अर्थात् **समुच्चय** अलंकार का जीवातु है। सौकर्यातिशय की विवक्षा, जो **समाधि** जीवातु है, **समुच्चय** में कथमपि विवक्षित नहीं रहती। फलत: दोनों में एकता का भ्रम नहीं होना चाहिए।

मानमस्याः निराकर्त्तुं पादयो र्मे पतिष्यतः।
उपकाराय दिष्ट्येदमुदीर्णं घनगर्जितम्॥

इस पद्य में मानवती नायिका के मान की निवृत्ति के लिए नायक द्वारा पादपतन स्वाभाविक कारण है, किन्तु इस कारण के साथ ही दैवात् घनगर्जितरूप कारण उपस्थित हो जाता है। इस प्रकार प्रथम कारण द्वारा क्रियमाण कार्य की सिद्धि में अकस्मात् इस द्वितीय कारण घनगर्जित की उपस्थिति से सौकर्यातिशय उपस्थित हो गया है। अत: इस प्रकार के स्थलों में **समाधि** अलंकार माना जाता है।

मूल लक्षण

अग्नि

अन्यधर्मस्ततोऽन्यत्र लोकसीमानुरोधिना।
सम्यगाधीयते यत्र स समाधिरिह स्मृतः॥ —अग्निपुराण ३४५.१३

भोज

समाधिरन्यधर्माणामन्यत्रारोपणं विदुः।
समाधिमेव मन्यन्ते मीलितं तदपि द्विधा।
धर्माणामेव चाध्यासे धर्मिणामन्यवस्तुनि॥

—सरस्वती कंठाभरण ४.४६-४७

मम्मट

समाधिः सुकरं कार्यं कारणान्तरयोगतः॥

—काव्यप्रकाश सू. १९२ का. १२५

रुय्यक

कारणान्तरयोगात्कार्यस्य सुकरत्वं समाधिः॥

—अलंकार सर्वस्व ६८

शोभाकर

उपोद्वलनं समाधिः ॥ —अलंकार रत्नाकर ७५

जयदेव

समाधिः कार्यसौकर्यं कारणान्तरसन्निधेः ॥ —चन्द्रालोक ५.९४

विद्यानाथ

एकस्मिन्कारणे कार्यसाधनेऽन्यत्परापतेत्।
काकतालीयनयतः स समाधिरुदीर्यते ॥ —प्रताप० ८.२४६

विद्याधर

हेत्वन्तरसम्बन्धात् स्फूर्जति कार्यस्य यत्र सौकर्यम् ।
स समुच्चयः स्यात् समाधिनामात्र निर्दिष्टः ॥ —एकावली ८.५६

विश्वनाथ

समाधिः सुकरे कार्ये दैवाद्वस्त्वन्तरागमात् ॥ —सा. द. १०.८५

अप्पयदीक्षित

समाधिः कार्यसौकर्यं कारणान्तरसन्निधेः । —कुवल. ११८

पंडितराज जगन्नाथ

एककारणजन्यस्य कार्यस्य आकस्मिककारणान्तरसमवधानाहितसौकर्यं
समाधिः । —रसगं. भा. ३.३६२

चिरञ्जीव

समाधिः कार्यसौकर्यं कारणान्तरसन्निधेः । का. वि. २.५०

नरेन्द्रप्रभ सूरि

समाधिः कार्यसौकर्यं हेत्वन्तरसमागमात् । —अलं. महो. ८.७४

भावदेवसूरि

समाधिः कुर्वतः कार्यं सुकरत्वं विधेर्वशात् ॥ —का. सा. सं. ६.२१

नरसिंह कवि

काकतालनयाद्धेतोः यत्र वान्येन हेतुना ।
प्रक्रान्तकार्यसौकर्ये समाधिः स्यादलङ्कृति ॥ —नञ्रा. पृ. २१५

भट्टदेव शंकर पुरोहित

प्राररिप्सितस्य कार्यस्य सौकर्यं यत्रवर्ण्यते ।
साधनान्तरसान्निध्यात्समाधिस्तत्र सम्मतः ॥ —अलं. मञ्जू. ९०

परकालस्वामी

कारणान्तरसान्निध्यवशात्कार्यस्य कस्यचित् ।
सौकर्य्यं वर्ण्यते यत्र समाधिस्तत्र गीयते ॥

—अलं० मणि० १२४

वेणीदत्त

कारणान्तरसत्त्वेऽपि यत्राकस्मिककारणात् ।
स्यात्सौकर्यं तु कार्यस्य समाधिः सोऽभिधीयते ॥

—अलंकार मञ्जरी १८२

विश्वेश्वर

भवति समाधिः सुकरे हेत्वन्तरसमवधानतः कार्ये ।

—अलंकार मुक्तावली ४२

समासोक्ति

समासोक्ति प्राचीनतर अलंकारों में अन्यतम है। नाट्यशास्त्र एवं विष्णुधर्मोत्तर पुराण में इसका उल्लेख नहीं है। किन्तु दण्डी और भामह द्वारा इसकी स्वीकृति के अनन्तर परवर्त्ती प्रायः सभी आलं-कारिकों द्वारा यह अलंकार स्वीकृत रहा है। परवर्त्ती अलंकारिकों में केवल कुन्तक ने इसकी चर्चा नहीं की है।

इस अलंकार का दूसरा नाम **अन्यापदेश** रहा है, इसकी सूचना हमें अमृतानन्द योगी एवं केशवमिश्र से मिलती है ('...............उक्तिः समासरूपत्वात् समासोक्तिरितीष्यते। अन्यापदेश इत्यस्य नामान्य-च्चोच्यते बुधैः।' अलं. सं. ५.२९। 'अन्यदभिहित्यान्याभिधानं समा-सोक्तिः। सैव चान्यापदेश उच्यते।' अलं. शे. पृ० ३६)। दण्डी एवं अमृतानन्द योगी के अनुसार समासोक्ति इस अलंकार की अन्वर्थ संज्ञा है, क्योंकि इस अलंकार में कुछ कहते हुए कवि का अभिप्रेत तत्सदृश कुछ अन्य भी रहता है। अर्थात् दो अभिप्रायों के लिए एक वाक्य का कथन होता है और इसके लिए कवि केवल समास (श्लिष्ट) विशेषणों का ही प्रयोग करता है, किंतु प्रतीति दोनों अर्थों की होती है। इस प्रकार यहां संक्षिप्त रूप से कथन किया जाता है। इस संक्षेपरूपता के कारण ही संक्षेपार्थक समास शब्द का प्रयोग करते हुये इस अलंकार को **समासोक्ति अलंकार** कहते हैं। अमृतानन्द योगी ने भी दण्डी के उपर्युक्त

शब्दों को अविकल रूप से दुहराया है, केवल उन्होंने संक्षेप शब्द के स्थान पर समास शब्द को रख लिया है। संक्षिप्तता को भामह और अग्निपुराणकार ने भी पर्याप्त महत्त्व दिया है। यहां इस बात पर अनायास ध्यान चला जाता है कि प्रायः सभी अलंकारों के लक्षण में काव्यादर्श और अग्निपुराण में अक्षरशः साम्य मिलता है, किन्तु इस अलंकार के लक्षण में अग्निपुराण का साम्य दण्डी के काव्यादर्श में न होकर भामह के काव्यालंकार में है।

समासोक्ति अलंकार के लक्षण की दृष्टि से दण्डी के अनुसार किसी वस्तु के अभिप्राय से किसी अन्य वस्तु का उपन्यास **समासोक्ति** है। जबकि भामह के लक्षण में समान विशेषण वाले अर्थ को गम्यमानकहते हुए **समासोक्ति** के एक अन्यतम उपादानतत्त्व 'प्रस्तुत और अप्रस्तुत में समान विशेषणता' पर विशेष महत्त्व दिया गया है। दण्डी और भामह के समासोक्ति लक्षणों में यह स्पष्ट नहीं है कि उक्त अर्थ प्रस्तुत होना चाहिए या अप्रस्तुत तथा प्रतीयमान अर्थ अप्रस्तुत होना चाहिये या प्रस्तुत? उद्भट ने इसे स्पष्ट करते हुए कहा है कि समासोक्ति अलंकार में प्रकृत (उपमेय) अर्थ उक्त होता है तथा समान विशेषणों के कारण उससे अप्रकृत (उपमान) अर्थ प्रतीयमान होना चाहिये (प्रकृतार्थेन वाक्येन तत्समानैः विशेषणैः। अप्रस्तुतार्थकथनं समासोक्तिरुदाहृता)। वामन की मान्यता उद्भट के सर्वथा विपरीत है अर्थात् उनके अनुसार उपमेय (प्रस्तुत) अनुक्त रहता है तथा समान वस्तु अर्थात् उपमान का कथन समासोक्ति में होता है, जिससे उपमेय की प्रतीति होती है।

इस प्रसङ्ग में रुद्रट और भोज वामन का अनुसरण करते हैं, जब कि शेष प्रायः सभी आलंकारिक मम्मट, रुय्यक, हेमचन्द्र, शोभाकर आदि उद्भट का अनुसरण करते हैं। मम्मट ने इस अलंकार के लक्षण में कथन की श्लिष्टता को अनिवार्यता प्रदान की है (परोक्ति भेदकैः श्लिष्टैः समासोक्तिः) किन्तु उन्होंने यह स्पष्ट नहीं किया कि यह श्लिष्टता विशेषण में होनी चाहिए या विशेष्य में अथवा किसी एक में अथवा दोनों में अनिवार्यतः होनी चाहिये। रुय्यक ने श्लेष को इस अलंकार के लिए केवल एक आकस्मिक उपादान माना है, अनिवार्य नहीं अर्थात् उनके अनुसार समासोक्ति में कहीं श्लेष हो भी सकता

है और नहीं भी। (इह (समासोक्तौ) प्रस्तुतानामप्रस्तुतानां क्वचिद् वाच्यत्वं क्वचिद् गम्यत्वमिति द्वैविध्यम्। वाच्यत्वं च श्लेषनिर्देश-भङ्ग्या पृथक् उपादानेन वेति द्वैविध्यम्। अलं. सं. पृ० १४०)।

क्योंकि रुय्यक के अनुसार समासोक्ति में साम्य के कारण अप्रस्तुत अर्थगम्य रहा करता है और वह श्लिष्ट भी हो सकता है और नहीं भी। इस लक्षण के अनुसार समासोक्ति अप्रस्तुत प्रशंसा से इस आधार पर भिन्न है कि उसमें प्रस्तुत गम्य होता है, जबकि समासोक्ति में वाच्यार्थ प्रस्तुत विषयक होता है और व्यंग्य अप्रस्तुत विषयक। इन दोनों अलंकारों में दो अर्थों की प्रतीति होती है, जिनमें एक वाच्य रहता है और दूसरा व्यङ्ग्य। श्लेष अलंकार में भी दो अर्थों की प्रतीति होती है, किन्तु वहां दोनों ही वाच्य होते हैं। कभी-कभी यदि समासोक्ति में भी श्लेष रहता है, तो वह केवल विशेषण अंश में ही रहता है, विशेष्य अंश में नहीं। विशेष्य अंश में भी श्लेष रहने पर वहां श्लेष अलंकार हो जायेगा।

रुय्यक के अनुसार समासोक्ति में अप्रस्तुत की गम्यमानता की प्रतीति के लिए विशेषणों में साम्य रहता है। अर्थात् वे विशेषण प्रस्तुत के साथ ही अप्रस्तुत (जो कि वाच्य नहीं हैं) का भी वैशिष्ट्य बताने में सक्षम होते हैं। विशेषण के साथ ही विशेष्य में भी साम्य हो तो श्लेष अलंकार होगा (विशेष्यस्यापि साम्ये उभयोर्वोपादाने श्लेषः। अलं. स. पृ० १२१) अप्रस्तुत की प्रतीति के लिए **समासोक्ति** में कवि की विवक्षा व्यवहार के समारोप की होती है, जबकि **रूपक** में रूप समारोप एवं **परिणाम** में कार्य समारोप विवक्षित हुआ करता है। इसे स्पष्ट करते हुए जयरथ समासोक्ति में व्यवहार समारोप को स्वीकार करते हैं (एवं समासोक्तौ व्यवहारसमारोपादप्रस्तुतेन प्रस्तुतस्य वैशिष्ट्यलक्षणमवच्छेकत्वं विधीयते। विमर्शिनी पृ० १०६)

उद्योतकार ने व्यवहार समारोप को ही समासोक्ति अलंकार के लक्षण का मुख्य तत्त्व माना है (एवं च समासोक्तौ प्रकृत-व्यवहारेऽप्रकृत व्यवहारारोपः। रूपके तु विशेष्येऽप्रकृते रूपारोपः) यह व्यवहार समारोप चार प्रकार का हो सकता है।

(१) लौकिक वस्तु पर लौकिक व्यवहार का समारोप।

(२) लौकिक वस्तु पर अलौकिक (शास्त्रीय) वस्तु व्यवहार का

समारोप।

(३) अलौकिक वस्तु पर लौकिक-व्यवहार का समारोप एवं।

(४) अलौकिक वस्तु पर अलौकिक वस्तु व्यवहार का समारोप।

विश्वनाथ के अनुसार इस व्यवहार समारोप के लिए कभी समान कार्यों का कभी समान लिङ्गों का और कभी समान विशेषणों का प्रयोग करता है।

व्याधूय यद् वसनमम्बुजलोचनायाः
वक्षोजयोः कनककुम्भविलासभाजोः।
आलिङ्गसि प्रसभमङ्गमशेषमस्या
धन्यस्त्वमेव मलयाचलगन्धवाहः॥

इस पद्य में गन्धवाह (वायु) पर हठ कामुक के कार्य वस्त्रों का व्याधूनन (बलपूर्वक हटाना) तथा सर्वांग आलिङ्गन का आरोप किया गया है। स्मरणीय है कि इस पद्य में प्रस्तुत मलयवन है, और अप्रस्तुत हठकामुक। कमलनयनी का आलिङ्गन आदि मलयपवन एवं प्रेमी दोनों में विद्यमान है, किन्तु प्रेमी (नायक) यहाँ प्रस्तुत नहीं है। इस प्रकार प्रस्तुत के समान कार्य अप्रस्तुत अर्थ की प्रतीति यहां हो रही है, अतः यहां समासोक्ति अलंकार है। यदि यहां प्रस्तुत मलयपवन न होकर नायक होता जो नायिका का आलिङ्गन नहीं कर पाता। अतः वायु के द्वारा नायिका का आलिङ्गन नायक के लिए अप्रीतिकर है, जिससे उसके दुर्भाग्य की सूचना होती, तो उस स्थिति में यहां अलंकार **समासोक्ति** न होकर **अप्रस्तुत प्रशंसा** होता है।

असमाप्तजिगीषस्य स्त्रीचिन्ता का मनस्विनः।
अनाक्रम्य जगत्कृत्स्नं नो संध्यां भजते रविः॥

(राजतरंगिणी ४.४४१ एवं अभिनव भारती भाग १ पृ० २०५ में उद्धृत) इस पद्य में नायक नायिका का व्यवहार सूर्य और सन्ध्या पर क्रमशः आरोपित है। इस आरोप के हेतु के रूप में केवल रवि एवं सन्ध्या के लिए क्रमशः पुल्लिङ्ग एवं स्त्रीलिङ्ग का प्रयोग है। अतः इस पद्य में समासोक्ति है। इसके अतिरिक्त यहां अर्थान्तरन्यास अलंकार भी है। क्योंकि पद्य के पूर्वार्ध में सामान्य अर्थ का समर्थन उत्तरार्धगत विशेष अर्थ के द्वारा किया गया है।

विकसितमुखीं रागासङ्गाद् गलत्तिमिरावृतिं
दिनकरकरस्पृष्टामैन्द्रीं निरीक्ष्य दिशं पुरः।
जरठलवली पाण्डुच्छायो भृशं कलुषान्तरः
श्रयति हरितं हन्त प्राचेतसीं तुहिनद्युतिः॥

इस पद्य में 'कर', 'राग', 'मुख', 'विकसित', 'आवृति', 'पुर', 'आन्तर', 'कलुषता' एवं 'प्राचेतस् की दिशा' पद श्लिष्ट हैं। इन पदों के प्रस्तुत प्रकृतिगत सूर्य आदि के पक्ष में क्रमशः किरण, लालिमा, अग्रभाग, प्रकाशित, आवरण, सामने मध्यभाग, मलिन एवं वरुण की दिशा अर्थात् पश्चिम दिशा तथा अप्रस्तुत नायक नायिका व्यवहार के पक्ष में क्रमशः हाथ, अनुराग, मुख, प्रफुल्ल, वस्त्र, आंखों के आगे, यम की दिशा अर्थात् मृत्यु अर्थ होंगे। इस प्रकार यहाँ श्लिष्ट पदों के द्वारा प्रकृतिगत व्यवहार में नायक एवं कुलटा नायिका के व्यवहार की प्रतीति होती है, जो प्रिय के श्रीविहीन हो जाने पर उसके प्रति अनुराग छोड़कर अन्य के प्रति रागवती हो जाती है।

इस प्रसंग में एक प्रश्न उठाया जा सकता है कि उपर्युक्त 'विकसितमुखीम्' इत्यादि पद्य में 'गलत्तिमिरावृतिम्' के स्थान पर 'गलत्तिमिरांशुकाम्' पाठ कर दिया जाए तो इस पद्य में एकदेश-विवर्त्तिपरम्परित रूपक अलंकार मानना उचित होगा अथवा समासोक्ति। विशेषण साम्य से प्रस्तुत पूर्वदिशा एवं चन्द्रमा पर अप्रस्तुत कुलटा नायिका एवं विगलितश्री नायक के व्यवहार का समारोप होने से **समासोक्ति** अलंकार होना चाहिये, जबकि तिमिर पर अंशुक का शाब्द आरोप होने से गलत् तिमिरवती प्राची पर गलद् अंशुकवती नायिका का आर्थ आरोप मानकर **एकदेशविवर्ति रूपक** अलंकार माना जा सकता है।

विश्वनाथ की इस प्रसङ्ग में मान्यता है कि उपर्युक्त पद्य के एक अंश 'तिमिरांशुक' में रूपक योजना होने पर भी सम्पूर्ण पद्य में समासोक्ति अलंकार ही होगा, एकदेशविवर्ति रूपक नहीं, क्योंकि तिमिर और अंशुक दोनों ही आवरक (ढंकने वाले) हैं, दोनों में इसी कारण (आवरक धर्म के कारण) सादृश्य अत्यन्त स्पष्ट है, फलतः किसी अन्य रूपक योजना की अपेक्षा के बिना भी उन दोनों में रूपक योजना स्वतः विश्रान्त है, अतएव वह समासोक्ति की सत्ता को व्याघात नहीं पहुंच

सकती। इसके कारण को स्पष्ट करते हुए वे कहते हैं कि जहां रूप्य-रूपक अर्थात् आरोपविषय एवं आरोप्यमाण के मध्य सादृश्य सुस्पष्ट नहीं है, अतः अन्य अंश में आर्थ रूपक योजना की अनिवार्यतः अपेक्षा होती है। अतः ऐसे स्थलों में **एकदेशविवर्ति रूपक** ही मानना होगा। 'विकसितमुखीम्' इत्यादि पद्य के 'तिमिरांशुक' अंश में तिमिर पर अंशुक (वस्त्र) का आरोप आवरक होने के नाते स्वतः सिद्ध है, अतः यह एकदेशविवर्ति रूपक की उपयुक्त स्थिति नहीं है।

इसप्रकार हमें प्राची पर नायिका के आर्थ आरोप करने की अपेक्षा नहीं है। अतः इस पद्य में समग्ररूप से **समासोक्ति अलंकार** ही है, एकदेश विवर्तिरूपक नहीं। एकदेशविवर्ति रूपक के उदाहरणार्थ विश्वनाथ ने 'जस्स रणान्त उरेए' इत्यादि प्राकृत पद्य उद्धृत किया है। इस पद्य की संस्कृत छाया इस प्रकार होगी—

'यस्य रणान्तःपुरे करे कुर्वतो मण्डलाग्रलताम्।
रससंमुख्यपि सहसा पराङ्मुखी भवति रिपुसेना॥'

यह पद्य मम्मट के काव्यप्रकाश में **एकदेशविवर्तिरूपक** के उदाहरण के रूप में उद्धृत हुआ है। नागेश ने इसकी निम्नलिखित रूप से व्याख्या की है—"मण्डलाग्रलताम्—खड्गलताम्। करे कुर्वतः धारयतः। युद्धार्थं रतार्थं च। अन्तःपुरत्वारोपसामर्थ्याल्लतायाः नायिकात्वावगमात्। रसेन वीरसेन शृङ्गारेण च। सम्मुखी युयुत्सूरिरंसुश्च। पराङ्मुखी भवति युद्धान्निवर्त्तते कोपात्प्रियसङ्गमाच्च (उद्योत पृ. ३८५)। प्रस्तुत पद्य में आरोप विषय रण एवं आरोप्यमाण अन्तपुर के बीच सादृश्य सुस्पष्ट एवं सुविदित नहीं है, अतः इस आरोप की पुष्टि के लिए अन्य शाब्द या आर्थ रूपक योजना की अपेक्षा है। यहां यद्यपि लिङ्ग साम्य के कारण मण्डलाग्रलता (खड्ग) पर नायिका के व्यवहार का आरोप है, साथ ही रिपुसेना पर प्रतिनायिका के व्यवहार पराङ्मुख होने (सेना पक्ष में भाग जाने एवं प्रतिनायिका पक्ष में ईर्ष्यावश मुख घुमा लेने) का आरोप भी विद्यमान है, इस प्रकार प्रस्तुत पर अप्रस्तुत के व्यवहार का समारोप है, तथापि यहां सम्पूर्ण पद्य में **समासोक्ति अलंकार** न मानकर **एकदेशविवर्त्ति रूपक** ही माना जाता है। कारण यह है कि खड्गलता पर नायिका एवं रिपुसेना पर

प्रतिनायक के आरोप के बिना अर्थात् इन अंशों में आर्थरूपक योजना स्वीकार किये बिना, रण पर अन्तःपुर का रूप समारोप परस्पर सादृश्य के अस्पष्ट होने के कारण न हो सकेगा। यहां यह कहना भी उचित न होगा कि यहाँ भी अन्तःपुर के समान सुख संचार (बाधा सहित होकर भ्रमण) रण में भी विद्यमान होने के कारण दोनों में सादृश्य सुस्पष्ट है, क्योंकि इस सादृश्य की प्रतीति वाक्यार्थ की पर्यालोचना के बाद होती है पहले नहीं। इस प्रकार यहां आर्थ रूपक योजना की अपेक्षा रहती ही है, उसके बिना रण पर अन्तःपुर का आरोप संगत नहीं हो पाता।

समासोक्ति एवं एकदेशविवर्त्ति रूपक के मध्य सन्देह की एक अन्य स्थिति भी हो सकती है—जहां एक पद्य में अनेक आरोप विषयों पर रूपित होने वाले आरोप्यमाण शब्दतः कथित हैं, किंतु एक प्रस्तुत आरोपविषय पर होने वाले आरोप्यमाण का शब्दतः कथन नहीं है। ऐसे स्थल पर विशेषण साम्य के कारण अप्रस्तुत आरोप्यमाण अर्थ के गम्य होने के कारण **समासोक्ति** अलंकार माना जाए अथवा उक्त अप्रस्तुत आरोप्यमाण का आर्थ आरोप होने के कारण **एकदेशविवर्त्ति रूपक** माना जाए ? इस प्रश्न का समाधान यह है कि ऐसे स्थलों पर एकदेशविवर्त्ति रूपक अलंकार ही होगा समासोक्ति नहीं; क्योंकि इस प्रकार के अवसरों पर रूपक प्रतीति व्यापक प्रतीति के रूप में रहती है अतः वह समासोक्ति की प्रतीति को तिरोहित कर देती है।

निसर्गसौरभोद्भ्रान्तभृङ्गसंगीतशालिनी ।
उदिते वासराधीशे स्मेराजनि सरोजिनी ।।

इस पद्य में प्रस्तुत अर्थ सरोजिनी है और अप्रस्तुत पद्मिनी नायिका। पद्मिनी होने के कारण नायिका भी सरोजिनी के समान ही निसर्ग सौरभ से युक्त है। अतः सौरभ के लिए भ्रमणशील भ्रमर के संगीत की वहां पर भी संभावना हो सकती है। इस प्रकार उभय साधारण विशेषण के साम्य से यहां **समासोक्ति** अलंकार माना जाता है। यहां स्मेरत्व (मुस्कुराना) स्त्री सामान्य में रहने वाला धर्म है, किसी भी वनस्पति का धर्म नहीं है, किन्तु सरोजिनी में विद्यमान बताया गया है। यह धर्म ही सरोजिनी पर पद्मिनी नायिका के आरोप का हेतु है। इस प्रसंग में जयरथ के ये शब्द द्रष्टव्य हैं—'तदेवं साधारण्येन समासोक्तेर्विशेषण-

साम्ये सत्यप्यप्रकृतसम्बन्धिधर्मकार्यसमारोपमन्तरेण तद्व्यवहार प्रतीतिर्न भवतीति सिद्धम्' (विमर्शिनी पृ० ११०)। पंडितराज जगन्नाथ का अभिमत इससे सर्वथा भिन्न है (रसगं. भा. ३ पृ० ३७९-३८०)।

विशेषण साम्य में औपम्यगर्भता तीन प्रकार से हो सकती है—उपमागर्भित, रूपकगर्भित एवं उपमारूपक संकरगर्भित।

दन्तप्रभा पुष्पचिता पाणिपल्लवशोभिनी।
केशपाशालिवृन्देन सुवेषा हरिणेक्षणा॥

इस पद्य में उपमागर्भित विशेषण साम्य है। रुय्यक ने इस सन्दर्भ में ही इस पद्य को उद्धृत किया है (अलं. स. पृ० ११०)। उद्भट ने इससे साम्य रखते हुए 'दन्तप्रभा सुमनसं पाणिपल्लवशोभिनीम्। तन्वीं वनगतां लीनजटा षट्चरणावलिम्' (का. सा. सं. २.१२) इस पद्य को उद्धृत किया है तथा इसमें समासोक्ति अलंकार माना है। इस पद्य में 'सुवेशा' (सुन्दर वेशवाली) विशेषण नायिका के लिये लागू होता है। इसीलिए 'दन्तप्रभा' पद की व्याख्या इस रूप में की जानी चाहिए कि वह भी उसका (नायिका का) विशेषण बन सके। अतः दन्तप्रभा पुष्पचिता का विग्रह 'दन्तप्रभाः पुष्पाणि इव, तैः चिता' इस प्रकार करना होगा। इस विग्रह के अनुसार दन्तप्रभागत औपम्य की प्रधानता से उपमा अलंकार प्राप्त होगा। इसके अतिरिक्त 'दन्तप्रभासदृशैः पुष्पैश्चिता' यह विग्रह करते हुए मध्यम पदलोपी समास भी माना जा सकता है, इस स्थिति में लता का विशेषण होगा। इस प्रकार समान विशेषण के कारण यहाँ नायिका में लता व्यवहार की प्रतीति होगी। इस स्थिति में यहां उपमागर्भ समासोक्ति होगी (तुलनीय अत्र दन्तप्रभा पुष्पाणीवेति सुवेषत्ववशादुपमागर्भत्वेन च कृते समासे पश्चाद्दन्तप्रभा सदृशैः पुष्पैश्चितेति समासान्तराश्रयणेन समानविशेषणमाहात्म्याल्लता-व्यवहार प्रतीतिः (अ. स. पृ० ११०)। विशेषण साम्य से रूपकगर्भित औपम्यगर्भता के उदाहरण के रूप में 'लावण्यमधुभिः पूर्णम्' इत्यादि पद्य को लिया जा सकता है। इस पद्य को विश्वनाथ ने एकदेशविवर्त्ति रूपक के उदाहरण के रूप में प्रस्तुत किया है (सा. द. पृ० ५२४)

इस पद्य में **समासोक्ति** अलंकार इस प्रकार माना जा सकता है कि यहां लावण्य एवं मधु दोनों में मनोहरत्व धर्म विद्यमान है। इसी

प्रकार रोलम्ब और लोचन दोनों में श्यामत्व धर्म विद्यमान है। इसी लिए लावण्य पर मधु का एवं नेत्रों पर रोलम्ब का आरोप किया गया है। ये दोनों ही रूपक बिना किसी अन्य-अपेक्षा के सिद्ध हैं। इनके लिए मुख पर पद्म के आरोप की कोई आवश्यकता नहीं है। यहीं इस पद्य में आस्य (मुख) का विशेषण विकस्वर मूलत: पद्म से सम्बन्ध है मुख से नहीं, अत: उपर्युक्त रूपक से गर्भित विकस्वर विशेषण के साम्य के कारण प्रस्तुत मुख से अप्रस्तुत पद्म की प्रतीति होगी। क्योंकि यहां रूपक केवल दो ही हैं। अत: वह रूपक सम्पूर्ण पद्य में व्यापक नहीं है, अत: वह समासोक्ति का बाधक नहीं है। इस प्रकार इस पद्य में रूपक के अतिरिक्त समासोक्ति अलंकार भी होगा। स्मरणीय है कि विश्व-नाथ इस पद्य में रूपकगर्भा समासोक्ति अलंकार नहीं मानते हैं। इसे आगे स्पष्ट किया जायगा।

संकरगर्भित औपम्य के उदाहरण के लिए 'दन्तप्रभापुष्पचिता' इत्यादि पद्य में 'सुवेषा' के स्थान पर 'परीता' पाठ करने पर इसी पद्य को देखा जा सकता है। क्योंकि इस पद्य में जैसा कि पूर्व पृष्ठों में कहा जा चुका है 'सुवेषा' पद ही उपमा का साधक प्रमाण है। इसके न रहने पर 'परीता' पद समान रूप से नायिका एवं लता के विशेषण के रूप में संगत हो सकता है। फलत: उस स्थिति में यहां उपमा और रूपक गर्भित दोनों प्रकार से समास विग्रह किया जा सकेगा और इसीकारण यहां उपमा और रूपक का सन्देह होने से **संदेह संकर** गर्भित विशेषण साम्य माना जायेगा। इस सन्दर्भ में रुय्यक के वचन भी द्रष्टव्य हैं "अत्रैव परीता हरिणेक्षणा इति पाठे उपमारूपकसाधकबाधकाभावात् संकरसमाश्रयणेन कृते योजने पश्चात् पूर्ववत् समासान्तरमहिम्ना लता प्रतीतिर्ज्ञेया' अलं. स. पृ. ११०)।

औपम्य के उपर्युक्त त्रिविध स्थलों में प्रथम और तृतीय प्रकार अर्थात् उपमागर्भ एवं संकरगर्भ समासोक्ति में क्योंकि रुद्रट और उद्भट आदि के मत में एकदेशविवर्त्ति उपमा और एकदेशविवर्त्तिसंकर स्वीकृत नहीं है, अत: उनके मत में समासोक्ति अलंकार होगा। स्मर-णीय है कि उद्भट एवं रुद्रट ने एकदेशविवर्त्तिनी उपमा अथवा एकदेश-विवर्त्ति संकर अलंकार को न तो स्वीकार किया है और न अस्वीकार। किन्तु रूपक में एकदेशविवर्ति भेद स्वीकार करने के कारण (बन्धस्त-

स्य (रूपकस्य) यतः श्रुत्या श्रुत्यर्थाभ्यां च तेन तत् । समस्तवस्तुविषयमेकदेशविवर्त्ति च । का. सा. सं. १.१२) यह अनुमान किया जा सकता है कि वे उपमा और संकर में एकदेशविवर्त्ति भेद स्वीकार नहीं करते । रुय्यक के वाक्य 'उपमा सङ्करयोरेकदेशविवर्त्तिनोरभावात्' (अ. स. १११) पर व्याख्या करते हुए जयरथ ने स्पष्ट कहा है : अभावादिति उद्भटमतेन । यदाहुः—'न च रुद्रटस्येवोद्भटस्यैकदेशविवर्त्तिरूपकवदुपमासंकरावेकदेशिनौ स्तः' अतश्च तन्मताभिप्रायेणोक्तम् (अ. स. विमर्शिनी पृ० १११) अर्थात् एकदेशविवर्त्ति रूपक के समान एकदेशविवर्त्तिनी उपमा और संकर नहीं होते ।

वस्तुतः रुय्यक एकदेशविवर्त्तिनी उपमा की उपमा प्रकरण में चर्चा न करके भी उसे अस्वीकार करते हों, ऐसी बात नहीं है । क्योंकि एक अन्य प्रसङ्ग में वे स्वयं कहते हैं "एकदेशविवर्त्तिन्युपमा यदि प्रतिपदं नोक्ता तदा सा केन प्रतिषिद्धा । सामान्यलक्षणद्वारेणायातायास्तस्या अत्रापि सम्भवात्" (अ. स. ११७) ।

औपम्य के द्वितीय प्रकार रूपक गर्भ के रूप में—

लावण्यमधुभिः पूर्णमास्यमस्या विकस्वरम् ।
लोकलोचनरोलम्बकदम्बैः केन दीयते ॥

पद्य देखा जा सकता है ।

प्रस्तुत पद्य में एकदेशविवर्त्तिरूपक अलंकार ही होगा समासोक्ति नहीं । इसके दो कारण हैं, प्रथम तो यह है कि यहां चारुत्व की प्रतीति रूपक की प्रतीति में अनुभूत होती है, समासोक्ति में नहीं, सहृदय हृदय इसका साक्षी है । दूसरा कारण यह कि रूपक की ही प्रथमतः प्रतीति होती है समासोक्ति की नहीं । इसके अतिरिक्त मधु को सामान्यतः मुख से सम्बद्ध नहीं किया जा सकता । जबकि मुख पर पद्मत्व के अध्याहार में कोई असुविधा नहीं है । आचार्य रुय्यक और विश्वनाथ का मत उपर्युक्त से अभिन्न ही रहा है—(रूपकगर्भत्वेन तु समासान्तराश्रयणात् समानविशेषणत्वं भवदपि न समासोक्तेः प्रयोजकम् । एकदेशविवर्त्तिरूपकमुखेनैवार्थान्तरप्रतीतेस्तस्या वैयर्थ्यात्" (अ. स. ११०-१११) । अत्र लावण्यादौ मधुत्वारोपः शाब्दः, मुखस्य पद्मत्वारोप आर्थः । न चेयमेकदेशविवर्त्तिनी उपमा विकस्वरत्वधर्मस्यारोप्यमाणे पद्मे मुख्यतया वर्त्तमानान्मुखे चोपचरितत्वात् ।

सा. द. पृ० ५२४) साहित्य दर्पण के टीकाकार रामचरण का कथन भी इसी मान्यता का समर्थन करता है—('मुखे मध्वाद्यन्वयस्यासंभवात्प्रथमत एव पद्माध्याहारेण प्रतीतिः। कुतो व्यञ्जनामात्रप्राणा समासोक्तिरितिभावः' (रामचरण कृत साहित्य दर्पण टीका)।

प्रथम प्रकार उपमागर्भ औपम्य के सम्बन्ध में यदि गम्भीरतापूर्वक विचार किया जाए तो यहाँ भी एकदेशविवर्त्ति उपमा मानना ही अधिक उचित है। क्योंकि यदि ऐसे स्थलों पर एकदेशविवर्त्तिनी उपमा नहीं मानते तो 'ऐन्द्रं धनुः' इत्यादि[1] पद्य में नायिका व्यवहार की प्रतीति स्वीकार करने में असुविधा होगी। यह पद्य हमें सर्वप्रथम वामन कृत काव्यालङ्कार सूत्रवृत्ति में प्राप्त होता है। वामन के अनुसार यहां उपमान की प्रतीति आक्षेप के द्वारा ही (आर्थ) होती है, साक्षात् नहीं (उपमानस्याक्षेपः आक्षेपतः प्रतिपत्तिरित्यपि सूत्रार्थः यथा—'ऐन्द्रं धनुः…' अत्र शरद्वेश्येव, इन्दुर्नायकमिवरवेः प्रतिनायकस्येव इत्युपमानानि गम्यन्ते इति" (का० सू० वृ० ४. ३.२७ पृ० १४३-१४४)। रुय्यक ने भी इस पद्य को उपमागर्भ समासोक्ति के उदाहरण के रूप में प्रस्तुत किया है। (एवमियमुपमानुप्राणिता समासोक्तिरेव। अ० स० पृ ११७-११८)।

'ऐन्द्रं धनुः'[1] आदि पद्य में यदि एकदेशविवर्त्तिनी उपमा न मानकर समासोक्ति अलंकार स्वीकार किया जाता है, तो यह प्रश्न उपस्थित होगा कि 'शरद नायिका जैसा व्यवहार कर रही है' यह कैसे स्वीकार किया जाए? क्योंकि यह संभव नहीं है किसी नायिका के पयोधर ताजे नखक्षत सदृश इन्द्रधनुष से युक्त हों। इस प्रसंग में विश्वनाथ का अभिमत यह है कि इस पद्य में निर्विवाद रूप से सूर्य एवं चन्द्र की नायक के सदृश प्रतीति होती है। यहां विचारणीय यह है कि यह प्रतीति समासोक्ति के कारण हो रही है या एकदेशविवर्त्तिनी उपमा के कारण। 'आर्द्रनखक्षताभम्' समस्त पद में 'आभ' पद उपमावाचक है। अतः यहां उपमा का बोध होता है। इतना अवश्य है कि इस उपमा के साथ अन्य अङ्गों का शाब्द कथन नहीं किया गया है। यहां नायक और नायिका

---

१. ऐन्द्रं धनुः पाण्डुपयोधरेण शरद् दधानार्द्रनखक्षताभम्।
प्रसादयन्ती सकलङ्कमिन्दुं तापं रवेरप्यधिकं चकार ॥
—[सुभाषितावलि]

का भी कथन नहीं हुआ है, तथापि इस प्रतीति में किञ्चित् मात्र भी बाधा नहीं है कि नायक और नायिका उपमान हैं, क्योंकि आर्द्रनखक्षत और ऐन्द्र धनुष में उपमानोपमेयभाव शब्दतः कथित है। अतः यहाँ एकदेशविवर्त्तिनी उपमा मानना ही प्रशस्त है।

इस पद्य में समासोक्ति के पक्ष में भी यह तर्क प्रस्तुत किया जा सकता है कि यहां 'प्रसादयन्ती' शरद एवं नायिका दोनों के लिए समान रूप से संगत है, फलतः शरद पर नायिका व्यवहार एवं सूर्य तथा चन्द्र पर नायक व्यवहार की भी प्रतीति होती है, अतः यहाँ समासोक्ति अलंकार होना चाहिए। विश्वनाथ इस पक्ष को स्वीकार नहीं करते। इसके समाधान में उनका तर्क है कि 'आर्द्रनखक्षताभम् ऐन्द्रं धनुः दधाना' यह विशेषण नायिका के साथ संगत नहीं है। इसकी संगति केवल शरद के साथ है, क्योंकि 'ऐन्द्र धनुष' शरद में ही सम्भव है, नायिका के उरोजों में नहीं, अतः समासोक्ति की दृष्टि से यह विशेषण निरर्थक सिद्ध होगा, जो कि उचित नहीं है। हमें वही अलंकार स्वीकार करना चाहिए जिसमें सभी विशेषण सोद्देश्य सिद्ध हो सकें। एकदेशविवर्त्तिनी उपमा स्वीकार करने पर सभी पद सोद्देश्य सिद्ध होते हैं, अतः एकदेशविवर्त्तिनी उपमा स्वीकार करना ही उचित होगा। इस प्रसंग में रुय्यक के निम्नलिखित वचन द्रष्टव्य हैं—'प्रसादयन्ती सकलंकमिन्दुमिति विशेषणसाम्याच्छरदो नायिकात्वप्रतीतौ तदानुगुण्यात्तयोः समासोक्त्या नायकत्वप्रतीतिरिति चेत् आर्द्रनखक्षताभमैन्द्रं धनुर्दधानेत्येतद्विशेषणं कथं साम्येन निर्दिष्टम्' [अ० स० पृ० ११७]। [पर्यालोचने त्वाद्ये प्रकारे एकदेशविवर्त्तिन्युपमैवाङ्गीकर्त्तुमुचिता। अन्यथा 'ऐन्द्रं धनुःपाण्डुपयोधरेण' इत्यादौ कथं शरदि नायिकाव्यवहारप्रतीतिः। नायिकापयोधरेणार्द्रनखक्षताभशक्रचापधारणासम्भवात्। ननु 'आर्द्रनखक्षताभम्' इत्यत्र स्थितमप्युपमानत्वं वस्तुपर्यालोचनया ऐन्द्रे धनुषि संचारणीयम्। यथा 'दध्ना जुहोति'इत्यादौ हवनस्यान्यथासिद्धे दध्नि संचार्यते विधिः। एवं चेन्द्रचापाभमार्द्रनखक्षतं दधानेति प्रतीतिर्भविष्यति इति चेन्न, एवं विधानिर्वाहे कष्टसृष्टिकल्पनादेकदेशविवर्त्युपमाङ्गीकारस्यैव ज्यायस्त्वात्। सा. द. पृ. ५६६-५६७]

इस प्रसङ्ग में रुय्यक की मान्यता है कि एकदेशविवर्त्तिनी उपमा का यद्यपि साक्षात्प्रतिपादन नहीं हुआ है, पर उसका निषेध किसने किया

है। सामान्य लक्षण के द्वारा प्राप्त **एकदेशविवर्त्तिनी उपमा** यहां भी संभव है। साथ ही यहां नायक की प्रतीति उपमान के रूप में नहीं होती, अपितु सूर्य तथा चन्द्रमा में नायक के व्यवहार की प्रतीति स्वरूपत: होती है। [प्रसादयन्ती सकलंकमिन्दुमिति विशेषणसाम्याच्छरदो नायिकात्वप्रतीतौ तदानुगुण्यात्तयोः समासोक्त्या नायकत्वप्रतीतिरिति चेत् आर्द्रनखक्षताभमैन्द्रं धनु:दधानेत्येतद् विशेषणं कथं साम्येन निर्दिष्टम्। अलं. स. पृ. ११७]

इस सन्दर्भ में रुय्यक का कहना है कि प्रस्तुत उदाहरण में नायकत्व प्रतीति स्वरूपत: उपमान के रूप में नहीं हो रही है। बल्कि सूर्य तथा चन्द्रमा में नायक के व्यवहार की प्रतीति स्वरूपत: होती है, क्योंकि वे दोनों यहाँ नायक हैं। अतएव प्रस्तुत पद्य में 'नवीन नखक्षत के समान' इस अंश में शाब्द उपमानता रहने पर भी वस्तु विवेचन के द्वारा उस औपम्य को 'इन्द्रधनुष' से सम्बद्ध कर लेना चाहिए, क्योंकि 'इन्द्र धनुष के समान नखक्षत धारण किए हुए' यह प्रतीति यहाँ होती है; जैसे कि मीमांसाशास्त्र में 'यावदप्राप्तं तावद् विधीयते' इस न्याय के अनुसार 'दध्ना जुहोति' विधि में विधि का सम्बन्ध दधि से जोड़ दिया जाता है, क्योंकि 'यज्ञसामान्य' अन्य विधि से प्राप्त हैं। इसी प्रकार यहाँ उपमा अनुप्राणिता समासोक्ति ही है [अत्र नोपमानत्वेन नायकत्वं स्वरूपेण प्रतीयते अपितु रविशशिनोरेव नायकव्यवहार प्रतीतिः। तयोरत्र नायकत्वात्। तदत्रार्द्रनखक्षताभमित्यत्र स्थितमपि श्रुत्योपमानत्वं वस्तुपर्यालोचनया ऐन्द्रे धनुषि संचारणीयम्। इन्द्रचापाभं नखक्षतं दधानेति प्रतीतेः। यथा 'दध्ना जुहोति' इत्यादौ दध्नि संचार्यते विधिः। एवमियमुपमानुप्राणिता समासोक्तिरेव [अ० स० पृ० ११७-११८]।

उपर्युक्त संदर्भ में रुय्यक द्वारा 'दध्ना जुहोति' इस मीमांसा वाक्य को स्पष्ट करते हुए जयरथ कहते हैं कि 'उपर्युक्त तथ्य को ही ग्रन्थकार दूसरे (मीमांसा) शास्त्र के दृष्टान्त से स्पष्ट करते हैं। होम की विधि 'अग्निहोत्रं जुहुयात्' इत्यादि उत्पत्ति विधिवाक्य द्वारा निर्दिष्ट है। जले हुए को अर्थात् जो जल चुका है उसे पुन: जलाया नहीं जा सकता, इसी सिद्धान्त के अनुसार विधि अर्थ जो किसी पूर्व विधिवाक्य द्वारा विहित है, उसका पुन: विधान विवक्षित नहीं होता। तथा जो पूर्व निर्दिष्ट विधिवाक्यों से प्राप्त(विहित) नहीं है, नवीन विधि द्वारा केवल

उसका ही विधान विवक्षित होता है। अतः 'दध्ना जुहोति' विधि-वाक्य में हवन की कर्त्तव्यता विवक्षित नहीं हो सकती। क्योंकि यह 'अग्निहोत्रं जुहुयात्स्वर्गकामः' वाक्य से पूर्वतः प्राप्तः है, अतः वाक्य में उपपद दधि में ही विधि स्वीकार की जाती है [स तदेव शास्त्रान्तर-दृष्टान्तमुखेन हृदयंगमीकरोति-यथेत्यादिना। अग्निहोत्रं जुहुयादि-त्यनेनोत्पत्तिविधिवाक्येन हि होमो विहितः। तस्य च पुनर्विधानम-दग्धदहनन्यायेन यावदप्राप्तं विधेर्विषयः इत्युभ्युपगमान्न युज्यते इति तत्रायुक्तत्वादुपपदे दध्नि संचार्यते इत्यर्थः'। विमर्शिनी पृ० ११८]।

इस प्रसंग में काव्यप्रकाश और काव्यप्रदीप की कुछ पंक्तियाँ भी तुलनीय हैं—"भूतभव्यसमुच्चरणे भूतं भव्यायोपदिश्यते' इति कारक-पदार्थाः क्रियापदार्थेनान्वीयमानाः प्रधानक्रियानिवर्त्तकस्वक्रियाभि-सम्बन्धात् साध्यायमानतां प्राप्नुवन्ति, ततश्चादग्धदहनन्यायेन यावदप्राप्तं तावद् विधीयते। यथा ऋत्विक्प्रचरणे प्रमाणान्तरात्सिद्धे 'लोहितोष्णीषा ऋत्विजत्वः प्रचरन्ति' इत्यत्र लोहिताष्णोषत्वमात्रं विधेयम्, हवनस्यान्यतः सिद्धेः। 'दध्ना जुहोति' इत्यादौ दध्यादेः करणत्वमात्रं विधेयम्" [का० प्र० पृ० २५५-२५७]। "यथा दहनेना-दग्धमात्रं दह्यते न तु दग्धमपि, तथा यावदेवाप्राप्तं तावदेव शब्देन विधीयते न तु प्राप्तमपि। यथा······हवनस्यान्यतः सिद्धौ च 'दध्ना जुहोति' इत्यनेन दध्नः करणत्वं न तु दधि हवनं वा" [प्रदीप पृ० १७६-१७७]।

विश्वनाथ रुय्यक के उपर्युक्त तर्कों से सहमत नहीं हैं और ऐसे स्थलों में समासोक्ति न मानकर एकदेशविवर्त्तिनी उपमा स्वीकार करते हैं।

'ऐन्द्रं धनु' इत्यादि पद्यों में समासोक्ति का निषेध करके भी विश्व-नाथ कहते हैं कि यदि कथमपि इस पद्य ('ऐद्रं धनुः' इत्यादि) में समासोक्ति स्वीकार भी कर लें तो भी हमें 'एकदेशविवर्त्तिनी' उपमा तो स्वीकार करनी ही होगी।

इसी प्रकार—

नेत्रैरिवोत्पलैः पद्ममुखैरिव सरःश्रियः।
पदे पदे विभान्ति स्म चक्रवाकैः स्तनैरिव॥

इस पद्य में एकदेशविवर्त्तिनी उपमा मानने के अतिरिक्त कोई उपाय नहीं है, क्योंकि उपमावाचक अव्यय 'इव' अनिवार्यतः उपमान से सम्बद्ध रहता है, तथा 'नेत्रैरिव' इत्यादि पद्य में उत्पल एवं पद्म एवं चक्रवाक का क्रमशः नेत्रमुख और स्तनों से सादृश्य शब्दतः अभिहित भी है। केवल 'सरःश्री' का उपमान 'अङ्गना' नायिका शब्दतः कथित नहीं है, किन्तु 'इव' वाचक के सम्बन्ध के कारण उपमान के रूप में उसकी अनिवार्यतः आर्थ प्रतीति होती है।]

इसके अतिरिक्त उपमा और समासोक्ति का क्षेत्र भी अलग है। उपमा अलंकार के लिए जहाँ उपमान और उपमेय में केवल सादृश्य प्रतीति अभीष्ट होती है, वहीं समासोक्ति में उपमान के व्यवहार का उपमेय पर आरोप आवश्यक होता है, अतः उपमा के क्षेत्र में समासोक्ति की कल्पना नहीं की जा सकती है [इस प्रसंग में साहित्यदर्पण के टीकाकार रामचरण का निम्नलिखित कथन भी द्रष्टव्य है—'विशेषणानां सादृश्योपलम्भमहिम्ना विशेष्यस्याध्याहारेण प्रथमत एव सादृश्यप्रतीतिरनुभवसिद्धा तथैव श्रोतुराकांक्षा विरहाद् व्यवहार व्यञ्जनं न भवतीति भावः]। आचार्य रुय्यक भी इस प्रसङ्ग **एकदेशविवर्त्तिनी** उपमा ही स्वीकार करते हैं, समासोक्ति नहीं। [नेत्रैरिव इत्यत्र सरःश्रियां नायिकात्वप्रतीतिर्न समासोक्त्या, विशेषणसाम्याभावात्। तस्मान्नायिकात्रोपमानत्वेन प्रतीयते न तु सरःश्री धर्मत्वेन, नायिकात्वप्रतीतिरिति एकदेशविवर्त्तिन्युपमैवाभ्युपगम्या, गत्यन्तराभावात्। यैस्तु नोक्ता तेषामप्युपसंख्येयैव। अ० स० पृ० ११८]

इस प्रकार एकदेशविवर्त्ति उपमा एवं रूपक स्वीकार कर लेने पर अर्थात् ऐसे स्थलों पर समासोक्ति अस्वीकार करने पर उपमा रूपक के संकर की स्थिति में भी समासोक्ति को स्वीकार करना संभव न होगा। फलतः औपम्यगर्भ विशेषणोत्थापित समासोक्ति को स्वीकार करना भी उचित न होगा। क्योंकि औपम्यगर्भ विशेषण होने पर केवल साम्य की विवक्षा होने पर एकदेशविवर्त्ति उपमा एवं तत्त्वारोप की विवक्षा होने पर एकदेशविवर्त्तिरूपक अलंकार होगा।

विशेषण साम्य की तीन परिस्थितियों में औपम्यगर्भ का प्रतिषेध करने पर समासोक्ति के क्षेत्र में केवल दो प्रकार का विशेषण साम्य शेष रह जाता है—श्लिष्टतया तथा साधारण। विश्वनाथ इन दोनों

प्रकारों में कार्य और लिङ्ग का साम्य सम्भव मानते हैं, अतः उनके अनुसार यह समासोक्ति चार प्रकार की हो जाती है। रुय्यक श्लिष्ट विशेषणोत्थापित समासोक्ति में केवल एक प्रकार मानते हैं तथा साधारण विशेषणोत्थापित धर्म और कार्य के समारोप से दो प्रकार स्वीकार करते हैं [तदेवं श्लिष्टविशेषणसमुत्थापितैका। साधारण विशेषणसमुत्थापिता तु धर्मकार्यसमारोपाभ्यां द्विभेदा। अ० स० पृ० ११३]। तथा व्यवहार समारोप सभी प्रकारों में प्राणभूत रहता है [सर्वत्र चात्र व्यवहारसमारोप एव जीवितम्। अ० स० पृ० ११३]।

स च लौकिके वस्तुनि लौकिकवस्तुव्यवहारसमारोपः। शास्त्रीये वस्तुनि शास्त्रीयवस्तुव्यवहारसमारोपः। लौकिके वा शास्त्रीय-वस्तुव्यवहार समारोपः। शास्त्रीये वा लौकिकवस्तुव्यवहारसमारोप इति चतुर्धा भवति [अ० स० पृ० ११३]। लौकिकं च वस्तु रसादि-भेदान्नानाभेदं स्वयमेवोत्प्रेक्ष्यम् [वही पृ० ११४]। 'यैरेकरूपम्' अत्रागमशास्त्रप्रसिद्धे वस्तुनि व्याकरणप्रसिद्धवस्तुसमारोपः। "सीमानं०" अत्र लावण्ये लौकिके वस्तुनि मीमांसाशास्त्रप्रसिद्धवस्तु-समारोपः। एवं तर्कायुर्वेदज्योतिःशास्त्रप्रसिद्धवस्तुसमारोपो बोद्धव्यः [वही पृ० ११४-११५]।

यैरेकरूपमखिलास्वपि वृत्तिषु त्वां
पश्यद्भिरव्ययमसंख्यतया प्रवृत्तम्।
लोपः कृतः किल परत्वजुषो विभक्ते-
स्तैर्लक्षणं तव कृतं ध्रुवमेव मन्ये॥

इस पद्य में शास्त्रीय वस्तु पर अन्य शास्त्रीय वस्तु व्यवहार समारोप मूलक **समासोक्ति** है। यहां आगमशास्त्र के ईश्वर पर व्याकरणशास्त्र के अव्यय के व्यवहार का समारोप हुआ है। अथर्ववेद के 'इन्द्रं मित्रं वरुणमग्निमाहुरथो दिव्यः स सुपर्णो गरुत्मान्। एकं सद् विप्रा बहुधा वदन्ति अग्निं यमं मातरिश्वानमाहुः [ऋग्वेद १.१६४.४६, अथर्ववेद ९.१०.१८] नेह नानास्ति किञ्चन [बृहदारण्यक ४.४.१९] इत्यादि श्रुति वाक्यों द्वारा परत्व रहित रूप में तथा 'अशब्दमस्पर्शमरूपम-व्ययम्' [कठो० ३.१५] इत्यादि श्रुति वाक्यों द्वारा अव्यय के रूप में प्रतिपादित ब्रह्म पर व्याकरणशास्त्र प्रसिद्ध 'कृत् तद्धित समास एकशेष

एवं सनाद्यन्तधातुरूप पाँच वृत्तियों (कृत्तद्धितसमासैकशेषसनाद्यन्तधातुरूपाः पञ्चवृत्तयः (सि० कौ० पृ०) के अभाव वाले अव्यय (सदृशं त्रिषु लिङ्गेषु सर्वासु च विभक्तिषु। वचनेषु च सर्वेषु यन्न व्येति तदव्ययम् (सि० कौ० पृ० १३१) का आरोप किया गया है।

मूल लक्षण

अग्नि

यत्रोक्तं गम्यते नार्थः तत्समानविशेषणः।
सा समासोक्तिरुदिता संक्षेपार्थतया बुधैः। —अ. पु. ३४५.१७

दण्डी

वस्तु किंचिदभिप्रेत्य तत् तुल्यस्यान्यवस्तुनः।
उक्तिः संक्षेपरूपत्वात्सा समासोक्तिरिष्यते। —का. द. २०५

भामह

यत्रोक्ते गम्यतेऽन्योऽर्थः तत्समानविशेषणः।
सा समासोक्तिरुद्दिष्टा संक्षिप्तार्थतया यथा। —काव्या. २.७९

शिलामेघसेन

(दण्डी अनुकृत)

उद्भट

प्रकृतार्थेन वाक्येन तत्समानविशेषणैः।
अप्रस्तुतार्थकथनं समासोक्तिरुदाहृता। —का. सा. सं. २.१०

वामन

अनुक्तौ समासोक्तिः। (वृत्ति) उपमेयस्यानुक्तौ समानवस्तुन्यासः समासोक्तिः। —काव्या. सू. वृ. ४.३३

रुद्रट

सकलसमानविशेषणमेकं यत्राभिधीयमानं सत्।
उपमानमेव गमयेत् उपमेयं सा समासोक्तिः॥ —काव्या. ८.६७

भोज

(समासोक्तिरुभयालंकारे स्वीकृता)
यत्रोपमानादेवैतदुपमेयं प्रतीयते।
अतिप्रसिद्धेस्तामाहुः समासोक्तिं मनीषिणः।
प्रतीयमाने वाच्ये वा सादृश्ये सोपजायते। —स. कं. ४.४८-४९

मम्मट

परोक्तिभेदकैः श्लिष्टैः समासोक्तिः। —का. प्र. सू. १४६ का. ६७

रुय्यक

विशेषणसाम्यादप्रस्तुतस्य गम्यत्वे समासोक्तिः। —अलं. स. ३१

वाग्भट (प्रथम)

उपमेयश्लेषोक्तौ उपमानप्रतीतिः समासोक्तिः। —काव्यानु. पृ. ३६

हेमचन्द्र

श्लिष्टविशेषणैरुपमानधी समासोक्तिः। —काव्यानु. ६.१४ सू. १२६

शोभाकर मित्र

विशेषणानां साम्यादप्रस्तुतधर्मावच्छेदः समासोक्तिः। —अलं. र. ४३

जयदेव

समासोक्तिः परिस्फूर्त्तिः प्रस्तुतेऽप्रस्तुतस्य चेत्। —चन्द्रा. ५.६०

विद्यानाथ

विशेषणानां तौल्येन यत्र प्रस्तुतवर्त्तिनाम्।
अप्रस्तुतस्य गम्यत्वं सा समासोक्तिरिष्यते। —प्रताप. ८.११७

संघरक्खित

वण्णितेनोपमानेन वुत्त्या भिप्पेतवत्थुनो।
समासवुत्तिनामायं अत्थं संकेतरूपतो। —सुबोधा. २६५

विद्याधर

साधारणधर्मवशाद् गम्येनाप्रस्तुतेन चारुत्वम्।
प्रस्तुतमुपैति वाच्यं यस्यामेषा समासोक्तिः। एका. ८.२३

विश्वनाथ

समासोक्तिः समैर्यत्र कार्यलिङ्गविशेषणैः।
व्यवहारसमारोपः प्रस्तुतेऽन्यस्य वस्तुनः। —सा. द. १०.५६

अमृतानन्द योगी

वस्तुकिञ्चिदभिप्रेत्य तत्तुल्यस्यान्यवस्तुनः।
उक्तिः समासरूपत्वात्सा समासोक्तिरिष्यते।
अन्यापदेश इत्यस्य नामान्यच्चोच्यते यथा। —अलं. सं. ५.२८-२६

वाग्भट (द्वितीय)

उच्यते वक्तुमिष्टस्य प्रतीतिजनने क्षमम्।
सधर्मं यत्र वस्त्वन्यत्समासोक्तिरियं यथा। —वाग्भटा. ४.६५

अप्पयदीक्षित

समासोक्तिः परिस्फूर्त्तिः प्रस्तुतेऽप्रस्तुतस्य चेत् । —कुव. ६१

केशवमिश्र

अन्यदभिहित्य अन्याभिधानं समासोक्तिः ।

सैव चान्यापदेश उच्यते । —अलं. शे. पृ. ३६

पंडितराज जगन्नाथ

यत्र प्रस्तुतधर्मिको व्यवहारः साधारणविशेषणमात्रोपस्थापितः प्रस्तुत-धर्मिकव्यवहाराभेदेन भासते सा समासोक्तिः ।

—रसगं. भा. ३ पृ. २२२

चिरञ्जीव

समासोक्तिः परिस्फूर्तिः प्रस्तुतेऽप्रस्तुतस्य चेत् । —का. वि. २.३४

नरेन्द्रप्रभसूरि

क्वचित् भेदकसाम्येन कार्यसाम्येन वा क्वचित् ।

क्वचिच्चोभयसाम्येन यदप्रस्तुतगम्यता ।

सम्मता सा समासोक्तिः तत्र भेदकतुल्यता ।

(वृत्तिः) व्यवहारसमारोपश्चात्र सर्वत्र जीवितम् ।

अलं. महो. ८.४१-४२ पृ. २८१

भावदेवसूरि

समासोक्तिरभिप्रेत्य किञ्चित्तत्सदृशाभिधा । — काव्या. सं. ६.३१

परकालस्वामी

साम्योद्भेदकमात्रस्य गम्यमप्रस्तुतं यदि।

समासोक्तिरिमां प्राहुः प्राञ्चोलंकारवेदिनः । —अलं. मणि. ७५

नरसिंह कवि

विशेषणानां तौल्येन यत्र प्रस्तुतवर्त्तिनाम् ।

अप्रस्तुतस्य गम्यत्वे सा समासोक्तिरुच्यते ।। —नञ्रा. पृ. १८५

विश्वेश्वर

तच्छक्तेरप्रकृतार्थोक्तिः सोक्ता समासोक्तिः । —अलं. मु. १६

भट्ट देवशंकर

प्रस्तुतेऽप्रस्तुतं यत्र श्लिष्टैः साधारणैः पदैः ।

परिस्फुरति यत्तत्र समासोक्तिरलंकृतिः ।।

—अलं. मञ्जू. ४० पृ. ७८

वेणीदत्त

प्रकृतेऽप्रकृताभेदबुद्धिर्या समवस्तुभिः।
समासोक्तिरसौ त्रेधा कार्यलिङ्गविशेषणैः। —अलं. मञ्ज. ७१ पृ. १४

समाहित

जब भावशान्ति की अभिव्यक्ति अप्रधान रूप से होती है तब वहां पर **समाहित** अलंकार माना जाता है। तथा रस भाव रसाभास तथा भावाभास की अभिव्यक्ति जहां प्रशान्त होती हुई निबद्ध हो वहां पर **भावशान्ति** स्वीकार की जाती है। [रसभावतदाभासवृत्तेः प्रशमबन्धनम्। अन्यानुभावनिश्शून्यरूपं यत् तत् समाहितम्। का०सा०सं० ४.७]। समाहित के इस स्वरूप को रुय्यक वाग्भट्ट जयदेव नरेन्द्रप्रभसूरि विश्वनाथ अप्पयदीक्षित आदि आचार्यों ने भी स्वीकार किया है।

दण्डी के अनुसार **समाहित अलंकार** वहां मानना चाहिए 'जहां कुछ कार्य प्रारम्भ करने पर दैववशात् उसके साधन सुलभ हो जाएं।' शिलामेघसेन संघरक्खित अमृतानन्दयोगी वाग्भट (द्वितीय) एवं केशवमिश्र इस प्रसंग में दण्डी का अनुकरण करते हैं। भामह यद्यपि इस अलंकार की कोई परिभाषा प्रस्तुत नहीं करते, तथापि उनके द्वारा उपस्थापित उदाहरण के आधार पर यह कहा जा सकता है कि उनका मत भी दण्डी के मत से अभिन्न है।

अविरल करवाल कम्पनैः भृकुटी-तर्जन-गर्जनैः मुहुः।
ददृशे तव वैरिणां मदः स गतः क्वापि तवेक्षणे क्षणात्॥

यहां पद्य में करवाल कम्पन एवं भृकुटी तर्जन एवं गर्जन के माध्यम से अभिव्यक्त होते हुए 'मद' नामक भाव का प्रशम वर्णित है, जो राजविषयक रतिभाव के अंग के रूप में निबद्ध है। इस प्रकार **भावशान्ति** भावाङ्ग के रूप में अभिव्यक्त होने से यहां उद्भट आदि के अनुसार **समाहित** अलंकार है।

मूल लक्षण

दण्डी

किञ्चिदारभमाणस्य कार्यं दैववशात्पुनः ।
तत्साधनसमापत्तिर्या तदाहुः समाहितम् । —का. द. २.२९८

भामह

उदाहरण मात्र, लक्षण नहीं ।

शिलामेघसेन

दण्डी अनुकृत

उद्भट

रसभावतदाभासवृत्तेः प्रशमबन्धनम् ।
अन्यानुभावनिश्शून्यरूपं यत्तत्समाहितम् । —का. सा. सं. ४.७

वामन

यत्सादृश्यं तत्सम्पत्तिः समाहितम् । —काव्यालंकार सूत्र ४.३.२९

भोज

कार्यारम्भे सहायाप्तिः दैवादैवकृतेह या ।
आकस्मिकी बुद्धिपूर्वोभयी वा तत्समाहितम् ॥
—सरस्वतीकण्ठाभरण ३.३४

कुन्तक

तथा समाहितस्यापि प्रकारद्वयशोभिनः ।
(वृत्ति) अलंकारस्य भूषणत्वं न विद्यते ॥ —वक्रोक्तिजीवित ३.१३

रुय्यक

रसभावतदाभासतत्प्रशमानां निबन्धे रसवत्प्रेयउर्जस्विसमाहितानि ।
—अलंकारसर्वस्व ८३

वाग्भट (प्रथम)

कार्यमारभमाणस्य दैवादुपायसम्पत्तिः समाहितम् ।
—काव्यानुशासन पृ० ४२

जयदेव

रसभावतदाभासभावशान्तिनिबन्धनाः ।
रसवत्प्रेयऊर्जस्विसमाहितमयाभिधाः ॥ —चन्द्रालोक ५.११२

संघरक्षित

आरभन्तस्स यं किञ्चि कत्तु पुञ्ञवसा पुनः ।
साधनन्तरलाभो यो तं वदन्ति समाहितम् ॥ —सुबोधालंकार २७७

विश्वनाथ

रसभाव तदाभासौ भावस्य प्रशमस्तथा ।
गुणीभूतत्वमायान्ति यदालंकृतयस्तदा ॥
रसवत्प्रेयऊर्जस्वि समाहितमिति क्रमात् । —साहित्यदर्पण १०.९६

अमृतानन्दयोगी

किञ्चिदारभमाणस्य कार्यं दैववशात्पुनः ।
तत्साधनसमापत्तिः समाहितमिदं यथा ॥ —अलंकारसंग्रह ९.३९-४०

वाग्भट (द्वितीय)

कारणान्तरसम्पत्तिः दैवादारम्भ एव हि ।
यत्र कार्यस्य जायेते तज्जायेत समाहितम् ॥ —वाग्भटालंकार ४.११०

अप्पयदीक्षित

रसभावतदाभासभावशान्तिनिबन्धनाः ।
चत्वारो रसवत्प्रेयऊर्जस्वि च समाहितम् ॥ —कुवलयानन्द १७०
(वृत्ति) भावशान्तेरपराङ्गत्वे समाहितम् । वही पृ० १८३

केशवमिश्र

आरब्धानुकूलाऽऽकस्मिकसहकारिलाभः समाहितम् ॥
—अलंकारशेखर पृ० ३७

नरेन्द्रप्रभसूरि

रसाः भावास्तदाभासाः भावशान्त्यादयोऽपि वा ।
यत्रात्मानं गुणीकृत्य धारयन्त्यपराङ्गताम् ॥
अलंकाराः क्रमात्तस्मिन्नमी कैश्चिदुदीरिताः ॥
रसवत्प्रेयऊर्जस्वि समाहितपुरस्सराः ॥
—अलंकार महोदधि ८.८५-८६

भट्टदेवशंकर पुरोहित

विनश्यदवस्थो भावो भावशान्तिः, सा यत्रा पराङ्गतया निबध्यते, तत्र समाहितमलंकारः ॥
—अलंकार मञ्जूषा पृ० २२७

विश्वेश्वर

रसभावतदाभासे रसवत्प्रेय ऊर्जस्वी।
भावशमे तु समाहितमुदयेऽन्योऽप्यस्य शबलत्वे॥ —अं० मुक्तावली ५५

परकाल स्वामी

समाहितं भावशान्तेर्भावाङ्गत्वे त्वलंकृतिः। — अलं० मणि० १७१

समुच्चय

समुच्चय अलंकार की उद्भावना आचार्य रुद्रट ने की है, तथा इसे **वास्तवमूलक** एवं **औपम्यमूलक** दो अलंकार वर्गों में लक्षित कराया है। इनसे उत्तरवर्त्ती आलंकारिकों में कुन्तक संघरक्खित अमृतानन्द-योगी शौद्धौदनि एवं केशवमिश्र को छोड़कर प्रायः सभो ने इसे स्वीकार किया है।

समुच्चय पद (सम्+उत्+चय) का अर्थ है 'अनेक पदार्थों (वस्तुओं) का एकत्र होना। काव्य में एकत्र अनेक वस्तुओं का निबन्धन चारुत्व हेतु होने पर **समुच्चय** अलंकार कहा जाता है। काव्यगत वर्णनीय पदार्थ स्वरूप भेद से तीन प्रकार के हो सकते हैं: द्रव्य गुण और क्रिया। फलतः **समुच्चय** अलंकार का विभाजन भी द्रव्यसमुच्चय गुणसमुच्चय एवं क्रिया समुच्चय भेद से तीन प्रकारों में किया जाता है। वर्णनीय पदार्थों के प्रभाव की दृष्टि से इन तीन भेदों के दो-दो उपभेद हो सकते हैं: सत् अर्थात् उत्कृष्ट एवं असत् अर्थात् अपकृष्ट। इनका वर्णन पृथक्-पृथक् भी हो सकता है और मिश्रित रूप से भी। इस प्रकार सत् असत् और सदसत् तीन प्रकार का समुच्चय हो सकता है। इसके अतिरिक्त समुच्चय की योजना समानाधिकरण में भी हो सकती है, और भिन्न-भिन्न अधिकरणों में भी (व्यधिकरण रूप से भी)। इस दृष्टि से भो समुच्चय का विभाजन हो सकता है। पदार्थों का विभाजन कार्य कारण आदि सम्बन्धों के आधार पर भी किया जाता है। अतः अनेक कारण पदार्थों का अथवा अनेक कार्य पदार्थों का एक साथ निबन्धन होने पर भी समुच्चय अलंकार हो सकता है। इन उपर्युक्त अनेक विभाजन प्रकारों में से अनेक प्रकारों का एकत्र समायोजन होने पर अन्य अनेक भेद अर्थात् समुच्चय प्रकारों के संकर और संसृष्टि भी सम्भव हैं।

सत् असत् और सदसत् नामक समुच्चय प्रकारों को रुद्रट मम्मट रुय्यक नरेन्द्रप्रभसूरि विद्याधर विश्वनाथ वाग्भट द्वितीय आदि ने स्वीकार किया है। रुद्रट ने इन तीन भेदों के साथ द्रव्यगुण एवं क्रिया के आधार पर भी समुच्चय का विभाजन किया है। भोज मम्मट रुय्यक हेमचन्द्र शोभाकर विद्यानाथ विद्याधर विश्वनाथ नरेन्द्र-प्रभसूरि एवं नरसिंह ने गुण और क्रिया के यौगपद्य में भी **समुच्चय** अलंकार स्वीकार किया है। कारण समुच्चय को केवल हेमचन्द्र विद्यानाथ और विश्वनाथ आदि केवल कुछ आचार्य ही स्वीकार करते हैं, जब कि कार्यसमुच्चय की चर्चा केवल हेमचन्द्र ने की है। इसी प्रकार समानाधिकरण अर्थात् एकाश्रय एवं व्यधिकरण अर्थात् अनेकाश्रय समुच्चय भेदों का उल्लेख केवल रुद्रट रुय्यक शोभाकर विद्यानाथ एवं नरसिंह कवि ने किया है।

इन भेदों के अतिरिक्त भोज ने द्विपदाश्रय एवं बहुपदाश्रय समुच्चय को, शोभाकर ने अभाव-समुच्चय तथा गुण एवं गुणाभाव समुच्चय को, पंडितराज जगन्नाथ ने कारणतातिरिक्त सम्बन्धेन वस्तुसमुच्चय को भी समुच्चय अलंकार के प्रकार के रूप में स्वीकार किया है। नरेन्द्रप्रभसूरि ने 'केचित्' पद का प्रयोग करते हुए सर्वपदस्थ एवं उत्तरपदस्थ समुच्चय अलंकार को स्वतन्त्र प्रकार के रूप में माना है।

समुच्चय अलंकार का परिचय देते हुए विद्यानाथ एवं विश्वनाथ ने खले कपोतन्याय (खले कपोतिका न्याय) का आश्रय लिया है। 'खले कपोत' पद 'खले कपोताः' यह विग्रह करते हुए तत्पुरुष समास करके निष्पन्न है। यहां 'हलदन्तात्सप्तम्याः संज्ञायाम्' [पा० ६.३.६] इस पाणिनीय सूत्र से विभक्ति का अलुक् विहित है। 'खले कपोतः' पद से ही 'इवे प्रतिकृतौ' [वही ५.३.६६] पाणिनि सूत्र से कन् प्रत्यय करते हुए स्त्रीलिङ्ग में 'खले कपोतिका' पद सिद्ध होता है। 'खले कपोतन्याय' अथवा 'खले कपोतिकान्याय' का तात्पर्य है, एकत्र अनेक पदार्थों का उसी प्रकार एक साथ उपस्थित होना, जिस प्रकार खलिहान में कबूतर एक साथ दाना चुगने के लिए उतरते हैं [धान्यमर्दनस्थले कपोतानां युगपदापतनं तन्यायः, खलेकपोतन्यायः। (साहित्यदर्पण पृष्ठ २८५)]। शबर स्वामी के अनुसार इस न्याय का तात्पर्य है कि प्रधान के

प्रति उपकारकतापूर्वक एकत्र अनेक अंगों का संहत होना ['अथैवं प्रधानोपकारेण खले कपोतवत् युगपत् सन्निपतन्त्यङ्गानि'। मीमांसाभाष्य ११.१.१६]।

हंहो धीर समीर हन्त जननं ते चन्दनक्ष्माभृतो
दाक्षिण्यं जगदुत्तरं परिचयो गोदावरी वारिभिः।
प्रत्यङ्गं दहसीति मे त्वमपि चेदुद्दामदावाग्निवत्
मत्तोऽयं मलिनात्मको वनचरः किं वक्ष्यते कोकिलः।

इस पद्य में विरही को जलाने (विरहवेदनावृद्धि पूर्वक पीड़ा पहुंचाने) के लिए वायु का चन्दन की उत्पत्ति भूमि मलय पर्वत पर उत्पन्न होना, अथवा मलय पर्वत में उत्पन्न चन्दन की सुगन्ध और शीतलता से सम्पृक्त होना, कारण के रूप में पर्याप्त है, फिर भी दाक्षिण्य (दक्षिण दिशा में उत्पत्ति) आदि अनेक कारण संहत रूप से निबद्ध हुए हैं। अतः यहां **समुच्चय अलंकार** है। इन निबद्ध अनेक कारणों में से प्रथम द्वितीय चरणों में निबद्ध 'चन्दन पर्वत में उत्पत्ति' 'दाक्षिण्य', 'गोदावरी वारिसम्पर्करूप' कारण शोभन (सत्) हैं, तथा चतुर्थ चरण में निबद्ध 'मत्तता' मलिनात्मकता (कालापन एवं 'वनचरत्व' हेतु अशोभन (असत्) हैं। इस प्रकार इस पद्य का पूर्वार्ध सद्योग समुच्चय का उदाहरण तथा चतुर्थ चरण असद्योग समुच्चय का उदाहरण है।

शशी दिवसधूसरो गलितयौवना कामिनी
सरो विगतवारिजं मुखमनक्षरं स्वाकृतेः।
प्रभुर्धनपरायणः सततदुर्गतः सज्जनो
नृपाङ्गणगतः खलो मनसि सप्त शल्यानि मे।

भर्तृहरिरचित इस पद्य में निबद्ध शशी की दिन में धूसरता (मलिनता) आदि में से कोई एक कारण भी मन में शल्य की भांति पीड़ा देने में समर्थ है। तथापि गलित यौवना कामिनी आदि छ अन्य कारणों की समष्टि यहां निबद्ध है, फलतः यहां **समुच्चय अलंकार** है।

विश्वनाथ के अनुसार यहां **सदसद्योग समुच्चय** प्रकार है। सदसद्योग पद विग्रह भेद से कर्मधारय एवं द्वन्द्व दोनों ही समासों की

स्थिति में निष्पन्न हो सकता है। 'सन्तश्च ते असन्तश्च, तेषां योगः' विग्रह करने पर कर्मधारयगर्भ तत्पुरुष तथा 'सन्तश्च असन्तश्च तेषां योगः' विग्रह करने पर द्वन्द्वगर्भ तत्पुरुष समास होगा। द्वन्द्वगर्भ तत्पुरुष मानने की स्थिति में पद्यगत कुछ पदार्थों (कारणों) को सत्, तथा कुछ अन्य पदार्थों (कारणों) को असत् (अशोभन) होना चाहिए। कर्मधारय की स्थिति में पद्य में निबद्ध प्रत्येक पदार्थ एक दृष्टि से सत् तथा दूसरी दृष्टि से असत् होना चाहिए। अर्थात् कर्मधारय समास मानने पर निबद्ध पदार्थ दृष्टि भेद से सत् और असत् दोनों ही होना चाहिए। द्वन्द्व गर्भ तत्पुरुषमूलक व्याख्या के अनुसार प्रस्तुत पद्य में 'शशी' इत्यादि सत् (शोभन) पदार्थ तथा तृतीय चरण में निबद्ध खल पदार्थ 'असत्' है, इस प्रकार इस पद्य में सत् और असत् दोनों प्रकार के पदार्थों का योग है। कर्मधारय गर्भ तत्पुरुष के अनुसार प्रस्तुत पद्य में शशी इत्यादि पदार्थ सत् (शोभन) है, तथा उनमें धूसरत्व आदि अशोभन, इस प्रकार दोनों प्रकार के पदार्थों का निबन्धन होने से यहां सदसद्योग **समुच्चय** है।

विश्वनाथ के अनुसार सदसद्योग की दोनों ही व्याख्याएं आचार्यों में प्रचलित रही हैं। यद्यपि उन्होंने स्वयं प्रथम पक्ष के साथ चारुत्व-अचारुत्व विषयक कोई टिप्पणी नहीं दी है। जबकि द्वितीय पक्ष अर्थात कर्मधारयगर्भ तत्पुरुषमूलक व्याख्या के अनुसार व्याख्यात **समुच्चय** में विच्छित्ति विशेष को स्वीकार किया है [अत्र हि शशिप्रभृतिषु धूसरादेरत्यन्तमनुचितत्वमिति विच्छित्तिविशेषस्यैव शोभनत्वे प्रक्रमात्।' सा०द० पृ० ६०८] इससे प्रतीत होता है कि विश्वनाथ के अनुसार सदसद्योग में द्वन्द्वगर्भ तत्पुरुषमूलक व्याख्या करने पर अर्थात् 'सत्पदार्थों और असत्पदार्थों का एक ही पद्य में सन्निवेश सदसद्योगमूलक समुच्चय अलंकार है' यह मानने पर पूर्व उद्धृत 'शशी दिवसधूसरो' इत्यादि पद्य समुच्चय अलंकार का उदाहरण होगा।

किन्तु उपर्युक्त व्याख्या मानने पर यहां तीन दोष उपस्थित होंगे : (१) इस प्रकार के 'सदसत्संसृष्ट' समुच्चय में कोई चारुत्व विशेष प्रतीत नहीं होता। (२) क्योंकि इस पद्य में निबद्ध 'शशी' आदि सभी का पर्यावसान शल्य के रूप में हुआ है। [मनसि सप्त शल्यानि मे]

अत: चन्द्र आदि को शोभन कहना संभव नहीं है। (३) यदि सत् और असत् की इस संसृष्टता को समुच्चय अलंकार के रूप में स्वीकार किया जाता है, तो इसका तात्पर्य यह है कि सहचर भिन्नता को अलंकार के क्षेत्र में मान्यता प्रदान की जाती है, जबकि सहचर भिन्नता को दोष के रूप में स्वीकार किया गया है। [साकांक्षोऽपदयुक्तः सहचरभिन्नः प्रकाशितविरुद्धः (का०प्र० ७.५७] 'श्रुतेन बुद्धि र्व्यसनेन मूर्खता मदेन नारी सलिलेन निम्नगा। निशा शशांकेन धृतिः समाधिना नयेन चालंक्रियते नरेन्द्रता।' अत्र श्रुतादिभिरुत्कृष्टैः सहचरितैः व्यसनमूर्खतयोर्निकृष्टयोर्भिन्नत्वम् । का०प्र०पृ० ४५४] । अतः आचार्यों की इस मान्यता के साथ विरोध उपस्थित होगा। इसलिए सदसद्योग की द्वन्द्वगर्भ तत्पुरुषमूलक व्याख्या स्वीकार करने योग्य नहीं है।

कर्मधारयमूलक व्याख्या स्वीकार करने पर सदसद्योग का तात्पर्य होगा एक ही वस्तु का शोभन और अशोभन होना। उपर्युक्त उदाहरण में शशी आदि स्वतः शोभन है, साथ ही उनमें धूसरत्व आदि की विवक्षा होने से अशोभनत्व (असत्त्व) भी है। इस प्रकार यहां एक ही पदार्थ सत् और असत् दोनों हैं। इनमें से अन्तिम पदार्थ 'खल' अन्य पदार्थों से विपरीत स्वभावतः असत् है, तथा नृपांगणगत होने से उसमें शोभनत्व की विवक्षा है। इस प्रकार यहां भी असत् और सत् का योग होने से सदसद्योग माना जा सकता है। यद्यपि इस पक्ष में भी सहचर भिन्नता दोष विद्यमान है।

इसके अतिरिक्त स्वभावतः सत् में प्रासंगिक असत्व की योजना का प्रक्रम करके अन्त में खल के प्रसङ्ग में असत् की योजना होने में प्रक्रम भेद दोष उपस्थित होगा [यश्च यथा प्रक्रान्तोऽभिधातुमर्थस्तथैव तस्य न चेत्। निर्वाहः स प्रक्रमभेदो न प्रकरणावसितः।' व्यक्तिविवेक पृ० २७८]। अतः समुच्चय अलंकार के प्रसंग में इस अन्तिम पदार्थ की गणना न करना अधिक उचित है [अत्र शशिनः स्वतः शोभनस्यापि दिवसधूसरत्वादशोभनत्वेन सदसतस्तादृशैरेव कामिनीप्रभृतिभिः समुच्चयः। नत्वत्र कश्चित्समुच्चीयमानः शोभनः, अन्यस्त्वशोभनः, इति सदसद्योगो व्याख्येयः। ननु नृपाङ्गणगतः खलः इत्यशोभनोऽन्ये तु शोभना इति कथं समुच्चयीमानस्य सतस्तादृशेन सता योगः।

नैतत्। नृपाङ्गणगतः खलः' इति तु प्रक्रमभङ्गः दुष्टमेव । न तु सौन्दर्यनिमित्तमित्युप्रेक्ष्यमेवैतत्। अलं०स० पृ० २०४]। अथवा यह भी कहा जा सकता है कि सप्तम पदार्थ 'नृपाङ्गणगतः खलः' में नृपाङ्गणगत होने से भी शोभनत्व विद्यमान है ही। उसमें खलत्वेन अशोभनत्व की उद्भावना यहां विवक्षित है। इस व्याख्या के अनुसार यहां भी समुच्चय अलंकार का अंश है, यह कहा जा सकता है [प्रकृते तु नृपाङ्गणगतत्वेन शोभनत्वं खलत्वेनाशोभनत्वमिति समर्थनीयम्।……न सर्वथा निरवद्यम्। अलं०स० पृ० २०४-२०५]।

समुच्चय अलंकार के प्रसंग में यह प्रश्न उठ सकता है कि समुच्चय और समाधि में क्या अन्तर है? क्योंकि **समाधि में** एक कारण में ही कार्यसिद्धि का सामर्थ्य रहने पर कारणान्तरों की योजना की जाती है। इस प्रकार वहां भी अनेक कारण पदार्थों की योजना एक साथ होती है। **समुच्चय** अलंकार में भी अनेक पदार्थों, जिनमें कारण पदार्थ भी सम्मिलित है, की योजना समुच्चित रूप से की जाती है।

इस शंका का समाधान यह है कि **समुच्चय** और **समाधि** अलंकारों का क्षेत्र एक नहीं है। क्योंकि **समाधि** अलंकार वहां होता है, जहां एक कारण से कार्य निष्पत्ति हो रही है, वहीं कारणान्तर का उपस्थित होना, जिससे कार्य की उत्पत्ति सुकर हो जाए। इस प्रकार यहां कार्य का उत्पादन एक कार्य से प्रारम्भ होता है, अन्य कारणों की उपस्थिति बाद में होती है, जबकि समुच्चय में सभी कारणों (पदार्थों) की उपस्थिति एक साथ होती है। अन्य पदार्थों के समान कारण पदार्थ की एक काल में ही उपस्थिति को स्पष्ट करने के लिए विद्यानाथ एवं विश्वनाथ ने 'खले कपोतन्याय' की सहायता ली है। इस प्रकार समुच्चय अलंकार में अनेक पदार्थों की एक साथ उपस्थिति उसी प्रकार निबद्ध की जाती है, जिस प्रकार खलिहान में कबूतर एक साथ उतरते हैं [न चायं समाध्यलंकारेऽन्तर्भवति, तत्र ह्येकस्य कार्यं प्रति पूर्णं साधकत्वम्। अन्यस्य तु कार्याय काकतालीयेनापतति, तत्र समाधिर्वक्ष्यते। यत्र तु खले कपोतिकया बहूनामवतारस्तत्रायं समुच्चयः। अतः सुमहान्भेदोऽनयोः। अलं०स० पृ० २०२]। 'समाधौ हि एकेन कार्ये निष्पाद्यमानेऽप्यन्येनाकस्मिकमापतता कारणेन सौकर्यादिरूपोऽतिशयः यत्र सम्पाद्यते स विषयः। अस्मिंस्तु समुच्चयप्रभेदे यत्रैकं

कार्यं सम्पादयितुं युगपदनेके खले कपोत इवाहमहमिकया सम्पतन्ति कार्यस्य च न कोप्यतिशयः सः। रसगं०भा०पृ० ६७१]। समाधि और समुच्चय के अन्तर को यदि एक वाक्य में कहना चाहें तो यह कहा जा सकता है कि **समाधि** में काकतालीय न्याय से अनेक कारण समुच्चित होते हैं और समुच्चय में 'खलेकपोत' न्याय से। अर्थात् 'खलेकपोत न्याय' और 'काकतालीय न्याय' का जो अन्तर है वही **समुच्चय** और **समाधि** अलंकारों का अन्तर है। खले कपोत न्याय को इसी अलंकार के प्रारम्भ में स्पष्ट किया जा चुका है। काकतालीय न्याय को व्याकरण महाभाष्य के टीकाकार कैयट ने इस प्रकार स्पष्ट किया है 'डाकू लोग कहीं जा रहे थे, उधर अकस्मात् देवदत्त आ निकला। अकस्मात् ही देवदत्त को अकेला पाकर दस्युओं ने उसका वध कर डाला। यह घटना वैसे ही अकस्मात् हो गयी जैसे कोई कौआ उड़ता हुआ ताड़ के पेड़ के नीचे से निकला उधर ऊपर से ताड़ का फल गिर रहा था जो कौआ के ऊपर गिरा और कौए की मृत्यु हो गयी। यहां देवदत्त और दस्युओं का मिलना वैसे ही अकस्मात् हुआ जैसे कौआ और ताड़ फल का संयोग [तत्र काकागमनं देवदत्तस्योपमानं, यद् देवदत्तस्य चौरैः समागमः यच्चास्य तैर्वधः कृतः तदेतत् सर्वं काकतालीयम्। तालपतनं दस्यूपनिपातस्य, तालेन काकस्य यो वधः स देवदत्तस्य दस्युना वधस्योपमानम् इति। महाभाष्य प्रदीप ५.३.१०६]! पतंजलि ने इसी तथ्य को संक्षेप में इस प्रकार कहा था 'एवं तर्हि द्वाविमावर्थौ काकागमनमिव तालपतनमिव काकतालं काकतालमिव काकतालीयम्। महाभाष्य ५.३.१०६]। तात्पर्य यह है कि समाधि में एक कारण से कार्य सम्पन्न हो रहा होता है, तो भी अकस्मात् अन्य कारण उपस्थित हो जाते हैं तथा समुच्चय में अनेक कारण एक साथ कार्य को आरम्भ करते हैं। यही दोनों का अन्तर है।

अरुणे च तरुणि नयने तव मलिनं च प्रियस्य मुखम्।
मुखमानतंच सखि ते ज्वलितश्चास्यान्तरे स्मरज्वलनः॥

यह पद्य गुणयौगपद्य एवं क्रिया यौगपद्य दोनों का उदाहरण है। इसमें प्रथमार्ध में युष्मत्पदवाच्य नायिका के मुख में अरुणिमा एवं प्रिय

पदवाच्य नायक के मुख में मलिनता एक काल में हो रही है। इसी प्रकार उत्तरार्ध में नायिका के मुख का आनत होना और जलना क्रियाएं हैं। इस प्रकार पद्य में गुण समुच्चय एवं क्रिया समुच्चय दोनों को देखा जा सकता है।

कलुषं च तवाहितेष्वकस्मात् सितमंकेरुहसोदराश्रि चक्षुः।
पतितं च महीपतीन्द्र तेषां वपुषि प्रस्फुटमापदां कटाक्षैः।

यहां पद्य में कलुषत्वगुण एवं पतन क्रिया का सहभाव होने से गुण क्रिया यौगपद्यमूलक समुच्चय अलंकार है।

इसीप्रकार "धुनोति चासिं तनुते च कीर्त्तिम्" इत्यादि पद्य वाक्य में धुनोति और 'तनुते' पदों से वाच्य क्रियाएं एक हो अधिकरण में विद्यमान हैं। स्मरणीय है कि **समुच्चय अलंकार** का सर्वप्रथम विवेचन करने वाले आचार्य रुद्रट ने गुणों अथवा क्रियाओं का समुच्चय केवल भिन्न अधिकरण में ही स्वीकार किया था ['व्यधिकरणे वा यस्मिन् गुणक्रिये चैककालमेकस्मिन्। उपजायेते देशे समुच्चयः स्यात्तदन्योऽसौ।' काव्या० ७.२७]।

एकाधिकरण समुच्चय के सन्दर्भ में एक प्रश्न हो सकता है कि जब एक ही अधिकरण कारक से अनेक क्रियाएं अथवा गुणो से गुण सम्बद्ध होते हैं, वहां देहलीदीपकन्याय की स्थिति होने से **दीपक अलंकार** क्यों न माना जाए? इस प्रश्न का समाधान यह है कि **दीपक** एवं **एकाधिकरण समुच्चय** में महान् अन्तर है। एकाधिकरण समुच्चय में अनिवार्यतः कारण कार्य पौर्वापर्य नियम का व्यतिक्रम रहा करता है। अतः वहां **अतिशयोक्ति** अलंकार मूल में रहा करता है, जबकि **दीपक** में अतिशयोक्तिगर्भता का पूरा अभाव रहता है।

इसी प्रकार समुच्चय और पर्याय के मध्य भी पर्याप्त अन्तर है। समुच्चय में अनेक कारण एक साथ उपस्थित होते हैं, जबकि पर्याय में अनेक कारण पर्याय क्रम से निबद्ध होते हैं।

मूल लक्षण

रुद्रट—(वास्तवमूलक—)

यत्रैकत्रानेकं वस्तु परं स्यात्सुखावहाद्येव।
ज्ञेयः समुच्चयोऽसौ त्रेधाऽन्यः सदसतोर्योगः॥ —काव्यालं. ७.१९॥

व्यधिकरणे वा यस्मिन् गुणक्रिये चैककालमेकस्मिन् ।
उपजायेते देशे समुच्चयः स्यात्तदन्योऽसौ ॥
—काव्यालंकार ७.१६, २७

(औपम्यमूलक)
सोऽयं समुच्चयः स्याद्यत्रानेकोऽर्थं एक सामान्यः ।
अनिवादिर्द्रव्यादिः सत्युपमानोपमेयत्वे ॥
—काव्यालंकार ८.१०३

भोज

द्रव्यक्रियागुणादीनां क्रियाद्रव्यगुणादिषु ।
निवेशनमनेकेषामेकतः स्यात्समुच्चयः ॥
इतरेतरयोगो यः समाहारो य उच्यते ।
अन्वाचयः इहान्यो यः सोऽपि नान्यः समुच्चयात् ॥
—सरस्वतीकण्ठाभरण ४.६२-६३

मम्मट

तत्सिद्धिहेतावेकस्मिन् यत्रान्यत्तत्करं भवेत् ।
समुच्चयोऽसौ ॥ —काव्यप्रकाश सू० १७८ का० ११६

रुय्यक

गुणक्रियायौगपद्यं समुच्चयः, एकस्य सिद्धिहेतुत्वेऽन्यस्य तत्करत्वञ्च ।
—अलंकार सर्वस्व ६६-६७

वाग्भट (प्रथम)

हेतोर्हेत्वन्तरस्य कार्ये कार्यान्तरस्याभिधानं समुच्चयः । अन्येषामेकत्र निबन्धस्त्वन्यः । गुणक्रियायाः युगपदभिधानमपरः ।
—काव्यानुशासन पृ० ४१

हेमचन्द्र

हेतौ कार्ये चैकत्र हेतुकार्यान्तरोक्तिर्युगपद् गुणक्रियाश्च समुच्चयः ।
—काव्यानुशासन ६.२८ सू० १४०

शोभाकर

धर्मयौगपद्यमन्यस्यापि तत्करत्वं च समुच्चयः । —अलंकार रत्नाकर ८६

जयदेव

भूयसामेकसम्बन्धभाजां गुम्फः समुच्चयः ॥ —चन्द्रलोक ५.९३

विद्यानाथ

(१) गुणक्रियायौगपद्यं समुच्चय उदाहृतः ॥ —प्रतापरुद्रीयम् ८.२४२

(२) खलेकपोतन्यायेन बहूनां कार्यसाधने ।
कारणानां समुद्योगः स द्वितीयः समुच्चयः ॥
—प्रतापरुद्रीयम् ८.२४७

विद्याधर

(१) यद् भवति यौगपद्यं गुणक्रियाणां समुच्चयः स स्यात् ।
एषोऽदर्शि विकल्पप्रतिभटभूतो द्विधाऽस्माभिः ॥
(२) एकेन क्रियमाणं यत्रान्यः स्पर्धयैव तत्कुरुते ।
सोऽपि समुच्चयभेदः कथितोऽन्यस्तत्करो द्वेधा ॥
—एकावली ८.५७-५८

विश्वनाथ

(१) समुच्चयोऽयमेकस्मिन्सति कार्यस्य साधके ।
(२) खलेकपोतन्यायात् तत्करः स्यात्परोऽपि चेत् ॥
(३) गुणौ क्रिये वा युगपत्स्यातां यद्वा गुणक्रिये ॥
—साहित्यदर्पण १०.८४-८५

वाग्भट (द्वितीय)

(१) एकत्र यत्र वस्तूनामनेकेषां निबन्धनम् ।
(२) अव्युत्कृष्टापकृष्टानां तं वदन्ति समुच्चयम् ॥
—वाग्भटालंकार ४.१३१

अप्पयदीक्षित

(१) बहूनां युगपद्भावभाजां गुम्फः समुच्चयः ॥
(२) अहंप्राथमिकाभाजामेककार्यान्वयेऽपि सः ॥
—कुवलयानन्द ११५-११६

पण्डितराज जगन्नाथ

युगपत्पदार्थानामन्वयः समुच्चयः ॥ —रसगंगाधर भा० ३, पृ० ६७०

चिरञ्जीव

भूयसामेकसम्बन्धभाजां गुम्फः समुच्चयः ॥ —काव्यविलास २.५०

नरेन्द्रप्रभसूरि

(१) कुर्वाणे कार्यमेकस्मिन् यत्रान्यदपि तत्करम् ।
असत्सदुभयावेशात् त्रिविधः स समुच्चयः ॥
(२) गुणक्रियासमावेशो युगपद्यत्र सोऽपरः ॥
—अलंकार महोदधि ८.७३-७४

नरसिंहकवि

क्रियाणां वा गुणानां वा युगपत्परिमेलम् ।
एकत्र वर्ण्यते यत्र सद्वेधा स्यात्समुच्चयः ॥ —नञ्जराज यशोभूषण

भट्टदेवशंकर पुरोहित

(i) सम्भाव्यमानयुगपद् भावबह्वर्थगुम्फनम् ।
क्रियते तत्र गदितोऽलंकारः समुच्चयः ॥

—अलंकार मञ्जूषा ८७

(ii) खलेकपोतन्यायेन ह्यहमहमिकया समम् ।
अन्वयन्ति पदार्थाश्चेदेकत्रात्राप्यसौ मतः ॥

—अलंकार मञ्जूषा ८८

वेणीदत्त

एकस्यैव प्रधानस्य कारणस्य यदेतरे ।
कार्योत्पत्तौ सहायाः स्युः तदा ज्ञेयः समुच्चयः ॥

—अलंकार मञ्जरी १५०

विश्वेश्वर

एकस्मिन् सति हेतौ हेत्वन्तरमीः समुच्चयः प्रोक्तः ।

—अलंकार मुक्तावली ३४

परकालस्वामी

यौगपद्यात्पदार्थानामन्वयः स्यात्समुच्चयः । —अलंकार मणिहार १२२

सामान्यविशेष

सामान्यविशेष अलंकार की कल्पना केवल चिरञ्जीव भट्टाचार्य (रामदेव चिरञ्जीव) ने की है। उनके अतिरिक्त किसी अन्य आलंकारिक ने इसकी चर्चा भी नहीं की है। उनके अनुसार सामान्य का कथन अपेक्षित होने पर यदि विशेष का कथन किया जाए तो वहां **सामान्यविशेष अलंकार** होता है। यथा—

धिगयं कामिपुरुषानलं परुषकर्मिणः ।
जीवितान्यपि मुञ्चन्ति यदमी कामिनीकृते ॥

इस पद्य में कामिजनों को धिक्कृति के हेतु के लिए उनके द्वारा कामिनी के लिए सब कुछ त्याग करने का (सामान्य का) कथन अभिप्रेत है, उसके लिए 'जीवन का भी त्याग कर देते हैं' इह विशेष

का कथन किया गया है, फलतः यहां चिरञ्जीव के अनुसार **सामान्य-विशेष अलंकार** माना जाएगा।

देखिये = सम सामान्य

मूल लक्षण

चिरञ्जीव

स्यात्सामान्यविशेषोक्तौ अलंकारः स एव हि ॥ —काव्यविलास २.३६

सम्बन्धातिशयोक्ति

अतिशयोक्ति अलंकार को भरत को छोड़कर प्रायः सभी आलंकारिकों ने स्वीकार किया है, इस अलंकार का जीवातु है लोकातिक्रान्त कथन। इस कथन के मूल में औपम्य एवं कार्यकारण-भाव में अन्यतर का होना अनिवार्य रहता है। इनमें से औपम्यमूला अतिशयोक्ति को साध्यवसाना लक्षणा के समानान्तर समझा जा सकता है, जहां आरोप्यमाण एवं आरोपविषय में अभेद के प्रत्यायन के लिए आरोप्यमाणद्वारा आरोपविषय का निवारण हो जाता है, अर्थात् दोनों में अभेद अध्यवसित होता है, तथा इस अभेद अध्यवसान की ही प्रधानता रहती है। कार्यकारणभावमूला अतिशयोक्ति में कारण-कार्य के सुनिश्चित पौर्वापर्य में विपर्यय होता है। यह विपर्यय दो प्रकार का हो सकता है—कारण-कार्य की समकालिकता अथवा कारण से कार्य का पूर्वभाव। इस अतिशयोक्ति के सामान्यतः पांच प्रकार माने जाते हैं—(१) अभेद में भेद, (२) भेद में अभेद, (३) सम्बन्ध में असम्बन्ध, (४) असम्बन्ध में सम्बन्ध, (५) कारण-कार्य के पौर्वापर्य का विपर्यय। [विशेष विवरण के लिए अतिशयोक्ति प्रकरण देखें]।

सम्बन्धातिशयोक्ति वस्तुतः पूर्वोक्त भेदों में उल्लिखित अतिशयोक्ति का चतुर्थ प्रकार है, कोई स्वतन्त्र अलंकार नहीं। अप्पय दीक्षित ने इसे स्वतन्त्र अलंकार के रूप में स्वीकार किया है।

मूल लक्षण

अप्पयदीक्षित

सम्बन्धातिशयोक्तिः स्यादयोगे योगकल्पना ॥ —कुवलयानन्द ३९

सम्भव

सम्भव प्रमाणमूलक अलंकारों में अन्यतम है। इसकी अलंकार के रूप में केवल भोज अप्पय दीक्षित एवं अमृतानन्द योगी ने चर्चा की है। यद्यपि भोज के अनुसार **सम्भव** का अनुमान में अन्तर्भाव मानना अधिक उचित है। उनके अनुसार जिस प्रकार खारी में द्रोण अथवा क्विण्टल में किलोग्राम की संभावना हो सकती है, उसी प्रकार की संभावना का जहां निबन्धन किया जाए, वहां **सम्भव अलंकार** होता है।

अभूतपूर्वं मम भावि किं वा सर्वं सहे मे सहजं हि दुःखम्।
किन्तु त्वदग्रे शरणागतानां पराभवो नाथ न तेऽनुरूपः॥

प्रस्तुत पद्य में संभव प्रमाणसिद्ध अर्थ का चमत्कारपूर्ण निबन्धन होने से **सम्भव अलंकार** माना जाएगा।

मूल लक्षण

भोज

द्रोणस्य सम्भवः खार्यां शते पञ्चाशतो यथा।
तथान्ये सम्भवं प्राहुः सोऽनुमानान्न भिद्यते॥
—सरस्वती कंठाभरण ३.२६

अमृतानन्द योगी

आढकं सम्भवेद् द्रोणे सहस्रे ऽपि शतं यथा।
आहुरेवं विधं ज्ञानं संभवं मुनयो यथा॥ —अलंकार संग्रह

अप्पयदीक्षित

अष्टौ प्रमाणालंकाराः प्रत्यक्षप्रमुखाः क्रमात्॥ —कुवलयानन्द १७१

परकाल स्वामी

सम्भवोधिक सद्भावान्न न्यूनमित्यवधारणम्। —अलं. मणि. ६८१

सम्भावना

(देखें ऊह/वितर्क)

ससन्देह

(देखें सन्देह/संशय)

सहोक्ति

जब एक शब्द मुख्यत: क्रियापद अपने प्रधान अर्थ (अधिधेयार्थ) को प्रकट करते समय स्वयं मुख्यकर्त्ता के रूप में सम्बद्ध होकर अर्थ प्रकट करता है तथा इसके साथ ही सहकारी पदार्थवाचक पद का भी प्रयोग रहता है, तथा सम्बन्ध के लिए सह अथवा सहार्थवाची साकं सार्धं समम् आदि पदों का भी प्रयोग होता है, तो ऐसी स्थिति में **सहोक्ति** अलंकार माना जाता है, किन्तु इस कथन में चारुत्व अवश्य होना चाहिए, इसके अभाव में उसे अलंकार न कहा जा सकेगा।

सहोक्ति प्राचीन अलंकारों में अन्यतम है। दण्डी और भामह ने भी इसे स्वीकार किया था, अग्निपुराण में भी इसकी चर्चा विद्यमान है। केवल नाट्यशास्त्र एवं विष्णुधर्मोत्तर पुराण में इसका उल्लेख नहीं है।

भामह के अनुसार दो भिन्न पदार्थों में एक काल में रहने वाली दो क्रियाओं का एक पद से कथन **सहोक्ति अलंकार** कहलाता है। दण्डी के **सहोक्ति** लक्षण में क्रिया के साथ गुण का भी समावेश किया गया है। अग्निपुराणकार तथा शिलामेघसेन द्वारा प्रदत्त **सहोक्ति** का लक्षण दण्डी द्वारा दिये गये **सहोक्ति** के लक्षण से शब्दश: साम्य रखता है, जबकि उद्भट और वामन एवं संघरक्खित ने भामह के लक्षण का अनुकरण किया है। आचार्य रुद्रट ने वास्तवगर्भ एवं औपम्यगर्भ दोनों प्रकार के अलंकारों के वर्ग में परिगणित करते हुए कार्यकरण भाव और औपम्य दोनों आधार पर **सहोक्ति** को परिभाषित किया है। भोज ने सामान्य रूप से क्रिया आदि में अन्य के साथ कर्त्ता आदि के समावेश को **सहोक्ति** कहा है। कुन्तक के अनुसार वर्णनीय भी सिद्धि के लिए अनेक अर्थों का एक साथ कथन हो वह सहोक्ति है। पद के स्थान पर 'वाक्य' शब्द का तथा क्रिया या गुण के स्थान पर 'अर्थ' शब्द का प्रयोग कुन्तक के **सहोक्ति** लक्षण की विशेषता है।

मम्मट ने 'सासहोक्तिः सहार्थस्यबलादेकं द्विवाचकम्' लक्षण करते हुए 'सह' अर्थ को प्रधानता दी है। हेमचन्द्र शोभाकर मित्र जयदेव अप्पयदीक्षित केशवमिश्र एवं चिरञ्जीव ने लगभग मम्मट का अनुसरण किया है।

रुय्यक के अनुसार जहां उपमेय उपमान में से एक का प्रधानभाव से और दूसरे का गुणभाव से निर्देश हो तथा 'सह' अर्थ वाचक पदों के द्वारा वे वाक्य में सम्बद्ध हों, तो वहां **सहोक्ति** अलंकार माना जाता है (उपमानोपमेययोरेकस्य प्राधान्यनिर्देशेऽपरस्य सहार्थसम्बन्धे सहोक्तिः)। उपर्युक्त **सहोक्ति अलंकार** के लक्षण को स्पष्ट करते हुए रुय्यक का कहना है कि उपमेय और उपमान में यह गुणप्रधानभाव सहार्थ के कारण होता है, क्योंकि इसमें दोनों ही अर्थ या तो प्रस्तुत होते हैं, अथवा अप्रस्तुत; अतः दोनों समान कक्षा में होते हैं; तथापि उनमें विद्यमान उपमानोपमेयभाव विवक्षावश होता है। वाक्य में प्रयुक्त तृतीयान्त पद गौण होने से उपमान तथा शेष प्रथमान्त आदि पद प्रधान होने से उपमेय होते हैं। यह गुण प्रधानभाव सदा ही शाब्द रहा करता है (सहार्थप्रयुक्तश्च गुणप्रधानभावः। उपमानोपमेयत्वं चात्र वैवक्षिकम्। द्वयोरपि प्राकरणिकत्वादप्राकरणिकत्वाद् वा। सहार्थसामर्थ्याद्धि तयोस्तुल्यकक्ष्यत्वम्। तत्र तृतीयान्तस्य नियमेन-गुणभावादुपमानत्वम्। अर्थाच्च परिशिष्टस्य प्रधानत्वादुपमेयत्वम्। शाब्दश्चात्र गुणप्रधानभावः। (अलं. स. २६, पृ. १३१-१३२)।

यह अलंकार नियमतः अतिशयोक्तिमूलक होता है। यह अतिशयोक्ति कार्यकारण विपर्ययरूपा अथवा अभेदाध्यवसानमूला दोनों ही प्रकार की हो सकती है, तथा यह अभेदाध्यवसान श्लेषभित्तिक अथवा श्लेष के बिना दोनों प्रकार का हो सकता है (तत्र नियमेनातिशयोक्ति-मूलत्वमस्याः। सा च कार्यकारणप्रतिनियमविपर्ययरूपा, अभेदाध्य-वसायरूपा च। अभेदाध्यवसायश्च श्लेषभित्तिकोऽन्यथा वा साहित्यं चात्र कर्त्रादि नानाभेदं ज्ञेयम्। अलं. स. पृ. १३२-१३३)

परवर्त्ती आलंकारिकों में विद्यानाथ विद्याधर नरेन्द्रप्रभसूरि आदि प्रायः सभी रुय्यक का अनुगमन करते हैं। विश्वनाथ एवं वाग्भट्ट औपम्य की चर्चा नहीं करते। उनके अनुसार यह मूलतः अतिशयोक्ति मूलक अलंकार ही है। पंडितराज जगन्नाथ भी सहोक्ति को अतिशय से संश्लिष्ट नहीं मानते, अन्यथा उनके अनुसार सहोक्ति में कोई चारुत्व न रहेगा (हृद्यत्वं चास्या अतिशयोक्तिकृतमित्युक्तम्। यत्र तु सा नास्ति तत्र पुत्रेण सह गतः पिता इत्यादौ न सहोक्तिरलंकारः। रसगं. भा. २ पृ. २०१)

मूल लक्षण

अग्निः

सहोक्तिः सहभावेन कथनं तुल्यधर्मिणाम् । —अग्नि पु० ३४४.२३

दण्डी

सहोक्तिः सहभावेन कथनं गुणकर्मणाम् । — का०द० २.३५

भामह

तुल्यकाले क्रिये यत्र वस्तुद्वयसमाश्रये ।
पदेनैकेन कथ्येते सहोक्तिः सा मता यथा । —काव्या० ३.३९

उद्भट

तुल्यकाले क्रिये यत्र वस्तुद्वयसमाश्रिते ।
पदनैकेन कथ्येते सा सहोक्ति र्मता सताम् । —का०सा०सं० ५.१५

वामन

वस्तुद्वयक्रिययोस्तुल्यकालयोरेकपदाभिधानं सहोक्तिः ।
—का०सू० ४.३.२८

रुद्रट

वास्तवमूला—
भवति यथारूपोऽर्थः कुर्वन्नेवापरं तथाभूतम् ।
उक्तिस्तस्य समाना तेन समं या सहोक्तिः सा ॥ —काव्या० ७१३
औपम्यमूला—
सा हि सहोक्तिर्यस्यां प्रसिद्धदूराधिकक्रियो योऽर्थः ।
तस्य समानक्रियः इति कथ्येतान्यः समं तेन ।
यत्रैककर्त्तृका स्यादनेककर्माश्रिता क्रिया तत्र ।
कथ्येतापरसहितं कर्मैकं सेयमन्या स्यात् ।
—काव्या० ८.९९, १०१

भोज

कर्त्रादीनां समावेशः सहान्यैर्यः क्रियादिषु ।
विविक्तश्चाविविक्तश्च सहोक्तिः सा निगद्यते । —स०कं० ४.५६

कुन्तक

तुल्यकाले क्रिये यत्र वस्तुद्वयसमाश्रयात् ।
पदेनैकेन कथ्येते सा सहोक्तिःर्मता यथा ।
यत्रैकेनैव वाक्येन वर्णनीयार्थसिद्धये ।
अर्थानां युगपदुक्तिः सा सहोक्तिः सतां मता । —वक्रो० ४६१, ३३७

मम्मट

सा सहोक्तिः सहार्थस्य बलादेकं द्विवाचकम् ।

—का०प्र०सू० १७० का० ११२

रुय्यक

उपमानोपमेययोरेकस्य प्राधान्यनिर्देशेऽपरस्य सहार्थसम्बन्धे सहोक्तिः ।

—अलं०स० २९

वाग्भट (प्रथम)

सहभावकथनं सहोक्तिः । —काव्यानु० पृ० ३८

हेमचन्द्र

सहार्थंबलाद्धर्मस्यान्वयः सहोक्तिः । —काव्यानु ६.१३. सू० १२५

शोभाकर मित्र

सहार्थवशादेकस्यानेकसम्बन्धे सहोक्तिः । —अलं०र०

जयदेव

सहोक्तिः सहभावश्चेद् भासते जनरञ्जनः । —चन्द्रा० ५.५८

विद्यानाथ

सहार्थेऽनान्वयो यत्र भवेदतिशयोक्तितः ।

कल्पितौपम्यपर्यन्ता सा सहोक्तिरितीष्यते । —प्रताप० ८.१११

संघरक्खित

कथनं सहभावस्य क्रियाय च गुणस्स च ।

सहवुत्ति ति विञ्ञेयं तदुदाहरणं यथा । —सुबोधा० ३२१

विद्याधर

प्राधान्येन निबद्धं यद्युपमानोपमेययोरैक्यम् ।

अन्यत्सहार्थसहितं भवति सहोक्तिस्तदा ख्याता । —एका० ८२१

विश्वनाथ

सहार्थस्य बलादेकं यत्र स्याद् वाचकं द्वयोः ।

सा सहोक्तिर्मूलभूताऽतिशयोक्तिर्यदा भवेत् । —सा०द० १०.५४-५५

वाग्भट (द्वितीय)

सहोक्तिस्सा भवेद्यत्र कार्यकारणयोः सह ।

समुत्पत्तिकथा हेतोर्वक्तुं तज्जन्मशक्तताम् । —वाग्भटा० ४.११९

अप्पयदीक्षित

सहोक्तिः सहभावश्चेद् भासते जनरञ्जनः । —कुव० ५८

केशवमिश्र

समानकालोक्तिः सहोक्तिः । —अलं०शे० पृ० ३८

पण्डितराज जगन्नाथ

गुणप्रधानभावावच्छिन्नः सहार्थसम्बन्धः सहोक्तिः ।

—रसगं०भा० ३. पृ० १८६

चिरञ्जीव

सहोक्तिः सहभावश्चेद् भासते जनरञ्जनः । —का०वि० २.३३

नरेन्द्रप्रभसूरि

सहार्थयोगे या मुख्यामुख्ययोरेकधर्मता ।
क्रोडस्थातिशयोक्तिस्सा सहोक्तिरिति विश्रुता ।
सहार्थानां परित्यागादिवादीनां परिग्रहे ।
गर्भीकृतोपमारूपा सेयमौपम्यगर्भिता । —अलं० महो० ८.६

नरसिंह कवि

सहार्थेनान्वयो यत्र भवेदतिशयोक्तितः ।
कल्पितौपम्यपर्यन्ता सा सहोक्तिरितीष्यते । —नञ्रा० पृ० १८३

परकाल स्वामी

गुणप्रधानभाजोरर्थयोरुभयोर्यदा ।
वर्ण्यस्सहार्थसम्बन्धः सहोक्तिं तां तदा विदुः । —अलं०मणि० ७३

विश्वेश्वर

सह समभिव्याहारात्सहोक्तिरुभयान्विते धर्मे । —अलं०मुक्ता० ३१

भट्ट देवशंकर

वर्ण्यते सह भावश्चेज्जनानां चित्तरञ्जनः ।
सहोक्त्यलंकृतिस्तत्र विबुधैः परिकीर्त्तिता । —अलं०मञ्जू० ३८

वेणीदत्त

एकव्यक्त्यन्वितो धर्म उभयत्रापि गम्यते ।
सह शब्दबलाद्यत्र सहोक्तिः सावधार्यते ॥ —अलं०मञ्जू० १२६

सापह्नवातिशयोक्तिः

अतिशयोक्ति अलंकार को भरत को छोड़कर प्रायः सभी अलंकारिकों ने स्वीकार किया है। इस अलंकार का जीवातु है लोकातिक्रान्तकथन। इस कथन के मूल में औपम्य एवं कार्यकारणभाव में

अन्यतर अनिवार्यतः रहा करता है। इनमें से औपम्यमूला अतिशयोक्ति को साध्यवसाना लक्षणा के समानान्तर समझा जा सकता है, जहां आरोप्यमाण और आरोप विषय में अभेद के प्रत्यायन के लिए आरोप्यमाण द्वारा आरोपविषय का निगरण हो जाता है; अर्थात् दोनों में अभेद अध्यवसित होता है, तथा इस अभेद अध्यवसान की ही प्रधानता रहती है। कार्यकारणभावमूला अतिशयोक्ति में कारण-कार्य के सुनिश्चित पौर्यापर्य का विपर्यय होता है। यह विपर्यय दो प्रकार का हो सकता है कारण और कार्य की समकालिकता अथवा कारण से कार्य के पूर्वभाव का कथन। इस अतिशयोक्ति के सामान्यतः पांच प्रकार माने जा सकते हैं—(१) अभेद में भेद, (२) भेद में अभेद, (३) सम्बन्ध में असम्बन्ध, (४) असम्बन्ध में सम्बन्ध, (५) कारण-कार्य के पौर्वापर्य का विपर्यय। (विशेष विवरण के लिए अतिशयोक्ति प्रकरण देखें।)

सापह्नवातिशयोक्ति वस्तुतः कोई स्वतन्त्र अलंकार न होकर अपह्नुति और अतिशयोक्ति की समष्टि है। इसमें अपह्नुति अतिशयोक्ति के गर्भ में अनिवार्यतः रहती है। इसे स्वतंत्र अलंकार के रूप में केवल अप्पयदीक्षित ने स्वीकार किया है।

मूल लक्षण

अप्पयदीक्षित

यद्यपह्नुतिगर्भत्वं सैव सापह्नवा मता ॥ —कुवलयानन्द ३७

सामान्य

सामान्य अलंकार का सर्वप्रथम विवरण हमें मम्मट के काव्यप्रकाश में मिलता है। रुय्यक जयदेव नरेन्द्रप्रभसूरि विद्यानाथ विद्याधर, विश्वनाथ अप्पयदीक्षित जगन्नाथ चिरञ्जीव एवं नरसिंह कवि ने इनका विवेचन आचार्य मम्मट का अनुसरण करते हुए किया है। यह भी स्मरणीय है कि इस अलंकार का लक्षण करने में चिरञ्जीव ने आचार्य जयदेव का (सामान्यं यदि सादृश्याद् भेद एव न लक्ष्यते। चन्द्रा. ५.३४ का. वि. २.२६) एवं नरसिंह कवि ने आचार्य विद्यानाथ का (सामान्यं गुणसाम्येन यत्र वस्त्वन्तरैकता । प्रताप. ८.१३५-

नन्ररा. पृ. ११६) शब्दशः अनुकरण किया है। अप्पयदीक्षितकृत लक्षण भी प्रायः जयदेव के समान है।

मीलित अलंकार के समान **सामान्य** अलंकार में भी तीन मुख्य तत्त्व हैं: दो पदार्थों का वर्णित होना, दोनों पदार्थों में गुण साम्य, तथा गुण साम्य के कारण दोनों वस्तुओं में भेद का बोध न होना। इस विशिष्ट समानता के होते हुए भी दोनों में विशिष्ट अन्तर भी है। यह अन्तर है कि **मीलित** में एक पदार्थ अन्य समान किन्तु उत्कृष्टगुण वाले पदार्थ से तिरोहित (मीलित) होता हुआ प्रतीत होता है, जबकि **सामान्य** में किसी भी पदार्थ का मीलन (तिरोभाव) नहीं होता, बल्कि दोनों की ही प्रतीति होती रहती है, किन्तु गुण साम्य के कारण उनमें भेद का ग्रहण नहीं होता (स्वरूपेणावगतस्यापि भेदानध्यवसानं सामान्यम्, बलवता तिरोहितत्वात्स्वरूपानवगमो मीलितम्'। अलं.स. विमर्शिनी पृ. २११। 'प्रत्यक्षविषयस्यापि वस्तुनो बलवत्सजातीयग्रहणकृतं तद्भिन्नत्वेनाग्रहणं सामान्यम्, मीलिते तु निगूहमानं वस्तु न प्रत्यक्षविषयमिति।' रसगं. भा. ३. पृ. ७७०-७७१)

दो पदार्थों में भेद का बोध न होने से इस अलंकार का **रूपक अलंकार** के साथ अभेद का भ्रम हो सकता है। किन्तु वस्तुतः सामान्य और रूपक दोनों अलंकारों का क्षेत्र अलग अलग है। रूपक अलंकार में अभेद प्रतीति होती है और उसके फलस्वरूप पदार्थ (उपमेय/आरोपविषय) पर अन्य पदार्थ (उपमान/आरोप्यमाण) के रूप का आरोप होता है। यह प्रतीति भावात्मक होती है; जबकि सामान्य में भेद प्रतीति का अभाव होता है, अर्थात् भेद का अग्रहण होता है। अभावात्मक प्रतीति के कारण दो वस्तुओं में अन्तर का निर्धारण नहीं होता।

अपह्नुति अलंकार से भी **सामान्य अलंकार** पूर्णतः भिन्न है। अपह्नुति में एक वस्तु का निषेध करके अन्य का आरोप विवक्षित रहता है, जबकि सामान्य में न तो निषेध का निबन्धन होता है, और न अन्य के आरोप की विवक्षा (नेयमपह्नुतिः किञ्चिदपह्नुत्य कस्याप्यनारोप्यमाणत्वात्। एका. पृ. ३२०)।

सामान्य अलंकार **भ्रान्तिमान्** से भी अभिन्न नहीं है। क्योंकि भ्रान्तिमान् में अन्यवस्तु स्मर्यमाण होती है, जबकि सामान्य में अन्य भी प्रत्यक्ष विषय होती है स्मर्यमाण नहीं (न च भ्रान्तिमता संकरः, तत्र

स्मर्यमाणस्यात्रानुभूयमानस्येति विशेषात्। उद्योत. पृ. २३४)

मल्लिकाचितधम्मिल्लाश्चारुचन्दनचर्चिताः ।
अविभाव्याः सुखं यान्ति चन्द्रिकास्वभिसारिकाः ॥

इस पद्य में संकेत स्थल पर 'जाती हुई अभिसारिका वर्ण्यमान है, श्वेतिमारूप गुणसाम्य के कारण चन्द्रिका से भिन्न रूप से उनकी यहां, प्रतीति नहीं हो रही है।

इस अलंकार को '**सामान्य**' यह नाम प्रकृत और अप्रकृत में समान गुण सम्बन्ध के कारण प्राप्त हुआ है [तत्सामान्यगुणनिबन्धनात् सामान्यम् (का. प्र. पृ. ८०४)। तत्सामान्यगुणयोगात्सामान्यम् (अलं. स. पृ. २१३)। प्रकृतस्याप्रकृतेन समानत्वसम्बन्धादौपचारिकोऽस्य सामान्यमिति व्यपदेशः। एकावली पृ. ३२०)]।

आचार्य रुद्रट ने **सामान्य** अलंकार को पृथक् अलंकार न मानकर **तद्गुण** अलंकार के दो प्रकार माने हैं। उनके द्वारा स्वीकृत **तद्गुण अलंकार** का प्रथम प्रकार सामान्य अलंकार का स्थानी है (यस्मिन्ननेकगुणानामर्थानां योगलक्ष्यरूपाणां संसर्गे नानात्वं न लक्ष्यते तद्गुण स इति। यथा—'नव धौतधवलवसनाश्चन्द्रिकया सान्द्रया तिरोगमिताः। रमणभवनान्यशङ्कं संसर्पन्त्यभिसारिकाः सपदि। (काव्या. ६.२२-२३))। परवर्ती आचार्यों द्वारा दिये गये **सामान्य अलंकार** के उदाहरणों में रुद्रट के इस **तद्गुण** अलंकार के प्रथम प्रकार के उदाहरणों के भावों का अनुहरण प्रतीत होता है।

मूल लक्षण

मम्मट

प्रस्तुतस्य यदन्येन गुणसाम्यविवक्षया।
ऐकात्म्यं बध्यते योगात् तत्सामान्यमिति स्मृतम्॥

—काव्यप्रकाश सू. २०२ का. १३४

रुय्यक

प्रस्तुतस्यान्येन गुणसाम्यादैकात्म्यं सामान्यम्। —अलंकार सर्वस्व ७२

जयदेव

सामान्यं यदि सादृश्याद् भेद एव न लक्ष्यते। —चन्द्रालोक ५.३४

विद्यानाथ

सामान्यं गुणसाम्येन यत्र वस्त्वन्तरैकता। —प्रतापरुद्रीयम् ८.१३५

विद्याधर

साधारणगुणयोगाद्यत्र प्रकृतस्य वस्तु संवलितम्।
न विभावयितुं शक्य तत्सामान्यं समाख्यातम् ॥ —एकावली ८.६४

विश्वनाथ

सामान्यं प्रकृतस्यान्यतादात्म्यं सदृशैः गुणैः ॥ —साहित्यदर्पण १०.८६

अप्पदीक्षित

सामान्यं यदि सादृश्याद् विशेषो नोपलक्ष्यते ॥ —कुवलयानन्द १४७

जगन्नाथ

प्रत्यक्षविषयस्यापि वस्तुनो बलवत्सजातीयग्रहणकृतम् तद्भिन्नत्वेनाग्रहणं सामान्यम्। —रसगंगाधर भाग ३ पृ. ७७०

चिरञ्जीव

सामान्यं यदि सादृश्याद् भेद एव न लक्ष्यते। —काव्यविलास २.२६

नरेन्द्रप्रभसूरि

प्रस्तुतस्य यदन्येन साधारणगुणाश्रयात्।
यत्रैकात्म्यं निबध्नन्ति तत् सामान्यं निगद्यते ॥
—अलंकार महोदधि ८.७८

नरसिंह कवि

सामान्यं गुणसाम्येन यत्र वस्त्वन्तरैकता। —नञ्राजयशोभूषण पृ. ११६

भट्ट देवशंकर पुरोहित

सामान्यं यदि सादृश्याद् विशेषो नोपलक्ष्यते ॥—अलंकार मञ्जूषा ११२

परकालस्वामी

न गृह्यते विशेषश्चेत् साम्यात्सामान्यमीरितम्।
गुणतौल्यविवक्षातः परस्य प्रस्तुतेन यत्। —अलं. मणि. १४८

विश्वेश्वर

स्वगुणसजातीयगुणाश्रयैकरूप्यं तु सामान्यम्। —अलं. मुक्ता. ४६

वेणीदत्त

गुणसाम्यप्रभावेन यदैकात्म्यावभासनम्।
द्वयोः पदार्थयोरेतत् सामान्यं परिकीर्त्तितम्। —अलं. मञ्ज. २२०

सार

सार अलंकार की उद्भावना आचार्य रुद्रट ने की है। मम्मट रुय्यक वाग्भट (प्रथम) जयदेव नरेन्द्रप्रभसूरि विद्यानाथ विद्याधर विश्वनाथ वाग्भट (द्वितीय) अप्पय दीक्षित केशवमिश्र पंडितराज जगन्नाथ चिरञ्जीव भावदेवसूरि एवं नरसिंह कवि आदि ने इसे समान रूप से स्वीकार किया है। अलंकार सर्वस्व की कुछ प्रतियों में **सार** के स्थान पर **उदार** नाम का प्रयोग हुआ है। स्मरणीय है कि चन्द्रालोककार जयदेव ने **उदारसार** नाम से एक स्वतन्त्र अलंकार स्वीकार किया है, जिसमें भिन्न गुण अभिन्नतया प्रतीत होते हैं। [उदारसारश्चेद् भाति भिन्नोऽभिन्नतया गुणः। चन्द्रा० ५.८६]।

इस अलंकार में वस्तु के उत्तरोत्तर उत्कर्ष का वर्णन होता है, अर्थात् वस्तु का कथन करके उससे उत्कृष्ट दूसरी वस्तु का, पुनः उससे उत्कृष्ट तीसरी वस्तु का वर्णन, इसी प्रकार क्रमशः निबद्ध होता है। जयरथ एवं पंडितराज जगन्नाथ ने एक वस्तु में भी कालभेद से उत्तरोत्तर उत्कर्ष की संभावना की है। उनके अनुसार इस स्थिति में **'एक विषयसार'** अलंकार कहा जा सकता है। उन्होंने (जगन्नाथ ने) इसके लिए निम्नलिखित उदाहरण प्रस्तुत किया है :—

जम्बीरश्रियमतिलंघ्य लीलयैव व्यानम्रीकृतकमनीयहेमकुम्भौ।
लीलाम्भोरुहनयनेऽधुना कुचौ ते स्पर्धेते खलु कनकाचलेन सार्धम्॥

यहां दोनों कुच (उरोज) पूर्व पूर्व अवस्था की अपेक्षा उत्तरोत्तर विशिष्ट रूप से वर्णित है [अत्र पूर्वा पूर्वावस्थाविशिष्टयोरेवोत्कर्षः इत्येक विषयत्वम्। रसगं०भा० ३.पृ० ५६६]। अतः उनके अनुसार यहां **'एक विषय सार'** अलंकार है।

जयरथ **एक विषय** एवं **अनेक विषय** सार को धर्म और स्वरूप के भेद से पुनः दो भेदों में विभाजित करते हैं। शोभाकर एक विषय सार को **वर्धमानक** अलंकार के नाम से स्वीकार करते हैं [रूपधर्माभ्यामाधिक्यं वर्धमानकम्। अलं०र० ६३]। वर्धमानक अलंकार को स्वीवार करने पर **एकविषयसार** नामक सारभेद के मानने की आवश्यकता नहीं रह जाती। इसके अतिरिक्त जगन्नाथ उत्तरोत्तर उत्कर्ष के समान ही **उत्तरोत्तर** अपकर्ष की स्थिति में भी

सार अलंकार स्वीकार करते हैं। वेणीदत्त भी इस उत्तरोत्तर अपकर्ष की स्थिति में अलंकारता का समर्थन करते हैं। उनका कहना है कि इस स्थिति में भी चमत्कार का सार निहित रहता है।

मूल लक्षण

रुद्रट

यत्र यथासमुदायाद्यथैकदेशं क्रमेण गुणवदिति।
निर्धार्यते परावधि निरतिशयं तद् भवेत् सारम्। —काव्या. ७.९६

भोज

(द्रष्टव्य उत्तर अलंकार) —स. कं. ३.२३ पृ. १४०

मम्मट

उत्तरोत्तरमुत्कर्षो भवेत्सारः परावधिः।
—का. प्र. सू. १९० का. १२३

रुय्यक

उत्तरोत्तरमुत्कर्षः सारः। — अलं. स. ५६

वाग्भट (प्रथम)

समुदायादुत्कृष्टोत्कृष्टनिर्धारणं सारम्। —काव्यानु. पृ. ४३

जयदेव

सारो नाम पदोत्कर्षः सारता चेद् यथोत्तरम्। —चन्द्रा. ५.८८

विद्यानाथ

उत्तरोत्तरमुत्कर्षः सारालंकार उच्यते। —प्रताप. ८.२७५

विद्याधर

वस्तुस्पृहणीयत्वे विश्रान्ति चेद्यथोत्तरं तनुते।
सारो नाम तदानीं कथितोऽलंकारः सारज्ञैः। —एका. ८.४८

विश्वनाथ

उत्तरोत्तरमुत्कर्षो वस्तुनः सार उच्यते। —सा. द. १०.८८.

वाग्भट (द्वितीय)

यत्र निर्धारितात्सारात्सारं सारं ततस्ततः।
निर्धार्यते यथाशक्ति तत्सारमिति कथ्यते। —काव्यानु. ४.१२६

अप्पयदीक्षित

उत्तरोत्तरमुत्कर्षः सार इत्यभिधीयते। —कुव. १०८

केशवमिश्र

उत्तरोत्तरं यत्र सारोत्कर्षः सः सारः। —अलं. शे. पृ. ३७

पंडितराज जगन्नाथ

सैव संसर्गस्योत्कृष्टाप्रकृष्टभावरूपत्वे सारः। —रसगं. भा. ३ पृ. ५६५

चिरञ्जीव

उत्तरोत्तरमुत्कर्षे वर्णिते सार उच्यते। —का. वि. २.४७

नरेन्द्रप्रभसूरि

सारः प्रकर्षस्तूत्तरोत्तरम्। —अलं. महो. ८.८३

भावदेवसूरि

सारः सारम्। —काव्या. सं. ६.२८

नरसिंह कवि

उत्तरोत्तरमुत्कर्षः सारालंकार उच्यते। —नञ्रा. पृ. २२०

विश्वेश्वर

सारस्तु पूर्वपूर्वादुत्कर्षिण्युत्तरोत्तरे प्रोक्ते। —अलं. मु. ४१

भट्ट देवशंकर

श्लोकबद्धपदार्थानामुत्तरोत्तरतो यदि।
उत्कर्षः सुप्रतीयेत स सार इत्यलंकृतिः। —अलं मञ्जू. ८०

वेणीदत्त

उत्तरोत्तरमुत्कर्षप्रत्ययो यत्र जायते।
सर्वालंकारसारस्तु सारस्तत्राभिधीयते। —अलं. मञ्ज. १७६

सूक्ष्म

सूक्ष्म अलंकार प्राचीन अलंकारों में से एक है। दण्डी और शिलामेघसेन ने भी इसे स्वीकार किया है। उनके अनुसार इस अलंकार में संकेत अथवा आकार के द्वारा अर्थ की प्रतीति का निबन्धन होता है। इस प्रकार अर्थ का बोधन के लिए सूक्ष्मता का आश्रय करने के कारण ही इसे **सूक्ष्म नाम** दिया गया है [इंगिताकारलक्ष्योऽर्थः सौक्ष्यात्सूक्ष्म इति स्मृतः। का०द० २.२७०]। दण्डी ने इसे वाणी का उत्तम भूषण माना है [हेतुश्च सूक्ष्मलेशौ च वाचां भूषणमुत्तमम्। का०द० २.२३५]। इसके ठीक विपरीत भामह ने इस अलंकार की

अलंकारता का भी निषेध किया है [हेतुश्च सूक्ष्मोलेशश्च नालंकारतया मताः। काव्या० २.८६]। उद्भट और वामन ने सम्भवतः भामह के मत को स्वीकार करते हुए हेतु और लेश के समान इस (सूक्ष्म) अलंकार की चर्चा नहीं की है। रुद्रट ने अत्यन्त सावधानी पूर्वक इसे लक्षित कराते हुए स्वीकार किया है कि 'जहां शब्दशक्ति अर्थात् संकेत-जन्य शक्ति के बिना ही शब्द अपने अर्थ से सम्बद्ध अर्थान्तर की प्रतीति कराता है, वहां **सूक्ष्म अलंकार** होता है [यत्रायुक्तिमदर्थो गमयति शब्दो निजार्थसम्बद्धम् अर्थान्तरमुपपत्तिमदिति तत् संजायते सूक्ष्मम्। काव्या० ७.९८]। रुद्रट के उत्तरवर्त्ती आचार्यों में भोज मम्मट रुय्यक वाग्भट (प्रथम), शोभाकरमित्र जयदेव नरेन्द्रप्रभसूरि विद्यानाथ विद्याधर विश्वनाथ अप्यय दीक्षित भावदेवसूरि परकाल स्वामी विश्वेश्वर नरसिंहकवि भट्टदेवशंकर एवं वेणीदत्त ने प्रायः समान लक्षण देते हुए इस अलंकार को स्वीकार किया है।

अमरसिंह के अनुसार यद्यपि आकार और इंगित पर्यायवाची हैं [आकारस्त्वङ्ग इंगितम्। अमरकोष ३.२.१५], तथापि यहां इंगित का तात्पर्य चेष्टा तथा आकृति का तात्पर्य अवयव संस्थान है [रूपा-देरन्यथात्वमाकारः चेष्टाविशेष इङ्गितमिति प्रदीपे स्पष्टम्। आकारः संस्थानविशेषः इङ्गितं नेत्रभंग्यादिरूपक्रियाविशेष इति चक्र-वर्त्यादयः। बालबोधिनी का०प्र० टीका पृ० ७७६]। 'आकृति-व्यञ्जिताश्चेष्टा इङ्गितं बुद्धिकारिता। आकारः पुनराम्नातस्ता एवाबुद्धिकारिताः। तथा—तारापुटभ्रूदृष्ट्यादेर्विकारानिङ्गितं विदुः। आकाराः सत्त्वजाः भावाः आद्या बुद्धया परेऽन्यथा। अलं०स० संजीविनी पृ० ३१८। इसके आधार पर अन्य सम्बद्ध अर्थ की प्रतीति होने पर **सूक्ष्म अलंकार** होता है।

इस अलंकार को सूक्ष्म इसलिए कहा जाता है कि स्थूल बुद्धि वाले लोगों द्वारा न समझने योग्य विषय का तीव्र बुद्धि वाले लोगों के द्वारा इङ्गित तथा आकार द्वारा प्रकट कराया जाता है, तथा इस प्रकार संलक्षित अर्थ बुद्धिमान् व्यक्तियों के बीच प्रकट होता है। [इह सूक्ष्मः स्थूलमतिभिरसंलक्ष्यो योऽर्थः, स यदा कुशाग्रमतिभिरिङ्गि-ताकाराभ्यां संलक्ष्यते, तदा तस्य संलक्षितस्य विदग्धं प्रति प्रकाशनं सूक्ष्मम्। अलं०स० ३१८]।

वक्त्रस्यन्दिस्वेदबिन्दु प्रबन्धैः
दृष्ट्वा भिन्नं कुंकुमं कापि कण्ठे।
पुस्त्वं तन्व्याः व्यञ्जयन्ती वयस्या
स्मित्वा पाणौ खड्गलेखां लिलेख॥

इस पद्य में कण्ठ पर लगाये हुए कुंकुम का भेद अर्थात् पसीने से बहकर फैल जाना, जिसके द्वारा उस नायिका द्वारा रतिक्रिया में पुरुषायित की सूचना हो रही है, देखकर नायिका की सखी ने भी उसके पुरुषायित को जानकर उससे अत्यन्त चतुरता के साथ हाथ पर तलवार का चित्र बनाते हुए सूचित किया। काव्यप्रकाश के टीकाकार ने पुरुषायित की व्याख्या इस प्रकार की है :—'प्रसिद्धरतौ उत्तानायाः नायिकायाः वक्त्राद् गलितस्य स्वेदस्य पृष्ठभागे एव गमनम्। कण्ठे तद् गमनं तु विपरीतरतावेवेति 'वक्त्रस्यन्दीत्यादेरभिप्रायः इति महेश्वरः। का०प्र०बा० बोधिनी पृ० ७७७]

संकेत कालमनसं विटं ज्ञात्वा विदग्धया।
हसन्नेत्रार्पिताकूतं लीला पद्म निमीलितम्॥

इस पद्य में नायक द्वारा मिलने का समय जानने की कामना करने पर उसकी सूचना नायिका द्वारा आंखों की चेष्टा एवं लीला पद्म के निमीलन के द्वारा नायक को दी गयी हैं। अतः यहां पर इंगित युक्त सूक्ष्म अलंकार है।

सूक्ष्म अलंकार में क्योंकि आकार एवं इंगित रूप साधन द्वारा विशिष्ट अर्थ का ज्ञान होता है अतः साधन से साध्य की प्रतीति होने के कारण यह ज्ञान अनुमिति है, अतः इस अलंकार को अनुमान अलंकार क्यों न माना जाए? यह प्रश्न हो सकता है। इस स्थिति में **सूक्ष्म** और **अनुमान** अलंकार परस्पर अभिन्न सिद्ध होंगे। किन्तु यह प्रश्न तर्क संगत नहीं है अर्थात् अनुमान अलंकार में सूक्ष्म को गतार्थ नहीं माना जा सकता। क्योंकि इसमें अनुमिति का चमत्कार गौण रहता है और प्रधानता रहती है चारुत्व द्वारा उसके प्रकाशन की। फलतः यहां अनुमिति सूक्ष्म अलंकार के अङ्ग के रूप में ही स्थित रहती है [अत्र विद्यमानमपि अनुमानं सूक्ष्माङ्गम्, स्ववैदग्ध्यप्रकाशनद्वारा सूक्ष्मस्यैव चमत्कारित्वात्। का०प्र० उद्योत पृ० ११६]

मूल लक्षण

दण्डी

इङ्गिताकारलक्ष्योऽर्थः सौक्ष्म्यात्सूक्ष्म इति स्मृतः । —काव्यादर्श २.२६०

भामह

हेतुश्च सूक्ष्मो लेशश्च नालङ्कारतया मतः । —काव्यालंकार २.८६

शिलामेघसेन

(दण्डी अनुकृत)

रुद्रट

यत्रायुक्तिमदर्थं गमयति शब्दो निजार्थसम्बद्धम् ।
अर्थान्तरमुपपत्तिमदिति तत्संजायते सूक्ष्मम् ॥ —काव्यालंकार ७.९८

भोज

इङ्गिताकारलक्ष्योऽर्थः सूक्ष्मः सूक्ष्मगुणस्तु सः ।
सूक्ष्मः प्रत्यक्षतः सूक्ष्मोऽप्रत्यक्ष इति भिद्यते ॥

—सरस्वतीकंठाभरण ३.२१

निरुद्भेदस्तमोभावः स सूक्ष्मस्तैर्निगद्यते ।
इङ्गिताकारलक्ष्यात्स सूक्ष्मात्स्याद् भूमिकान्तरम् । —वही ३.२०

मम्मट

कुतोऽपि लक्षितः सूक्ष्मोऽप्यर्थोऽन्यस्मै प्रकाश्यते ।
धर्मेण केन चिद्यत्र तत्सूक्ष्मं परिचक्षते ।

—काव्यप्रकाश सू. १८९ का. १२२-३

रुय्यक

संलक्षितसूक्ष्मार्थप्रकाशनं सूक्ष्मम् । —अलंकार सर्वस्व ७६

वाग्भट (प्रथम)

इङ्गिताकारलक्ष्येऽर्थे सूक्ष्मम् । —काव्यानुशासन पृ. ४३

शोभाकर

सूक्ष्मार्थस्य सूचनं सूक्ष्मम् । —अलंकार रत्नाकर १०३

विद्यानाथ

असंलक्षितसूक्ष्मार्थप्रकाशः सूक्ष्म उच्यते । —प्रतापरुद्रीयम् ८.२६०

विद्याधर

अथ वल्गद्गूढार्थप्रतीत्यलङ्कारलक्षणं भावि ।
गदितमिदं संलक्षितसूक्ष्मार्थस्य प्रकाशनं सूक्ष्मम् । —एकावली ८.६६

विश्वनाथ

संलक्षितस्तु सूक्ष्मोऽर्थं आकारेणेङ्गितेन वा।
कयापि सूच्यते भङ्ग्या यत्र सूक्ष्मं तदुच्यते॥ —साहित्यदर्पण १०.९२

अमृतानन्दयोगी

इङ्गिताकारलक्ष्यार्थसौक्ष्म्यात्सूक्ष्मो मतो यथा॥

—अलंकार संग्रह ५.३३

अप्पयदीक्षित

सूक्ष्मं पराशयाभिज्ञेतरसाकूतचेष्टितम्॥ —कुवलयानन्द १५१

नरेन्द्रप्रभसूरि

ज्ञात्वाऽऽकारेङ्गितादिभ्यः सूक्ष्मोऽप्यर्थः प्रकाश्यते।
यद्वैदग्ध्येन केनापि तत्सूक्ष्ममिति लक्ष्यते॥

—अलंकारमहोदधि ८.८१

भावदेवसूरि

सूक्ष्मः परस्मिन्संकेतज्ञापनायेङ्गितं तु यत्॥

—काव्यालंकार सारसंग्रह ६.४४

नरसिंह कवि

असंलक्षितसूक्ष्मार्थप्रकाशः सूक्ष्म उच्यते॥

—नञ्राज यशोभूषण पृ. २१७

भट्ट देवशंकर पुरोहित

साकूतचेष्टया यत्र स्वाशयः सूच्यते यदा।
पराशयविदा तत्र सूक्ष्मालङ्कार इष्यते॥ —अलंकार मञ्जूषा ११६

वेणीदत्त

अन्यस्मै क्रियते यत्र सूक्ष्मार्थस्य प्रकाशनम्।
केनचित्स्मारकेणेदं सूक्ष्ममित्यभिधीयते॥ —अलंकारमञ्जरी १७३

विश्वेश्वर

प्रतिभातिशयाज्ज्ञातो यद्याकारेङ्गितादर्थः।
विशदीक्रियतेऽन्यस्मै तथैव तत्सूक्ष्ममित्युक्तम्॥ —अलंकारमुक्तावली ४०

परकालस्वामी

अन्याशयज्ञसाकूतचेष्टितं सूक्ष्ममीर्यते। —अलं. मणि. १५४

स्तबकोपमा

स्तबकोपमा अलंकार को केवल चन्द्रालोककार जयदेव ने स्वीकार किया है। उनके अनुसार जहां अनेक अर्थयुग्मों में सादृश्य हों अर्थात् जहां अनेक उपमान एवं उपमेय हों, वहां **स्तबकोपमा** अलंकार होता है।

श्रितोऽस्मि चरणौ विष्णोः भृङ्गस्तामरसं यथा।

प्रस्तुत पद्य में 'अस्मि' पद से आक्षिप्त 'अहम्' (मैं) एवं 'विष्णु' पद युग्म का भृङ्ग एवं तामरस (कमल) से क्रमशः उपमानोपमेयभाव है, अतः यहां उनके (जयदेव के) अनुसार **स्तबकोपमा** अलंकार मानना चाहिए।

मूल लक्षण

जयदेव

अनेकस्यार्थयुग्मस्य सादृश्यं स्तबकोपमा ।। —चन्द्रालोक ५.१६

स्तुतिनिन्दा

स्तुतिनिन्दा अलंकार को केवल काव्यविलासकार चिरञ्जीव ने स्वीकार किया है। उनके अनुसार जहां स्तुति से की गयी निन्दा का निबन्धन किया गया हो, वहां **स्तुति निन्दा अलंकार** मानना चाहिए। विष्णुधर्मोत्तर पुराण के अनुसार इस स्थिति में भी **निन्दास्तुति** नाम ही स्वीकार किया जाता है [**स्तुतिरूपेण या निन्दा निन्दास्तुतिरिहोच्यते ।** विष्णुधर्मोत्तर पुराण १४.१४] । अन्य प्राचीन आलंकारिक इसे **व्याजस्तुति** अलंकार नाम देते हैं। [देखें व्याजस्तुति प्रकरण]।

मूल लक्षण

चिरंजीव

स्तुतिव्याजेन निन्दायां स्तुतिनिन्दाभिधीयते ।। —काव्यविलास २.३७

स्मरण (स्मृति)

नैयायिकों के अनुसार स्मरण (स्मृति) ज्ञान का एक प्रकार है। क्योंकि उनके अनुसार समस्त व्यवहार का हेतुभूत ज्ञान दो प्रकार का

होता है अनुभव और स्मृति [सर्वव्यवहारहेतुर्गुणोबुद्धिर्ज्ञानम् । स द्विविधः स्मृतिरनुभवश्च । तर्क संग्रह पृ. ८०] इनमें से स्मृति की उत्पत्ति केवल संस्कारों से होती है [संस्कारमात्रजन्यं ज्ञानं स्मृतिः । वही]। यद्यपि संस्कार वेग भावना और स्थितिस्थापक भेद से तीन प्रकार का हो सकता है, किन्तु इनमें **स्मरण** को उत्पन्न करने की क्षमता केवल **भावना** नामक संस्कार में रहती है वेग और स्थिति-स्थापक संस्कारों में नहीं। इसका कारण यह है कि ये दोनों संस्कार (वेग और **स्थितिस्थापक** संस्कार) चेतन आत्मा के धर्म (गुण) नहीं हैं। और ज्ञान केवल आत्मा में रहने वाला गुण है। **भावना** नामक संस्कार केवल आत्मा में विद्यमान रहने वाला गुण है। इसकी उत्पत्ति अनुभव द्वारा होती है। कुछ नैयायिक अनुभव और स्मृति के अतिरिक्त प्रत्यभिज्ञा नाम से ज्ञान का तृतीय प्रकार भी मानते हैं। प्रत्यभिज्ञा में किसी वस्तु का अनुभव होने के अनन्तर उसके पूर्व अनुभव का स्मरण होकर अनुभव और स्मरण से उत्पन्न ज्ञान की सादृश्यमूलक तुलना होती है। तदनन्तर अनुभूत एवं स्मृत वस्तु में ऐक्य का बोध 'स एवायम्' अर्थात् 'यह वही है' इस प्रकार का बोध होता है। इस बोध में तत् (सः) पद के वाच्यार्थ अप्रत्यक्षत्व की अनुभूति (भूतकालिक अनुभूति) की समाप्ति होकर अपरोक्ष ज्ञान के विषय वस्तु के ज्ञान के साथ ही साथ दृश्यमान अर्थात् वर्तमान कालिक ज्ञान के विषय के साथ एकत्व का भी बोध होता है। इस बोध को **प्रत्यभिज्ञा** कहते हैं। स्मरण अलंकार के क्षेत्र में ज्ञान की केवल एक स्मरणात्मक कोटि आती है, अनुभव और प्रत्यभिज्ञा नहीं।

स्मरण अलंकार की उद्‌भावना सर्वप्रथम आचार्य रुद्रट ने की है। उनके अनुसार ज्ञाता जब वस्तु विशेष को देखकर उसके सदृश अन्य वस्तु का स्मरण करता है, वहां **स्मरण अलंकार** होता है। रुद्रट के उत्तरवर्ती आचार्यों में कुन्तक संघरक्खित वाग्भट (द्वितीय) अमृतानन्दयोगी शौद्धोदनि एवं केशवमिश्र को छोड़कर प्रायः सभी आचार्यों ने इसे स्वीकार करते हुए इसका विवेचन किया है। इस प्रसंग में स्मरणीय है कि भावदेवसूरि ने इसका उदाहरण प्रस्तुत करते हुए इसे स्वीकृति तो दी है, किन्तु इसका लक्षण नहीं दिया है। सम्भवतः इसका कारण उनके अनुसार इस अलंकार के नाम से ही

इसके स्वरूप का स्पष्ट होना ही होना चाहिए।

इस अलंकार के स्वरूप के सम्बन्ध में आचार्यों में प्राय: एकरूपता है, किन्तु इसके नाम के सम्बन्ध में उनमें ऐकमत्य नहीं है। वाग्भट (प्रथम) हेमचन्द्र शोभाकरमित्र जयदेव चिरंजीव तथा परकाल स्वामी इसे **स्मृति** नाम से स्वीकार करते हैं, जबकि रुद्रट भोज मम्मट रुय्यक विद्यानाथ विद्याधर विश्वनाथ पंडितराज जगन्नाथ नरेन्द्र-प्रभसूरि एवं विश्वेश्वर इसे स्मरण नाम से लक्षित कराते हैं। अप्यय दीक्षित चित्रमीमांसा में **स्मरण** नाम से एवं कुवलयानन्द में स्मृति नाम से इसकी चर्चा करते हैं। नञ्राजयशोभूषणकार नरसिंह कवि इसे **स्मृति** या **स्मरण** नाम न देकर **स्मृतिमत्** नाम देते हैं।

स्मरण अलंकार के प्रसंग में एक बात स्मरणीय है कि आचार्य रुद्रट के अनुसार **स्मरण अलंकार** की सम्भावना केवल सदृश वस्तु के दर्शन होने पर ही हो सकती है। आचार्य मम्मट हेमचन्द्र एवं नरेन्द्र-प्रभसूरि की मान्यता भी रुद्रट की मान्यता से अभिन्न है। जबकि आचार्य रुय्यक शोभाकर विद्यानाथ विद्याधर विश्वनाथ आदि के अनुसार स्मरण सदृश वस्तु के अनुभव मात्र से हो सकता है। दोनों में अन्तर यह है कि दर्शन केवल नेत्रज्ञान अथवा इन्द्रियजन्य प्रत्यक्ष ज्ञान है, जबकि अनुभव प्रत्यक्ष के साथ ही अनुमिति और शब्द से भी उत्पन्न हो सकता है।

आचार्य कुन्तक ने सदृश के दर्शन और अनुभव की सीमा को संकुचित मानकर उसे विस्तृत करते हुए अदृष्ट चिन्ता परप्रयत्न स्वप्न एवं प्रत्यभिज्ञान में अन्यतम की स्थिति में भी स्मरण (स्मृति) की संभावना स्वीकार की है। जयदेव ने भी कारण विशेष का दर्शन किये बिना ही सादृश्य मात्र को आधार मान कर स्मरण का परिचय दिया है। अप्ययदीक्षित ने कुवलयानन्द में इस सरणि का ही अनुसरण किया है, जबकि चित्र मीमांसा में उन्होंने सादृश्यमूलक स्मृति को **स्मरण अलंकार** का हेतु माना है।

स्मरण अलंकार के प्रसंग में विश्वनाथ ने महापात्र राघवानन्द के नाम को उद्धृत करते हुए कहा है कि उनके अनुसार सादृश्य के साथ ही विसादृश्य के कारण भी स्मृति उत्पन्न होने पर **स्मरण अलंकार** हो सकता है। इस प्रसंग में विश्वनाथ **'शिरीषमृद्वी गिरिषु प्रपेदे**

यदा यदा दुःखशतानि सीता। तदा तदास्याः सदनेषु सौख्यलक्षाणि दध्यौ गलदश्रुरामः।" पद्य को उद्धृत किया है [राघवानन्द महापात्रास्तु वैसादृश्यात्स्मृतिमपि स्मरणालंकारमिच्छन्ति तत्रोदाहरणं तेषामेव यथा—'शिरीषमृद्वी०' इत्यादि। सा० द० पृ० ५२१।]

आचार्य रुय्यक एवं विश्वनाथ आदि आचार्यों ने **स्मरण अलंकार** के लक्षण में 'सदृशानुभव' शब्द को डालकर स्पष्ट शब्दों में स्वीकार किया है कि सादृश्य के बिना स्मरण होने पर वह अलंकार कोटि में सम्मिलित न होगा [सदृशानुभवाद् वस्त्वन्तरस्मृतिः स्मरणम्। (अलं०स० १४) 'सदृशानुभवाद् वस्तुस्मृतिः स्मरणम् (सा०द० १०.२७)]। रुय्यक की इस मान्यता की आलोचना करते हुए पंडितराजजगन्नाथ कहते हैं कि 'रुय्यक का स्मरण लक्षण स्वीकार करने पर सदृश वस्तु के ज्ञान से उद्बुद्ध संस्कार के द्वारा जहां स्मृति का उद्बोध होता है, वहां ही **स्मरण अलंकार** होगा। किन्तु वस्तुतः अलंकारत्व स्मरण में वहीं होगा जहां स्मरण का मूल सादृश्य हो अर्थात् स्मारक एवं स्मृत वस्तुओं में सादृश्य रहने पर स्मरण अलंकार होता है उसके अभाव में 'एक सम्बन्धिज्ञानमपरं सम्बन्धिनं स्मारयति' इस न्याय के अनुसार उद्बुद्ध ज्ञान से (सदृश ज्ञान से उद्बुद्ध संस्कार से) उत्पन्न स्मृति की स्थिति में स्मरण अलंकार नहीं होगा। [केचित्तु सदृशज्ञानोद्बुद्धसंस्कारजन्यं सदृशविषयकमेव स्मरणमलंकारः। भुजगेन्द्रनिद्रास्मृतिस्तु नालंकार इत्याहुः। ……अयं चालंकारिकाणां सम्प्रदायो यत्सादृश्यमूलकत्वे स्मरणं निदर्शनादिवदलंकारः। तस्याभावे व्यंग्यतायां भावः। तयोरभावे तु वस्तुमात्रम्। रसगं० भाग २ पृ० ४५६, ४६१]।

मूल लक्षण

रुद्रट

वस्तुविशेषं दृष्ट्वा प्रतिपत्ता स्मरति यत्र तत्सदृशम्।
कालान्तरानुभूतं वस्त्वन्तरमित्यदः स्मरणम्।

—काव्या० ८.१०९

भोज

सदृशादिष्टचिन्तादेरनुभूतार्थवेदनम् ।
स्मरणं प्रत्यभिज्ञानस्वप्नाद्याति न तद्वहिः । —स०कं० ३.४०

मम्मट

यथानुभवमर्थस्य दृष्टे तत्सदृशे स्मृतिः स्मरणम् । —का०प्र०सू० १९९

रुय्यक

सदृशानुभवाद् वस्त्वन्तरस्मृतिः स्मरणम् । —अलं०स० १४

वाग्भट (प्रथम)

सदृशदर्शनात् पूर्वार्थस्मरणं स्मृतिः । —काव्यानु० पृ० ४०

हेमचन्द्र

सदृशदर्शनात् स्मरणं स्मृतिः । —काव्यानु० ६.२४ सू० १३६

शोभाकर

स्यात्स्मृतिभ्रान्तिसन्देहैस्तदेवालंकृतित्रयम् । —अलं०र० ५.३१

जयदेव

सदृशानुभवात् स्मरणे स्मृतिः । —चन्द्रा० १९

विद्यानाथ

सदृशानुभवादन्यस्मृतिः स्मरणमुच्यते । —प्रताप० ८.४७

विद्याधर

सदृशं सदृशानुभवात् यत्र स्मर्यते तत्स्मरणम् । —एका० ८.५

विश्वनाथ

सदृशानुभवाद् वस्तुस्मृतिः स्मरणमुच्यते । —सा०द० १०.२६

अप्पयदीक्षित

स्मृतिः सादृश्यमूला या वस्त्वन्तरसमाश्रया ।
स्मरणालंकृतिः सा स्याद् अव्यंग्यत्वविशेषिता ॥ —चित्रमी० १५६
(शोभाकर अनुकृत) —कुव० २४

पंडितराज जगन्नाथ

सादृश्यज्ञानोद्बुद्धसंस्कार प्रयोज्यं स्मरणं स्मरणालंकारः ।
—रसगं०भा० २. पृ० ४५५

चिरंजीव

(शोभाकर अनुकृत) —का०वि० २.२१

नरेन्द्रप्रभसूरि

स्मरणं या स्मृतितुल्यदर्शनात्प्रतिवस्तुनः । —अलं०महो० ८.१६

परकाल स्वामी

या सादृश्यपरिज्ञानोद्बुद्धसंस्कारतः स्मृतिः।
प्रयोज्या सा स्मृतिर्नामालंकृतिः कथ्यते बुधैः। —अलं०मणि० ४६

नरसिंह कवि

सदृशानुभूत्या वस्त्वन्तरस्मरणं स्मृतिमदलंकारः। —न०रा० पृ० १६८

विश्वेश्वर

सदृशज्ञानोद्बोधितसंस्कारभवस्मृतिः स्मरणम्। —अलं०मु० ४८

स्वभावोक्ति

स्वभावोक्ति प्राचीन अलंकारों में से एक है। विष्णुधर्मोत्तर पुराणकार अग्निपुराणकार तथा दण्डी भामह आदि सभी आचार्यों ने इसकी चर्चा की है। केवल नाट्यशास्त्रकार भरत ने इसका उल्लेख नहीं किया है।

आचार्य दण्डी ने समस्त वाङ्मय को स्वभावोक्ति और वक्रोक्ति में विभाजित करना चाहा है [भिन्नं द्विधा स्वभावोक्तिर्वक्रोक्तिश्चेति वाङ्मयम् (का०द० २.३६३)।]। साथ ही उन्होंने यह भी स्वीकार किया है कि स्वभावोक्ति काव्य और शास्त्र दोनों में ही समान रूप से आदरणीय है [शास्त्रेष्वस्यैव साम्राज्यं काव्येष्वप्येतदीप्सितम्। का०द० २.१३]।

भामह ने अतिशयोक्ति और वक्रोक्ति को एक ही पलड़े पर रखते हुए उन्हें सभी अलंकारों का बीज माना है। [सैषा सर्वैव वक्रोक्तिरनयाऽर्थो विभाव्यते। यत्नोऽस्यां कविना कार्यः कोऽलंकारोऽनया विना। (काव्या० २.८४)]। यदि स्वभावोक्ति एवं वक्रोक्ति में परस्पर विरोधी स्थिति है, ऐसा स्वीकार किया जाए, जैसाकि दण्डी का मत है, तो भामह के उपर्युक्त कथन के अनुसार उनके मत में स्वभावोक्ति को अलंकार नहीं मानना चाहिए, यद्यपि भामह ने केचित् पद का प्रयोग करते हुए स्वभावोक्ति अलंकार का विवेचन किया है।

अग्निपुराण में स्वभावोक्ति को स्वरूप नाम से स्मरण किया है (स्वभाव एव भावानां स्वरूपभिधीयते। अ०पु० ३४४.३), जबकि रुद्रट भोज वाग्भट (प्रथम) हेमचन्द्र वाग्भट (द्वितीय) एवं भावदेवसूरि

ने इसे जाति नाम से स्वीकार किया है। शेष आलंकारिकों में पंडित-राज जगन्नाथ इसकी कोई चर्चा नहीं करते। साहित्यदर्पणकार विश्वनाथ के अनुसार स्वभाव वर्णन को केवल उस स्थिति में ही अलंकार अलंकार माना जाता जाता है, जब वह स्वभाव सर्वसामान्य संवेद्य न होकर कविमात्र संवेद्य हो। यही कारण है कि उन्होंने इस अलंकार के लक्षण में 'स्वक्रिया' आदि के विशेषण के रूप में 'दुरूह' पद को समाविष्ट करना आवश्यक माना है।

मूल लक्षण

व्यास

यथास्वरूपकथन स्वभावोक्तिः प्रकीर्त्तिता।
,, वार्त्तेति परिकीर्त्तितम् ॥—विष्णुधर्मोत्तरपुराण १४.११

अग्नि

स्वभाव एव भावानां स्वरूपमभिधीयते। —अग्निपुराण ३४४.३

दण्डी

नानावस्थं पदार्थानां रूपं साक्षाद् विवृण्वती।
स्वभावोक्तिश्च जातिश्चेत्याद्या सालङ्कृतिर्यथा॥ —काव्यादर्श २.८
भिन्नं द्विधा स्वभावोक्तिर्वक्रोक्तिश्चेति वाङ्मयम्।—काव्यादर्श २.३६२

भामह

अर्थस्य तदवस्थत्वं स्वभावोऽभिहितो यथा। —काव्यालंकार २.९३

शिलामेघसेन

दण्डी अनुकृत —सियवसलकुर ७५

उद्‌भट

क्रियायां सम्प्रवृत्तस्य हेवाकानां निबन्धनम्।
कस्यचिन्मृगडिम्भादेः स्वभावोक्तिरुदाहृता॥
—काव्यालंकारसारसंग्रह ३.५

मम्मट

स्वभावोक्तिश्च डिम्भादेः स्वक्रियारूपवर्णनम्॥
—काव्यप्रकाश सू. १६८ का. १११

रुय्यक

सूक्ष्मवस्तुस्वभावस्य यथावद्वर्णनं स्वभावोक्तिः। —अलंकारसर्वस्व ७९

शोभाकर

सम्यक्स्वभाववर्णनं स्वभावोक्तिः। —अलंकार रत्नाकर १०६

जयदेव

स्वभावोक्तिः स्वभावस्य जात्यादिषु च वर्णनम् । —चन्द्रालोक ५.१०७

विद्यानाथ

स्वभावोक्तिरसौ चारु यथावद्वस्तुवर्णनम् । —प्रतापरुद्रीयम् ८.१२८

संघरक्खित

सभाववंकवुत्तीनं भेदा द्विधा अलंक्रिया ।

पठमा तत्थवत्थूनं नानावत्था विभाविनी । —सुबोधालंकार १६६

विद्याधर

वस्तुस्वभाव उच्चैर्यः स्यात्सूक्ष्मी यथावदेकस्य ।

यद् वा वर्णनमेषा कथिता कविभिः स्वभावोक्तिः । —एकावली ८.७२

विश्वनाथ

स्वभावोक्तिर्दुरूहार्थस्वक्रियारूपवर्णनम् । —साहित्यदर्पण १०.९२

अमृतानन्दयोगिन्

यद् यद् वस्तु यथावस्थं तथा तद्रूपवर्णनम् ।

स्वभावोक्तिरितिख्याता सैव जातिर्मता तथा ।। —अलंकारसंग्रह ५.१९

अप्यदीक्षित

स्वभावोक्तिः स्वभावस्य जात्यादिस्थस्य वर्णनम् । —कुवलयानन्द १६०

केशवमिश्र

यस्य वस्तुनो यत्स्वभावता तदाख्यानं स्वभावः ।

तदेव जातिरुच्यते । —अलंकार शेखर पृ. ३७

चिरञ्जीव

स्वभावोक्तिः स्वभावस्य स्व जात्यादिषु वर्णने । —काव्यविलास २.५७

नरेन्द्रप्रभसूरि

स्वभावोक्तिः पुनः सूक्ष्मवस्तुसद्भाववर्णनम् । —अलं० महो० ८.८२

नरसिंह कवि

स्वभावोक्तिरसौ चारु यथावद्वस्तुवर्णनम् ।

—नञ्राज यशोभूषण पृ. १८८

भट्ट देवशंकर पुरोहित

जात्यादीनां स्वभावो यद् वर्ण्यते हृदयङ्गमः ।

अलङ्कृतिं स्वभावोक्तिं विदुस्तां तान्त्रिकोत्तमाः ।

—अलंकार मञ्जूषा १२४

वेणीदत्त

शिशुस्त्रीतिर्यगादीनां स्वक्रियारूपवर्णनम् ।
स्वभावोक्तिमलङ्कारं ब्रुवते काव्यकोविदाः ॥—अलङ्कार मञ्जरी १२३

विश्वेश्वर

यो वस्तुनः स्वभावस्तस्य निरुक्तिः स्वभावोक्तिः ॥
—अलंकार मुक्तावली ३०

परकालस्वामी

जात्यादिस्थस्वभावोक्तिस्स्वभावोक्तिरितीर्यते ।
—अलंकार मणिहार १५९

हेतु

हेतु अलंकार यद्यपि प्राचीन आचार्यों द्वारा स्वीकृत रहा है, तथा अनेक अर्वाचीन आचार्य भी इसे स्वीकार करते हैं, तथापि यह सर्वमान्य अलंकार नहीं है। भामह उद्भट वामन कुन्तक मम्मट रुय्यक हेमचन्द्र विद्यानाथ शौद्धोदनि केशवमिश्र और जगन्नाथ इसकी चर्चा नहीं करते अथवा इसकी मान्यता का निषेध करते हैं। जबकि दण्डी एवं शिलामेघसेन ने इसे अलंकारों में उत्तम स्वीकार किया है (हेतुश्च सूक्ष्मलेशौ च वाचां भूषणमुत्तमम् । का०द० २.२३५) इसके विपरीत भामह ने इसकी अलंकारता का स्पष्ट शब्दों में निषेध किया है । 'हेतुश्च सूक्ष्मोलेशोऽथ नालंकारतया मताः । समुदायाभिधानस्य वक्रोक्त्यनभिधानतः । काव्या० २.६) । भामह और दण्डी के उपर्युक्त निर्देशों को देखकर यह कहा जा सकता है कि इनसे पूर्व से ही इस अलंकार की स्वीकृति अस्वीकृति के सम्बन्ध में पर्याप्त विवाद रहा है। इस विवाद से इस अलंकार की प्राचीनता सिद्ध होती है। अग्निपुराण में भी हेतु अलंकार का विवेचन प्राप्त होता है। इतना ही नहीं उसमें कारक और ज्ञापक भेद से हेतु के दो भेदों की भी चर्चा हुई है।

आचार्य रुद्रट ने हेतु और हेतुमान् के अभेद कथन को हेतु अलंकार मानते हुए अन्य अलंकारों से इसके पार्थक्य पर बल दिया है (काव्या. ७.७२)। रुद्रट द्वारा ही दी गयी हेतु अलंकार की यह परिभाषा ही विश्वनाथ द्वारा 'अभेदेनाभिधा हेतुर्हेतोर्हेतुमता सह'

शब्दों में स्वीकार की गयी है।

हेतु अलंकार के लक्षण की अन्य परम्परा जो दण्डी में अस्पष्ट तथा अग्निपुराण में कुछ स्पष्ट रही है, उसे भोज ने पूर्णतया स्पष्ट किया है। उस परिभाषा के अनुसार क्रिया (कार्य) के कारण का निबन्धन हेतु अलंकार कहलाता है। इसी परिभाषा के अनुसार हेतु अलंकार में दण्डी स्वीकृत कारक अथवा ज्ञापक नामक दो भेद अथवा भोज उद्भावित कारक ज्ञापक अभाव और चित्र भेद स्वीकार किये जाते हैं। भेद योजना के प्रसंग में संघरक्खित (सुबो. २५४) और अमृतानन्द योगी (५.३२) दण्डी की परम्परा का अनुगमन करते हुए इस अलंकार के केवल दो प्रकार मानते हैं।

मम्मट रुय्यक आदि आचार्य **हेतु अलंकार** को स्वतन्त्र अलंकार नहीं मानना चाहते। उनका कहना है कि **अनुमान** अलंकार में ज्ञापक हेतु का निबन्धन होता है, जबकि काव्यलिङ्ग अलंकार में कारक हेतु का निबन्धन रहता है। अत: काव्यलिङ्ग और अनुमान अलंकार स्वीकार करने पर **हेतु** अलंकार मानने की आवश्यकता नहीं है। क्योंकि सामान्यत: हेतु के निबन्धन मात्र से उसमें अलंकारत्व का होना अनिवार्य नहीं है। हेतु हेतुमान् के निबन्धन मात्र पर अलंकार मानने पर 'आयुर्घृतम्' आदि वाक्यों में भी **हेतु** अलंकार मानना होगा। जबकि वास्तविकता यह है कि इस प्रकार के वाक्यों में किसी प्रकार का चमत्कार नहीं है, कि उसे अलंकार स्वीकार किया जाए। उदाहरण के रूप में हम निम्नलिखित पद्य को देख सकते हैं :—

अविरलकमलविकास: सकलालिमदश्च कोकिल:।
रम्योऽयमेति सम्प्रति लोकोत्कण्ठाकर: काल:॥

इस पद्य में हेतु हेतुमान् का निबन्धन होते हुए भी प्राचीन आचार्यों ने **अनुप्रास अलंकार** को स्वीकार किया है, **हेतु अलंकार** का नहीं। अत: **हेतु** को अलंकार मानकर उसे काव्यलिङ्ग और अनुमान में समाहित समझना चाहिए (आयुर्घृतमित्यादिरूपो ह्येष न भूषणतां कदाचिदर्हति वैचित्र्याभावात्। 'अविरलकमलविकास: सकलालिमदश्च काकिल: नन्द:। रम्योऽयमेति सम्प्रति लोकोत्कण्ठाकर: काल:।' (काव्या. ७.८३) इत्यत्र काव्यरूपतां कोमलानुप्रासमहिम्नैव

समाम्नासिषुः, न तु हेत्वलंकारकल्पनयेति पूर्वोक्तं काव्यलिङ्गं हेतुः। का.प्र. ७७०-७७१) मम्मट के टीकाकार नागेश ने मम्मट के मत को और अधिक स्पष्ट करते हुए कहा है कि कारण और कार्य के अभेद का कथन तो अतिशयोक्ति अलंकार का प्रथम प्रकार है, अथवा उसे शुद्ध साध्यवसाना लक्षणा के अन्तर्गत समाहित किया जा सकता है (एवं हेतुफलयोरभेदाध्यवसायेऽप्येषा (अतिशयोक्ति)। यथा 'वित्रासनं समरसीमनि शात्रवाणाम्, आजीवनं विबुधपार्षदि कोविदानाम्। सम्मोहनं सुरतसंसदि कामिनीनां रूपं तदीयमवलोक-यतोऽद्भुतं मे।' इत्यादौ वित्रासनादिपदस्य तद्धेतोः शुद्धसाध्यवसाना। एतेन 'हेतोर्हेतुमता सार्धम् अभेदो हेतुरुच्यते' इति हेत्वलंकारोऽयं पृथगित्यपास्तम् इत्याहुः। (उद्योत पृ० ५८)।

विश्वनाथ ने हेतु अलंकार के उदाहरण के रूप में निम्नलिखित पद्य को उपस्थित किया है :—

तारुण्यस्य विलासः समधिकलावण्यसम्पदो हासः।
धरणितलस्याभरणं युवजनमनसो वशीकरणम्॥

इस पद्य में प्रसङ्गतः वर्णनीय नायिका, जो युवकों के मानस को अपने वश में करने में समर्थ हैं, अर्थात् वशीकरण का कारण है, को साक्षात् युवजन मानस का वशीकरण कहा गया है। यहां यह स्मरणीय है कि इस पद्य में हेतु अलंकार केवल चतुर्थ चरण में है, तथा 'तारुण्यस्य विलासः' एवं 'लावण्यसम्पदो हासः' इस अंश में अभेद अध्यवसायमूला अतिशयोक्ति है। क्योंकि यहां यह कहना सम्भव नहीं है कि नायिका 'तारुण्यविलास' एवं 'लावण्यसम्पद्हास' का कारण है, अपितु वह केवल युवजनों के मन के वशीकरण का हेतु है। 'तारुण्यविलास' और 'लावण्यसम्पद्हास' पदों में सौन्दर्य की अनुभूति का कारण नायिका का तारुण्यविलास एवं अतिशयलावण्य से भरा होना है।

मूल लक्षण

अग्नि

सिसाधयिषितार्थस्य हेतुर्भवति साधकः। —अग्नि पु. ३४४.२६

कारक हेतु : प्रवर्त्तते कारकाख्यः प्राक्पश्चात्कार्यजन्मनः।
पूर्वशेष इति ख्यातस्तयोरेव विशेषयोः।
ज्ञापक हेतु : कार्यकारणभावाद् वा स्वभावाद् वा नियामकात्।
अविनाभावनियमो ह्यविनाभावदर्शनात्।
—अग्नि पु. ३४४.२९, ३०, ३१, ३२

दण्डी

हेतुश्च सूक्ष्मलेशौ च वाचां भूषणमुत्तमम्।
कारकज्ञापकौ हेतू तौ चानेकविधौ स्मृतौ। —का. द. २.२३५

भामह

हेतुश्च सूक्ष्मलेशोऽथ नालंकारतया मतः।
समुदायाभिधानस्य वक्रोक्त्यनभिधानतः। —काव्या. २.८६

शिलामेघसेन

हेतुनामा ह्यलंकारः वाचां भूषणमुत्तमम्। —सियवस. २३८

रुद्रट

हेतुमता सह हेतोरभिधानादभेदकृद् भवेद्यत्र।
सोऽलंकारो हेतुः स्यादन्येभ्यः पृथग्भूतः। —काव्या. ७.८२

भोज

क्रियायाः कारणं हेतुः कारको ज्ञापकश्च सः।
अभावश्चित्रहेतुश्च चतुर्विध इहेष्यते॥ --स. कं. २.१२

वाग्भट (प्रथम)

कार्यकारणयोरभेदो हेतुः। —काव्यानु. पृ. ४३

शोभाकरमित्र

परप्रत्यायकं लिङ्गं हेतुः। —अलं २.७९

संघरक्खित

जनको ञापको चेति दुविधा हेतवो सियु।
पटिसंखारणं तेसं अलंकारतयोदितं। —सुबोधा. २५०

विश्वनाथ

अभेदेनाभिधा हेतुर्हेतोर्हेतुमता सह। —सा. द. १०.६३

अमृतानन्दयोगी

कारकं व्यञ्जकं वापि हेतोर्यत्र विशेषणम्।
निवर्त्त्ये वा विकार्ये वा प्राप्ये वा कारकं यथा। —अलं. सं. ५.३२-३३

वाग्भट (द्वितीय)

यत्रोत्पादयतः किञ्चिदर्थं कर्त्तुं प्रकाश्यते ।
तद्योग्यता युक्तिरसौ हेतुरुक्तो बुधैर्यथा । —वाग्भटा. ४.१०५

अप्पयदीक्षित

हेतोर्हेतुमता सार्धं वर्णनं हेतुरुच्यते ।
हेतुहेतुमतोरैक्यं हेतुं केचित्प्रचक्षते । —कुव. १६७-१६८

भावदेवसूरि

(केवल उदाहरण)

भट्ट देवशंकर

हेतोर्हेतुमता सार्धं वर्णनं हेतुरुच्यते ।
हेतुहेतुमतोरैक्यं हेतुं केचित्प्रचक्षते । —अलं. मञ्जू. १३१

हेत्वपह्नुति

अपह्नुति सभी आचार्यों द्वारा स्वीकृत अलंकार है। इस अलंकार में प्रकृत का निषेध करके अन्य का समाधान किया जाता है । अपह्नुति अलंकार में ही जब अपह्नव के हेतु का भी निबन्धन किया जाए तो वहां **हेत्वपह्नुति** अलंकार होता है । इसे अप्पय दीक्षित ने अपह्नुति प्रकरण में ही पृथक् स्वीकार किया है। अप्पय दीक्षित की भांति भट्टदेवशंकर पुरोहित ने भी इसकी चर्चा की है, किन्तु उन्होंने **पर्यस्तापह्नुति** के भेदों का उल्लेख करते हुए 'सा हि पूर्ववद् द्विविधा मता' (अलंकार मंजूषा १६) शुद्ध और हेतु सहित दो भेदों की जो चर्चा की है उसके आधार पर "उनके मत में '**हेत्वपह्नुति**' स्वतन्त्र अलंकार न होकर अपह्नुति का प्रकार मात्र है" यह कहा जा सकता है ।

मूल लक्षण

अप्पयदीक्षित

स एव युक्तिपूर्वश्चेदुच्यते हेत्वपह्नुति ।। —कुवलयानन्द २७

भट्ट देवशंकर पुरोहित

अपह्नवस्त दृशश्चेत्क्रियतेयुक्ति पूर्वकः ।
हेत्वपह्नुतिरुक्ता सालंकृतिर्जनरंजना ।। —अलंकार मञ्जूषा १५